ानपीठ मूर्तिदेवी जैन-ग्रन्थमाला [संस्कृत ग्रन्थाङ्क ११]

पण्डितप्रवर आशाधर विरचित

[स्वोपज्ञ-विवृति-युत] 5—

जिनसहस्रनाम

श्रुतसागरसूरि-विरचित टीका-समन्वित



हिन्दी-भाषानुवाद और विस्तृत प्रस्तावना सहित





सम्पादक—
पं० हीरालाल जैन, सिद्धान्तशास्त्री, न्यायतीर्थ

भारतीय ज्ञानपीठ ाशी

प्रथम आवृत्ति
एक सहस्र प्रति

फाल्गुन, वीर नि० सं० २४८०
वि० सं० २०१०
फरवरी १९५४

मूल्य ४ रु०



स्व० पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवीकी पवित्र स्मृतिमें तत्सुपुत्र साहू शान्तिप्रसादजीद्वारा

संस्थापित

भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन-ग्रन्थमाला

संस्कृत ग्रंथांक ११

इस ग्रन्थमालामें प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड, तामिल आदि प्राचीन भाषाओंमें उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक और ऐतिहासिक आदि विविध-विषयक जैन साहित्यका अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन और उसका मूल और यथासंभव अनुवाद आदिके साथ प्रकाशन होगा। जैन भण्डारोंकी सूचियाँ शिलालेख-संग्रह, विशिष्ट विद्वानोंके अध्ययन-ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन-साहित्य ग्रन्थ भी इसी ग्रन्थमाला में प्रकाशित होंगे।

ग्रन्थमाला सम्पादक

डॉ० हीरालाल जैन,
एम० ए०, डी० लिट्०

डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्याय,
एम० ए०, डी० लिट्०

प्रकाशक—
अयोध्याप्रसाद गोयलीय,
मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ काशी
दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस

स्थापनाब्द
फाल्गुन कृष्ण ६
वीर नि० २४७०

विक्रम सं० २०००
१८ फरवरी १९४४

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी



स्वर्गीय मूर्तिदेवी, मातेश्वरी सेठ शान्तिप्रसाद जैन

JNANA-PITHA MURTIDEVI JAIN GRANTHAMALA

SANSKRIT GRANTHA No. 11

SVOPAJNA VIVRITI YUTA

JINA SAHASRANAMA

OF

PANDIT ASHADHAR

WITH HINDI TRANSLATION AND INTRODUCTION

WITH THE COMMENTARY OF SRUTA SAGAR SURI



Translated and Edited

BY

PANDIT HIRALAL JAIN,

Siddhant - Shastri, Nyayatirtha

Published by

BHARATIYA JNANAPITHA, KASHI

First Edition 1000 *Copies.*

PHALGUN VIR NIRVANA SAMVAT 2480
VIKRAMA SAMVAT 2010
FEBRUARY 1954.

Price Rs. 4/

FOUNDED BY

SETH SHANTI PRASAD JAIN

IN MEMORY OF HIS LATE BENEVOLENT MOTHER

SHRI MURTI DEVI

BHARATIYA JNANA-PITHA MURTI DEVI JAIN GRANTHAMALA

SANSKRIT GRANTHA No. 11

IN THIS GRANTHAMALA CRITICALLY EDITED JAIN AGAMIC PHILOSOPHICAL, PAURANIC, LITERARY, HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS AVAILABLE IN PRAKRIT, SANSKRIT, APABHRANSA, HINDI, KANNADA AND TAMIL ETC., WILL BE PUBLISHED IN THEIR RESPECTIVE LANGUAGES WITH THEIR TRANSLATIONS IN MODERN LANGUAGES

AND

CATALOGUES OF JAIN BHANDARAS, INSCRIPTIONS, STUDIES OF COMPETENT SCHOLARS & POPULAR JAIN LITERATURE WILL ALSO BE PUBLISHED

General Editors

Dr. Hiralal Jain, M. A. D. Litt.
Dr. A. N. Upadhye, M. A. D. Litt.

PUBLISHER

AYODHYA PRASAD GOYALIYA
Secy., BHARATIYA JNANAPITHA,
DURGAKUND ROAD, BANARAS

Founded in
Phalguna Krishna 9.
Vira Sam. 2470

Vikrama Samvat 2000
18th Febr. 1944

समर्पण

स्व० श्रद्धेय विद्वद्वर्य पं० घनश्यामदासजी न्यायतीर्थ

की

पवित्र

स्मृतिमें

सविनय

समर्पित

||

जिनके चरणोंके समीप बैठकर दो अक्षरोंका ज्ञान
प्राप्त किया और जिन्होंने सदा उन्नत एवं
विशुद्ध भावनाओंसे प्रोत्साहन देकर
ज्ञान-प्राप्तिके मार्ग पर
अग्रसर किया

||

श्रद्धावनत—
हीं

विषयानुक्रमणिका

—:o:—

प्राथमिक वक्तव्य

ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रंथमालाकी संस्कृत शाखाके अन्तर्गत प्रस्तुत ग्रंथको पाकर पाठक प्रसन्न होंगे। यह बड़े सन्तोषकी बात है कि यह ग्रंथमाला अविरत रूपसे अपने कर्तव्य-पालनमें उन्नति कर रही है। इसका परम श्रेय है ज्ञानपीठके संस्थापक धर्मरुचि श्रीमान् सेठ शान्तिप्रसादजी और उनकी साहित्य-प्रिय पत्नी श्रीमती रमारानीजीको, जो ज्ञानपीठके संचालन, और विशेषतः धार्मिक साहित्यके प्रकाशनमें अत्यन्त उदार रहते हैं। प्रकाशन-कार्यको गतिशील बनाये रखनेमें ज्ञानपीठके मंत्री श्री अयोध्याप्रसादजी गोयलीय तथा संस्थाके अन्य कार्य-कर्ताओंकी तत्परता और अध्यवसाय भी प्रशंसनीय है।

प्रस्तुत ग्रन्थ अपनी एक विशेषता रखता है, और वह यह है कि इसका विषय कोई कथानक, दार्शनिक विवेचन व आचारादि सम्बन्धी उपदेश न होकर जिनभगवान्की सहस्रनामात्मक स्तुति है। एक सहस्र नामोंके उल्लेख द्वारा भगवान्की वन्दना करनेकी परम्परा प्राचीन-कालसे हिन्दू तथा जैनधर्ममें समान रूपसे प्रचलित रही है। न केवल इतना ही, किन्तु सबसे बड़ी ध्यान देने योग्य बात यह है कि परमात्माके नाम-निर्देशमें वैदिक, बौद्ध और जैनधर्मोंके परस्पर भेद सब विलुप्त होकर उनके बीच एकी-करणकी भावना पाई जाती है। उदाहरणार्थ, प्रस्तुत आशाधर कृत जिनसहस्रनाममें 'ब्रह्मशतम्' और 'बुद्धशतम' नामक परिच्छेदोंको देखिये, जहाँ जिन भगवान्के ब्रह्मा, चतुर्मुख, विधाता, कमलासन, प्रजापति, हिरण्यगर्भ आदि स्पष्टतः वैदिक परम्पराके ईश्वराभिधानों तथा बुद्ध, दशबल, शाक्य, सुगत, मारजित्, बोधिसत्त्व आदि बौद्धधर्मके सुविख्यात बुद्धनामोंका भी संग्रह किया गया है। यह कोई चोरी या अज्ञात अनुकरणकी बात नहीं है, क्योंकि कवि स्पष्टतः जान-बूझकर और सोच-समझ कर इन अन्य धर्म-विख्यात नामोंको ग्रहण कर रहे हैं। ऐसा करनेमें उनका अभिप्राय निस्सन्देह यही है कि भक्त-जन भगवान्के विषयमें ऐक्यकी भावनाका अनुभव करें। हिन्दू, जिन्हें ब्रह्मा और विधाता कहते हैं, एवं बौद्ध बुद्ध व शाक्य आदि कहते हैं, उन्हीं परमेष्ठीको जैन, जिन व अरहन्त कहते हैं। हाँ, ईश्वरके सम्बन्धमें जैनियोंकी दार्शनिक मान्यता अन्य धर्मोंसे भिन्न है। अतएव उस विषयमें भ्रान्ति उत्पन्न न हो, इसीलिए संभवतः कविने स्वयं अपनी रचनाकी टीका लिखना भी आवश्यक समझा, जिसमें उन्होंने अपनी प्रतिभाके बलसे उक्त नामोंकी व्युत्पत्ति अपने धर्मकी मान्यतानुसार बिठलाकर बतला दी है। यही तो भारतीय संस्कृतिकी, और विशेषतः जैन-अनेकान्तकी वह दिव्य सर्वतोमुखी दृष्टि है, जो भेदमें अभेद और अभेदमें भेदकी स्थापना कर, इतर जनोंके मनमें एक उलझन व विस्मय उत्पन्न कर देती है। यही हमारे प्राचीन ऋषियोंकी वह प्रेरणा है जो आज भी हमसे गान करा रही है—

बुद्ध, वीर, जिन, हरि, हर, ब्रह्मा, या उसको स्वाधीन कहो।
भक्ति-भाव से प्रेरित हो यह चित्त उसी में लीन रहो॥

अथवा

ईश्वर अल्लाह तेरे नाम।
सबको सन्मति दे भगवान्॥

आजकलके सम्प्रदायवादी, प्राचीन आचार्योंकी इस उदार और उदात्त भूमिकाको समझें और अपनावें, इसीमें स्वहित और लोककल्याण है।

इस ग्रंथके सम्पादनमें पं० हीरालालजी शास्त्रीने जो परिश्रम किया है वह ग्रन्थावलोकनसे पाठकोंको स्पष्ट हो जावेगा। अपनी प्रस्तावनामें उन्होंने ग्रन्थके विषय और ग्रन्थकार सम्बंधी सभी ज्ञातव्य बातोंपर पर्याप्त प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया है। टीकाके संशोधनमें खूब सावधानी रखी गई है, और अनुवाद भी मार्मिक ढंगसे किया गया है, जिससे शब्द-व्युत्पत्ति जैसी शुष्क चर्चा भी सरस और रोचक हो उठी है और उसके द्वारा अनेक जैन-मान्यताओंका स्पष्टीकरण भी हो गया है। शब्दानुक्रमणीके द्वारा यह ग्रन्थ एक कोश-विशेषका भी काम दे सकेगा। इस परिश्रमके लिए हम सब पंडितजीके कृतज्ञ हैं।

हमें आशा और भरोसा है कि ग्रन्थमालाके अन्य प्रकाशनोंके समान इस ग्रन्थका भी समुचित सम्मान और उपयोग होगा।

हीरालाल जैन
आदिनाथ उपाध्ये
[ग्रन्थमाला - सम्पादक]

प्रकाशन-व्यय

८६६।≈) कागज़ २२ × २६=२८ पौंड ४० रीम १० दिस्ता	५५८) सम्पादन पारिश्रमिक
७६८) छपाई ३) प्रति पृष्ठ	१५०) कार्यालय-व्यवस्था प्रूफ़-संशोधनादि
५५०) जिल्द बँधाई	२२५) भेंट आलोचना ७५ प्रति
४०) कवर कागज़	७५) पोस्टेज ग्रंथ भेंट भेजनेका
२०) कवर डिज़ाइन तथा ब्लाक	१७०) विज्ञापन
४०) कवर छपाई	६२५) कमीशन २५ प्रतिशत

कुल लागत ४५९६।≈)

१००० प्रति छपी। लागत एक प्रति ४॥)

मूल्य ४ रुपये

सम्पादकीय

आजसे ठीक ३५ वर्ष पूर्व जब मैं स्व० श्रद्धेय पं० घनश्यामदासजी न्यायतीर्थ (महरौनी) के चरण-सान्निध्यमें बैठकर अपनी जन्मभूमिस्थ पाठशालामें अध्ययन कर रहा था, तब श्रुतपंचमीके दिन पंडितजीने हम लोगोंके साथ स्थानीय मन्दिरके शास्त्र-भंडारकी छान-बीन की और एक रद्दी-पत्रोंके वस्तेको संभालते हुए वे सहसा आनन्दोल्लासके साथ विस्मय और दुःख प्रकट करते हुए बोल उठे कि देखो, कितना सुन्दर अपूर्व ग्रन्थ यह रद्दीके वस्तेमें बंधा हुआ है। उन्होंने तभी एक पृथक् वेष्टनमें उस प्रतिको बांधा, उस पर अपने हाथसे 'सहस्रनामसटीक' लिखा और हम लोगोंको बताया कि यह पंडित आशाधरजीके सहस्रनामकी सुन्दर टीका है। उनके हाथसे नाम लिखे वेष्टनमें यह प्रति आज भी सुरक्षित है।

पंडितजीकी उक्त बात मेरे हृदयमें अंकित हो गई और अध्ययन-समाप्तिके बाद जबसे मैं ग्रन्थोंके सम्पादनादि कार्यमें लगा, तभीसे सोच रहा था कि कब पं० आशाधरजीके सटीक सहस्रनामका सम्पादन करूं। मैं इस टीकाको पं० आशाधरजीकी स्वोपज्ञवृत्ति ही समझ रहा था! किन्तु एक बार जब सुप्रसिद्ध साहित्यज्ञ पं० नाथूरामजी प्रेमीके साथ बम्बईमें आशाधरजीके सहस्रनामकी बात चल रही थी, तो मैंने कहा कि उनकी लिखी टीका मेरे गांवके शास्त्र-भंडारमें है। श्री प्रेमीजी बोले, वह स्वोपज्ञवृत्ति न होकर श्रुत-सागरी टीका होगी, जाकर देखना। जब मैं देश आया और उसे देखा तो प्रेमीजीका कहना यथार्थ निकला। तभीसे मैं आशाधरजीकी लिखी सहस्रनाम-टीकाकी खोजमें रहने लगा। दो वर्ष पूर्व जब मैं वसुनन्दिश्रावका-चारके सम्पादनमें व्यस्त था और उसकी प्राचीन प्रतिकी खोजमें ललितपुरके बड़े मन्दिरजीके शास्त्र-भंडारके शास्त्रोंके वेष्टन खोल-खोलकर उनकी छान-बीन कर रहा था, तब अकस्मात् मुझे पंडितजीके सहस्रनामकी वह स्वोपज्ञवृत्ति प्राप्त हुई; जो कि आज तक अन्यत्र अप्राप्य थी और जिसे श्री प्रेमीजी आजसे लगभग ४५ वर्ष पूर्वसे खोजनेका प्रयत्न कर रहे थे। मैं हर्षसे फूला न समाया, अधिकारियोंसे आज्ञा लेकर घर ले आया और उसकी प्रतिलिपि कर, उसके सम्पादनका समुचित अवसर देखने लगा।

हर्ष है कि इन दो वर्षोंमें अनेक आपत्तियोंके आने पर भी मैं श्री जिनेन्द्रके स्तवन-स्वरूप इस पवित्र ग्रन्थको उन्हींके प्रसादसे सम्पादित कर सका।

प्रस्तुत ग्रन्थका सम्पादन अ ज द और स प्रतियोंके आधारसे किया गया है। प्रयत्न करने पर भी अन्य भंडारोंकी प्रतियोंको मैं प्राप्त नहीं कर सका। फिर भी अधिक चिन्ताकी कोई बात इसलिए नहीं है कि अ और स ये दोनों ही प्रतियां अत्यन्त शुद्ध थीं और उनको ही आदर्श मानकर उक्त दोनों टीकाओंकी प्रेस-कापी तैयार की गई है।

प्रस्तुत संस्करणमें सबसे ऊपर मूल श्लोक, उसके नीचे स्वोपज्ञवृत्ति और उसके बाद हिन्दीमें मूल श्लोकका अर्थ शब्दशः देकर उसके नीचे दोनों टीकाओंके आश्रयसे लिखी व्याख्या दी गई है और यह प्रयत्न किया है कि मूल नामके अर्थको व्यक्त करनेवाला दोनों टीकाओंका अभिप्राय उसमें व्यक्त कर दिया जाय।

प्रस्तावनामें यह दिखानेका प्रयत्न किया है कि सहस्रनामोंकी प्रथा कबसे वा कैसे चली। प्रस्तुत संस्करणमें पं० आशाधरजीके सहस्रनामके अतिरिक्त आ० जिनसेन, आ० हेमचन्द्र और भट्टारक सकलकीर्त्तिके जिनसहस्रनामोंका भी संकलन किया है। पाठकगण इन चारों सहस्रनामोंके पाठ करनेके अनन्तर यह जान सकेंगे कि साहित्यके भीतर परस्परमें कितना आदान-प्रदान होता रहा है।

प्रस्तावनामें आशाधर सहस्रनामकी विशेषताको व्यक्त करनेका प्रयास किया गया है, उसमें मैं कितना सफल हो सका हूं, यह पाठकोंको उसका अध्ययन करने पर ज्ञात हो सकेगा। प्रारंभमें श्रुतसागरी टीकागत कुछ ज्ञातव्य विशेषताओंका भी उल्लेख किया गया है। परिशिष्टमें मूल श्लोकोंकी, सहस्र नामोंकी, टीकामें

उद्धृत व्याकरण-सूत्रोंकी और पद्योंकी अकारादि-अनुक्रमणिका दी गई है। टीकामें उद्धृत पद्य किस ग्रन्थके हैं, यह जहाँतक मुझसे बन सका, कोष्ठक (   ) में निर्देश कर दिया है और अज्ञात स्थलोंके आगे कोष्ठकको रिक्त छोड़ दिया गया है। पाठक गण उन्हें अपने श्रुताध्ययनके साथ स्थल परिज्ञात होने पर पूरा कर सकते हैं।

मैंने श्रीमान् पं० नाथूरामजी प्रेमीके द्वारा लिखे गये पं० आशाधर और श्रुतसागरसूरि सम्बन्धी दोनों लेखोंको उनकी 'जैनसाहित्य और इतिहास' नामक पुस्तकसे लेकर अपनी प्रस्तावनामें भर-पूर उपयोग किया है, अतः मैं उनका अत्यन्त आभारी हूं।

पं० आशाधरजीकी स्वोपज्ञवृत्ति और श्रुतसागरी टीका ये दोनों ही विद्यार्थियोंके संस्कृत-ज्ञानके लिए बहुत ही उपयोगी हैं। प्रत्येक नामकी निरुक्तिसे उन्हें संस्कृतका परिष्कृत ज्ञान हो सकेगा। जैन परीक्षालयोंको चाहिए कि वे इन्हें विशारद परीक्षाके पठनक्रममें पाठ्य-पुस्तकके रूपमें स्वीकार करें। इसके प्रारम्भिक तीन शतक विशारद प्रथम खंडमें, मध्यवर्त्ती तीन शतक विशारद द्वितीय खंडमें और अन्तिम चार शतक विशारद तृतीय खंडमें पढ़ानेके योग्य हैं। इनसे छात्रोंका व्युत्पत्ति-ज्ञान तो बढ़ेगा ही, साथ ही वे जैन सिद्धान्तके उन अनेक महत्त्वपूर्ण विषयोंसे भी परिचित हो सकेंगे, जिनका कि परिज्ञान उन्हें अनेकों शास्त्रोंके स्वाध्यायसे भी नहीं हो सकता है। मैं तो अपने जैन विद्वानोंसे आग्रह करूंगा कि वे ऐसे व्याकरण, धर्म और न्याय-विषयक व्युत्पत्ति करानेवाले ग्रन्थोंको राजकीय-संस्कृत महाविद्यालय बनारस और हिन्दू विश्वविद्यालय काशीकी मध्यमा परीक्षाके पाठ्यक्रममें स्वीकार करानेका प्रयत्न करें।

प्रस्तुत ग्रन्थके सुन्दर सम्पादनके लिए मैंने यथाशक्ति समुचित प्रयत्न किया है, फिर भी पाठकगण रह गई त्रुटियोंसे मुझे अवगत करायेंगे, जिससे उनका आगामी संस्करणमें यथास्थान संशोधन किया जा सके।

वर्णीय निवास
साढूमल, पो० मड़ावरा (झांसी)
२५।१२।५२

विनम्र—
हीरालाल

आदर्श प्रतियोंका परिचय

अ प्रति—आशाधर-सहस्रनामकी स्वोपज्ञवृत्ति सहित यह प्रति ललितपुरके श्री बड़े मन्दिरजीके भंडारकी है। इसका आकार १०½ × ६ इंच है। पत्र-संख्या ५४ है। प्रति पत्र पंक्ति संख्या ११ और प्रति पंक्ति अक्षर-संख्या ३१–३३ है। वि० सं० १६५४ के श्रावण शुक्ला १० की लिखी हुई है। किसी प्राचीन प्रति परसे इसकी प्रतिलिपि की गई है। वह संभवतः अतिजीर्ण-शीर्ण रही होगी, अतएव जहां पर पत्र टूट जानेसे वह पढ़ी नहीं जा सकी वहां लेखकने.................................. इस प्रकार बिन्दुओंको रखकर स्थान छोड़ दिया है। मध्यमें संभवतः उस प्राचीन प्रतिके २-३ पत्र भी गायब रहे हैं, जिससे इस प्रतिमें मूल सहस्रनामके श्लोकाङ्क ६३ से ६८ तककी टीका नहीं लिखी हुई है। प्रस्तुत प्रतिके मध्यमें श्लोकाङ्क १०३ की टीकाके अनन्तर लिखा है—

"**मुनिश्रीविनयचन्द्रेण** कर्मक्षयार्थं लिखितम्"। तथा अन्तिम पुष्पिकामें लिखा है—"इत्याशाधरसूरिकृतं जिनसहस्रनामस्तवनं समाप्तम्। **मुनिश्रीविनयचन्द्रेण** लिखितम्॥ × × × × पंचाचारादिव्रततपोद्यापनयमनियमेत्यादिसमस्तपापदोष प्रायश्चित्तनिः................... समस्तकर्मक्षयविनाशननिःशुद्धचिद्रूपप्राप्तिनिमित्तवेषधरेण **मुनिविनयचन्द्रेण** भावना भाविता"॥

इस प्रकार तीन वार **मुनिविनयचन्द्रका** नामोल्लेख होनेसे विदित होता है कि ये वही विनयचन्द्र मुनि हैं, जिनका उल्लेख स्वयं पंडितजीने 'भव्यचकोरचन्द्रः' कह कर किया और जिनकी प्रेरणासे इष्टोपदेशकी टीका लिखी है। यदि यह सत्य है, तो निःसन्देह वह प्रति अति प्राचीन और प्रामाणिक रही होगी। ललितपुरके शास्त्र भंडारके जीर्ण-शीर्ण पत्रोंका कई वार अनुसन्धान करने पर भी उस प्राचीन प्रतिके पत्रोंका कुछ भी पता नहीं लग सका। अभी तक आशाधरजीकी स्वोपज्ञ टीकाकी यही एक मात्र प्रति उपलब्ध हुई है, जो कि अभीकी लिखी होने पर भी बहुत शुद्ध है। इसीके आधार पर स्वोपज्ञवृत्तिकी प्रेसकापी तैयारकी गई है।

ज प्रति—यह जयपुरके तेरा-पंथी बड़े मन्दिरकी प्रति है। इसका आकार ११ × ६ इंच है। पत्र संख्या ११७ है। प्रति पत्र पंक्ति-संख्या १३ है और प्रति पंक्ति-अक्षर-संख्या ४०–४२ है। प्रति लेखन-काल १८५८ है। इस प्रतिमें प्रारंभसे ६वें अध्याय तक सहस्रनामके मूल श्लोक नहीं है; किन्तु ७वें अध्यायसे टीकाके साथ मूल श्लोक भी लिखे गये हैं। इसमें प्रायः 'व' के स्थान पर 'ब' लिखा गया है। प्रति प्रायः अशुद्ध है। कई स्थलोंपर दो दो पंक्तियां छूट गई हैं, फिर भी इससे अनेक स्थलों पर पाठ-संशोधनमें सहायता मिली है। प्रति हमें श्रीमान् पं० कस्तूरचन्द्रजी शास्त्री एम. ए. जयपुरकी कृपासे प्राप्त हुई। इसके लिए हम उनके आभारी हैं।

द प्रति—यह देहलीके पंचायती मन्दिर (खजूर मसजिद) की है। इसका आकार ५॥ × १०।॥ इंच है। पत्र संख्या २१३ है। प्रति पृष्ठ पंक्ति-संख्या ११ और प्रति पंक्ति अक्षर-संख्या २५–२६ है। कागज मोटा बदामी रंगका है। इसकी अन्तिम पुष्पिका इस प्रकार है:—

सं० १८११ वर्षे भाद्रपदमासे कृष्णपक्षे ६ चन्द्रवासरे लिखितं मिश्र हरिश्चन्द्रस्य इदं पुस्तकं। लिखाइतं सिंघई लालमनि तत्पुत्र लाला भगवानदासस्य पंडितदयारामस्य पठनार्थं दत्तं। सिरोंजमध्ये चन्द्रप्रभु चैत्यालये जिनसहस्रनामटीका संपूर्न॥ श्रीः॥

स प्रति—यह मेरी जन्मभूमि साढूमल (झांसी) के जैनमन्दिरकी श्रुतसागरी टीकाकी प्रति है जो अत्यन्त शुद्ध और प्राचीन है। इसका उद्धार आजसे ३५ वर्ष पूर्व स्व० पं० घनश्यामदासजीने रद्दी पत्रोंके साथ बंधे बस्तेमेंसे किया था। इसका अन्तिम पत्र न होनेसे प्रति लिखनेका समय तो ज्ञात नहीं हो सका, पर

आकार-प्रकार, कागज, स्याही आदिको देखते हुए यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि यह कमसे कम ३०० वर्ष पुरानी तो अवश्य है। इसका आकार ५ × ११ इंच है। पत्र संख्या १४६ है। प्रति पृष्ठ पंक्ति संख्या ११ और प्रतिपंक्ति अक्षर संख्या ३८-४० है। प्रति अत्यन्त शुद्ध है। सहस्रनामका प्रत्येक नाम लाल रंगसे चिन्हित है, जिससे उसकी व्याख्याका प्रारम्भ सहजमें ज्ञात हो जाता है। प्रतिके सबसे ऊपरी पत्रके ऊपर लिखा हुआ है:—

"भ० श्रीधर्मकीर्त्तिपटे भ० श्रीपद्मकीर्त्तिने पुस्तक आपल्यो" सिरोजनगर वास्तव्य ॥ शुभं भवतु ॥ ब्रह्मश्रीसुमतिसागरेण प्रेषिता। श्रीसूरतनगरात् ॥ श्रीरस्तु ॥

इस लेखसे विदित होता है कि यह प्रति सूरत (गुजरात) से ब्रह्म श्रीसुमतिसागरने सिरोंज (मध्य भारत) नगरवासी भट्टारक श्रीपद्मकीर्त्तिके पास भेजी थी। वहांसे यह हमारे ग्राममें कब कैसे आई, इसका कुछ पता नहीं चलता। इतना ज्ञात अवश्य हुआ कि आजसे लगभग १०० वर्ष पूर्वतक हमारे ग्रामके मन्दिरमें सोनागिर-भट्टारककी गद्दी थी, संभव है, वहांके भट्टारकजीके साथ वह यहां आई हो।

स और द इन दोनों प्रतियोंमें कई बातोंमें समानताएं पाई जाती हैं। एक अन्तिम बातकी समानता तो यह माननेके लिए विवश करती है कि द प्रतिकी प्रतिलिपि स प्रतिके आधारसे ही हुई है। वह समता यह है कि स प्रतिमें भी श्रुतसागरकी प्रशस्तिको दूसरे श्लोकके दूसरे चरणका 'देवेन्द्रकीर्त्ति' तकका पाठ स प्रतिमें पाया जाता है और इतना ही द प्रतिमें भी। इसके अतिरिक्त स प्रति सूरतसे सिरोंज भेजी गई और यह द प्रति भी सिरोंजमें ही लिखी गई। इसलिए बहुत संभव यही है कि यतः स प्रतिमें अन्तिम पत्र नहीं होनेसे श्रुतसागरकी प्रशस्ति अधूरी थी, अतः उससे प्रतिलिपि की जानेवाली द प्रतिमें भी वह अधूरी ही लिखी गई। दूसरे इससे एक बात और सिद्ध होती है कि जब द प्रति पूरे २०० वर्ष प्राचीन है, तो जिसके आधार पर यह लिखी गई है, वह अवश्य इससे अधिक प्राचीन होगी। साथ ही यह भी पता चलता है कि आजसे २०० वर्ष पूर्व ही स प्रतिका अन्तिम पत्र गायब हो चुका था।

द प्रति यद्यपि अपेक्षाकृत अशुद्ध लिखी गयी है, तथापि उससे उन कई स्थलोंपर पाठ-संशोधनमें मुझे पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई है, जो कि स प्रतिकी प्राचीन लिखावट होनेसे मुझसे ठीक-ठीक पढ़े नहीं जा सके थे।

श्रुतसागरकी प्रशस्तिकी पूर्ति श्री० प्रेमीजीकी पुस्तक "जैनसाहित्य और इतिहास" के श्रुतसागरके लेखसे की गई है, जिसमें कि उनकी प्रशस्ति सेठ माणिकचंदजी बम्बईके ग्रन्थ-संग्रहकी प्रति जिनसहस्रनाम-टीकासे उद्धृतकी गई है।

स प्रे०—यह सोलापुरके श्री ब्र० जीवराज गौतमचन्दजी दोशीके निजी भंडारकी प्रेस कापी है, जो कि ईडर भंडारकी प्रति परसे कराई गई है इस प्रतिमें भी अनेक स्थलोंपर पाठ छूटे हुए हैं, फिर भी अनेक पाठोंके शुद्ध करनेमें हमें इससे साहाय्य प्राप्त हुआ है। यह प्रेस कापी ३१-१-५१ को लिखकर तैयारकी गई है। इस प्रेस कापीमें टीकाके पूर्व सर्वत्र मूल श्लोक दिये हुए हैं। और अन्तमें श्रुतसागरी टीकाका प्रमाण श्लो०३०७५ दिया हुआ है। यह प्रेस कापी जीवराज ग्रन्थमालाके संस्थापक श्रीमान् ब्र० जीवराजजी गौतमचन्दजी दोशी सोलापुरकी कृपासे प्राप्त हुई है। इसके लिए हम उनके आभारी हैं।

—:o:—

र ावना

श्री मूलाचारमें स्तव या स्तवनके छह भेद बतलाये गये हैं—नामस्तवन, स्थापनास्तवन, द्रव्यस्तवन, क्षेत्रस्तवन, कालस्तवन और भावस्तवन। नामस्तवनकी व्याख्या टीकाकार वसुनन्दि आचार्यने इस प्रकारकी है:—

'चतुर्विंशतितीर्थंकराणां यथार्थानुगतैरष्टोत्तरसहस्रसंख्यैर्नामभिः स्तवनं चतुर्विंशतिनामस्तवः'।
(मूलाचार, ७, ४१ टीका)

अर्थात् चौवीस तीर्थंकरोंके वास्तविक अर्थवाले एक हजार आठ नामोंसे स्तवन करनेको नामस्तव कहते हैं।

मूलाचारके ही आधार पर पं० आशाधरजीने भी अपने अनगारधर्मामृतके आठवें अध्यायमें स्तवनके ये ही उपर्युक्त छह भेद बताये हैं और नामस्तवका स्वरूप इस प्रकार कहा है:—

अष्टोत्तरसह नाम्नामन्वर्थमर्हताम्। वीरान्तानां निरुक्तं यत्सोऽत्र नामस्तवो मतः॥ ३९॥

अर्थात् वृषभादि वीरान्त तीर्थंकर परमदेवका एक हजार आठ सार्थक नामोंसे स्तवन करना सो नामस्तवन है।

जैनवाङ्मयका परिशीलन करनेसे विदित होता है कि यह एक अनादिकालीन परम्परा चली आती है कि प्रत्येक तीर्थंकरके केवल ज्ञान होने पर इन्द्रके आदेशसे कुबेर आकर भगवान्‌के समवसरण (सभामंडप) की रचना करता है और देव, मनुष्य तथा पशु-पक्षी आदि तिर्यंच तीर्थंकर भगवान्‌का उपदेश सुननेके लिए पहुंचते हैं। उस समय सदाके नियमानुसार इन्द्र भी आकर भगवान्‌की वन्दना करता है और एक हजार आठ नामोंसे उनकी स्तुति करता है। आचार्य जिनसेनने अपने महापुराणमें इन्द्रके द्वारा भगवान् ऋषभनाथकी इसी प्रकारसे स्तुति कराई है।

एक हजार आठ नाम ही क्यों?

तीर्थंकरोंकी अष्टोत्तर सहस्रनामसे ही स्तुति क्यों की जाती है, इससे कम या अधिक नामोंसे क्यों नहीं की जाती, यह एक जटिल प्रश्न है और इसका उत्तर देना आसान नहीं है। शास्त्रोंके आलोडन करने पर भी इसका सीधा कोई समुचित उत्तर नहीं मिलता है। फिर भी जो कुछ आधार मिलता है उसके ऊपरसे यह अवश्य कहा जा सकता है कि तीर्थंकरोंके शरीरमें जो १००८ लक्षण और व्यञ्जन होते हैं, जो कि सामुद्रिक शास्त्रके अनुसार शरीरके शुभ चिन्ह या सुलक्षण माने गये हैं, वे ही सम्भवतः एक हजार आठ नामोंसे स्तुति करनेके आधार प्रतीत होते हैं। (देखो आचार्य जिनसेनके सहस्रनामका प्रथम श्लोक)।

अन्य मतावलम्बियोंने भी अपने-अपने इष्टदेवकी स्तुति एक हजार नामोंसे की है और इसके साक्षी विष्णुसहस्रनाम, शिवसहस्रनाम, गणेशसहस्रनाम अम्बिकासहस्रनाम, गोपालसहस्रनाम आदि अनेक सहस्रनाम हैं। शिवसहस्रनामकार शिवजीसे प्रश्न करते हैं:—

तव नामान्यनन्तानि सन्ति यद्यपि शङ्कर। तथापि तानि दिव्यानि न ज्ञायन्ते मयाऽधुना॥ १६॥
प्रियाणि तव नामानि सर्वाणि शिव यद्यपि। तथापि कानि रम्याणि तेषु प्रियतमानि वै॥ १७॥
[शिवसहस्रनाम]

अर्थात्—हे शंकर, यद्यपि तुम्हारे नाम अनन्त हैं और वे सभी दिव्य हैं, तथापि मैं उन्हें नहीं जानता हूं। और यद्यपि वे सभी नाम तुम्हें प्रिय हैं, तथापि उनमेंसे कौन-कौनसे नाम अधिक प्रिय या प्रियतम हैं, सो मुझे बताओ ?

इस प्रश्नके उत्तरमें शिवजी कहते हैं :—

दिव्यान्यनन्तनामानि सन्तिवदं मध्यगं परम् । अष्टोत्तरसहस्रं तु नाम्नां प्रियतरं मम ॥३१॥ [शिवसहस्रनाम]

अर्थात्—यद्यपि मेरे अनन्त दिव्य नाम हैं, तथापि मुझे उनमेंसे ये मध्यवर्त्ती एक हजार आठ नाम अति प्रिय हैं।

इस भूमिकाके पश्चात् शिवसहस्रनाम प्रारम्भ होता है।

अब जरा विष्णुसहस्रनामकी भूमिका देखिए। युधिष्ठिरने भीष्मसे पूछा—

किमेकं दैवतं लोके किं वाऽप्येकं परायणम् । स्तुवन्तः कं कमर्चन्तः प्राप्नुयुर्मानवाः शुभम् ॥ २ ॥

[विष्णुसहस्रनाम]

अर्थात्—वह कौनसा एक अतिपरायण देव है कि जिसकी स्तुति और अर्चा करते हुए मनुष्य कल्याणको प्राप्त होवें ? इस प्रश्नपर भीष्मने उत्तर दिया :—

अनादिनिधनं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरम् । लोकाध्यक्षं स्तुवन्नित्यं सर्वदुःखातिगो भवेत् ॥ ६ ॥

× × ×

तस्य लोकप्रधानस्य जगन्नाथस्य भूपते । विष्णोर्नामसहस्रं मे शृणु पापभयापहम् ॥ १२ ॥
यानि नामानि गौणानि विख्यातानि महात्मनः । ऋषिभिः परिगीतानि तानि वक्ष्यामि भूतये ॥ १३ ॥

[विष्णुसहस्रनाम]

अर्थात्—अनादि निधन, लोकाध्यक्ष और सर्वलोकके महेश्वर विष्णु हैं, और उनकी स्तुति करनेसे मनुष्य सर्व दुःखोंसे विमुक्त हो जाता है। उस लोक-प्रधान विष्णुके हजार नामोंको मैं कहता हूं, सो सुनो, जिन्हें कि महर्षियोंने गाया है और जो सार्थक एवं जगत्-विख्यात हैं।

इस भूमिकाके साथ विष्णुसहस्रनाम प्रारम्भ होता है।

गणेश सहस्रनामकी भूमिका इन सबसे भिन्न है। उसमें कहा गया है कि गणेशजीके पिता स्वयं शंकरभगवान् गणेशजीकी विना पूजा किये ही त्रिपुरासुरके जीतनेके लिए चले, तो उनके अनेक विघ्न आ उपस्थित हुए। तब शंकरजीने मनोबलसे इसका कारण जाना और गणेशजीसे विघ्न-निवारणका कारण पूछा। तब गणेशजीने प्रसन्न होकर अपने सहस्रनामको ही सर्वविघ्न-निवारक और सर्व अभीष्ट-पूरक बताया।

देव एवं पुरारातिपुरत्रयजयोद्यमे । अनर्चनाद् गणेशस्य जातो विघ्नाकुलः किल ॥ २ ॥
मनसा स विनिर्धार्य ततस्तद्विघ्नकारणम् । महागणपतिं भक्त्या समभ्यर्च्य यथाविधि ॥ ३ ॥
विघ्नप्रशमनोपायमपृच्छदपराजितः । संतुष्टः पूजया शम्भोर्महागणपतिः स्वयम् ॥ ४ ॥
सर्वविघ्नैकहरणं सर्वकामफलप्रदम् । ततस्तस्मै स्वकं नाम्ना सहस्रमिदमब्रवीत् ॥ ५ ॥ [गणेशसहस्रनाम]

इस उत्थानिकाके पश्चात् गणेशसहस्रनाम आरम्भ होता है। इन तीनों ही सहस्रनामोंकी यह विशेषता है कि उन्हें स्वयं शिवजी, विष्णुजी या गणेशजीके मुखसे कहलाया गया है और तीनोंमें ही यह बतलाया गया है कि जो सहस्रनामसे मेरी स्तुति करते हैं और भक्तिसे पूजते हैं, उनके सर्व दुःख दूर हो जाते हैं।

जैन शास्त्रोंमें सर्वप्रथम हमें आचार्य जिनसेन-प्रणीत महापुराणमें ही जिनसहस्रनामके दर्शन होते हैं। उसमें समवसरणस्थित ऋषभदेवकी स्तुति करता हुआ इन्द्र कहता है कि:—

अलमास्तां गुणस्तोत्रमनन्तास्तावका गुणाः । त्वन्नामस्मृतिमात्रेण परमं शं प्रशास्महे ॥ ९८ ॥
प्रसिद्धाष्टसहस्रेद्धलक्षणस्त्वं गिरांपतिः । नाम्नामष्टसहस्रेण त्वां स्तुमोऽभीष्टसिद्धये ॥ ९९ ॥

[महापुराण पर्व २५]

अर्थात्—हे भगवन्, हम आपके गुणोंकी क्या स्तुति कर सकते हैं, क्योंकि आपके गुण अनन्त हैं। हम तो तुम्हारे नामके स्मरण मात्रसे ही परम शान्तिको प्राप्त करते हैं। भगवन्, यतः आप १००८ लक्षण-युक्त हैं, अतः एक हजार आठ नामोंसे ही आपकी स्तुति करता हूं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहां हमें शिवसहस्रनाम, विष्णुसहस्रनाम, या गणेशसहस्रनाम आदिमेंसे किसीमें भी इस शंकाका समाधान नहीं मिलता है कि उनकी सहस्रनामसे ही स्तुति क्यों की जाती है, वहां हमें जिनसेनके सहस्रनाममें उक्त श्लोकके द्वारा इसका सयुक्तिक उत्तर मिल जाता है।

सहस्रनामोंकी तुलना

मूलाचारके उपर्युक्त उल्लेखसे इतना तो स्पष्ट है कि सहस्रनामकी प्रथा प्राचीन है। पर वर्तमानमें उपलब्ध वाङ्मयके भीतर हमें सर्वप्रथम सहस्रनामोंका पता हिन्दू पुराणोंसे ही लगता है। उपरि लिखित तीनों सहस्रनामोंमेंसे मेरे ख्यालसे विष्णुसहस्रनाम सबसे प्राचीन है; क्योंकि, वह महाभारतके अनुशासन-पर्वके अन्तर्गत है।

जैनवाङ्मयमें इस समय चार सहस्रनाम उपलब्ध हैं, जिनमें जिनसेनका सहस्रनाम ही सबसे प्राचीन है। जिनसेनाचार्य काव्य, अलंकार, धर्मशास्त्र, न्याय आदिके प्रौढ विद्वान् और महाकवि थे, और इसका साक्षी स्वयं उनका महापुराण है।

आ० जिनसेनके पश्चात् दूसरे जिनसहस्रनामके रचयिता आ० हेमचन्द्र हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें हेमचन्द्र एक महान् आचार्य हो गये हैं और इन्होंने प्रत्येक विषय पर अपनी लेखनी चलाई है। आपको परवर्ती आचार्योंने 'कलिकालसर्वज्ञ' नामसे सम्बोधित किया है। हेमचन्द्रने अपने सहस्रनामका नाम 'अर्हत्सहस्रनाम' रखा है। इस अर्हत्सहस्रनामका मिलान जब हम आ० जिनसेनके सहस्रनामके साथ करते हैं, तो इस बातमें कुछ भी सन्देह नहीं रहता कि कुछ श्लोकों और नामोंके हेर-फेरसे ही अर्हत्सहस्रनामकी रचना की गई है। नवम शतककी रचना अवश्य स्वतंत्र है। शेष शतकोंमें तो प्रायः जिनसेन-सहस्रनामके श्लोक साधारणसे शब्द-परिवर्तनके साथ ज्योंके त्यों रख दिये गये हैं। पाठक प्रस्तुत संस्करणमें दिये गये हेमचन्द्रके सहस्रनामके साथ मिलान कर स्वयं इसका निर्णय कर लेंगे।

उक्त दोनों जिनसहस्रनामोंके पश्चात् पण्डित आशाधरके प्रस्तुत सहस्रनामका नम्बर आता है। आशाधरके सहस्रनामका गंभीरता-पूर्वक अध्ययन करनेसे पता चलता है कि उन्होंने अपने समय तक रचे गये समस्त जैन या जैनेतर सहस्रनामोंका अवगाहन करनेके पश्चात् ही अपने सहस्रनामकी रचना की है। यही कारण है कि उनमें जो त्रुटि या असंगति उन्हें प्रतीत हुई, उसे उन्होंने अपने सहस्रनाममें बिल्कुल दूर कर दिया। यही नहीं, बल्कि अपने सहस्रनाममें कुछ ऐसे तत्त्वोंका समावेश किया, जिससे उसका महत्त्व अपने पूर्ववर्ती समस्त सहस्रनामोंसे कई सहस्रगुणा अधिक हो गया है। पं० आशाधरजीने संभवतः अपनी इस विशेषताको स्वयं ही भली-भांति अनुभव किया है और यही कारण है कि उसके अन्तमें स्वयं ही उन्हें लिखना पड़ा कि "यही परम मंगल है, लोकोत्तम है, उत्तम शरण है, परम तीर्थ है, इष्ट साधन है और समस्त क्लेश तथा संक्लेशके क्षयका कारण है।" अन्तमें उन्होंने यहां तक लिखा है कि इस सहस्रनामके अर्थका जाननेवाला तो जिनके समान है। इससे अधिक और क्या महत्त्व बताया जा सकता था।

भट्टारक सकलकीर्तिने एक संक्षिप्त आदिपुराणकी रचना की है, चौथा जिनसहस्रनाम उसीसे ही उद्धृत किया गया है। यह कबका रचा है, यह निश्चित नहीं कहा जा सकता, तथापि यह आशाधर-सहस्रनामसे पीछेका ही है, इतना सुनिश्चित है। यह कई जगह अशुद्ध है, दूसरी प्रति न मिलनेसे सर्वत्र शुद्ध नहीं किया जा सका। इसकी रचनाका आधार आ० जिनसेन और आशाधरका सहस्रनाम हैं, ऐसा इसके पाठ से ज्ञात होता है।

आशाधर-सहस्रनाम पर एक दृष्टिः—

पं० आशाधरजीके प्रस्तुत जिनसहस्रनामका आद्योपांत गम्भीर पर्यवेक्षण करने पर निम्न बातें हृदय पर स्वयमेव अंकित होती हैं:—

१—आशाधरजीने शिवसहस्रनाम आदिके समान भगवानके सहस्रनामोंको न तो उनके मुखसे ही कहलाया है और न जिनसेनके सहस्रनामके समान उसे इन्द्रके मुखसे ही कहलाया है। किन्तु स्वयं ही संसारके दुःखोंसे संतप्त होकर वे करुणासागर वीतराग भगवान्के सन्मुख उपस्थित होकर प्रार्थना करते हैं:—

"हे प्रभो, मैं संसार, देह और भोगोंसे विरक्त एवं दुःखोंसे सन्तप्त होकर आप जैसे करुणा-सागरको पाकर यह विनती करता हूं कि अनादिकालसे लेकर आज तक मैं सुखकी लालसासे मोहका मारा इधर-उधर ठोकरें खाता हुआ मारा-मारा फिरा, मगर कहीं सुखका लेश भी नहीं पाया और सुखका देनेवाला आपका नाम तक भी मैंने इसके पूर्व नहीं सुना। आज मेरे मोहग्रहका आवेश कुछ शिथिल हुआ है और गुरुजनों से आपका नाम सुना है, अतः आपके सामने आकर स्तुति करनेको उद्यत हुआ हूं। मेरी भक्ति मुझे प्रेरित कर रही है कि रात-दिन आपकी स्तुति करता रहूं, पर शक्ति उसमें बाधक होकर मुझे हतोत्साह कर रही है; क्योंकि मैं अल्प शक्ति और अल्प ज्ञानका धारक हूँ, अतएव केवल अष्टोत्तर सहस्रनामसे स्तुतिकर अपनेको पवित्र करता हूं। (देखो आशाधर-सहस्रनाम श्लोक १ से ४)

इसके पश्चात् वे दश शतकोंमें सहस्रनामोंके कहनेकी प्रतिज्ञा भी विधिवत् करते हैं और प्रतिज्ञानुसार ही स्तवन प्रारम्भ करते हैं। चूंकि वे जिन भगवान्का स्तवन करनेके लिए उद्यत हुए हैं, अतः उन्होंने सर्व-प्रथम जिनशतक रचा है और तदनुसार इस शतकमें जिन, जिनेन्द्र, जिनराट् आदि नामोंका उसमें समावेश किया है। 'जिन' यह पद जिन नामों है, या जिनके आगे प्रयुक्त हैं, ऐसे लगभग ७० नाम इस शतकमें सन्निविष्ट हैं। 'जिन' पदका अर्थ 'जीतनेवाला' होता है। उक्त त्रिविध जिनपद विभूषित नामोंके द्वारा ग्रंथ-कार मानों जिन भगवानसे कह रहे हैं कि हे भगवन्, आपने अपने राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध, लोभादि शत्रुओंको जीत लिया है, अतएव आप निर्विघ्न हैं, नीरज हैं, शुद्ध हैं, निर्मोह हैं, वीतराग हैं, वितृष्ण हैं, निर्भय हैं, और निर्विषाद हैं, अतएव अजर, अमर हैं, और निश्चिन्त हैं।

द्वितीय शतकका नाम सर्वज्ञशतक है; क्योंकि, यह सर्वज्ञ नामसे प्रारम्भ होता है। इस शतकमें प्रयुक्त नामोंके पर्यवेक्षणसे विदित होता है कि मानों स्तोता अपने इष्ट देवतासे कह रहा है कि यतः आप सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तविज्ञानी और अनन्तसुखी हैं, अतः आप परंतेजः हैं, परंधाम हैं, परंज्योति हैं, पर-मेष्ठी हैं, श्रेष्ठात्मा हैं, अनन्त शक्ति हैं। और इसी कारण आप जगत्के दुःख-संतप्त प्राणियोंको शरणके देनेवाले हैं।

इसके पश्चात् ग्रन्थकार जिनभगवान्की स्तुति करनेके लिए एक क्रमबद्ध शैलीका आश्रय लेते हैं। उनकी दृष्टि सबसे पहले तीर्थंकर भगवान्के पंच कल्याणकों पर जाती है और वे उनको आधार बना करके ही भगवान्का स्तवन प्रारम्भ करते हैं।

ग्रन्थकारने पंचकल्याणकोंमें इन्द्रादिके द्वारा की जानेवाली महती पूजाको ही प्रधान माना है और इसी-लिए वे तीसरे शतकको प्रारम्भ करते हुए भगवान्से कहते हैं कि आप ही अर्हाई हैं, अर्थात् पूजनके योग्य हैं, पूज्य हैं, इन्द्र-पूजित हैं, आराध्य हैं। और इसके अनन्तर ही वे कहते हैं कि आप गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण, इन पंचकल्याणकोंसे पूजित हैं। इसके पश्चात् वे क्रमशः पांचों कल्याणकोंकी खास-खास बातोंको लक्ष्य करके उनके आश्रयसे भगवान्के विभिन्न नामोंकी रचना करते हैं। पाठकगण, जब इन नामों पर ध्यान देंगे, तो ज्ञात होगा कि उन नामोंसे भगवान्का स्तवन करते हुए ग्रंथकारने किसी भी कल्याणककी कोई भी बातको छोड़ा नहीं है। पाठकोंकी जानकारीके लिए इस शतकके नामोंका क्रमशः पांचों कल्याणकोंमें वर्गीकरण किया जाता है:—

१ गर्भकल्याणक—इस कल्याणकके विभिन्न कार्योंको प्रगट करनेके लिए ग्रन्थकारने १ वसुधारार्चितास्पद, २ सुस्वप्नदर्शी, ३ दिव्यौजा, ४ शचीसेवितमातृक, ५ रत्नगर्भ, ६ श्रीपूतगर्भ, ७ गर्भोत्सवोच्छ्रत, ८ दिव्योपचारोपचित, ९ पद्मभू और १० निष्कल ये दश नाम कहे हैं। इन नामोंके कहनेके पूर्व एक सबसे बड़ी महत्त्वकी बातको प्रगट करनेके लिए एक नाम और दिया है—दृग्विशुद्धिगणोदग्र। इस नामके द्वारा ग्रन्थकारने यह सूचित किया है कि जिस व्यक्तिने पूर्वभवमें दर्शनविशुद्ध्यादि सोलह कारण भावनाओंको भलीभांति भाकरके तीर्थङ्कर नामकर्मका संचय किया है, वही व्यक्ति तीर्थङ्कर होनेका अधिकारी है, और वही गर्भकल्याणकादिका पात्र है; अन्य नहीं। इसके पश्चात् गर्भकल्याणकके समय सर्व प्रथम जो खास अतिशय चमत्कारी कार्य होता है, वह है आकाशसे माताके गृहांगणमें रत्न-स्वर्णादिककी वर्षा। तीर्थंकरोंके गर्भावतरणके छह मास पूर्वसे ही यह अतिशय-पूर्ण कार्य प्रारम्भ हो जाता है, इस बातको प्रकट करनेके लिए ग्रन्थकारने सबसे पहले 'वसुधारार्चितास्पद' नाम दिया है। इस नामकी स्वोपज्ञवृत्तिमें ग्रन्थकारने जो व्याख्या की है, उससे सर्व-साधारणका एक भारी भ्रम दूर हो जाता है। अभी तक हम लोग समझे हुए थे कि यह सुवर्ण-रत्न वर्षा सारी नगरीमें होती है। किन्तु इस नामकी व्याख्या बतलाती है कि वह सुवर्ण-रत्न-वृष्टि सारी नगरीमें न होकर जिनमाताके रहनेके मकानके केवल आंगणमें ही होती है, अन्यत्र नहीं। इसके अनन्तर माताको सुन्दर सोलह स्वप्न दिखाई देते हैं, इस बातको व्यक्त करनेके लिए 'सुस्वप्नदर्शी' नाम दिया गया है। इसी समय शचीकी आज्ञासे श्री, ह्री, आदि छप्पन कुमारिका देवियां माताकी सेवा करनेके लिए उपस्थित होती हैं और माताकी सर्व प्रकारसे सेवा करती हैं, यह बात 'शचीसेवितमातृकः' नामसे सूचित की गई है। इन कुमारिका-देवियोंके अन्य विविध कार्योंमें से एक सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है माताके गर्भका शोधना। वे देवियां सोचती हैं कि जिस कूखमें तीन लोकका नाथ जन्म लेनेवाला है, यदि उसमें कोई रोग रहेगा, तो उत्पन्न होनेवाले बालक पर उसका असर अवश्य पड़ेगा। इसलिए श्री देवी एक कुशल लेडी-डॉक्टर (स्त्री-चिकित्सिका) के समान माताके गर्भका शोधन करती है और उसे सर्वप्रकारके विकारोंसे रहित कर देती है; यह बात 'श्रीपूतगर्भ' नामसे प्रकट की गई है। गर्भगत तीर्थंकर भगवान् इस दिव्य या अलौकिक विशेषताके साथ वृद्धिको प्राप्त होते हैं कि माताको कष्टका जरा सा भी अनुभव नहीं होता। यहां तक कि उनके उदरकी त्रिवलीका भंग तक भी नहीं होता। गर्भकी इस अनुपम एवं दिव्य विशेषताको बतलानेके लिए ही ग्रंथकारने 'दिव्यौजाः' और 'रत्नगर्भः' ये दो नाम दिये हैं। देवगण भारी ठाठ-बाठसे गर्भोत्सव मनाते हैं और विविध दिव्य उपचारोंसे माता-पिताकी सेवा करते हुए गर्भकी रक्षा करते हैं, यह बात 'गर्भोत्सवोच्छ्रतः और दिव्योपचारोपचितः' इन दोनों नामोंसे व्यक्त की गई है। भगवान् गर्भकालमें माताके उदरमें निज पुण्यजनित अष्टदल-कमल पर विराजमान रहते हुए ही वृद्धिको प्राप्त होते हैं और रक्त मल-मूत्रादि सर्व अपवित्र द्रव्योंसे निर्लिप्त रहते हैं, यह बात 'पद्मभू और निष्कल' इन दो नामोंसे सूचित की गई है। इसप्रकार हम देखते हैं कि इन दश नामोंके द्वारा गर्भकल्याणक-सम्बन्धी सभी बातें प्रगट कर दी गई हैं और कोई भी खास बात कहनेसे नहीं छूटने पाई है।

२ जन्मकल्याणक—उक्त दश नामोंके आगे सत्ताईस नामोंके द्वारा जन्मकल्याणककी सारी बातें प्रकट की गई हैं। भगवान्का जन्म माताको विना किसी कष्टके और विना किसी धाय आदिकी सहायताके स्वयं ही हो जाता है, यह बात 'स्वजः' नामसे प्रकट की गई है। भगवान्का जन्म होते ही तीनों लोकोंमें आनन्द छा जाता है, यहां तक कि नारकियोंको भी एक क्षणके लिए सुख नसीब हो जाता है। इसप्रकार उनका जन्म सर्वको हितकारक है, यह बात 'सर्वीयजन्मा' नामसे सूचित की गई है। भगवानका शरीर जरा आदि अपवित्र आवरणसे रहित होता है, जन्मसे ही भगवान्के शरीरमें मल-मूत्रादि नहीं होते, यह बात 'पुण्यांग' नामसे प्रकट की गई है। भगवान्के जन्म लेते ही उनके शरीरकी प्रभासे सौरि-गृहके रत्नदीपक भी फीके पड़ जाते हैं, यह बात 'भास्वान्' नामसे व्यक्त की गई है। भगवान्के जन्म लेते ही उनके उदयागत प्रबल पुण्यसे पिताके सर्व शत्रु वैरभाव भूलकर और विनयसे अवनत होकर भेंट आदि ले-लेकर उनके समीप उपस्थित होते हैं, यह 'उद्भूतदैवत' नामसे सूचित किया गया है। भगवान्का जन्म होते ही ऊर्ध्वलोकमें

रहनेवाले कल्पवासी देवोंके घरोंमें घंटा बिना बजाये ही बजने लगते हैं, मध्यलोकवासी ज्योतिषी देवोंके घरोंमें सिंहनाद होने लगता है, पाताल लोकवासी भवनवासी देवोंके यहां शंख ध्वनि होने लगती है और सर्वत्र रहनेवाले व्यन्तरोंके आवासोंमें नगाड़े गरजने लगते हैं, इन्द्रका आसन कंपने लगता है। इसप्रकार विविध चिन्होंसे तीनों लोकोंमें भगवान्का जन्म स्वयं ज्ञात हो जाता है, यह बात 'विश्वविज्ञातसंभूति' नामके द्वारा व्यक्त की गई है। तदनन्तर चारों प्रकारके देवगण भगवान्की जन्मभूमि पर आते हैं और नगरकी प्रदक्षिणा देते हैं। इन्द्राणी प्रसूति-गृहमें जाकर मायामयी बालक रचकर और उसे माताके पास सुलाकर तथा भगवान्को उठाकर इन्द्रको सौंपती है। इन्द्र भगवान्का रूप देखता हुआ तृप्त नहीं होता है और इसीलिए अपने एक हजार नेत्र बनाकर भगवान्को देखता है। इन सब बातोंको क्रमशः बतलानेके लिए 'विश्वदेवागमाद्भुतः, शचीसृष्टप्रतिच्छन्दः और सहस्राक्षदृगुत्सवः' ये तीन नाम दिये गये हैं। तदनन्तर नाचते हुए ऐरावतके ऊपर भगवान्को बैठाकर इन्द्र सुमेरुपर्वत पर उन्हें ले जाता है। भगवान्को देखकर सर्व इन्द्र उन्हें नमस्कार करते हैं। चारों निकायके देव हर्षके मारे उछलते-कूदते और जय जयकार करते हुए सुमेरु पर जाते हैं। इन सर्व कार्योंको बतलानेके लिए क्रमशः 'नृत्यदैरावतासीनः, सर्वशक्रनमस्कृतः, और हर्षाकुलामरखगः' ये तीन नाम दिये गये हैं। इसके आगे 'चारणर्षिमहोत्सवः' यह नाम भगवान् महावीरको लक्ष्यमें रखकर दिया गया है, जिसके विषयमें यह प्रसिद्धि है कि किसी चारण-युगल ऋषिको कोई तत्त्व-गत शंका थी, उन्हें सुमेरुपर जाते हुए भगवान्के ऊपर फहराती हुई ध्वजाके दर्शन हो जानेसे उनकी शंकाका समाधान हो गया और इसलिए उन्होंने खूब हर्ष मनाया था।

देवगण क्षीरसागरसे जल लाकर १००८ कलशोंसे भगवान्का अभिषेक करते हैं, उस समय एक लाख योजनका सुमेरुपर्वत भी स्नान करनेकी चौकीके समान प्रतिभासित होता है और क्षीरसागर अपने-आपको धन्य मानकर जिनमें तीर्थंकरत्वकी कल्पना करता है। इस बातको बतलानेके लिए 'स्नानपीठायिताद्रिराट्' और 'तीर्थेशम्मन्यदुग्धाब्धिः' नाम दिये गये हैं। भगवान्के अभिषिक्त जलमें स्नान कर इंद्रादिगण अपने-आपको कृतकृत्य मानते हैं। ईशानेन्द्र उस अभिषेकके जलको सर्व ओर क्षेपण करता है, मानों उसके द्वारा वह त्रैलोक्यको पवित्र करता है। इन दोनों कार्योंको बतलानेके लिए क्रमशः 'स्नानाम्बुस्नातवासवः' और 'गन्धाम्बुपूतत्रैलोक्यः' ये दो नाम दिये हैं। अभिषेकके अनन्तर इन्द्राणी भगवान्के शरीर-स्थित जलकणोंको पोंछकर और उन्हें वस्त्राभूषण पहना कर अपने हाथोंको कृतार्थ मानती है। इन्द्र वज्र-सूची हाथमें लेकर भगवान्का कर्ण वेधन संस्कार करता है। पुनः वह खड़े होकर भगवान्का नाम-संस्कार करके उपस्थित देव-समूहको उसकी घोषणा करता है और उसके पश्चात् ही इन्द्र आनन्दसे विभोर होकर नृत्य करता है। इन सब कार्योंको बतलानेके लिए ग्रन्थकारने क्रमशः 'वज्रसूचीशुचिश्रवाः, कृतार्थितशचीहस्तः, शक्रोद्घुष्टेष्टनामकः और शक्रारब्धानन्दनृत्यः' ये चार नाम दिये हैं। इन्द्र अपने परिवारके साथ सुमेरुसे आकर भगवान्के जन्म-स्थान पर जाता है, इन्द्राणी प्रसूति-गृहमें जाकर भगवान् माताको सौंपती है; माता अपने पुत्रके ऐसे वैभव और रूपको देखकर भारी विस्मित होती है। उसी समय इन्द्र जाकर भगवान्के पिताको पुत्र-जन्मके समाचार देता है और ताण्डव नृत्य आरम्भ करता है। कुबेर याचक जनोंको मुंहमांगा दान देता है और सर्व याचकोंके मनोरथोंको पूर्ण करता है। इन सब कार्योंको प्रगट करनेके लिए ग्रन्थकारने क्रमशः 'शचीविस्मापिताम्बिकः, इन्द्रनृत्यन्तपितृकः और रैदपूर्णमनोरथः' ये तीन नाम दिये हैं। इसप्रकार जन्माभिषेकके कार्यको भली-भांति सम्पादन करके, तथा भगवान्की सेवामें अनेक देवोंको नियुक्त करके इन्द्र स्वर्गलोक चला जाता है और भगवान्के दीक्षा लेनेके समय तक समय-समय पर आकर भगवान्की आज्ञाका इच्छुक होकर उनकी सेवामें सदा तत्पर रहता है। इस बातको व्यक्त करनेके लिए 'आज्ञार्थीन्द्रकृतासेवः' नाम दिया गया है।

३ दीक्षाकल्याणक—जब तीर्थंकर भगवान् किसी कारणसे संसार, देह और भोगोंसे विरक्तिका अनुभव करते हैं, तब लौकान्तिक देव, जिन्हें कि देवोंमें ऋषिके तुल्य होनेसे देवर्षि कहा जाता है—आकर भगवान्के विरक्त होने और शिव प्राप्तिके उद्यमकी प्रशंसा करते हैं, यह बात 'देवर्षीष्टशिवोद्यमः' नामके द्वारा

व्यक्त की गई है। जब लोगोंको पता चलता है कि भगवान् संसारसे विरक्त होकर वनवासके लिए जा रहे हैं, तो सारा जगत् क्षोभित हो उठता है और एकत्रित होकर उनके पीछे-पीछे दीक्षा-स्थल तक जाता है। सभी राजे-महाराजे और इन्द्रादिक आकर उनकी पूजन करते हैं, इस बातकी सूचना 'दीक्षाक्षणक्षुब्धजगत्' और 'भूर्भुवःस्वःपतीडितः' इन दो नामोंसे दी गई है।

४ **ज्ञानकल्याणक**—तपश्चरणके प्रभाव और आत्म-साधनाके बलसे जब भगवान्को कैवल्यकी प्राप्ति होती है, तब इन्द्रके आदेशसे कुबेर आस्थान-मण्डप (समवसरण) की रचना करता है, उसे पूरे वैभवके साथ सजाता है और समवसरणकी बारह सभाओंके द्वारों पर दीनजनोंको दान देनेके लिए नौ निधियोंको स्थापित करता है, इस बातको प्रगट करनेके लिए 'कुबेरनिर्मितास्थानः' और 'श्रीयुक्' ये दो नाम दिये गये हैं। समवसरणमें सभी योगिजन आकर भगवान्की अर्चा करते हैं और उनका धर्मोपदेश सुनकर कृतकृत्य होते हैं। इन्द्र भी सपरिवार आकर भगवान्की पूजा करता है, यह बात 'योगीश्वरार्चितः' नामसे लेकर 'संहूतदेवसंघार्च्यः' तकके नामोंसे प्रकट की गई है। समवसरणमें भगवान्के आठ प्रातिहार्य होते हैं, यह बात क्रमशः १ भामण्डली, १ चतुःषष्टिचामरः, ३ देवदुन्दुभिः, ४ वागस्पृष्टासनः (दिव्यध्वनिः) ५ छत्रत्रयराट्, ६ पुष्पवृष्टिभाक्, ७ दिव्याशोक और ८ पद्मयान (कमलासन) इन आठ नामोंसे प्रकट की गई है। समवसरणमें देवगण जय-जयकार करते हैं और सदा संगीत-पूर्वक भगवान्का गुण-गान करते रहते हैं, यह बात 'जयध्वजी' और 'संगीतार्ह' नामोंसे सूचित की गई है। समवसरणके चारों दिशाओंमें चार मानस्तम्भ होते हैं, और उन्हें देखकर बड़ेसे बड़े अभिमानियोंके मानका भी मर्दन हो जाता है, यह बात 'मानमर्दी' नामसे व्यक्त की गई है। समवसरणमें गन्धकुटीकी मध्य कटनी पर आठ मंगल द्रव्य विद्यमान रहते हैं, यह बात 'अष्टमंगलः' नामसे सूचित की गई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस यज्ञशतकमें भगवान्के गर्भसे लेकर कैवल्यप्राप्ति तकके चार कल्याणकोंका अच्छी तरह वर्णन किया गया है।

चौथे तीर्थकृच्छतकमें *भगवान्के तीर्थ-प्रवर्त्तनको आश्रय करके उनके विविध नामोंका निर्देश किया* गया है। जिसके द्वारा संसार-सागरसे पार उतरते हैं, ऐसे द्वादशांगवाणी रूप उपदेशको तीर्थ कहते हैं। इस प्रकारके तीर्थके प्रवर्तन करनेसे भगवान्के तीर्थंकर, तीर्थंकर, तीर्थंकृत्, तीर्थस्रष्ट् आदि नाम कहे गये हैं। यह तीर्थ-प्रवर्तन भगवान्की सत्य, अमोघ एवं दिव्यवाणीका ही फल है, अतएव दिव्यध्वनिका आलम्बन लेकर विविध अर्थोंके प्रकट करनेवाले पूरे ७५ नाम कहे गये हैं। इन नामों पर गम्भीरता पूर्वक विचार करनेसे अनेक नई ज्ञातव्य बातों पर प्रकाश पड़ता है, साथ ही दिव्यध्वनिसे सम्बन्ध रखनेवाली अनेकों शंकाओंका उनसे सहजमें ही समाधान हो जाता है। पाठकगण, इस शतकका स्वाध्याय करते समय स्वयं ही इसका निर्णय करेंगे। यहां पर उनमेंसे केवल २–३ बातोंका ही दिग्दर्शन कराया जाता है:—

१—**भव्यैकश्रव्यगुः**—भगवान्के इस नामसे यह ध्वनि निकलती है कि यद्यपि सभी भव्य-अभव्य जीव समवसरणमें जाते हैं, किन्तु भगवान्का उपदेश केवल भव्य जीवोंको ही सुनाई देता है। (४, ५६)

२—**प्राश्निकगुः**—इस नामसे ज्ञात होता है कि जब गणधरादि कोई भगवान्से प्रश्न करता है, तभी भगवान् बोलते हैं, अन्यथा नहीं। (४, ६१)

३—**नियतकालगुः**—इस नामसे प्रकट है कि भगवान् प्रातः, मध्याह्न, सायं और रात्रिके मध्यभाग इन चार नियत कालोंमें ही धर्मोपदेश देते हैं, अन्य कालमें नहीं। (४ ६१)

पांचवां **नाथशतक** है। यतः भगवान् प्राणिमात्रके हितैषी हैं और उन्हें संसारके दुःखोंसे पार उतारना चाहते हैं; अतः वे सबके स्वामी भी हैं। इस दृष्टिसे स्वामी-वाचक विविध नामोंकी रचना कर उनके स्वामित्वका गुण-गान इस शतकके पूरे सौ नामोंके द्वारा किया गया है।

छठा **योगिशतक** है। यतः भगवान् योगके यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिरूप आठों अंगोंके धारक हैं, अतः सत्यार्थ योगी हैं, इस निरुक्तिका आश्रय लेकर किसी

महायोगी या सच्चे साधुके जितने भी नामोंकी कल्पना उनके विविध गुणोंका आलम्बन करके की जा सकती है, वह ग्रन्थकारने की है और उन सभी नामोंसे भगवान्‌का गुण-गान किया है। इन नामों पर गहरी दृष्टि डालनेसे साधुके क्या-क्या कर्तव्य होते हैं, उनमें कौन-कौनसे गुण होना चाहिए, यह अच्छी तरह विदित हो जाता है।

केवलज्ञान-सम्बन्धी दश अतिशयोंको चौथे, पांचवें और छठवें शतकमें 'निर्निमेष' आदि विभिन्न नामोंके द्वारा सूचित कर दिया गया है।

सातवां **निर्वाणशतक** है। इस शतकमें भरतक्षेत्र-सम्बन्धी भूत, वर्तमान और भविष्यत्कालीन चौवीस तीर्थंकरोंके नामोंका निर्देश किया गया है, साथ ही भगवान् महावीरके सन्मति, वर्धमान, आदि नामोंके साथ कुछ अन्य भी गुण-प्रधान नाम इस शतकमें सम्मिलित किये गये हैं। चूंकि, यह सहस्रनाम-स्तवन सामान्य है, किसी व्यक्ति विशेषके नाम पर नहीं रचा गया है, अतः जो भी कर्म-शत्रुओंको जीतकर 'जिन' संज्ञाको धारण करता है, उसीका यह स्तवन है, इस अभिप्रायसे ग्रन्थकारने तीनों काल-सम्बन्धी चौवीसों तीर्थंकरोंके नामोंका संग्रह इस शतकमें किया है।

आठवें **ब्रह्मशतकमें** 'त्वामेव वीततमसं परवादिनोऽपि नूनं विभो हरि-हरादिधिया प्रपन्नाः' को दृष्टिमें रखकर ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश, सूर्य, चन्द्र और अग्निके विविध नामोंका संकलन कर और उनके गुणपरक अर्थको लेकर जिन भगवान्‌का स्तवन किया गया है।

नवें **बुद्धशतकमें** बुद्ध, यौग, नैयायिक, वैशेपिक, सांख्य, मीमांसक, चार्वाक आदिके विविध नामोंको लेकर भगवान्‌के गुणोंका स्तवन किया गया है।

आठवें और नवें शतकके नामोंको देखते हुए यह कहना पड़ेगा कि आशाधरजीके सहस्रनामकी यही सबसे बड़ी विशेषता है। यद्यपि पात्रकेसरी, अकलंक आदि पूर्ववर्ती आचार्योंने भी ब्रह्मा, विष्णु आदि नामोंसे जिनेन्द्र देवका स्तवन किया है, पर उनके प्रायः सर्व नामोंका इस प्रकार संग्रह करके स्तवन करनेका महान् साहस करना आशाधर जैसे प्रखर तार्किक एवं प्रवर विद्वान्‌का ही कार्य है ऐसा प्रतीत होता है कि उनके इन नामोंसे प्रभावित एवं विस्मित हुए लोगोंके आग्रहसे ही पण्डितजीने सहस्रनाम पर स्वोपज्ञवृत्ति लिखी है और उन सब नामोंका अर्थ बदलकर जिन भगवान्‌में संभवित अर्थ व्यक्त कर सबका संदेह दूर कर दिया है। शाब्दिक दृष्टिसे आठवां और दार्शनिक दृष्टिसे नवां शतक अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

दशवां **अन्तकृच्छतक** है। इसके भीतर तेरहवें गुणस्थानके अन्तमें और चौदहवें गुणस्थानमें होने वाले कार्योंका ग्रन्थकारने बड़ी ही परिष्कृत एवं व्यवस्थित शैलीसे निरूपण किया है और अन्तमें मोक्षको गमन करते हुए किस प्रकार चौदहवें गुणस्थानके अन्त्य और उपान्त्य समयमें कितनी प्रकृतियोंका क्षय होता है, शरीरसे विमुक्त होने पर आत्माका क्या और कैसा स्वरूप रहता है, इत्यादि बातोंका चित्रण करनेवाले बहुत सुन्दर और अर्थपूर्ण नामोंका सर्जन करके ग्रन्थकारने अपने ज्ञान-गौरवको व्यक्त किया है। संक्षेपमें दशवें शतकको निर्वाणकल्याणकका परिचायक कह सकते हैं।

उपसंहार और समीक्षा

इस प्रकार हम देखते हैं कि पं० आशाधरजीने अपने इस सहस्रनाममें एक क्रमबद्ध शैलीको अपनाया है और अपने इष्टदेवकी गर्भसे लेकर निर्वाण प्राप्त करने तककी समस्त घटनाओंको एक व्यवस्थित क्रमसे विभिन्न नामोंके द्वारा व्यक्त किया है।

प्रस्तुत सहस्रनाममें जहां पण्डितजीने अपने पूर्ववर्ती समस्त सहस्रनामोंकी विशेषताओंको अपना कर अपने बहुश्रुतत्वका परिचय दिया है, वहां पर ब्रह्मा, विष्णु, महेशादि देवोंके, बुद्ध, सांख्य, और यौगादि दार्शनिकोंके विभिन्न नामों और तत्तन्मत-सम्मत तत्त्वोंका नामरूपसे संग्रहकर अपनी सर्व-तत्त्व-समन्वयकारिणी विशाल बुद्धि, अनुपम प्रतिमा और महान् साहसका भी परिचय दिया है। जिससे ज्ञात होता है कि वे

स्याद्वाद-विद्याके यथार्थ रहस्यके अच्छे ज्ञाता थे। उनके इस सहस्रनामको देखते हुए यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि यह स्तवन द्वादशांगवाणीके आधारभूत चारों अनुयोगरूप वेदोंके मन्थनसे समुत्पन्न पीयूष-निष्यन्द है और प्रत्येक व्यक्ति इसे भक्ति-पूर्वक पान करके अजर-अमर हो सकता है।

इदमष्टोत्तरं नाम्नां सहस्रं भक्तितोऽर्हताम्। योऽनन्तानामधीतेऽसौ मुक्त्यन्तां भुक्तिमश्नुते ॥१४०॥

[प्रस्तुत सहस्रनाम]

जिनसहस्रनामका माहात्म्य

पंडित आशाधरजीने जिनसहस्रनामका माहात्म्य बतलाते हुए उसके अन्तमें लिखा है कि यह जिन-सहस्रनामरूप स्तवन ही लोकमें उत्तम है, जीवोंको परम शरण देनेवाला है, उत्कृष्ट मंगल है, परम पावन है श्रेष्ठ तीर्थ है, इष्ट-साधक है और सर्वक्लेश और संक्लेशका क्षय करनेवाला है। जो कोई इन नामोंमेंसे एक भी नामका उच्चारण करता है, वह पापोंसे मुक्त हो जाता है। फिर जो सर्वका उच्चारण करेगा, उसका तो कहना ही क्या है, आदि। वास्तवमें जिननामकी ऐसी ही महिमा है, जो उसे स्मरण करता है, वह सर्व दुःखोंसे छूट जाता है और अजर-अमर बन जाता है।

श्रुतसागरने नाथशतकके प्रारम्भमें सहस्रनामका माहात्म्य बतलाते हुए लिखा है कि—

नामसहस्रज्ञानं तीर्थकृतामेषकोऽभ्युपायोऽयम्। तीर्थंकरनामकृते श्रुतसागरसूरिभिः प्रविज्ञातः ॥

अर्थात्—शास्त्रपारगामी आचार्योंने तीर्थंकरोंके सहस्र नामोंके ज्ञानको तीर्थंकर नामकर्मके उपार्जन करनेका एक छोटा सा सरल उपाय बताया है।

इससे अधिक सहस्रनामका और क्या माहात्म्य बताया जा सकता है?

एक पुनरुक्ति

पं० आशाधरजीने जिन भगवान्के जो नाम दिये हैं, वे सभी अपुनरुक्त या नवीन हैं। केवल एक 'अमृत' नाम ही इसका अपवाद है, क्योंकि वह दो बार प्रयुक्त हुआ है। पहली बार तीसरे शतकमें ७१ वें नामके रूपमें और दूसरी बार दशवें शतकके ३१ वें नामके रूपमें। मूल और टीकाको देखने पर पता चलता है कि प्रथम बार वह नपुंसकलिंगमें प्रयुक्त हुआ है और दूसरी बार पुल्लिंगके रूपमें। संभवतः ग्रन्थकारने इसी विशेषताके कारण यह नाम दो बार कहा है।

ग्रन्थकारका परिचय[1]

प्रस्तुत जिनसहस्रनामके रचयिता पं० आशाधरजी एक बहुत बड़े विद्वान् हो गये हैं। शायद दिग-म्बर सम्प्रदायमें उनके बाद उन जैसा बहुश्रुत, प्रतिभाशाली, प्रौढ़ ग्रन्थकर्त्ता और जैनधर्मका उद्योतक दूसरा नहीं हुआ। न्याय, व्याकरण, काव्य, अलंकार, शब्दकोश, धर्मशास्त्र योगशास्त्र, वैद्यक आदि विविध विषयों पर उनका पूर्ण अधिकार था। इन सभी विषयों पर उनकी अस्खलित लेखनी चली है और अनेक विद्वानोंने चिरकाल तक उनके निकट अध्ययन किया है।

उनकी प्रतिभा और पांडित्य केवल जैन शास्त्रों तक ही सीमित नहीं था, जैनेतर शास्त्रोंमें भी उनकी अबाध गति थी। यही कारण है कि उनकी रचनाओंमें यथास्थान सभी शास्त्रोंके प्रचुर उद्धरण दृष्टिगोचर होते हैं और इसी कारण वे अष्टांगहृदय, काव्यालंकार, अमरकोश जैसे ग्रन्थों पर टीका लिखनेके लिए प्रवृत्त हुए। यदि वे केवल जैनधर्मके ही विद्वान् होते, तो मालव-नरेश अर्जुनवर्माके गुरु बालसरस्वती महाकवि मदन उनके निकट काव्यशास्त्रका अध्ययन न करते और विन्ध्यवर्माके सन्धिविग्रह-मंत्री कवीश बिल्हण उनकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा न करते।

१–यह परिचय श्रीमान् पण्डित नाथूरामजी प्रेमी-लिखित "जैनसाहित्य और इतिहास" नामक पुस्तकसे साभार उद्धृत किया जाता है।—सम्पादक

पं० आशाधरजीका अध्ययन बहुत विशाल था। उनके ग्रन्थोंसे पता चलता है कि उन्होंने अपने समयमें उपलब्ध समस्त जैनवाङ्मयका गहन अवगाहन किया था। विविध आचार्यों और विद्वानोंके मत-भेदोंका सामंजस्य स्थापित करनेके लिए उन्होंने जो प्रयत्न किया है, वह अपूर्व है। वे 'आर्षं संदधीत, न तु विघटयेत' के माननेवाले थे; इसलिए उन्होंने अपना कोई स्वतन्त्र मत तो कहीं प्रतिपादित नहीं किया है; परन्तु तमाम मत-भेदोंको उपस्थित करके उनकी विशद चर्चा की है और फिर उनके बीच किस प्रकार एकता स्थापित हो सकती है, यह बतलाया है।

पंडितजी गृहस्थ थे, मुनि नहीं। पिछले जीवनमें वे संसारसे विरक्त अवश्य हो गये थे, परन्तु उसे छोड़ा नहीं था, फिर भी पीछेके ग्रन्थकर्ताओंने उन्हें सूरि और आचार्य-कल्प कहकर स्मरण किया है, तथा तत्कालीन भट्टारकों और मुनियोंने उनके निकट विद्याध्ययन करनेमें भी कोई संकोच नहीं किया है। इतना ही नहीं, मुनि उदयसेनने उन्हें 'नयविश्वचक्षु' तथा 'कलि-कालिदास' और मदनकीर्त्ति यतिपतिने 'प्रज्ञापुञ्ज' कहकर अभिनन्दित किया था। वादीन्द्र विशालकीर्तिको उन्होंने न्यायशास्त्र और भट्टारकदेव विनयचन्द्रको धर्मशास्त्र पढ़ाया था। इन सब बातोंसे स्पष्ट है कि वे अपने समयके अद्वितीय विद्वान् थे।

जन्मभूमि, वंश-परिचय और समय

पंडितजी मूलमें मांडलगढ़ (मेवाड़) के रहनेवाले थे। शहाबुद्दीन गोरीके आक्रमणोंसे त्रस्त होकर चारित्रकी रक्षाके लिए वि० सं० १२४९ के लगभग वे मालवाकी राजधानी धारामें बहुतसे लोगोंके साथ आकर बस गये थे। पीछे वे जैनधर्मके प्रचारके लिए धाराको छोड़कर नलकच्छपुर (नालछा) में रहने लगे। उस समय धारानगरी विद्याका केन्द्र बनी हुई थी। वहाँ भोजदेव, विन्ध्यवर्मा, अर्जुनवर्मा जैसे विद्वान् और विद्वानोंका सन्मान करनेवाले राजा एकके बाद एक हो रहे थे। महाकवि मदनकी 'पारिजातमञ्जरी' के अनुसार उस समय विशाल धारा नगरीमें चौरासी चौराहे थे और वहां नाना दिशाओंसे आये हुए विविध विद्याओंके वेत्ताओं और कला-कोविदोंकी भीड़ लगी रहती थी। वहां 'शारदा सदन' नामका दूर-दूर तक ख्याति पाया हुआ विद्यापीठ था। स्वयं आशाधरजीने भी धारामें ही आकर व्याकरण और न्यायशास्त्रका अध्ययन किया था। ऐसी धाराको भी जिसपर हरएक विद्वानको मोह होना चाहिए, पंडितजीने जैनधर्मके ज्ञानको लुप्त होते हुए देखकर उसके प्रचारके लिए छोड़ दिया और अपना सारा जीवन इसी कार्यमें लगा दिया। वे लगभग पैंतीस वर्षके लम्बे समय तक नालछामें ही रहे और वहांके नेमि-चैत्यालयमें एक-निष्ठ होकर जैनसाहित्यकी सेवा और ज्ञानकी उपासना करते रहे। उन्होंने अपने प्रायः सभी ग्रन्थोंकी रचना यहीं की और यहां पर ही वे अध्ययन-अध्यापनका कार्य करते रहे। बहुत संभव है कि धाराके 'शारदा-सदन' के समान ही उन्हें 'श्रावक-संकुल' नालछेमें जैनधर्मके प्रचारके लिए कोई विद्यापीठ बनानेकी भावना उत्पन्न हुई हो! क्योंकि, जैनधर्मके उद्धारकी भावना उनमें प्रबल थी।

पंडितजी व्याघ्रेरवाल (बघेरवाल) जातिमें उत्पन्न हुए थे, जो कि राजस्थानकी एक प्रसिद्ध वैश्य-जाति है। उनके पिताका नाम सल्लक्षण, माताका श्रीरत्नी, पत्नीका सरस्वती और पुत्रका छाहड़ था। इन चारके सिवाय उनके परिवारमें और कौन-कौन थे, इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता।

मालव-नरेश अर्जुनवर्मदेवका भाद्रपद सुदी १५ बुधवार सं० १२७२ का लिखा एक दानपत्र मिला है, जिसके अन्तमें लिखा है—"रचितमिदं महासान्धि० राजा सलखणसम्मतेन राजगुरुणा मदनेन।" अर्थात् यह दानपत्र महासान्धि-विग्रहिक-मन्त्री राजा सलखणकी सम्मतिसे राजगुरु मदनने रचा। इन्हीं अर्जुनवर्माके राज्यमें पंडितजी नालछेमें आकर रहे थे और ये राजगुरु मदन भी वही हैं, जिन्हें कि पं० आशाधरजीने काव्य शास्त्र पढ़ाया था। इससे अनुमान होता है कि उक्त राजा सलखण ही संभव है कि आशाधरजीके पिता सल्लक्षण हों। पंडितजीने प्रशस्तियोंमें सांभरको शाकम्भरी, नालछाको नलकच्छपुर और बघेरवालको व्याघ्रेरवाल आदि संस्कृत नामोंसे जिसप्रकार उल्लिखित किया है, संभव है कि उसीप्रकार अपने पिताके

सलखन नामको सल्लक्षण नामसे निर्दिष्ट किया हो। पर उक्त दानपत्रमें राजगुरु मदनने उन्हें सर्वजन प्रसिद्ध सलखण नामसे ही उल्लिखित करना समुचित समझा हो।

जिस समय पंडितजीका परिवार धारामें आया था, उस समय विन्ध्यवर्माके सन्धि-विग्रहिक-मन्त्री (परराष्ट्र-सचिव) विल्हण कवीश थे। उनके बाद कोई आश्चर्य नहीं, जो अपनी योग्यताके कारण पंडितजीके पिता सल्लक्षणने भी वह पद प्राप्त कर लिया हो और सम्मान-सूचक राजाकी उपाधि भी उन्हें मिली हो। पं० आशाधरजीने 'अध्यात्म-रहस्य' नामका ग्रन्थ अपने पिताकी आज्ञासे रचा था। यह ग्रन्थ वि० सं० १२९६ के बाद किसी समय रचा गया होगा; क्योंकि इसका उल्लेख वि० सं० १३०० में बनी हुई अनगार-धर्मामृत टीकाकी प्रशस्तिमें तो है, परन्तु १२९३ में बने हुए जिनयज्ञकल्पमें नहीं है। यदि यह सही है, तो मानना होगा कि पंडितजीके पिता १२९६ के बाद भी कुछ समय तक जीवित रहे, और उस समय वे बहुत ही वृद्ध थे। सम्भव है कि उस समय उन्होंने राजकार्य भी छोड़ दिया हो।

पंडितजीने अपनी प्रशस्तियोंमें अपने पुत्र छाहड़को एक विशेषण दिया है—'रंजितार्जुनभूपतिम्'। अर्थात् जिसने राजा अर्जुनवर्मको प्रसन्न किया। इससे अनुमान होता है कि राजा सलखणके समान उनके पोते छाहड़को भी अर्जुनवर्मदेवने कोई राज्यपद दिया होगा। प्रायः राज्य-कर्मचारियोंके वंशजोंको एकके बाद एक राज्य-कार्य मिलते रहे हैं। पण्डित आशाधरजी भी कोई राज्यपद पा सकते थे, मगर उन्होंने उसकी अपेक्षा जिनशासन और जैन-साहित्यकी सेवाको अधिक श्रेयस्कर समझा और आजीवन उसीमें लगे रहे। उनके पिता और पुत्रके उक्त सम्मानसे स्पष्ट है कि एक सुसंस्कृत और राजमान्य कुलमें उनका जन्म हुआ था।

वि० सं० १२४९ के लगभग जब शहाबुद्दीन गोरीने पृथ्वीराजको कैद करके दिल्लीको अपनी राज-धानी बनाया था और अजमेर पर अपना अधिकार कर लिया था, तभी सम्भवतः पण्डितजी मांडलगढ़ छोड़कर धारामें आये होंगे। उस समय वे किशोर ही होंगे, क्योंकि उन्होंने व्याकरण और न्यायशास्त्र वहीं आकर पढ़ा था। यदि उस समय उनकी उम्र १५–१६ वर्षकी रही हो, तो उनका जन्म वि० सं० १२३५ के आसपास हुआ होगा। पण्डितजीकी अन्तिम उपलब्ध कृति अनगारधर्मामृतटीकाका रचनाकाल वि० सं० १३०० है। उसके बाद वे कब तक जीवित रहे, यह पता नहीं! फिर भी ६५ वर्षकी उम्र तो उन्होंने अवश्य पाई, इतना तो कमसे कम सुनिश्चित है।

ग्रन्थ-रचना

पं० आशाधरजीने वि० सं० १३०० तक जितने ग्रन्थोंकी रचना की, उनका विवरण इस प्रकार है:–

१–**प्रमेयरत्नाकर**—इसे पण्डितजीने स्वयं स्याद्वाद विद्याका विशद प्रसाद और निरवद्य गद्य पीयूष पूर वाला तर्क-प्रबन्ध कहा है। यह अभीतक अप्राप्य है[1]।

१–ऐसा प्रतीत होता है कि प्रमेयरत्नाकर पंडितजीकी सर्वोत्तम कृति है। यद्यपि यह अद्यावधि अप्राप्य है, तथापि इसके नाम पर और उसकी प्रशंसामें लिखे गये पद्य पर गंभीरता पूर्वक विचार करनेसे विदित होता है कि यह श्वेताम्बराचार्य वादिदेवसूरि-रचित स्याद्वादरत्नाकरको लक्ष्यमें रखकर रचा गया है। वादिदेवसूरि पंडितजीसे लगभग १२० वर्ष पूर्व हुए हैं। उन्होंने परीक्षामुखका अनुकरण कर प्रमाणनयतत्त्वा-लोक रचा और उस पर स्वयं ही स्याद्वादरत्नाकर नामक विशाल भाष्य लिखा। इसमें उन्होंने प्रभाचन्द्रा-चार्यके प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें किये गये स्त्रीमुक्तिखण्डनके खंडनका प्रयास किया है। यतः स्याद्वादरत्नाकर, सरस, अनुप्रासच्छटायुक्त लम्बे समासवाली गद्यमें रचा गया था, अतः संभव है कि पंडितजीने भी उसी ही शैलीमें अपने प्रस्तुत ग्रन्थकी रचना करना समुचित समझा हो।

पंडितजीने प्रमेयरत्नाकरके परिचयमें जो पद्य अपनी प्रशस्तियोंमें लिखा है, उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि 'स्याद्वादरत्नाकर' से प्रभावित होकर ही पंडितजीने अपने ग्रन्थका नाम 'प्रमेयरत्नाकर' रखा है। वह पद्य इस प्रकार है :—

स्याद्वादविद्याविशदप्रसादः प्रमेयरत्नाकरनामधेयः।
तर्कप्रबन्धो निरवद्यपद्यपीयूषपूरो वहति स्म यस्मात् ॥१०॥ अनगा० प्रशस्ति

अर्थात् प्रमेयरत्नाकर नामका यह तर्क प्रबन्ध, स्याद्वाद विद्याका विशद प्रसाद है, और उसमे निरवद्य विद्यारूप अमृतका पूर प्रवाहित होता है।

इस पद्यमें प्रयुक्त 'स्याद्वाद' पद खास तौरसे विचारणीय है। पंडित आशाधरजीके समयमें श्वेतांबर जैनोंका प्रभाव दिन पर दिन बढ़ रहा था, और वे उससे दुखी थे, यह उनके अनगार धर्मामृतके दूसरे अध्यायमें दिये गये एक पद्यसे प्रकट है। वह पद्य इस प्रकार है :—

अन्तस्खलच्छल्यमिव प्रविष्टं रूपं स्वमेव स्ववधाय येषाम्।
तेषां हि भाग्यैः कलिरेष नूनं तपत्यलं लोकविवेकमश्नन् ॥ २, ८ ॥

अर्थात् जिनके अन्तःकरणमें स्त्री मुक्ति होती है, या नहीं; केवली कवलाहार करते हैं या नहीं; इत्यादि रूपसे संशयमिथ्यात्व शल्यके समान प्रविष्ट होकर उन्हें पीडित कर रहा है; दुःख है कि उनके भाग्यसे यह कलिकाल भी लोगोंके विवेकका भक्षण करता हुआ तदनुकूल ही खूब तप रहा है।

इसकी टीकामें पण्डितजी लिखते हैं :—

"नूनं निश्चितमहमेवं मन्ये—तपति निरंकुशं विजृम्भते। कोऽसौ? एष प्रतीयमानः कलिर्दुःषम-कालः। किं कुर्वन्? अश्नन् भक्षयन् संहरन्। कम्? लोकविवेकं व्यवहर्तृजनानां युक्तायुक्तविचारम्। कथम्? अलं पर्याप्तम्। कैः? भाग्यैः पुण्यैः। केषाम्? तेषां हि तेषामेव सितपटानाम्। येषां किम्? येषां भवति। किं तत्? स्वमेव रूपं। किं केवली कवलाहारी उतस्विदन्यथेत्यादि दोलायितप्रतीतिलक्षणमा-त्मस्वरूपम्. + + + कलिरित्यनेन कलिकाले श्वेतपटमतमुद्‌भूतिति ज्ञापयति।

अतः सम्भव है कि पंडितजीने स्याद्वादरत्नाकरमें स्त्री मुक्ति-मंडन और कवलाहार-सिद्धिके लिए दी गई युक्तियोंका उत्तर दिया हो।

२–भरतेश्वराभ्युदय काव्य –यह संभवतः महाकाव्य है और स्वोपज्ञ टीका सहित है इसके नामसे विदित होता है कि इसमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवके ज्येष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्तीके अभ्युदयका वर्णन होगा। इसे पंडित जीने 'सिद्ध्यङ्क' कहा है, अर्थात् इसके प्रत्येक सर्गके अन्तिम छन्दमें 'सिद्धि' शब्दका प्रयोग किया गया है[१]। यह अप्राप्य है।

३–धर्मामृत– यह जैन आगमके मन्थनसे समुत्पन्न धर्मशास्त्रका धर्मरूप अमृत है। इस ग्रन्थके दो भाग हैं:—प्रथम भागका नाम **अनगारधर्मामृत** है, इसमें मुनिधर्मका वर्णन किया गया है। द्वितीय भागका नाम **सागारधर्मामृत** है और इसमें श्रावकधर्मका विशद वर्णन किया गया है[२]। ये दोनों ग्रन्थ मुद्रित हो चुके हैं।

४–ज्ञानदीपिका—यह धर्मामृतकी स्वोपज्ञ पंजिका है। प्रत्येक पदके अर्थको जो निरुक्तिपूर्वक व्यक्त करे, उसे पंजिका टीका कहते हैं[३]। यह धर्मामृतकी मुद्रित भव्य कुमुदचन्द्रिका टीकासे बहुत विस्तृत रही है, इसका साक्षी स्वयं पंडितजीका एक उल्लेख है। सागारधर्मामृतकी टीकाके प्रारम्भमें पंडितजी लिखते हैं कि—

१ सिद्ध्यङ्कं भरतेश्वराभ्युदयसत्काव्यं निबन्धोज्ज्वलं यस्त्रैविद्यकवीन्द्रमोदनमयं स्वश्रेयसेऽरीरचत्।
२ योऽर्हद्वाक्यरसं निबन्धरुचिरं शास्त्रं च धर्मामृतं निर्माय न्यदधान्मुमुक्षुविदुषामानन्दसान्द्रे हृदि ॥११॥
३ निबन्धरुचिरं–स्वयंकृतज्ञानदीपिकाख्यपंजिकया रमणीयम्। अनगार० प्रशस्ति

समर्थनादि यन्नात्र ब्रुवे व्यासभयात्क्वचित् । तज्ज्ञानदीपिकाख्यैतत्पञ्जिकायां विलोक्यताम् ॥ सागार०पृ०१

अर्थात् विस्तारके भयसे जो समर्थन आदि यहाँ नहीं कह रहा हूं, उसे ज्ञानदीपिका नामकी पंजिकामें देखना चाहिए। कहते हैं कि कोल्हापुरके जैन मठमें इसकी एक कनड़ी प्रति थी, जिसका उपयोग स्व० पं० कल्लाप्पा भरमाप्पा निटवेने सागारधर्मामृतकी मराठी टीकामें किया था और उसमें टिप्पणीके तौरपर बहुत कुछ अंश उद्धृत भी किया था। दुःख है कि वह कनड़ी प्रति जलकर नष्ट हो गई। अन्यत्र किसी भंडारमें अभी तक इस पंजिकाका पता नहीं लगा।

५-अष्टाङ्गहृदयोद्योतिनी टीका—यह आयुर्वेदाचार्य वाग्भटके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ वाग्भट अपरनाम अष्टाङ्गहृदयकी टीका है[1] जो अप्राप्य है।

६-मूलाराधना टीका*—यह सुप्रसिद्ध भगवती-आराधना नामक प्राकृत ग्रन्थकी टीका है, जो कि उक्त ग्रन्थकी अन्य टीकाओंके साथ शोलापुरसे मुद्रित हो चुकी है।

७-इष्टोपदेश टीका*—यह आचार्य पूज्यपादके इष्टोपदेशकी संस्कृत टीका है। इसे पंडितजीने मुनि विनयचन्द्रकी प्रेरणासे बनाया था। यह टीका माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमालाके तत्त्वानुशासनादिसंग्रहमें प्रकाशित हो चुकी है।

८-आराधनासार टीका†—यह आचार्य देवसेनके आराधनासार नामक प्राकृत ग्रन्थकी संस्कृत टीका है, जो आज अप्राप्य है।

९-भूपालचतुर्विंशतिका टीका†—भूपाल कविके सुप्रसिद्ध और उपलब्ध स्तोत्रकी यह टीका भी अब तक नहीं मिली।

१०-अमरकोष टीका*—अमरसिंहके सुप्रसिद्ध अमरकोषकी यह संस्कृत टीका भी अद्यावधि अप्राप्य है।

११-क्रिया-कलाप*—पंडितजीने यह ग्रन्थ प्रभाचन्द्राचार्यके क्रियाकलापके ढंगपर स्वतंत्र रचा है। इसकी एक प्रति बम्बईके ऐलक सरस्वती भवनमें है। जिसमें ५२ पत्र हैं और जो १६७६ श्लोक-प्रमाण है।

१२-काव्यालंकार टीका§—अलंकार शास्त्रके सुप्रसिद्ध आचार्य रुद्रटके काव्यालंकार पर लिखी गई यह टीका भी अप्राप्य है।

१३-सहस्रनामस्तवन सटीक§—यह प्रस्तुत स्वोपज्ञ सहस्रनाम है, जिसका विस्तृत परिचय प्रस्तावनामें दिया जा चुका है। आजके पहले यह अप्राप्य था। ललितपुरके बड़े मन्दिरमें इसकी एक प्रति मिली है, जिसके आधार पर यह मुद्रित किया गया है। इसकी अन्तिम पुष्पिकासे विदित होता है कि इस ग्रन्थकी टीकाकी रचना भी मुनि विनयचन्द्रकी प्रेरणासे हुई है और संभवतः उन्होंने इसको सर्वप्रथम अपने हाथसे लिखा है*।

---

१ आयुर्वेदविदामिष्टां व्यक्तं वाग्भटसंहिताम् । अष्टाङ्गहृदयोद्योतं निबन्धमसृजच्च यः ॥ १२ ॥

* यो मूलाराधनेष्टोपदेशादिषु निबन्धनम् । व्यधत्तामरकोषे च क्रियाकलापमुज्जगौ ॥ १३ ॥

† आदिः आराधनासार-भूपालचतुर्विंशतिस्तवनाद्यर्थः । उज्जगौ उत्कृष्टं कृतवान् ॥

§ रौद्रटस्य व्यधात्काव्यालङ्कारस्य निबन्धनम् । सहस्रनामस्तवनं सनिबन्धं च योऽर्हताम् ॥ १४ ॥

सागार० प्रशस्ति।

* × × × मुनिश्री विनयचन्द्रेण कर्मक्षयार्थं लिखितम् ।

(सहस्रनाम श्लोक १०३ की टीकाके अन्तमें)

इत्याशाधरसूरिकृतं जिनसहस्रनामस्तवनं समाप्तम् । मुनिश्री विनयचन्द्रेण लिखितम् ।

श्री मूलसंघे सरस्वती गच्छे XXX तच्छिष्य मुनिश्रीविनयचन्द्र पठनार्थं । अन्याग्र ११४५ । शुभं भवतु ॥ (अ प्रतिका अन्तिम पत्र)

१४-जिनयज्ञकल्प सटीक—जिनयज्ञकल्पका दूसरा नाम प्रतिष्ठासारोद्धार है। यह मूल ग्रन्थ तो मुद्रित हो चुका है, पर टीका अभी तक अप्राप्य है। इस ग्रन्थमें प्रतिष्ठासम्बन्धी सभी क्रियाओंका विस्तारसे वर्णन किया गया है। पापा साधुकी प्रेरणासे इस ग्रन्थकी रचना हुई है।[1] इसकी आद्य पुस्तक केल्हणने लिखी और उन्होंने ही जिनयज्ञकल्पका प्रचार किया था।[2] मूलग्रन्थकी रचना वि० सं० १२८५ में हुई है और टीकाकी रचना वि० सं० १२८५ और १२९६ के मध्य हुई है।

१५-त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र सटीक—इसमें तिरेसठशलाका पुरुषोंका चरित जिनसेनके महापुराणके आधार पर अत्यन्त संक्षेपसे लिखा गया है पंडितजीने इसे नित्य स्वाध्यायके लिए जाजाक पण्डितकी प्रेरणासे रचा था।[3] इसकी आद्य पुस्तक खण्डेलवाल कुलोत्पन्न धीनाक नामक श्रावकने लिखी थी।[4] इस ग्रन्थकी रचना वि० सं० १२९२ में हुई है।

१६-नित्यमहोद्योत—यह जिनाभिषेक-सम्बन्धी स्नानशास्त्र है, जो कि श्रुतसागरसूरिकी संस्कृत टीका सहित प्रकाशित हो चुका है।[5]

१७-रत्नत्रयविधान—इसमें रत्नत्रयविधानके पूजन-माहात्म्यका वर्णन किया गया है।[6] यह ग्रन्थ बम्बईके ऐलक सरस्वतीभवनमें है, जिसकी पत्र संख्या आठ है।

१८-सागारधर्मामृतकी भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका—पण्डितजीने महीचन्द्र साहुकी प्रेरणासे इसे रचा और महीचन्द्र साहुने इसकी प्रथम पुस्तक लिखकर तैयार की। इस टीकाकी रचना वि० सं० १२९६ पौष बदी ७ शुक्रवारको हुई है।[7] इसका परिमाण ४५०० श्लोक प्रमाण है।

---

१ खांडिल्यान्वयभूपणाल्हणसुतः सागारधर्मे रतो
वास्तव्यो नलकच्छचारुनगरे कर्त्ता परोपक्रियाम्।
सर्वज्ञार्चनपात्रदानसमयोद्योतप्रतिष्ठाग्रणीः
पापासाधुरकारयत्पुनरिमं कृत्वोपरोधं मुहुः ॥ १९ ॥ जिनयज्ञ० प्रशस्ति

२ खंड्याल्खाण्डिल्यवंशोत्थः केल्हणो न्यासवित्तरः।
लिखितो येन पाठार्थमस्य प्रथमपुस्तकम् ॥ २३ ॥ जिनयज्ञ० प्रशस्ति

३ संक्षिप्यतां पुराणानि नित्यस्वाध्यायसिद्धये।
इति पण्डितजाजाकाद्विज्ञप्तिः प्रेरिकात्र मे ॥ ६ ॥ त्रिषष्टि० प्रशस्ति।

४ खांडिल्यवंशे महणकमलश्रीसुतः सुदृक्।
धीनाको वर्धतां येन लिखितास्याद्यपुस्तिका ॥ १४ ॥ त्रिषष्टि० प्रशस्ति।

५ योऽर्हन्महाभिषेकार्चाविधिं मोहतमोरविम्।
चक्रे नित्यमहोद्योतं स्नानशास्त्रं जिनेशिनाम् ॥ १७ ॥ अनगार० प्रशस्ति।

६ रत्नत्रयविधानस्य पूजामाहात्म्यवर्णकम्।
रत्नत्रयविधानाख्यं शास्त्रं वितनुते स्म यः ॥ १८ ॥ अनगार० प्रशस्ति।

७ षण्णवद्व्येकसंख्यानविक्रमाङ्कसमात्यये।
सप्तम्यामसिते पौषे सिद्धेयं नन्दताच्चिरम् ॥ २१ ॥ अनगार० प्रशस्ति।
श्रीमान् श्रेष्ठिसमुद्धरस्य तनयः श्रीपौरपाटान्वय-
व्योमेन्दुः सुकृतेन नन्दतु महीचन्द्रो यदभ्यर्थनात्।
चक्रे श्रावकधर्मदीपकमिमं ग्रन्थं बुधाशाधरो
ग्रन्थस्यास्य च लेखतोऽपि विदधे येनादिमः पुस्तकः ॥ २२ ॥ अनगार० प्रशस्ति।

१९-**राजीमती विप्रलम्भ**—यह एक खण्ड काव्य है, जिसमें नेमिनाथके विवाह और राजुलके परित्यागका वर्णन किया गया है।[1] यह भी अप्राप्य है।

२०-**अध्यात्मरहस्य**—पण्डितजीने अपने पिताके आदेशसे इसकी रचना की थी। इसमें योगके विविध अंगोंका विशद वर्णन किया गया है।[2] दुःख है कि यह भी अप्राप्य है।

२१-**अनगारधर्मामृतकी भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका**—पण्डितजीने धणचन्द्र और हरदेवकी प्रेरणासे इस टीकाकी रचना वि० सं० १३०० कार्तिकसुदी ५ सोमवारको की है।[3] इस टीकाका परिमाण १२२०० श्लोकके लगभग है।

प्रमेयरत्नाकरसे लेकर जिनसहस्रनाम स्तवन तकके १३ ग्रन्थोंकी रचना वि० सं० १२८५ से पूर्व और नालछा पहुँचनेके पश्चात् मध्यवर्त्ती समयमें हुई है। इनमेंसे अधिकांश ग्रन्थ अप्राप्य हैं, अतः उनकी प्रशस्ति आदिके न मिलनेसे उनके रचना-कालका ठीक निर्णय नहीं किया जा सकता। वि० सं० १२८५ में रचे गये जिनयज्ञकल्पमें उनका उल्लेख होनेसे उसके पूर्व ही उनका रचा जाना सिद्ध है। शेष ग्रन्थोंकी रचना वि० सं० १२८५ और १३०० के बीच हुई है। पण्डितजीके रचनाओंमें अनगारधर्मामृत टीका सबसे अन्तिम रचना है। इसके पश्चात् रचे गये किसी अन्य ग्रन्थका न तो पता लगता है और न यही विदित होता है कि पण्डितजी कब तक जीवित रहे।

पं० आशाधरके गुरु और शिष्यवर्ग

१-**पं० महावीर**—पं० आशाधरजीने धारामें आकर इनसे जैनेन्द्र व्याकरण और न्यायशास्त्र पढ़ा था।

२-**मुनि उदयसेन**—इन्होंने पं० आशाधरजीको 'कलिकालिदास' कहकर अभिनन्दित किया था।

३-**यतिपति मदनकीर्त्ति**-इन्होंने पंडितजीको 'प्रज्ञापुञ्ज' कह कर अभिनन्दित किया था।
पं० जीने अपनी सहस्रनाम टीकाके प्रारम्भमें इन तीनोंको गुरुभावसे स्मरण किया है।

४-**विल्हणकवीश**—इन्होंने पंडितजीको 'सरस्वती पुत्र' कह कर अभिनन्दित किया था।

५-**वादीन्द्र विशालकीर्त्ति**—इन्होंने पं०जीसे न्यायशास्त्र पढ़ा था।

६-**पं० देवचन्द्र**—इन्होंने पं० जीसे व्याकरणशास्त्र पढ़ा था।

७-**मुनि विनयचन्द्र**—इन्होंने पं० जीसे धर्मशास्त्र पढ़ा था।

८-**महाकवि मदनोपाध्याय**—इन्होंने पं० जीसे काव्यशास्त्र पढ़ा था।

१-राजीमतीविप्रलम्भं नाम नेमीश्वरानुगम्।
व्यधत्त खण्डकाव्यं यः स्वयंकृतनिबन्धनम् ॥ १२ ॥

२-आदेशात्पितुरध्यात्मरहस्यं नाम यो व्यधात्।
शास्त्रं प्रसन्नगम्भीरं प्रियमारब्धयोगिनाम् ॥ १३ ॥

३-हरदेवेन विज्ञप्तो धणचन्द्रोपरोधतः।
पंडिताशाधरश्चक्रे टीकां क्षोदक्षमामिमाम् ॥ २८ ॥
नलकच्छपुरे श्रीमन्नेमिचैत्यालयेऽसिधत्।
विक्रमाब्दशतेष्वेषा त्रयोदशसु कार्त्तिके ॥ ३१ ॥ अनगार प्रशस्ति।

सहस्रनामके टीकाकार श्रुतसागरका परिचय[1]

श्री श्रुतसागरसूरि मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ, बलात्कारगणमें हुए हैं और इनके गुरुका नाम विद्यानन्दि था। विद्यानन्दि देवेन्द्रकीर्तिके, और देवेन्द्रकीर्ति पद्मनन्दिके शिष्य और उत्तराधिकारी थे। विद्यानन्दिके बाद मल्लिभूषण और उनके बाद लक्ष्मीचन्द्र भट्टारक पद पर आसीन हुए थे। श्रुतसागर शायद गद्दी पर नहीं बैठे। मल्लिभूषणको उन्होंने अपना गुरुभाई लिखा है।

विद्यानन्दि सम्भवतः गुजरातमें ही किसी भट्टारक-गद्दी पर आसीन थे, किन्तु कहां पर, इसका कुछ पता नहीं चलता। वैराग्यमणिमालाकार श्रीचन्द्रने श्रुतसागरको गुरुभावसे स्मरण किया है। आराधना-कथाकोश, नेमिपुराण आदि ग्रन्थोंके कर्ता ब्रह्मनेमिदत्तने भी, जो मल्लिभूषणके शिष्य थे—श्रुतसागरको गुरु-भावसे स्मरण किया है और मल्लिभूषणकी वही गुरुपरम्परा दी है जो कि श्रुतसागरके ग्रन्थोंमें मिलती है। उन्होंने सिंहनन्दिका भी उल्लेख किया है जो मालवाकी गद्दीके भट्टारक थे और जिनकी प्रार्थनासे श्रुत-सागरने यशस्तिलककी टीका लिखी थी।

श्रुतसागरने अपनेको कलिकालसर्वज्ञ, कलिकालगौतम, उभयभाषाकविचक्रवर्ती, व्याकरणकमलमार्तंड, तार्किकशिरोमणि, परमागमप्रवीण, नवनवतिमहामहावादिविजेता, आदि विशेषणोंसे अलंकृत किया है।

समय-विचार

श्रुतसागरने अपने किसी भी ग्रन्थमें रचनाका समय नहीं दिया है, परन्तु यह प्रायः निश्चित है कि ये विक्रमकी १६ वीं शताब्दिमें हुए हैं। क्योंकि—

१—महाभिषेक टीकाकी प्रशस्ति वि० सं० १५८२ में लिखी गई है और यह भट्टारक मल्लिभूषणके उत्तराधिकारी लक्ष्मीचन्द्रके शिष्य ब्र० ज्ञानसागरके पढ़नेके लिए दान की गई है और इन लक्ष्मीचन्द्रका उल्लेख श्रुतसागरने स्वयं अपने टीका-ग्रन्थोंमें कई जगह किया है।

२—ब्र० नेमिदत्तने श्रीपालचरित्रकी रचना वि० सं० १५८५ में की थी और वे मल्लिभूषणके शिष्य थे। आराधना-कथाकोशकी प्रशस्तिमें उन्होंने मल्लिभूषणका गुरुरूपमें[2] उल्लेख किया है और साथ ही श्रुत-सागरका भी जयकार किया है[3], अर्थात् कथाकोशकी रचनाके समय श्रुतसागर मौजूद थे।

३—स्व० बाबा दुलीचन्द्रजीकी सं० १९५४ में लिखी गई ग्रन्थसूचीमें श्रुतसागरका समय वि० सं० १५५० लिखा हुआ है।

४—षट्प्राभृतटीकामें लोंकागच्छ पर तीव्र आक्रमण किये गये हैं। कहा जाता है कि यह वि० सं० १५३० के लगभग स्थापित हुआ था। अतएव उससे ये कुछ समय पीछे ही हुए होंगे। सम्भव है, वे लोंकाशाहके समकालीन ही हों।

---

१ यह परिचय भी श्रीमान् पं० नाथूरामजी प्रेमी-लिखित "जैनसाहित्य और इतिहास" नामक पुस्तकसे साभार उद्धृत किया गया है। —सम्पादक

२ श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरुर्भूयात्सतां शर्मणे ॥ ६६ ॥

३ जीयान्मे सूरिवर्यो व्रतनिचयलसत्पुण्यपण्यः श्रुताब्धिः ॥ ७१ ॥

ग्रन्थ-रचना

श्रुतसागरके उपलब्ध ग्रन्थोंके देखनेसे विदित होता है कि उन्होंने अधिकतर टीकाओंकी ही रचना की है। अब तक जो उनकी रचनाएं सामने आई हैं, उनका परिचय इस प्रकार है:—

१-यशस्तिलकचन्द्रिका—आचार्य सोमदेवके प्रसिद्ध ग्रन्थ यशस्तिलकचम्पूकी यह टीका है, जो कि मूल ग्रन्थके साथ मुद्रित हो चुकी है। यद्यपि इसकी प्रतियां अन्य अनेक भंडारोंमें पाई जाती हैं, तथापि वह सर्वत्र अपूर्ण ही है। प्रारम्भसे लेकर पांचवें आश्वासके लगभग दो तिहाई भाग तककी ही टीका मिलती है। जान पड़ता है, यह उनकी अन्तिम रचना है।

२-तत्त्वार्थवृत्ति—आ० उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्र पर पूज्यपादने जो सर्वार्थसिद्धि नामक वृत्ति लिखी है, उसे आधार बनाकर श्रुतसागरने नौ हजार श्लोक प्रमाण यह टीका बनाई है। यह भारतीय ज्ञानपीठ काशीसे मुद्रित हो चुकी है।

३-तत्त्वत्रयप्रकाशिका—आ० शुभचन्द्रके ज्ञानार्णवमें जो गद्य भाग है, यह उसीकी टीका है। इसकी एक प्रति स्व० सेठ माणिकचन्द्र पानाचन्द्र बम्बईके ग्रन्थ-संग्रहमें मौजूद है।

४-औदार्यचिन्तामणि—यह प्राकृत व्याकरण है, जो हेमचन्द्र और त्रिविक्रमके व्याकरणोंसे बड़ा है। इसकी एक प्रति बम्बईके ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवनमें है, जिसकी पत्रसंख्या ५६ है। यह स्वोपज्ञ-वृत्तियुक्त है।

५-महाभिषेकटीका—पं० आशाधरके नित्यमहोद्योतकी टीका है। यह उस समय बनाई गई है, जब कि श्रुतसागर देशव्रती या ब्रह्मचारी थे।

६-व्रतकथाकोश—इसमें आकाशपञ्चमी, मुकुटसप्तमी, चन्दनषष्ठी, अष्टाह्निका आदि व्रतोंकी कथाएं हैं। इसकी भी एक प्रति बम्बईके ऐलक सरस्वतीभवनमें है और वह भी उनकी प्रारम्भिक-रचना है।

७-श्रुतस्कन्धपूजा—यह छोटी सी नौ पत्रोंकी रचना है, इसकी भी एक प्रति उक्त सरस्वती-भवनमें है।

८-जिनसहस्रनामटीका—पं० आशाधर-रचित जिनसहस्रनामकी यह प्रस्तुत टीका है। इसे श्रुतसागरने पं० आशाधरजीकी स्वोपज्ञवृत्तिको आधार बनाकर, या उसे आत्मसात् करके रचा है। पं०जीकी स्वोपज्ञवृत्तिका परिमाण केवल ११४५ श्लोक-प्रमाण है, जब कि श्रुतसागरसूरिने उसे पल्लवित कर लगभग छह हजार श्लोक प्रमाण रचा है।

इनके अतिरिक्त श्रुतसागरके नामसे अन्य अनेकों ग्रन्थोंके नाम ग्रन्थ-सूचियोंमें मिलते हैं, परन्तु उनके विषयमें जब तक वे देख न लिए जायं, निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता।

प्रस्तुत श्रुतसागरी टीकाके विषयमें

१-पिष्टपेषण—जिनसहस्रनामकी प्रस्तुत श्रुतसागरी टीकाके आद्योपांत अवलोकन करने पर जहां एक ओर उनके विशाल पाण्डित्यका परिचय मिलता है, वहां दूसरी ओर अनेक स्थलोंपर कई बातोंकी पुनरुक्ति देखकर आश्चर्य भी होता है। उदाहरणके तौरपर श्रुतसागरने ८४००००० चौरासी लाख उत्तर गुणोंका निरूपण तीन स्थलों पर किया है। सर्व प्रथम छठे शतकमें 'महाशील' नामकी व्याख्या करते हुए शीलके अठारह हजार भेद बतानेके अनन्तर बिना ही प्रकरणके 'अथ गुणाः कथ्यन्ते ८४०००००' कहकर उनका वर्णन किया है, जो कि बिलकुल ही अप्रकृत है। दूसरी बार इसी शतकके 'गुणाम्भोधिः' नामकी व्याख्यामें 'वा गुणानां चतुरशीतिलक्षाणां अम्भोधिः' कहकर चौरासी लाख गुणोंको दुबारा गिनाना प्रारम्भ कर दिया है। यहां भी यह वर्णन कुछ असङ्गतसा ही लगता है। तीसरी बार दशवें शतकमें 'चतुरशीतिलक्षगुणः' की व्याख्यामें चौरासी लाख उत्तरगुण गिनाये गये हैं, जो कि प्रकरण-संगत हैं। वास्तवमें यहां पर ही इन गुणोंका वर्णन होना चाहिए था, इसके पूर्व दोनों बारका निरूपण अप्रकृत है।

इसीप्रकार शीलके अठारह हजार भेदोंको भी दो बार गिनाया गया है, पहली बार 'छठे शतकमें 'महाशील' नामकी व्याख्या करते हुए और दूसरी बार दशवें शतकमें 'अष्टादशसहस्रशीलाश्वः' नामकी व्याख्या करते हुए। यद्यपि शीलके उक्तभेद गिनानेके लिए दोनों स्थल उपयुक्त हैं, फिर भी प्रथमकी अपेक्षा द्वितीय स्थल ही अधिक प्रकरण-सङ्गत है।

२–असम्बद्ध – दशवें शतकमें 'मृतार्थदृग्' नामकी व्याख्या करते हुए 'आचार्य समन्तभद्रकी अंतिम कारिका 'इतीयमाप्तमीमांसा' उद्धृत करके उसकी भी व्याख्या प्रारम्भ कर दी है, जो कि बिलकुल ही असङ्गत प्रतीत होती है। इसीप्रकार चौरासी लाख उत्तरगुण गिनाते हुए अनगारधर्मामृतके श्लोकोंको उद्धृत करके उनकी भी व्याख्या करना असंगत जंचती है। द्वितीय शतकके अन्तिम 'महाबल' नामकी व्याख्या करते हुए पं० आशाधरजीके नामका निर्देश कर और 'नार्यल्यान्' आदि श्लोक उद्धृत कर उसकी भी व्याख्या की गई है, जो कि असम्बद्ध प्रतीत होती है। जिस कथानकके देनेके लिए इतना श्रम किया है, वह उक्त श्लोक और उसकी व्याख्याके बिना भी लिखा जा सकता था। इसी प्रकार और भी ३–४ स्थलों पर ऐसा ही किया गया है।

३–साम्प्रदायिकता—श्रुतसागरने कहीं-कहीं खींच-तान करके भगवानके नामसे साम्प्रदायिकताका भी परिचय दिया है। (देखो—नवें शतकमें निर्विकल्पदर्शन आदि की व्याख्या)

दशवें शतकके 'अत्यन्त' नामकी व्याख्यामें समन्तभद्रको आगामी उत्सर्पिणीकालमें तीर्थंकर होनेका उल्लेख कर उनका एक श्लोक उद्धृत किया है।

श्रुतसागरका पाण्डित्य

श्रुतसागरने जिनसहस्रनामकी प्रस्तुत टीकामें लगभग ३१ आचार्योंके नामोंका, और १२ ग्रन्थोंका नाम उल्लेख कर उनके श्लोकोंको उद्धृत किया है जिनसे उनके अगाध श्रुतधरत्वका परिचय मिलता है।

कुछ स्थलों पर तो एक-एक नामके दशसे भी अधिक अर्थ करके अपने व्याकरण और कोष विषयक विशाल ज्ञानका परिचय दिया है। विश्वशम्भुमुनि–प्रणीत एकाक्षर नाममाला तो आपको मानों कंठस्थ ही थी। इसके लगभग ५० पद्योंको श्रुतसागरने अपनी टीकामें उद्धृत किया है। इसी प्रकार नामोंके निरुक्त्यर्थको प्रमाणित करनेके लिए कातंत्र आदि व्याकरणके दो सौसे भी ऊपर सूत्रोंको उद्धृत किया गया है। नवें बुद्धशतकमें षड्दर्शनिकोंके नामोंकी व्याख्यामें उनके मतोंका उन तत्सम्मत तत्त्व एवं पदार्थोंका जो पांडित्यपूर्ण दार्शनिक विवेचन किया है, उससे श्रुतसागरके न्यायशास्त्रकी अगाध विद्वत्ताका परिचय मिलता है। दशवें शतककी व्याख्यामें श्रुतसागरने अपने सैद्धान्तिक विद्वत्ताका यथेष्ट परिचय दिया है।

संक्षेपमें जिनसहस्रनामकी टीकाको देखते हुए यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि उन्होंने अपने लिए जो व्याकरणकमलमार्तण्ड, तार्किकशिरोमणि, परमागमप्रवीण और 'शब्दश्लेषप्रभेदने निपुणः' आदि पद-विभूषित कहा है, वह सर्वथा उचित और उनके नामके अनुरूप ही है।

श्रुतसागर पर एक आरोप

प्रस्तुत सहस्रनामकी पण्डित आशाधरकृत स्वोपज्ञवृत्तिको ही आधार बनाकर श्रुतसागरसूरिने अपनी टीकाका निर्माण किया है, फिर भी उन्होंने कहीं भी इसका जरा सा भी संकेत नहीं किया है। दोनों टीकाओंको सामने रखकर देखने पर यह बात हृदय पर स्वतः ही अङ्कित हो जाती है कि उन्होंने आशाधरजीकी स्वोपज्ञवृत्तिको उसीप्रकार पूर्णरूपेण आत्मसात् कर लिया है, जिस प्रकार पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धिको अपनी तत्त्वार्थवृत्तिमें। यदि आज पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि और पण्डित आशाधरकी स्वोपज्ञवृत्ति पृथक् उपलब्ध न होतीं, तो इस बातकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी कि श्रुतसागर अपनी टीकाओंमें अन्य आचार्योंकी टीकाओंको भी आत्मसात् कर गये हैं। उनपर यह एक आरोप है, जिससे वे इनकार नहीं कर सकते और जो इन दोनों ग्रन्थोंके अभ्यासियोंसे अप्रकट नहीं रह सकता है।

श्रुतसागरी टीकागत कुछ विशेष बातें

१–धर्मचक्र—जब तीर्थंकर भगवान् भव्यजीवोंको धर्मोपदेश देनेके लिए भूतल पर विहार करते हैं, तब यह भगवान्‌के संघके आगे-आगे आकाशमें निराधार घूमता हुआ चलता है। श्रीदेवनन्दी आचार्यने इसके विषयमें लिखा है कि इसके एक हजार आरे होते हैं, नाना प्रकारके महारत्नोंसे यह जड़ा हुआ होता है और इसकी कान्ति सूर्यकी प्रभाको भी लज्जित करनेवाली होती है। (२, ७१)

२–महाबल—जिनभगवान्‌का यह भी एक नाम है। इसके विषयमें आशाधरजीने लिखा है कि एक बार जब भगवान् महावीर कुमार थे और अन्य राजकुमारोंके साथ कुंडग्रामके उद्यानमें एक वृक्षके ऊपर क्रीड़ा कर रहे थे, तब सौधर्म-इन्द्रकी सभामें चर्चा चली कि इस समय भूतल पर श्रीवीरप्रभु सबसे अधिक बलवान् हैं। संगमक नामक एक देवको उस पर विश्वास नहीं हुआ और वह भगवान् की परीक्षाके लिए एक अजगरका रूप बनाकर उस वृक्ष पर लिपट गया, जिसपर कि राजकुमारोंके साथ भगवान् क्रीड़ा कर रहे थे। सांपको वृक्षसे लिपटता और ऊपर चढ़ता हुआ देखकर सब राजकुमार भयसे विह्वल हो वृक्षसे कूदकर भाग गये, पर श्रीवीरकुमार उसके लपलपाती हुई सैकड़ों जीभ वाले फणामंडल पर पैर रखते हुए वृक्षसे नीचे उतरे और उसके साथ बहुत देर तक क्रीड़ा करते रहे। संगमकदेव यह देखकर अति विस्मित हुआ और आप महाबलशाली हैं, ऐसा कहकर और भगवान्‌को नमस्कार करके अपने स्थानको चला गया। (२,१००)

३–दृग्विशुद्धि—पचीस दोष-रहित, अष्टगुण-सहित और चर्मजल, घृत, तैल आदि अभक्ष्य-भक्षण-वर्जित सम्यग्दर्शनके धारण करनेको दृग्विशुद्धि कहते हैं। (३,२०)

४–द्वादश गण—तीर्थंकर भगवान्‌की व्याख्यान-सभाको समवसरण या आस्थानमंडप कहते हैं। उसमें श्रोताओंके बैठनेके बारह कक्ष या प्रकोष्ठ होते हैं। उनमें प्रदक्षिणारूपसे क्रमशः निर्ग्रन्थ मुनि, सोलह स्वर्गोंकी देवियां, आर्यिका एवं अन्य मनुष्य स्त्रियां, ज्योतिष्क देवियां, व्यन्तरदेवियां, भवनवासिनी देवियां, भवनवासी देव, व्यन्तरदेव, ज्योतिष्कदेव, कल्पवासीदेव, मनुष्य और पशु गण बैठकर भगवान्‌का धर्मोपदेश सुनते हैं। ये बारह सभावर्त्ती जीव ही भगवान्‌के द्वादश गण कहलाते हैं। (३,२०)

५–दिव्य अतिशय—भगवान्‌के पवित्र-सान्निध्यका यह दिव्य अतिशय बतलाया गया है कि जन्मान्ध लोग भी देखने लगते हैं, बहरे मनुष्य सुनने लगते हैं, गूंगे बोलने लगते हैं और पंगुजन भले प्रकारसे गमन करने लगते हैं। (३, २०)

६–सुस्वप्नदर्शी—जब तीर्थंकर भगवान् माताके गर्भमें आते हैं, तब उसके पूर्व ही माताको १६ स्वप्न दिखाई देते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं:—१ ऐरावत गज, २ बैल, ३ सिंह, ४ लक्ष्मी, ५ दो मालाएं, ६ चन्द्रमा, ७ सूर्य, ८ मीन-युगल, ९ पूर्णघट, १० कमलयुक्त सरोवर, ११ समुद्र, १२ सिंहासन, १३ देव-विमान, १४ नागभवन, १५ रत्नराशि और १६ निर्धूम अग्नि। इन सोलह स्वप्नोंको देखनेके अनन्तर माताको ऐरावत हाथी मुखमें प्रवेश करता हुआ दिखाई देता है। उपर्युक्त सुन्दर स्वप्नोंको दिखानेके कारण लोग भगवान्‌को सुस्वप्नदर्शी कहते हैं। (३,२२)

७–पद्मभू—गर्भकालमें माताके गर्भाशयमें भगवान्‌के पुण्य-प्रभावसे एक दिव्य कमलकी रचना होती है। उस कमलकी कर्णिका पर एक सिंहासनकी सृष्टि होती है, उसपर विराजमान गर्भ गत भगवान् वृद्धिको प्राप्त होते हैं, इसलिए लोग उन्हें पद्मभू, अब्जभू आदि नामोंसे पुकारते हैं। (३,२९)

८–चारणर्षि—क्रिया विषयक ऋद्धि दो प्रकारकी होती है:—चारणऋद्धि और आकाशगामित्व ऋद्धि। अग्निकी शिखा, जलका उपरितल, वृक्षोंके पत्र, पुष्प और फल आदिका आलम्बनकर उनके संस्पर्शके बिना ही अधर-गमन करनेको चारणऋद्धि कहते हैं। बैठे-बैठे ही अथवा खड़े-खड़े ही निराधार आकाशमें गमन करनेको आकाशगामित्वऋद्धि कहते हैं। इस ऋद्धिवाले साधु बिना पैरोंके चलाये हुए ही पक्षियोंके

समान आकाशमें उड़ते चले जाते हैं, और पृथ्वीपर पैरोंके उठाने-रखनेके समान आकाशमें पाद-निक्षेप करते हुए भी गमन करते हुए जाते हैं। जिन साधुओंको ये दोनों प्रकारकी अथवा एक प्रकारकी ऋद्धि प्राप्त होती है, उन्हें चारणर्षि कहते हैं। (३,४३) (८,६)

९-शक्रारब्धानन्द नृत्य और इन्द्रनृत्यन्तपितृक—इन दो नामोंके द्वारा यह सूचित किया गया है कि सौधर्म-इन्द्र दो बार स्वयं नृत्य करता है। एक बार तो मेरुगिरिपर जन्माभिषेकके पश्चात् भगवानके आगे और दूसरी भगवान् माताको सौंपकर तदनन्तर भगवानके पिताके सामने। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अन्य अवसरोंपर इन्द्र स्वयं नृत्य नहीं करता है, किन्तु उसके आदेशसे अन्य देव या देवियां नृत्य करती हैं।

१०-देवर्षि—देवोंके समान आकाशमें गमन करनेवाले ऋषियोंको देवर्षि कहते हैं। (६, २०) तथा देवोंमें जो ऋषियोंके समान ब्रह्मचारी रहते हैं, सदा तत्त्व-चिन्तन करते हुए परम उदासीन जीवन-यापन करते हैं और तीर्थंकरोंके निष्क्रमण कल्याणकके अवसर पर उन्हें सम्बोधनके लिए आते हैं, ऐसे लौकान्तिक देवोंको भी देवर्षि कहते हैं। (३, ५८)

११-कुबेरनिर्मितास्थान—समवसरणमें मानस्तम्भ, सरोवर, प्राकार, कोट, खाई, वापी, वाटिका, नाट्यशाला, कल्पवृक्ष, स्तूप, आदिकी रचना होती है। इन्द्रके आदेशसे कुबेर पूर्ण वैभवसे उसे सज्जित करता है, इसलिए समवसरण कुबेर-निर्मित-आस्थान कहलाता है। (३, ६१)

१२-सत्यशासन—भगवान्का शासन अर्थात् धर्मोपदेश पूर्वापर विरोधसे रहित होता है, अतएव वह सत्यशासन कहलाता है। पर-मतावलम्बियोंका शासन पूर्वापर-विरुद्ध होता है। वे एक स्थलपर जो बात कहते हैं, दूसरे स्थलपर उससे बिलकुल विपरीत कहते हैं। जैसे—ब्राह्मणको नहीं मारना चाहिए, शराब नहीं पीना चाहिए, ब्रह्मचर्यसे रहना चाहिए, इत्यादि कहकर भी अन्यत्र कहते हैं कि ब्रह्म-प्राप्तिके लिए ब्राह्मणको मारे, सौत्रामणि यज्ञमें शराबके पीनेमें कोई पाप नहीं, गोसव यज्ञके अन्तमें माता और बहिनके साथ भी भोग कर सकता है, इत्यादि। एक बार कहते हैं कि जो तिलभर भी मांस खाता है, वह नरकमें जाता है, दूसरी बार कहते हैं कि श्रोत्रिय ब्राह्मणके आतिथ्यके लिए बैलका वध करे, आदि। एक बार कहते हैं कि किसी भी प्राणीको नहीं मारना चाहिए, दूसरे स्थलपर कहते हैं कि ये पशु यज्ञके लिए ही बनाये गये हैं, इत्यादि। अतएव उनके शासनको सत्य नहीं माना जा सकता है। (४, २०)

१३-त्रिभंगीश—इस नामकी व्याख्यामें बताया गया है संसारी जीवोंकी परभव-सम्बन्धी आयुका बन्ध त्रिभागमें होता है और ऐसे अवसर एक जीवके भुज्यमान आयुके भीतर आठ बार आते हैं। कल्पना कीजिए कि किसी जीवकी वर्तमान भवकी आयु ६५६१ वर्षकी है। इसमें तीनका भाग देनेपर जब दो भाग व्यतीत हो जावें और एक भाग-प्रमाण २१८७ वर्ष शेष रहें तब प्रथम बार आगामी भवसम्बन्धी आयुके बन्धका अन्तर्मुहूर्त तक अवसर आता है। यदि किसी कारणसे उस समय आयु-बन्ध न हो सके, तो उक्त अवशिष्ट आयुके भी जब दो भाग बीत जावें और ७२९ वर्ष-प्रमाण एक त्रिभाग शेष रहे, तब आगामी आयुके बन्धका अवसर आवेगा। यदि इसमें भी आयुका बन्ध न हो सके तो पुनः २४३ वर्ष वर्त्तमान आयुके शेष रहने पर आगामी आयु-बँधनेका अवसर आवेगा। तदनन्तर ८१ वर्ष, २७ वर्ष, ९ वर्ष, ३ वर्ष और १ वर्ष शेष रहने पर आगामी आयुके बँधनेके अवसर प्राप्त होंगे। यदि इन आठों ही अवसरोंमें परभवकी आयुका बन्ध न होवे, तो मरणके समय आवलीपाद्धा काल शेष रहने पर नियमसे परभवकी आयुका बन्ध हो जाता है। इस प्रकारकी त्रिभंगीके उपदेष्टा होनेसे भगवान् त्रिभंगीश कहलाते हैं। (४, ८४)

१४-ऋद्धीश—तपोबलसे जो बौद्धिक, शारीरिक, वाचिक या मानसिक विशिष्ट शक्ति प्राप्त होती है, उसे ऋद्धि कहते हैं। ये ऋद्धियाँ बुद्धि, क्रिया, विक्रिया, तप, बल, औषध, रस और क्षेत्रके भेदसे आठ प्रकारकी होती हैं। इनमेंसे बुद्धि ऋद्धिके अठारह भेद हैं—१ केवलज्ञान, २ मनः पर्ययज्ञान,

३ अवधिज्ञान, ४ बीजबुद्धि, ५ कोष्ठबुद्धि, ६ पदानुसारित्व, ७ संभिन्न संश्रोतृत्व, ८ दूरास्वादनत्व, ९ दूर-स्पर्शनत्व, १० दूरदर्शनत्व, ११ दूराघ्राणत्व, १२ दूरश्रवणत्व, १३ दशपूर्वित्व, १४ चतुर्दशपूर्वत्व, १५ अष्टांगमहानिमित्तकुशलत्व, १६ प्रज्ञाश्रमणत्व, १७ प्रत्येकबुद्धत्व और १८ वादित्व।

इनका संक्षेपमें अर्थ इस प्रकार जानना चाहिए:—

१ केवलज्ञान—त्रैकालिक सर्व पदार्थोंके अनन्त गुण-पर्यायोंको युगपत् जानना।

२ मनःपर्ययज्ञान—पर-मनोगत पदार्थको स्पष्ट जानना।

३ अवधिज्ञान—रूपी पदार्थोंको द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा स्पष्ट जानना।

४ बीजबुद्धि—एक बीज पद सुनकर समस्त ग्रन्थको जान लेना।

५ कोष्ठबुद्धि—विभिन्न प्रकारके तत्त्वोंका स्वबुद्धिमें व्यवस्थित रूपसे धारण करना।

६ पदानुसारित्व—किसी भी ग्रन्थ आदिके आदि, मध्य या अन्तके जिस किसी भी पदको सुनकर समस्त ग्रन्थके अर्थका अवधारण करना।

७ संभिन्नसंश्रोतृत्व—नौ योजन चौड़े और बारह योजन लम्बे चक्रवर्त्तीके कटकमें रहनेवाले हाथी, घोड़े, ऊंट, मनुष्य आदिकी नाना प्रकारकी बोलियोंको स्पष्ट रूपसे पृथक् सुननेकी शक्तिका प्राप्त होना।

८ दूरास्वादनत्व—सैकड़ों योजनकी दूरीपर स्थित रसके आस्वाद लेनेकी शक्तिका प्राप्त होना।

९ दूरस्पर्शनत्व—अनेक सहस्र योजन दूरस्थ पदार्थके छूनेकी शक्तिका प्राप्त होना।

१० दूरदर्शनत्व—सहस्रों योजन दूरस्थ पदार्थोंके देखनेकी शक्तिका प्राप्त होना।

११ दूराघ्राणत्व—सहस्रों योजन दूरवर्त्ती गन्धके सूंघनेकी शक्तिका प्राप्त होना।

१२ दूरश्रवणत्व—सहस्रों योजन दूरके शब्दको सुननेकी शक्तिका प्राप्त होना।

१३ दशपूर्वित्व—आचारांगादि दश पूर्वोंका ज्ञान प्राप्त होना।

१४ चतुर्दशपूर्वित्व—चौदह पूर्वोंका ज्ञान प्राप्त होना।

१५ अष्टांगमहानिमित्तकुशलत्व—अन्तरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, व्यञ्जन, लक्षण, छिन्न और स्वप्न; इन आठके आधार पर भविष्यत्कालमें होनेवाले हानि-लाभको जाननेकी शक्तिका प्राप्त होना।

१६ प्रज्ञाश्रमणत्व—परम प्रतिभाशालिनी बुद्धिका प्राप्त होना।

१७ प्रत्येकबुद्धत्व—विना किसी अन्यके उपदेशके स्वयं ही प्रबोधको प्राप्त होना।

१८ वादित्व—महावादियोंको भी शास्त्रार्थमें हरानेकी शक्तिका प्राप्त होना।

(२) क्रियाऋद्धिके दो भेद हैं:—जंघादिचारणत्व और आकाशगामित्व। इनमेंसे जंघादि-चारणत्वके नौ भेद हैं:—

१ जंघाचारणत्व—भूमिके चार अंगुल ऊपर आकाशमें गमन करना।

२ श्रेणिचारणत्व—आकाश प्रदेशपंक्तिके अनुसार अधर गमन करना।

३ अग्निशिखाचारणत्व—अग्निकी शिखाके ऊपर गमन करना।

४ जलचारणत्व—जलके ऊपर उसे विना स्पर्श किये ही गमन करना।

५ पत्रचारणत्व—पत्तेके ऊपर उसे विना स्पर्श किये ही गमन करना।

६ फलचारणत्व—फलके ऊपर उसे विना स्पर्श किये ही गमन करना।

७ पुष्पचारणत्व—पुष्पके ऊपर उसे विना स्पर्श किये ही गमन करना।

८ बीजचारणत्व—बीजके ऊपर उसे विना स्पर्श किये गमन करना।

९ तन्तुचारणत्व—तन्तुके ऊपर उसे विना स्पर्श किये ही गमन करना।

आकाशगामित्व—पैरोंके उठाने या रखनेके विना ही आकाशमें गमन करना, पग रखते हुए गमन करना, पद्मासन या खड्गासनसे अवस्थित दशामें ही आकाशमें गमन करना।

(३) विक्रिया ऋद्धिके— अणिमा आदि अनेक भेद हैं।

१ अणिमा—शरीरको अत्यन्त छोटा बना लेना। कमलनालमें भी प्रवेश कर जाना, उसमें बैठकर चक्रवर्तीकी विभूतिको बना लेना।

२ महिमा—सुमेरुपर्वतसे भी बड़ा शरीर बना लेना।

३ लघिमा—शरीरको वायु या आककी रुईसे भी हलका बना लेना।

४ गरिमा—शरीरको वज्रसे भी भारी बना लेना।

५—प्राप्तिः—भूमि पर स्थित रहते हुए भी अंगुलिके अग्रभागसे सुमेरुकी शिखर, सूर्य, चन्द्र आदिके स्पर्श करनेकी शक्तिको प्राप्त करना।

६ प्राकाम्य—जलमें भूमिकी तरह चलना, भूमिपर जलके समान डूबना, उछरना और अनेक जातिके क्रिया, गुण, द्रव्यादिका बनाना।

७ ईशत्व—तीन लोक पर शासन करनेकी शक्तिका पाना।

८ वशित्व—सर्व जीवोंको वशमें करनेकी शक्तिका पाना।

९ अप्रतीघात—बिना किसी रुकावटके पर्वत आदिके मध्यमें चले जाना।

१० अन्तर्धान—अदृश्य रूपको बनानेकी शक्तिका पाना।

११ कामरूपित्व—इच्छानुसार नाना प्रकारके रूपोंको बनानेकी शक्तिका पाना।

(४) तप ऋद्धिके सात भेद हैं:—१ उग्रतप, २ दीप्ततप, ३ तप्ततप, ४ महातप, ५ घोरतप, ६ घोरपराक्रमत्व और ७ घोरगुण ब्रह्मचारित्व। इनमें उग्रतपके दो भेद हैं:—उग्रोग्रतप और अवस्थितोग्रतप।

१ उग्रतप—जो एक उपवास करके पारणाके पश्चात् दो दिन उपवास करते हैं, पुनः पारणा करके तीन दिनका उपवास ग्रहण करते हैं। पुनः पारणा करके चार दिनका उपवास ग्रहण करते हैं। इसप्रकार जीवनपर्यन्त एक-एक दिनका उपवास बढ़ाते हुए विचरनेको उग्रोग्रतप कहते हैं। जो दीक्षा दिवसके उपवासके पश्चात् पारणा करके एक उपवास और एक पारणा करते हुए विचरते हैं, उन्हें यदि किसी कारणवश पारणाके दिन आहारका लाभ न हो, और दो उपवास लगातार हो जायं, तो वे निरन्तर बेला यानी दो उपवासके पश्चात् पारणा करते हुए विचरते हैं। यदि किसी दिन पारणा न हो और लगातार तीन उपवास हो जांय, तो वे पुनः तेलाके अनन्तर ही पारणा करते हुए विचरते हैं, इसप्रकार आगे भी अवस्थित रूपसे उपवास और पारणाके साथ तपश्चरण करनेको अवस्थितोग्रतप कहते हैं। उक्त दोनों प्रकारके उग्रतप करनेवाले साधु अपनी तपश्चर्याको बढ़ाते ही जाते हैं, पीछे कभी नहीं मुड़ते।

२ दीप्ततप—महोपवास करने पर भी जिनका शारीरिक, वाचनिक और मानसिक बल प्रवर्धमान रहता है, मुखसे दुर्गन्ध नहीं आती, प्रत्युत कमलके समान सुगन्धित निःश्वास निकलता है, ज्यों-ज्यों तपश्चर्या बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों जिनका शरीर उत्तरोत्तर प्रभा और कान्तिसे युक्त होता जाता है, ऐसे महान् तपको दीप्त तप कहते हैं।

३ तप्ततप—तपे हुए तवे पर गिरी हुई जलकी बिन्दु जैसे तत्काल सूख जाती है, इसी प्रकार उपवासके अनन्तर अल्प आहारके ग्रहण करते ही उसका रस रुधिर आदिके रूपसे परिणत हो जाना और मल-मूत्रादिका न होना तप्ततप कहलाता है।

४ महातप—पक्ष, मास, चतुर्मास, छह मास और एक वर्षका उपवास करना महातप है। इस महातपके अनुष्ठायी अक्षीणर्द्धि, सर्वौषधर्द्धि आदि अनेक ऋद्धियोंसे युक्त होते हैं।

५ घोरतप—वात, पित्तादिके प्रकुपित हो जानेसे अनेक प्रकारके रोग हो जानेपर भी अनशनादि तपोंके अनुष्ठानमें दृढ़ रहना घोर तप कहलाता है। इस तपके करनेवाले तपस्वी बड़ीसे बड़ी बीमारी हो

जानेपर भी यदि अनशन तप कर रहे हों, तो छह मास तकका उपवास कर डालते हैं, अवमोदर्य तप करते हुए एक ग्रास आहार पर ही वर्षों बसर कर लेते हैं, वृत्तिपरिसंख्यान तप करते हुए तीन-चार घरसे अधिक नहीं जाते, रसपरित्याग तप करते हुए केवल उष्ण जल और चावल पर जीवन निर्वाह कर लेते हैं, विविक्त-शय्यासन तपकी अपेक्षा भयानक स्मशानोंमें, पर्वतोंकी कन्दराओं और गुफाओंमें, सिंह, चीता, व्याघ्रादिसे भरे वनोंमें जीवन-पर्यन्त रहते हैं और आतप, वर्षा और शीतका प्रबल कायक्लेश सहन करते हैं।

६ घोरपराक्रमत्व—जो घोर तपस्वी साधु गृहीत तपको उत्तरोत्तर बढ़ाते रहते हैं और उसके द्वारा वे ऐसे पराक्रमको प्राप्त करते हैं कि जिसके द्वारा यदि वे चाहें, तो भूमंडलको उलट-पुलट कर दें, पर्वतोंको भी चला दें, सागरको भी सुखा दें और अग्नि, जल तथा पाषाणकी भी वर्षा कर देवें। ऐसे महान् तपको घोरपराक्रमतप कहते हैं।

७ घोरगुणब्रह्मचारित्व—चिरकाल तक तपश्चरण करते हुए अस्खलित ब्रह्मचारी रहना, दुःस्वप्नों-का नहीं आना, जिनके तपोमाहात्म्यसे भूत, प्रेत, डाकिनी-शाकिनी आदि तुरन्त भाग जायँ, बड़ी-बड़ी बीमारियाँ शान्त हो जायँ और वैर, कलह तथा दुर्भिक्षादि भी मिट जायँ, ऐसे महान् तपको घोर गुणब्रह्म-चारित्व कहते हैं।

५ बल ऋद्धिके तीन भेद हैं—मनोबल, वचनबल, और कायबल।

मनोबल—अन्तर्मुहूर्तमें सम्पूर्ण द्वादशांग श्रुतके अर्थ-चिन्तनकी सामर्थ्यका पाना।

वचनबल—अन्तर्मुहूर्तमें सकल श्रुतके पाठ करनेकी शक्तिका प्राप्त करना।

कायबल—एक मास, चार मास, छह मास और एक वर्ष तक कायोत्सर्ग करके प्रतिमा योगको धारण करनेपर भी क्लेश-रहित रहना और कनीयसी (छोटी) अँगुलीके द्वारा तीनों लोकोंको उठाकर अन्यत्र रखनेकी सामर्थ्यका होना।

(६) **औषधि ऋद्धिके** आठ भेद हैं—१ आमर्श, २ क्ष्वेल, ३ जल्ल, ४ मल, ५ विट्, ६ सर्वौषधिप्राप्त, ७ आस्याविष, ८ दृष्ट्याविष।

१ आमर्श—हस्त, पाद आदिके स्पर्शसे रोगियोंके रोगोंका दूर हो जाना।

२ क्ष्वेल—निष्ठीवन (थूक) कफ, लार आदिके संयोगसे रोगियोंके रोगोंका नष्ट हो जाना।

३ जल्ल—प्रस्वेद (पसेव या पसीना) के आश्रयसे संचित रजोमलके द्वारा रोगियोंके रोगोंका नष्ट हो जाना।

४ मल—कान, नाक, दाँत और आँखके मलसे रोगियोंके रोगोंका दूर हो जाना।

५ विट्—विष्टा, मूत्र, शुक्र आदिके संयोगसे रोगियोंके रोगोंका दूर हो जाना।

६ सर्वौषधिप्राप्त—शरीरके अंग-प्रत्यंग आदि किसी भी अवयवके संस्पर्शसे, अथवा अवयव-संस्पृष्ट वायुके संस्पर्शसे रोगियोंके रोगोंका दूर हो जाना।

७ आस्याविष—उग्र विषसे मिश्रित भी आहार जिनके मुखमें जाते ही निर्विष हो जाय, अथवा जिनके वचनोंको सुनकर महान् विषसे व्याप्त भी पुरुष विष-रहित हो जायँ।

८ दृष्ट्याविष—जिनके अवलोकन मात्रसे ही जीवोंके शरीरमें व्याप्त भयंकरसे भी भयंकर विष दूर हो जाय। अथवा दृष्टिविष सर्पादिकोंका विष जिनकी दृष्टिसे दृष्टि मिलाते ही दूर हो जाय।

(७) **रस ऋद्धिके** छह भेद हैं—१ आस्यविष, २ दृष्टिविष, ३ क्षीरस्रावी, ४ मध्वास्रावी, ५ सर्पिरास्रावी और ६ अमृतास्रावी।

१ आस्यविष—क्रोधावेशमें किसी प्राणीसे 'मर जाओ' ऐसा कहनेपर तत्काल उसका मरण हो जाय, ऐसी सामर्थ्यका प्राप्त होना।

२ दृष्टिविष—क्रोधावेशमें जिसकी ओर देखें उसका तत्क्षण मरण हो जाय।

३ क्षीरस्रावी—जिनके हाथमें रखा हुआ नीरस भी भोजन दूधके समान स्वादयुक्त हो जाय। अथवा जिनके वचन श्रोताओंको दूधके समान सन्तोष और पोषणको देवें।

४ मध्वास्रावी—जिनके हाथमें रखा हुआ नीरस भी भोजन मधुके समान मिष्ट हो जाय। अथवा जिनके वचन श्रोताओंको मधुके समान मिष्ट प्रतीत हों।

५ सर्पिरास्रावी—जिनके हाथमें रखा हुआ नीरस भी भोजन घीके समान स्वादयुक्त हो जाय। अथवा जिनके वचन श्रोताओंको घीके समान मधुर प्रतीत हों।

६ अमृतास्रावी—जिनके हाथमें रखा हुआ रूखा भी भोजन अमृतके स्वाद-समान परिणत हो जाय। अथवा जिनके वचन श्रोताओंको अमृत-तुल्य प्रतीत हों।

(८) क्षेत्रऋद्धिके दो भेद हैं—अक्षीण महानस ऋद्धि और अक्षीणमहालय ऋद्धि।

१ अक्षीणमहानस ऋद्धि—इस ऋद्धिके धारक साधु जिस रसोईघरमें भोजन कर आवें, उस दिन उसके यहाँ चक्रवर्तीके परिवारके भोजन कर लेनेपर भी भोजनकी कमी न होना।

२ अक्षीणमहालय ऋद्धि—इस ऋद्धिके धारक साधु जिस मठ, वसतिका आदि स्थानपर बैठे हों, वहाँ पर समस्त, देव, मनुष्य, तिर्यञ्च आदिके निवास करने पर भी स्थानकी कमी न होना।

इस प्रकार बुद्धिऋद्धिके १८, क्रियाऋद्धिके १०, विक्रियाऋद्धिके ११, तपोऋद्धिके ८, बलऋद्धिके ३, औषधिऋद्धिके ८ और रसऋद्धिके ६ ये सब भेद मिलाने पर (१८+१०+११+८+३+८+६ =६४) चौंसठ भेद हो जाते हैं। जिनेन्द्र भगवान् इन सभी ऋद्धियोंके और ऋद्धिधारक साधुओंके स्वामी होते हैं, अतएव उन्हें ऋद्धीश कहते हैं। (५, ३६)

१५-योगी—जिनके योग पाया जाय, उसे योगी कहते हैं। ध्यानकी अष्टांग सामग्रीको योग कहते हैं। वे आठ अंग ये हैं:—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। हिंसादि पंच पापोंके यावज्जीवन त्यागको यम कहते हैं। कालकी मर्यादा सहित भोगोपभोग-सामग्रीके त्यागको नियम कहते हैं। चंचलता-रहित होकर स्थिरतापूर्वक बैठने या खड़े रहनेको आसन कहते हैं। श्वासोच्छ्वासके निरोधको प्राणायाम कहते हैं। मनको पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंसे हटाकर ललाटपट्ट पर 'अर्हं' अक्षरके ऊपर लगानेको प्रत्याहार कहते हैं। आर्त-रौद्र परिणामोंका परित्याग कर आत्मकल्याणके चिन्तनको ध्यान कहते हैं। आत्मस्वरूपमें स्थिर होनेको समाधि कहते हैं। इस प्रकारकी समाधिके प्राप्त करनेके लिए जो विशेष चिन्तवन किया जाता है, उसे धारणा कहते हैं। उस धारणाके ५ भेद हैं:—पार्थिवी-धारणा, आग्नेयीधारणा, मारुतीधारणा, वारुणीधारणा और तात्त्विकी धारणा।

(१) पार्थिवीधारणाका स्वरूप—इस मध्यलोकको क्षीरसमुद्रके समान निर्मल जलसे भरा हुआ चिन्तवन करे। पुनः उसके बीचमें जम्बूद्वीपके समान एक लाख योजन चौड़ा, एक हजार पत्तोंवाला तपाये हुए स्वर्णके समान चमकता हुआ एक कमल विचारे। कमलके मध्यमें कर्णिकाके समान सुवर्णमयी सुमेरु पर्वत चिन्तवन करे। उसके ऊपर पांडुकवनमें पांडुक शिलापर स्फटिक मणिमयी सिंहासन विचारे। फिर यह सोचे कि उस सिंहासन पर मैं आसन लगाकर इसलिए बैठा हूं कि अपने कर्मोंको जलाकर आत्माको पवित्र कर डालूँ। इस प्रकारके चिन्तवन करनेको पार्थिवीधारणा कहते हैं।

(२) आग्नेयी धारणाका स्वरूप:—उसी सुमेरु पर्वतके ऊपर बैठा हुआ वह ध्यानी अपनी नाभिके भीतर ऊपरकी ओर उठा हुआ, एवं खिले हुए सोलह पत्तोंका सफेद कमल विचारे। उसके प्रत्येक पत्तेपर पीतवर्णके सोलह स्वर (अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः) लिखे हुए विचारे। इस कमलके मध्यमें श्वेतवर्णकी कर्णिका पर 'र्हं' अक्षर लिखा हुआ सोचे। पुनः

दूसरा कमल ठीक इस कमलके ऊपर औंधा नीचेकी ओर मुख किये फैले हुए आठ पत्तोंवाला सोचे। इसका धुंआ जैसा कुछ मैला रंग विचारे। इसके प्रत्येक पत्तेपर क्रमशः काले रंगसे लिखे हुए ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय इन आठ कर्मोंको विचारे। पुनः नाभिकमलके बीचमें जो 'हैं' लिखा है, उसके रेफसे धुँआ निकलता विचारे। पुनः धीरे-धीरे उससे अग्निकी शिखाको निकलती हुई विचारे। यह अग्निकी शिखा बढ़ती हुई ऊपरको आकर आठ कर्म दलवाले कमलको जला रही है, ऐसा विचारे। फिर वह अग्निकी शिखा कमलका मध्यभाग जलाकर ऊपर मस्तक पर आ जावे और उसकी एक लकीर दाहिनी ओर आ जावे। फिर नीचेकी ओर आकर दोनों कोनोंको मिलाकर एक अग्निमयी लकीर बन जावे अर्थात् अपने शरीरके बाहर तीन कोनका अग्निमंडल व्याप्त हो गया है, ऐसा विचारे। इस त्रिकोण अग्निमंडलकी तीनों लकीरोंमें र र र र अग्निमय लिखा विचारे। फिर इस त्रिकोणके बाहर तीनों कोनोंपर सांथियाको अग्निमयी सोचे। भीतरी तीनों कोनोंमें 'अर्हं' ऐसा अग्निमय लिखा हुआ विचारे। फिर यह सोचे कि भीतर तो आठ कर्मोंको और बाहर इस शरीरको यह अग्निमंडल जला रहा है, जलाते-जलाते सर्व कर्म वा शरीर राख हो गये हैं और अग्नि धीरे-धीरे शान्त हो रही है और आत्मा स्फटिक बिम्बसदृश दिखाई दे रहा है। इस प्रकारके चिन्तवन करनेको आग्नेयी-धारणा कहते हैं।

(३) मारुती धारणाका स्वरूपः—फिर वही ध्यानी ऐसा चिन्तवन करे कि चारों ओर बड़े जोरसे निर्मल वायु बह रही है और मेरे चारों तरफ वायुने एक गोल मंडल बना लिया है। उस मंडलमें आठ जगह घेरेमें 'स्वायं स्वायं' सफेद रंगसे लिखा हुआ है। वह वायु कर्म व शरीरकी भस्मको उड़ा रही है और आत्माको स्वच्छ कर रही है। इस प्रकारके चिन्तवन करनेको मारुती धारणा कहते हैं।

(४) वारुणी धारणाका स्वरूपः—फिर वह ध्यानी ऐसा विचार करे कि आकाशमें मेघोंके समूह आ गये, बिजली चमकने लगी, बादल गरजने लगे और खूब जोरसे पानी बरसने लगा है। अपनेको बीचमें बैठा हुआ विचारे और अपने ऊपर अर्धचन्द्राकार पानीका मंडल विचारे। उसे 'प प प प' जलके बीजाक्षरसे लिखा हुआ चिन्तवन करे और यह सोचे कि यह जल मेरे आत्मापर लगी हुई राखको धोकर साफ कर रहा है और मेरा आत्मा स्वच्छ दर्पणवत् निर्मल हो रहा है। ऐसा विचार करनेको वारुणी धारणा कहते हैं।

(५) तात्त्विकी धारणाका स्वरूप—तदनन्तर वह ध्यानी चिन्तवन करे कि मैं समवसरणके मध्य-वर्ती सिंहासनपर बैठा हुआ हूं, मेरा आत्मा केवलज्ञानसे मंडित है, कोटि सूर्य चन्द्रकी कान्तिको तिरस्कृत कर रहा है और द्वादश सभाके सर्व जीव मुझे नमस्कार कर रहे हैं। अब मैं शुद्ध, बुद्ध, कृतकृत्य, परम वीतराग सर्वज्ञ हो गया हूँ। मेरा आत्मा अखंड चैतन्य-पिंड स्वरूप है, अनन्त गुणोंका धाम है और मैं अब सर्वथा निर्लेप, अजर, अमर पदको प्राप्त हो गया हूँ। इस प्रकारके चिन्तवन करनेको तात्त्विकीधारणा कहते हैं। (६, १)

१६—करणानायक—आत्माके जो परिणाम कर्मोंकी स्थिति और अनुभागका घात करनेमें सहायक होते हैं, उन्हें करण कहते हैं। उनके तीन भेद हैंः—अधः प्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनि-वृत्तिकरण। जब जीव सम्यक्त्व, देश संयम, सकल संयम, उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणीको प्राप्त करनेके लिए उद्यत होता है, तब वह इन्हीं तीनों परिणामविशेषोंके द्वारा अपना अभीष्ट सिद्ध करता है। जिस समय जीवके परिणाम प्रतिक्षण उत्तरोत्तर विशुद्धिको लिए हुए बढ़ते हैं और आगे-आगेके समयोंमें उनकी विशुद्धिता बराबर बढ़ती जाती है, परन्तु फिर भी जो उपरितन समयवर्ती परिणाम अधस्तन समयवर्ती जीवोंके साथ समता लिए हुए पाये जाते हैं, उन्हें अधः प्रवृत्तकरण कहते हैं। जिन परिणामोंमें विशुद्धि उत्तरोत्तर अनन्तगुणी अपूर्वता लिए हुए पाई जाती है और जिसके द्वारा प्रतिक्षण कर्मोंकी असंख्यातगुणी निर्जरा होने लगती है, तथा उनकी स्थिति और अनुभाग भी बड़ी तेजीसे घटने लगते हैं, ऐसे परिणामोंको अपूर्वकरण कहते हैं। इसके अनन्तर वेही परिणाम जब और भी अधिक विशुद्धिको लेकर बढ़ते हैं और

जिनके द्वारा कर्मोंकी स्थिति और अनुभागका घात होने लगता है, तथा जिनके द्वारा ही जीव सम्यक्त्व, देशसंयम, सकलसंयम आदिको प्राप्त करता है, ऐसे विशिष्ट परिणामोंको अनिवृत्तिकरण कहते हैं। भगवान्‌ने ऐसे विशिष्ट जातिके करण-परिणामोंका प्रवर्त्तन किया है, इसलिए उन्हें करणनायक कहते हैं। (६, १९)

१७–निर्ग्रन्थनाथ – सर्व बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहसे रहित साधुओंको निर्ग्रन्थ कहते हैं। निर्ग्रन्थ साधुओंके चार भेद हैं—१ ऋषि, २ यति, ३ मुनि और ४ अनगार। ऋद्धि-सम्पन्न साधुओंको ऋषि कहते हैं। अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानी साधुओंको मुनि कहते हैं। कषायोंके उपशमन या क्षपण करनेवाले साधुओंको यति कहते हैं और जो घर छोड़कर वनमें निवास करते हैं, तथा शुद्ध मूलगुण और उत्तरगुणोंका पालन करते हैं, उन्हें अनगार कहते हैं। भगवान् इन चारों ही प्रकारके साधुओंके नाथ हैं, अतः उन्हें निर्ग्रन्थनाथ कहते हैं। (६, २०)

१८–महाशील शीलके अठारह हजार भेदोंके धारण करनेसे भगवान्‌को शीलेश या महाशील नामसे पुकारते हैं। शीलके अठारह हजार भेद इस प्रकार निष्पन्न होते हैं:—अशुभ मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिको शुभ मन, वचन, कायके द्वारा रोकनेसे (३ × ३-९) नौ भेद होते हैं। इन नौ भेदोंको आहार, भय, मैथुन और परिग्रहरूप चारों संज्ञाओंके परित्यागसे गुणित करनेपर (९ × ४ = ३६) छत्तीस भेद हो जाते हैं। इन्हें पाँचों इन्द्रियोंके निरोधसे गुणित करनेपर (३६ × ५ = १८०) एकसौ अस्सी भेद हो जाते हैं। इन्हें पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञिपंचेन्द्रिय और संज्ञिपंचेन्द्रिय इन दश प्रकारके जीवोंकी रक्षाके द्वारा गुणित करनेसे (१८० × १० = १८००) अठारहसौ भेद हो जाते हैं। उन्हें उत्तम क्षमादि दश धर्मोंसे गुणित करने पर (१८०० × १० = १८०००) अठारह हजार शीलके भेद हो जाते हैं। कुछ आचार्योंके मतसे अन्य प्रकार अठारह हजार भेद उत्पन्न होते हैं—स्त्रियाँ तीन जातिकी होती हैं। दैवी, मानुषी और तिरश्ची। इनका मन, वचन कायसे त्याग करने पर (३ × ३ = ९) नौ भेद होते हैं। इन्हें कृत, कारित अनुमोदनासे गुणा करने पर (९ × ३ = २७) सत्ताईस भेद होते हैं। इन्हें पाँचों इन्द्रियोंके पाँचों विषयोंसे गुणित करने पर (२७ × ५ = १३५) एकसौ पैंतीस भेद हो जाते हैं। इन्हें द्रव्य और भावसे गुणित करने पर (१३५ × २ = २७०) दो सौ सत्तर भेद हो जाते हैं। इन्हें चार संज्ञाओंके त्यागसे गुणा करने पर (२७० × ४ = १०८०) एक हजार अस्सी भेद हो जाते हैं। इन्हें अनन्तानुबन्धी आदि सोलह कषायके त्यागसे गुणित करने पर (१०८० × १६=१७२८०) सत्तरह हजार दो सौ अस्सी भेद हो जाते हैं। ये चेतन स्त्री-सम्बन्धी भेद हुए। अचेतन स्त्री काष्ठ, पाषाण और लेपके भेदसे तीन प्रकारकी होती है। इन तीनका मन और कायसे त्याग करने पर (३ × २ = ६) छै भेद हो जाते हैं। उनका कृत, कारित, अनुमोदनासे त्याग करने पर (६ × ३ = १८) अठारह भेद हो जाते हैं। उन्हें स्पर्श आदि पाँच विषयोंसे त्याग करने पर (१८ × ५ = ९०) मेद होते हैं। उन्हें द्रव्य-भावसे गुणा करने पर (९० × २ = १८०) एक सौ अस्सी भेद होते हैं। उन्हें क्रोधादि चार कषायोंसे त्याग करने पर (१८० × ४ = ७२०) सात सौ अस्सी भेद अचेतन स्त्रीके त्याग सम्बन्धी होते हैं। इस प्रकार चेतन स्त्री-त्याग सम्बन्धी १७२८० भेदोंमें इन ७२० भेदोंके मिला देनेपर कुल १८००० शीलके भेद हो जाते हैं। (६, ३५। १०, ७२)

१९–आचार्यपरमेष्ठीके ३६ गुण – इस प्रकार बतलाये गये हैं—१ पंचाचारका धारण करना, २ संघ और श्रुतका धारण करना, ३ भोजन-पान, स्थान-शय्या आदिमें व्यवहारवान् होना, ४ शिष्योंके अवगुणोंको दूसरोंके सामने प्रगट न करना, ५ साधुके लज्जित होनेपर दोषका ढांकना, ६ अन्य साधुके सामने दूसरे साधुके दोष न कहना, ७ दूसरों के अभिभाषणमें सन्तुष्ट रहना, ८ किसी साधुके परीषहादिके न सह सकनेके कारण उद्विग्न या चल-चित्त होनेपर नाना प्रकारके सुन्दर उपदेश देकर उसे स्वधर्ममें स्थापित करना। ९ स्थितिकल्पी होनेपर भी वस्त्रका त्यागी रहना, १० अनुद्दिष्टाहारभोजी होना, ११ जिस ग्राममें निद्रा ले,

दूसरे दिन उस ग्राममें भोजन न करे, १२ विरक्तचित्त हो, १३ दीक्षा-दिवससे लेकर नित्य ही समता-भाव-पूर्वक प्रतिक्रमण करना, १४ स्वयोग्य व्रतोंका धारण करना, १५ संघमें सबसे ज्येष्ठ होना, १६ पाक्षिक प्रत्याख्यान करने-करानेवाला होना, १७ षण्मासिक योगका धारण करनेवाला होना, १८ एक मासमें दो निषिद्याका अवलोकन करना। बारह तपोंको धारण करना और छह आवश्यकोंका पालना ये आचार्य परमेष्ठीके ३६ गुण कहे गये हैं। (६, ८६)

२०–साधुपरमेष्ठीके २८ गुण– दस सम्यक्त्वगुण, मत्यादि पाँच ज्ञानगुण और तेरह प्रकारका चारित्र, ये साधुके २८ गुण माने गये हैं। इनमेंसे सम्यक्त्वके दस गुण इस प्रकार हैं:—१ आज्ञासम्यक्त्व, २ मार्गसम्यक्त्व, ३ उपदेशसम्यक्त्व, ४ सूत्रसम्यक्त्व, ५ बीजसम्यक्त्व, ६ संक्षेपसम्यक्त्व, ७ विस्तारसम्यक्त्व, ८ अर्थसम्यक्त्व, ९ अवगाढसम्यक्त्व और १० परमावगाढसम्यक्त्व। इनका संक्षेपमें अर्थ इस प्रकार है:—

१ आज्ञासम्यक्त्व—वीतराग भगवान्‌की आज्ञाका ही दृढ़ श्रद्धान करना।

२ मार्गसम्यक्त्व—तिरेसठ शलाका पुरुषोंका चरित सुनकर सम्यक्त्व उत्पन्न होना।

३ उपदेशसम्यक्त्व—धर्मका उपदेश सुनकर सम्यक्त्वकी प्राप्ति होना।

४ सूत्रसम्यक्त्व—आचार-सूत्रको सुनकर सम्यक्त्वकी प्राप्ति होना।

५ बीजसम्यक्त्व—द्वादशांगके बीज पदोंको सुनकर सम्यक्त्व उत्पन्न होना।

६ संक्षेपसम्यक्त्व—तत्त्वोंको संक्षेपसे ही जानकर सम्यक्त्व उत्पन्न होना।

७ विस्तारसम्यक्त्व—विस्तारसे द्वादशांगको सुनकर सम्यक्त्व उत्पन्न होना।

८ अर्थसम्यक्त्व—परमागमके किसी प्रवचनके अर्थको सुनकर सम्यक्त्व उत्पन्न होना।

९ अवगाढसम्यक्त्व—अंगबाह्य प्रवचनका अवगाहन कर सम्यक्त्व उत्पन्न होना।

१० परमावगाढसम्यक्त्व—केवलज्ञानके साथ अत्यन्त अवगाढ़ सम्यक्त्व उत्पन्न होना।

मतिज्ञानादि पाँच ज्ञानगुण और पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तिरूप तेरह प्रकारका चारित्र सर्वविदित ही हैं। (६, ८६)

२१–सागर—यद्यपि यह भूतकालकी चौबीसीमेंसे दूसरे तीर्थंकरका नाम है, तथापि टीकाकारने निरुक्तिपूर्वक एक नवीन अर्थका उद्भावन किया है। वे कहते हैं कि गर नाम विषका है, जो गरके साथ रहे, उसे सगर कहते हैं। इस प्रकारकी निरुक्तिसे सगर शब्द धरणेन्द्रका वाचक हो जाता है। भगवान् तीर्थंकर उसके अपत्यके समान हैं, अतः उन्हें सागर कहते हैं। भगवान्‌को धरणेन्द्रका पुत्र कहनेका अभिप्राय यह बतलाया गया है कि जब तीर्थंकर भगवान् बाल-अवस्थामें होते हैं तब धरणेन्द्र उन्हें अपनी गोदमें लेकर सिंहासन पर बैठता है और पुत्रवत् प्यार करता है। (७, २)

२२–निर्मल—इस नामका अर्थ करते हुए बतलाया गया है कि तीर्थंकर, उनके माता-पिता, नारायण, प्रतिनारायण, चक्रवर्त्ती, बलभद्र, देव और भोगभूमियोंके आहार तो होता है, पर नीहार अर्थात् मल मूत्र नहीं होता है। (७, ६८)

२३–रात्रिभोजनका फल—जो मनुष्य रात्रिको भोजन करता है, वह विरूप, विकलांग, अल्पायु, सदारोगी, दुर्भागी और नीच कुलमें उत्पन्न होता है। (८, ६३)

२४–रात्रिभोजनत्यागका फल—जो पुरुष रात्रिके भोजनका सर्वथा त्याग करता है, वह सुरूप, सकलांग, दीर्घायु, सदा नीरोगी, सौभाग्य-सम्पन्न, उच्च कुलीन होता है और जगत्पति या तीर्थंकरके वैभव को प्राप्त होता है। (८, ६३)

२५–पुरुषकी बहत्तर कलाएं—कलानिधि नामकी व्याख्या करते हुए श्रुतसागर सूरिने पुरुषकी बहत्तर कलाओंके नाम इस प्रकार बतलाये हैं:—१ गीतकला, २ वाद्यकला, ३ बुद्धिकला, ४ शौचकला, ५ नृत्यकला, ६ वाच्यकला, ७ विचारकला, ८ मंत्रकला, ९ वास्तुकला, १० विनोदकला, ११ नेपथ्यकला,

१२ विलासकला, १३ नीतिकला, १४ शकुनकला, १५ क्रीडनकला, १६ चित्रकला, १७ संयोगकला, १८ हस्तलाघवकला, १९ कुसुमकला, २० इन्द्रजालकला, २१ सूचीकर्मकला, २२ स्नेहकला, २३ पानकला, २४ आहारकला, २५ विहारकला, २६ सौभाग्यकला, २७ गन्धकला, २८ वस्त्रकला, २९ रत्नपरीक्षा, ३० पत्रकला, ३१ विद्याकला, ३२ देशभाषितकला, ३३ विजयकला, ३४ वाणिज्यकला, ३५ आयुधकला, ३६ युद्धकला, ३७ नियुद्धकला, ३८ समयकला, ३९ वर्त्तनकला, ४० गजपरीक्षा, ४१ तुरङ्गपरीक्षा, ४२ पुरुषपरीक्षा, ४३ स्त्रीपरीक्षा, ४४ पक्षिपरीक्षा, ४५ भूमिपरीक्षा, ४६ लेपकला, ४७ काष्ठकला, ४८ शिल्पकला, ४९ वृक्षकला, ५० छद्मकला, ५१ प्रश्नकला, ५२ उत्तरकला, ५३ शस्त्रकला, ५४ शास्त्रकला, ५५ गणितकला, ५६ पठनकला, ५७ लिखितकला, ५८ वक्तृत्वकला, ५९ कवित्वकला, ६० कथाकला, ६१ वचनकला, ६२, व्याकरणकला, ५३ नाटककला, ६४ छन्दकला, ६५ अलंकारकला, ६६ दर्शनकला, ६८ अवधानकला, ६८ धातुकला, ६९ धर्मकला, ७० अर्थकला, ७१ कामकला, और ७२ शरीरकला। (८, ८३)

२६-षोडशार्थवादी—इस नामकी व्याख्यामें नैयायिकों द्वारा माने गये सोलह पदार्थोंका और दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओंका नाम निर्देश किया गया है। (९, ३२)

२७-पंचार्थवर्णक—इस नामकी व्याख्या करते हुए चौबीस तीर्थंकरोंके शारीरिक वर्णोंका वर्णन कर नैयायिक, बौद्ध, काणाद, जैमिनीय और सांख्य मत वालोंके द्वारा माने गये तत्व, देव, प्रमाण, वाद और मोक्षके स्वरूपकी विस्तारसे चर्चा की गई है। साथ ही बतलाया गया है कि नैयायिक-वैशेषिक नैगम नयानुसारी हैं, सभी मीमांसकविशेष संग्रहनयानुसारी हैं, चार्वाक व्यवहारनयानुसारी हैं, बौद्ध ऋजुसूत्र-नयानुसारी हैं और वैयाकरणादि शब्दनयानुसारी हैं। (९, ३३)

२८-पंचविंशतितत्त्ववित्—इस नामकी व्याख्यामें सांख्य-सम्मत पचीस तत्वोंका निर्देश करके तथा अहिंसादि पांचों व्रतोंकी पचीस भावनाओंका, सूत्रोल्लेख करके पचीस क्रियाओंका सर्वार्थसिद्धि टीकाके अनुसार विस्तारसे वर्णन किया गया है। (९, ४१)

२९-ज्ञानचैतन्यदृक्—इस नामकी व्याख्या करते हुए भावश्रुतके बीस भेदोंका गो० जीवकांडकी संस्कृत टीकाके अनुसार विस्तारसे वर्णन किया गया है। साथ ही द्रव्यश्रुतके भेद बताकर उनके पद परिमाण आदिका भी विस्तृत विवेचन किया है। (९, ४३)

३२-चतुर्धानक—इस नामकी व्याख्यामें एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय तकके तिर्यंचों, मनुष्यों, देवों और नारकियोंकी उत्कृष्ट और जघन्य आयुका पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया है। (९, ७१)

३४-नयौघयुक्—इस नामकी व्याख्यामें नयोंके स्वरूप, भेद आदिका विस्तृत विवेचन कर बताया गया है कि नैगम, संग्रह आदिक भेद आगम-भाषाकी अपेक्षासे कहे गये हैं। किन्तु अध्यात्म-भाषाकी अपेक्षा शुद्धनिश्चयनय, अशुद्धनिश्चयनय, सद्भूतव्यवहारनय, असद्भूतव्यवहारनय आदि भेद जानना चाहिए। (९, १००)

३५-परमनिर्जर—इस नामकी व्याख्यामें असंख्यातगुणश्रेणीरूप निर्जरावाले दश स्थानोंका विशद विवेचन किया गया है। (९, २३)

३६-चतुरशीतिलक्षगुण—इस नामकी व्याख्यामें चौरासी लाख उत्तरगुणोंकी उत्पत्ति इसप्रकार बतलाई गई है:—१ हिंसा, २ झूठ, ३ चोरी, ४ कुशील, ५ परिग्रह, ६ क्रोध, ७ मान, ८ माया, ९ लोभ १० रति, ११ अरति, १२ भय, १३ जुगुप्सा, १४ मन, वचन, कायकी दुष्टता १५, १६, १७ मिथ्यात्व, १८ प्रमाद, १९ पिशुनत्व, २० अज्ञान और २१ इन्द्रिय इनके निग्रहरूप २१ गुण होते हैं। इनका पालन अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतीचार और अनाचार-रहित करनेसे (२१×४-८४) चौरासी गुण हो जाते हैं। इन्हें आलोचन, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार, उपस्थापना और श्रद्धान इन दश

शुद्धियोंसे गुणा करनेपर (८४ × १०=८४०) आठ सौ चालीस भेद हो जाते हैं। इन्हें पांचों इन्द्रियोंके निग्रह और एकेन्द्रियादि पांच प्रकारके जीवोंकी रक्षारूप दश प्रकारके संयमसे गुणित करनेपर (८४० × १०=८४००) चौरासी सौ भेद हो जाते हैं। इन्हें आकम्पित अनुमानित, दृष्ट, बादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त और तत्सेवी इन आलोचना-संबंधी दश दोषोंके परिहारसे गुणित करने पर (८४०० × १०=८४०००) चौरासी हजार गुण हो जाते हैं। इन्हें उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य इन दश धर्मोंसे गुणित करनेपर (८४००० × १० =८४०००००) चौरासी लाख उत्तर गुण निष्पन्न होते हैं। (६,३५।६,६०।१०,३६)

३४–अविद्यासंस्कारनाशक—इस नामकी व्याख्यामें बताया गया है कि अविद्या या अज्ञानका अड़तालीस संस्कारोंके द्वारा नाश करे। उनके नाम इस प्रकार हैः—१ सद्दर्शनसंस्कार, २ सम्यग्ज्ञानसंस्कार, ३ सच्चारित्रसंस्कार, ४ सत्तपःसंस्कार, ५ वीर्यचतुष्कसंस्कार, ६ अष्टमात्प्रवेशसंस्कार, ७ अष्टशुद्धिसंस्कार, ८ परीषह जयसंस्कार, ९ त्रियोगासंयमच्युतिशीलसंस्कार, १० त्रिकरणासंयमारतिसंस्कार, ११ दशासंयमोपरमसंस्कार, १२ अक्षनिर्जयसंस्कार, १३ संज्ञानिग्रहसंस्कार, १४ दशधर्मधृतिसंस्कार, १५ अष्टादशशीलसहस्रसंस्कार, १६ चतुरशीतिलक्षगुणसंस्कार, १७ विशिष्टधर्मध्यानसंस्कार, १८ अतिशयसंस्कार, १९ अप्रमत्तसंयमसंस्कार, २० दृढश्रुततेजोऽकंप्रकरणश्रेण्यारोहणसंस्कार, २१ अनन्तगुणशुद्धिसंस्कार, २२ अप्रवृत्तिक्षतिसंस्कार, २३ पृथक्त्ववितर्कवीचारध्यानसंकार, २४ अपूर्वकरणसंस्कार, २५ अनिवृत्तिकरणसंस्कार, २६ बादरकषायकृष्टिकरणसंस्कार, २७ सूक्ष्मकषायकृष्टिकरणसंस्कार, २८ बादरकषायनिर्लेपनसंस्कार, २९ सूक्ष्मकषायकृष्टिनिर्लेपनसंस्कार, ३० सूक्ष्मकषायचरणसंस्कार, ३१ प्रक्षीणमोहत्वसंस्कार, ३२ यथाख्यातचारित्रसंस्कार, ३३ एकत्ववितर्काविचार ध्यानसंस्कार, ३४ घातिघातनसंस्कार, ३५ केवलज्ञान-दर्शनोद्गमसंस्कार, ३६ तीर्थप्रवर्त्तनसंस्कार, ३७ सूक्ष्मक्रियाध्यानसंस्कार, ३८ शैलेशीकरणसंस्कार, ३९ परमसंवरवर्त्तिसंस्कार, ४० योगकृष्टिकरणसंस्कार, ४१ योगकृष्टिनिर्लेपनसंस्कार, ४२ समुच्छिन्नक्रियसंस्कार, ४३ परमनिर्जराश्रयणसंस्कार, ४४ सर्वकर्मक्षयसंस्कार, ४५ अनादिभवपर्ययविनाशसंस्कार, ४६ अनन्तसिद्धत्वादिगतिसंस्कार, ४७ अदेहसहजज्ञानोपयोगैश्वर्यसंस्कार, और ४८ देहसहोत्थात्ययोपयोगैश्वर्यसंस्कार। (१०, ४०)

३५–इदमेव परं तीर्थम्—इस श्लोककी व्याख्यामें इस जिनसहस्रनामस्तवनको परम तीर्थ बतलाते हुए तीर्थक्षेत्रोंके नामोंका उल्लेख किया गया है, जो कि इस प्रकार हैं :—१ अष्टापद (कैलाश) २ गिरनार, ३ चम्पापुरी, ४ पावापुरी, ५ अयोध्या, ६ शत्रुंजय, ७ तुंगीगिरि, ८ गजपंथ, ९ चूलगिरि, १० सिद्धवरकूट, ११ मेढ़ूगिरि, (मुक्तागिरि) १२ तारागिरि, (तारंगा) १३ पावागिरि, १४ गोमट्टस्वामि, १५ माणिक्यदेव १६ जीरावलि, १७ रेवातट, १८ रत्नपुर, १९ हस्तिनापुर, २० वाणारसी और २१ राजगृह आदि। (श्लोकनं० १४२)

३६–स्वभ्यस्तपरमासन—इस नामकी जो दोनों टीकाकारोंने व्याख्या की है, उससे विदित होता है कि केवलज्ञान होनेके पश्चात् तीर्थंकर भगवान विहारके समय भी पद्मासनस्थित ही गगनविहारी रहते हैं। इसे देखते हुए जो लोग भक्तामरस्तोत्रके 'पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र धत्तः पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति'' का आश्रय लेकर अरहंत अवस्थामें भी तीर्थंकर भगवान्के पाद-निक्षेप मानते हैं, वह मान्यता विचारणीय हो जाती है। (६–१०)

—:०:—

जिनसहस्रनामस्तवन

(पं० आशाधरविरचितम्)

प्रभो भवाङ्गभोगेषु निर्विण्णो दुःखभीरुकः । एष विज्ञापयामि त्वां शरण्यं करुणार्णवम् ॥ १ ॥
सुखलालसया मोहाद् भ्राम्यन् बहिरितस्ततः । सुखैकहेतोर्नामापि तव न ज्ञातवान् पुरा ॥ २ ॥
अद्य मोहग्रहावेशशैथिल्यात्किञ्चिदुन्मुखः । अनन्तगुणमाप्तेभ्यस्त्वां श्रुत्वा स्तोतुमुद्यतः ॥ ३ ॥
भक्त्या प्रोत्सार्यमाणो[1]ऽपि दूरं शक्त्या तिरस्कृतः । त्वां नामाष्टसहस्रेण स्तुत्वाऽऽत्मानं पुनाम्यहम् ॥ ४ ॥
जिन-सर्वज्ञ-यज्ञार्ह-तीर्थकृन्नाथ-योगिनाम् । निर्वाण-ब्रह्म-बुद्धांतकृतां चाष्टोत्तरैः शतैः ॥ ५ ॥

१ अथ जिनशतम्

जिनो जिनेन्द्रो जिनराट् जिनपृष्ठो जिनोत्तमः । जिनाधिपो जिनाधीशो जिनस्वामी जिनेश्वरः ॥ ६ ॥
जिननाथो जिनपतिर्जिनराजो जिनाधिराट् । जिनप्रभुर्जिनविभुर्जिनभर्ता जिनाधिभूः ॥ ७ ॥
जिननेता जिनेशानो जिनेनो जिननायकः । जिनेट् जिनपरिवृढो जिनदेवो जिनेशिता ॥ ८ ॥
जिनाधिराजो जिनपो जिनेशी जिनशासिता । जिनाधिनाथोऽपि जिनाधिपतिर्जिनपालकः ॥ ९ ॥
जिनचन्द्रो जिनादित्यो जिनार्को जिनकुंजरः । जिनेन्दुर्जिनधौरेयो जिनधुर्यो जिनोत्तरः ॥१०॥
जिनवर्यो जिनवरो जिनसिंहो जिनोद्वहः । जिनर्षभो जिनवृषो जिनरत्नं जिनोरसम् ॥११॥
जिनेशो जिनशार्दूलो जिनाग्र्यं जिनपुंगवः जिनहंसो जिनोत्तंसो जिननागो जिनाग्रणीः ॥१२॥
जिनप्रवेकश्च जिनग्रामणीर्जिनसत्तमः । जिनप्रवर्हः परमजिनो जिनपुरोगमः ॥१३॥
जिनश्रेष्ठो जिनज्येष्ठो जिनमुख्यो जिनाग्रिमः । श्रीजिनश्चोत्तमजिनो जिनवृन्दारकोऽरिजित् ॥१४॥
निर्विघ्नो विरजाः शुद्धो निस्तमस्को निरञ्जनः । घातिकर्मान्तकः कर्ममर्मावित्कर्महानघः ॥१५॥
वीतरागोऽक्षुद्द्वेषो निर्मोहो निर्मदोऽगदः । वितृष्णो निर्ममोऽसंगो निर्भयो वीतविस्मयः ॥१६॥
अस्वप्नो निःश्रमोऽजन्मा निःस्वेदो निर्जरोऽमरः । अरत्यतीतो निश्चिन्तो निर्विषादस्त्रिषष्टिजित् ॥१७॥

२ अथ सर्वज्ञशतम्

सर्वज्ञः सर्ववित्सर्वदर्शी सर्वावलोकनः । अनन्तविक्रमोऽनन्तवीर्योऽनन्तसुखात्मकः ॥१८॥
अनन्तसौख्यो विश्वज्ञो विश्वदृश्वाऽखिलार्थदृक् । न्यक्षदृग्विश्वतश्चक्षुर्विश्वचक्षुरशेषवित् ॥१९॥
आनन्द परमानन्दः सदानन्दः सदोदयः । नित्यानन्दो महानन्दः परानन्दः परोदयः ॥२०॥
परमोजः परंतेजः परंधाम परंमहः । प्रत्यग्ज्योतिः परंज्योतिः परंब्रह्म परंरहः ॥२१॥
प्रत्यगात्मा प्रबुद्धात्मा महात्मात्ममहोदयः । परमात्मा प्रशान्तात्मा परात्मात्मनिकेतनः ॥२२॥
परमेष्ठी महिष्ठात्मा श्रेष्ठात्मा स्वात्मनिष्ठितः । ब्रह्मनिष्ठो महानिष्ठो निरूढात्मा दृढात्मदृक् ॥२३॥
एकविद्यो महाविद्यो महाब्रह्मपदेश्वरः । पंचब्रह्ममयः सार्वः सर्वविद्येश्वरः स्वभूः ॥२४॥
अनन्तधीरनन्तात्माऽनन्तशक्तिरनन्तदृक् । अनन्तानन्तधीशक्तिरनन्तचिदनन्तमुत् ॥२५॥
सदाप्रकाशः सर्वार्थसाक्षात्कारी समग्रधीः । कर्मसाक्षी जगच्चक्षुरलक्ष्यात्माऽचलस्थितिः ॥२६॥
निराबाधोऽप्रतर्क्यात्मा धर्मचक्री विदांवरः । भूतात्मा सहजज्योतिर्विश्वज्योतिरतीन्द्रियः ॥२७॥
केवली केवलालोको लोकालोकविलोकनः । विविक्तः केवलोऽव्यक्तः शरण्योऽचिन्त्यवैभवः ॥२८॥
विश्वभृद्विश्वरूपात्मा विश्वात्मा विश्वतोमुखः । विश्वव्यापी स्वयंज्योतिरचिन्त्यात्माऽमितप्रभः ॥२९॥
महौदार्यो महाबोधिर्महालाभो महोदयः । महोपभोगः सुगतिर्महाभोगो महाबलः ॥३०॥

१ 'प्रोत्साह्यमानोऽपि' इत्यपि पाठः ।

३ अथ यज्ञार्हशतम्

यज्ञार्हो भगवानर्हन्महार्हो मघवार्चितः । भूतार्थयज्ञपुरुषो भूतार्थक्रतुपौरुषः ॥३१॥
पूज्यो भट्टारकस्तत्रभवानत्रभवान्महान् । महामहार्हस्तत्रायुस्ततो दीर्घायुरर्घ्यवाक् ॥३२॥
आराध्यः परमाराध्यः पंचकल्याणपूजितः । दृग्विशुद्धिगणोदग्रो वसुधारार्चितास्पदः ॥३३॥
सुस्वप्नदर्शी दिव्यौजाः शचीसेवितमातृकः । स्याद्रत्नगर्भः श्रीपूतगर्भो गर्भोत्सवोच्छ्रितः ॥३४॥
दिव्योपचारोपचितः पद्मभूर्निष्कलः स्वजः । सर्वीयजन्मा पुण्यांगो भास्वानुद्भूतदैवतः ॥३५॥
विश्वविज्ञातसंभूतिर्विश्वदेवागमाद्भुतः । शचीसृष्टप्रतिच्छन्दः सहस्राक्षदृगुत्सवः ॥३६॥
नृत्यदैरावतासीनः सर्वशक्रनमस्कृतः । हर्षाकुलामरखगश्चारणर्षिमतोत्सवः ॥३७॥
व्योम विष्णुपदारत्ना स्नानपीठायिताद्रिराट् । तीर्थेशंमन्यदुग्धाब्धिः स्नानाम्बुस्नातवासवः ॥३८॥
गन्धाम्बुपूतत्रैलोक्यो वज्रसूचीशुचिश्रवाः । कृतार्थितशचीहस्तः शक्रोद्घुष्टेष्टनामकः ॥३९॥
शक्रारब्धानन्दनृत्यः शचीविस्मापिताम्बिकः । इन्द्रनृत्यन्तपितृको रैदपूर्णमनोरथः ॥४०॥
आज्ञार्थीन्द्रकृतासेवो देवर्षीष्टशिवोद्यमः । दीक्षाक्षणक्षुब्धजगद्भूर्भुवःस्वःपतीडितः ॥४१॥
कुबेरनिर्मितास्थानः श्रीयुग्योगीश्वरार्चितः ब्रह्मेड्यो ब्रह्मविद्वेद्यो याज्यो यज्ञपतिः क्रतुः ॥४२॥
यज्ञांगममृतं यज्ञो हविः स्तुत्यः स्तुतीश्वरः । भावो महामहपतिर्महायज्ञोऽग्रयाजकः ॥४३॥
दयायागो जगत्पूज्यः पूजार्हो जगदर्चितः । देवाधिदेवः शक्रार्च्यो देवदेवो जगद्गुरुः ॥४४॥
संहूतदेवसंघार्च्यः पद्मयानो जयध्वजी । भामण्डली चतुःषष्टिचामरो देवदुन्दुभिः ॥४५॥
वागस्पृष्टासनः छत्रत्रयराट् पुष्पवृष्टिभाक् । दिव्याशोको मानमर्दी संगीतार्होऽष्टमंगलः ॥४६॥

४ अथ तीर्थकृच्छतम्

तीर्थकृत्तीर्थसृट् तीर्थंकरस्तीर्थंकरः सुदृक् । तीर्थकर्त्ता तीर्थभर्ता तीर्थेशस्तीर्थनायकः ॥४७॥
धर्मतीर्थकरस्तीर्थप्रणेता तीर्थकारकः । तीर्थप्रवर्तकस्तीर्थवेधास्तीर्थविधायकः ॥४८॥
सत्यतीर्थकरस्तीर्थसेव्यस्तैर्थिकतारकः । सत्यवाक्याधिपः सत्यशासनोऽप्रतिशासनः ॥४९॥
स्याद्वादी दिव्यगीर्दिव्यध्वनिरव्याहतार्थवाक् । पुण्यवागर्थ्यवागर्धमागधीयोक्तिरिद्धवाक् ॥५०॥
अनेकान्तदिगेकान्तध्वान्तभिद् दुर्णयान्तकृत् । सार्थवागप्रयत्नोक्तिः प्रतितीर्थमदघ्नवाक् ॥५१॥
स्यात्कारध्वजवागीहापेतवागचलौष्ठवाक् । अपौरुषेयवाक्छास्ता रुद्धवाक् सप्तभंगिवाक् ॥५२॥
अवर्णगीः सर्वभाषामयगीर्व्यक्तवर्णगीः । अमोघवागक्रमवागवाच्यानन्तवागवाक् ॥५३॥
अद्वैतगीः सूनृतगीः सत्यानुभयगीः सुगीः । योजनव्यापिगी क्षीरगौरगीस्तीर्थकृत्त्वगीः ॥५४॥
भव्यैकश्रव्यगुः सद्गुश्चित्रगुः परमार्थगुः । प्रशान्तगुः प्राश्निकगुः सुगुर्नियतकालगुः ॥५५॥
सुश्रुतिः सुश्रुतो याज्यश्रुतिः सुश्रुन्महाश्रुतिः । धर्मश्रुतिः श्रुतिपतिः श्रुत्युद्धर्त्ता ध्रुवश्रुतिः ॥५६॥
निर्वाणमार्गदिग्मार्गदेशकः सर्वमार्गदिक् । सारस्वतपथस्तीर्थपरमोत्तमतीर्थकृत् ॥५७॥
देष्टा वाग्मीश्वरो धर्मशासको धर्मदेशकः । वागीश्वरस्त्रयीनाथस्त्रिभंगीशो गिरां पतिः ॥५८॥
सिद्धाज्ञः सिद्धवागाज्ञासिद्धः सिद्धैकशासनः । जगत्प्रसिद्धसिद्धान्तः सिद्धमंत्रः सुसिद्धवाक् ॥५९॥
शुचिश्रवा निरुक्तोक्तिस्तंत्रकृन्न्यायशास्त्रकृत् । महिष्ठवाग्महानादः कवीन्द्रो दुन्दुभिस्वनः ॥६०॥

५ अथ नाथशतम्—

नाथः पतिः परिवृढः स्वामी भर्त्ता विभुः प्रभुः । ईश्वरोऽधीश्वरोऽधीशोऽधीशानोऽधीशितेशिता ॥६१॥
ईशोऽधिपतिरीशान इन इन्द्रोऽधिपोऽधिभूः । महेश्वरो महेशानो महेशः परमेशिता ॥६२॥
अधिदेवो महादेवो देवस्त्रिभुवनेश्वरः । विश्वेशो विश्वभूतेशो विश्वेट् विश्वेश्वरोऽधिराट् ॥६३॥
लोकेश्वरो लोकपति र्लोकनाथो जगत्पतिः । त्रैलोक्यनाथो लोकेशो जगन्नाथो जगत्प्रभुः ॥६४॥

जितः परः परतरो जेता जिष्णुरनीश्वरः । कर्ता प्रभूष्णुर्भ्राजिष्णुः प्रभविष्णुः स्वयंप्रभुः ॥६५॥
लोकजिद्विश्वजिद्विश्वविजेता विश्वजित्वरः । जगज्जेता जगज्जैत्रो जगज्जिष्णुर्जगज्जयी ॥६६॥
अग्रणीर्ग्रामणीर्नेता भूर्भुवःस्वरधीश्वरः । धर्मनायक ऋद्धीशो भूतनाथश्च भूतभृत् ॥६७॥
गतिः पाता वृषो वर्यो मंत्रकृच्छुभलक्षणः । लोकाध्यक्षो दुराधर्षो भव्यबन्धुर्निरुत्सुकः ॥६८॥
धीरो जगद्धितोऽजय्यस्त्रिजगत्परमेश्वरः । विश्वासी सर्वलोकेशो विभवो भुवनेश्वरः ॥६९॥
त्रिजगद्वल्लभस्तुंगस्त्रिजगन्मंगलोदयः । धर्मचक्रायुधः सद्योजातस्त्रैलोक्यमंगलः ॥७०॥
वरदोऽप्रतिघोऽच्छेद्यो दृढीयानभयंकरः । महाभागो निरौपम्यो धर्मसाम्राज्यनायकः ॥७१॥

६ अथ योगिशतम्

योगी प्रव्यक्तनिर्वेदः साम्यारोहणतत्परः । सामयिकी सामयिको निःप्रमादोऽप्रतिक्रमः ॥७२॥
यमः प्रधाननियमः स्वभ्यस्तपरमासनः । प्राणायामचणः सिद्धप्रत्याहारो जितेन्द्रियः ॥७३॥
धारणाधीश्वरो धर्मध्याननिष्ठः समाधिराट् । स्फुरत्समरसीभाव एकी करणनायकः ॥७४॥
निर्ग्रन्थनाथो योगीन्द्रः ऋषिः साधुर्यतिर्मुनिः । महर्षिः साधुधौरेयो यतिनाथो मुनीश्वरः ॥७५॥
महामुनिर्महामौनी महाध्यानी महाव्रती । महाक्षमो महाशीलो महाशान्तो महादमः ॥७६॥
निर्लेपो निर्भ्रमस्वान्तो धर्माध्यक्षो दयाध्वजः । ब्रह्मयोनिः स्वयंबुद्धो ब्रह्मज्ञो ब्रह्मतत्त्ववित् ॥७७॥
पूतात्मा स्नातको दान्तो भदन्तो वीतमत्सरः । धर्मवृक्षायुधोऽक्षोभ्यः प्रपूतात्माऽमृतोद्भवः ॥७८॥
मंत्रमूर्तिः स्वसौम्यात्मा स्वतंत्रो ब्रह्मसंभवः । सुप्रसन्नो गुणाम्भोधिः पुण्यापुण्यनिरोधकः ॥७९॥
सुसंवृतः सुगुप्तात्मा सिद्धात्मा निरुपप्लवः । महोदर्को महोपायो जगदेकपितामहः ॥८०॥
महाकारुणिको गुण्यो महाक्लेशांकुशः शुचिः । अरिंजयः सदायोगः सदाभोगः सदाधृतिः ॥८१॥
परमौदासिताऽनाश्वान् सत्याशीः शान्तनायकः । अपूर्ववैद्यो योगज्ञो धर्ममूर्तिरधर्मधक् ॥८२॥
ब्रह्मेट् महाब्रह्मपतिः कृतकृत्यः कृतक्रतुः । गुणाकरो गुणोच्छेदी निर्निमेषो निराश्रयः ॥८३॥
सूरिः सुनयतत्त्वज्ञो महामैत्रीमयः शमी[1] । प्रक्षीणबन्धो निर्द्वन्द्वः परमर्षिरनन्तगः ॥८४॥

७ अथ निर्वाणशतम्

निर्वाणः सागरः प्राज्ञैर्महासाधुरुदाहृतः । विमलाभोऽथ शुद्धाभः श्रीधरो दत्त इत्यपि ॥८५॥
अमलाभोऽप्युद्धरोऽग्निः संयमश्च शिवस्तथा । पुष्पाञ्जलिः शिवगण उत्साहो ज्ञानसंज्ञकः ॥८६॥
परमेश्वर इत्युक्तो विमलेशो यशोधरः । कृष्णो ज्ञानमतिः शुद्धमतिः श्रीभद्र शान्तयुक् ॥८७॥
वृषभस्तद्वदजितः संभवश्चाभिनन्दनः । मुनिभिः सुमतिः पद्मप्रभः प्रोक्तः सुपार्श्वकः ॥८८॥
चन्द्रप्रभः पुष्पदन्तः शीतलः श्रेय आह्वयः । वासुपूज्यश्च विमलोऽनन्तजिद्धर्म इत्यपि ॥८९॥
शान्तिः कुन्थुररो मल्लिः सुव्रतो नमिरप्यतः । नेमिः पार्श्वो वर्धमानो महावीरः सुवीरकः ॥९०॥
सन्मतिश्चाकथि महतिमहावीर इत्यथ । महापद्मः सुरदेवः सुप्रभश्च स्वयंप्रभः ॥९१॥
सर्वायुधो जयदेवो भवेदुदयदेवकः । प्रभादेव उदंकश्च प्रश्नकीर्तिर्जयाभिधः ॥९२॥
पूर्णबुद्धिर्निष्कषायो विज्ञेयो विमलप्रभः । बहलो निर्मलश्चित्रगुप्तः समाधिगुप्तकः ॥९३॥
स्वयम्भूश्चापि कन्दर्पो जयनाथ इतीरितः । श्रीविमलो दिव्यवादोऽनन्तवीरोऽप्युदीरितः ॥९४॥
पुरुदेवोऽथ सुविधिः प्रज्ञापारमितोऽव्ययः । पुराणपुरुषो धर्मसारथिः शिवकीर्तनः ॥९५॥
विश्वकर्माऽक्षरोऽच्छद्मा विश्वभूर्विश्वनायकः । दिगम्बरो निरातंको निरारेको भवान्तकः ॥९६॥
दृढव्रतो नयोत्तुंगो निष्कलंकोऽकलाधरः । सर्वक्लेशापहोऽक्षय्यः क्षान्तः श्रीवृक्षलक्षणः ॥९७॥

---

१ 'शर्मी' इत्यपि पाठः ।

८ अथ शतम्

ब्रह्मा चतुर्मुखो धाता विधाता कमलासनः । अब्जभूरात्मभूः स्रष्टा सुरज्येष्ठः प्रजापतिः ॥९८॥
हिरण्यगर्भो वेदज्ञो वेदांगो वेदपारगः । अजो मनुः शतानन्दो हंसयानस्त्रयीमयः ॥९९॥
विष्णुस्त्रिविक्रमः शौरिः श्रीपतिः पुरुषोत्तमः । वैकुण्ठः पुंडरीकाक्षो हृषीकेशो हरिः स्वभूः ॥१००॥
विश्वम्भरोऽसुरध्वंसी माधवो बलिबन्धनः । अधोक्षजो मधुद्वेषी केशवो विष्टरश्रवः ॥१०१॥
श्रीवत्सलाञ्छनः श्रीमानच्युतो नरकान्तकः । विष्वक्सेनश्चक्रपाणिः पद्मनाभो जनार्दनः ॥१०२॥
श्रीकण्ठः शंकरः शम्भुः कपाली वृषकेतनः । मृत्युञ्जयो विरूपाक्षो वामदेवस्त्रिलोचनः ॥१०३॥
उमापतिः पशुपतिः स्मरारिस्त्रिपुरान्तकः । अर्धनारीश्वरो रुद्रो भवो भर्गः सदाशिवः ॥१०४॥
जगत्कर्त्ताऽन्धकारातिरनादिनिधनो हरः । महासेनस्तारकजिद्गणनाथो विनायकः ॥१०५॥
विरोचनो वियद्रत्नं द्वादशात्मा विभावसुः । द्विजाराध्यो बृहद्भानुश्चित्रभानुस्तनूनपात् ॥१०६॥
द्विजराजः सुधाशोचिरौषधीशः कलानिधिः । नक्षत्रनाथः शुभ्रांशुः सोमः कुमुदबान्धवः ॥१०७॥
लेखर्षभोऽनिलः पुण्यजनः पुण्यजनेश्वरः । धर्मराजो भोगिराजः प्रचेता भूमिनन्दनः ॥१०८॥
सिंहिकातनयश्छायानन्दनो बृहतांपतिः । पूर्वदेवोपदेष्टा च द्विजराजसमुद्भवः ॥१०९॥

९ अथ बुद्धशतम्

बुद्धो दशबलः शाक्यः षडभिज्ञस्तथागतः । समन्तभद्रः सुगतः श्रीघनो भूतकोटिदिक् ॥११०॥
सिद्धार्थो मारजिच्छास्ता क्षणिकैकसुलक्षणः । बोधिसत्त्वो निर्विकल्पदर्शनोऽद्वयवाद्यपि ॥१११॥
महाकृपालुर्नैरात्म्यवादी सन्तानशासकः । सामान्यलक्षणचणः पंचस्कन्धमयात्मदृक् ॥११२॥
भूतार्थभावनासिद्धः चतुर्भूमिकशासनः । चतुरार्यसत्यवक्ता निराश्रयचिदन्वयः ॥११३॥
योगो वैशेषिकस्तुच्छाभावभित्षट्पदार्थदृक् । नैयायिकः षोडशार्थवादी पंचार्थवर्णकः ॥११४॥
ज्ञानान्तराध्यक्षबोधः समवायवशार्थभित् । भुक्तैकसाध्यकर्मान्तो निर्विशेषगुणामृतः ॥११५॥
सांख्यः समीक्ष्यः कपिलः पंचविंशतितत्त्ववित् । व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानी ज्ञानचैतन्यभेददृक् ॥११६॥
अस्वसंविदितज्ञानवादी सत्कार्यवादसात् । त्रिःप्रमाणोऽक्षप्रमाणः स्याद्वाहंकारिकाक्षदिक् ॥११७॥
क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषो नरो ना चेतनः पुमान् । अकर्त्ता निर्गुणोऽमूर्त्तो भोक्ता सर्वगतोऽक्रियः ॥११८॥
द्रष्टा तटस्थः कूटस्थो ज्ञाता निर्बन्धनोऽभवः । बहिर्विकारो निर्मोक्षः प्रधानं बहुधानकम् ॥११९॥
प्रकृतिः ख्यातिरारूढप्रकृतिः प्रकृतिप्रियः । प्रधानभोज्योऽप्रकृतिर्विरस्यो विकृतिः कृती ॥१२०॥
मीमांसकोऽस्तसर्वज्ञः श्रुतिपूतः सदोत्सवः । परोक्षज्ञानवादीष्टपावकः सिद्धकर्मकः ॥१२१॥
चार्वाको भौतिकज्ञानो भूताभिव्यक्तचेतनः । प्रत्यक्षैकप्रमाणोऽस्तपरलोको गुरुश्रुतिः ॥१२२॥
पुरन्दरविद्धकर्णो वेदान्ती संविदद्वयी । शब्दाद्वैती स्फोटवादी पाखंडघ्नो नयौघयुक् ॥१२३॥

१० अथ अन्तकृच्छतम्

अन्तकृत्पारकृत्तीरप्राप्तः पारेतमः स्थितः । त्रिदण्डी दण्डितारातिर्ज्ञानकर्मसमुच्चयी ॥१२४॥
संहृतध्वनिरुच्छन्नयोगः[1] सुप्तार्णवोपमः । योगस्नेहापहो योगकिट्टिनिर्लेपनोद्यतः ॥१२५॥
स्थितस्थूलवपुर्योगो गोर्मनोयोगकार्श्यकः । सूक्ष्मवाक्चित्तयोगस्थः सूक्ष्मीकृतवपुःक्रियः ॥१२६॥
सूक्ष्मकायक्रियास्थायी सूक्ष्मवाक्चित्तयोगहा । एकदंडी च परमहंसः परमसंवरः ॥१२७॥
नैःकर्म्यसिद्धः परमनिर्जरः प्रज्वलत्प्रभः । मोघकर्मा त्रुटत्कर्मपाशः शैलेश्यलंकृतः ॥१२८॥
एकाकाररसास्वादो विश्वाकाररसाकुलः । अजीवन्नमृतोऽजाग्रदसुप्तः शून्यतामयः ॥१२९॥

---

१ 'रुत्सन्न–' इत्यपि पाठः

प्रेष्ठान्योगी चतुरशीतिलक्षगुणोऽगुणः । निःपीतानन्तपर्यायोऽविद्यासंस्कारनाशकः ॥१३०॥
वृद्धो निर्वचनीयोऽणुरणीयाननणुप्रियः । प्रेष्ठः स्थेयान् स्थिरो निष्ठः श्रेष्ठो ज्येष्ठः सुनिष्ठितः ॥१३१॥
भूतार्थशूरो भूतार्थदूरः परमनिर्गुणः । व्यवहारसुषुप्तोऽतिजागरूकोऽतिसुस्थितः ॥१३२॥
उदितोदितमाहात्म्यो निरुपाधिरकृत्रिमः । अमेयमहिमात्यन्तशुद्धः सिद्धिस्वयंवरः ॥१३३॥
सिद्धानुजः सिद्धपुरीपान्थः सिद्धगणातिथिः । सिद्धसंगोन्मुखः सिद्धालिंग्यः सिद्धोपगूहकः ॥१३४॥
पुष्टोऽष्टादशसहस्रशीलाश्वः पुण्यशंबलः । वृत्ताप्त्युग्यः परमशुक्ललेश्योऽपचारकृत् ॥१३५॥
क्षेपिष्ठोऽन्त्यक्षणसखा पंचलघ्वक्षरस्थितिः । द्वासप्ततिप्रकृत्यासी त्रयोदशकलिप्रणुत् ॥१३६॥
अवेदोऽयाजकोऽयज्योऽयाज्योऽनग्निपरिग्रहः । अनग्निहोत्री परमनिःस्पृहोऽत्यन्तनिर्दयः ॥१३७॥
अशिष्योऽशासकोऽदीक्ष्योऽदीक्षकोऽदीक्षितोऽक्षयः । अगम्योऽगमकोऽरम्योऽरमको ज्ञाननिर्भरः ॥१३८॥
महायोगीश्वरो द्रव्यसिद्धोऽदेहोऽपुनर्भवः । ज्ञानैकचिज्जीवघनः सिद्धो लोकाग्रगामुकः ॥१३९॥

जिनसहस्रनामस्तवनफलम्

इदमष्टोत्तरं नाम्नां सहस्रं भक्तितोऽर्हताम् । योऽनन्तानामधीतेऽसौ मुक्त्यन्तां भक्तिमश्नुते ॥१४०॥
इदं लोकोत्तमं पुंसामिदं शरणमुल्बणम् । इदं मंगलमग्रीयमिदं परमपावनम् ॥१४१॥
इदमेव परमतीर्थमिदमेवेष्टसाधनम् । इदमेवाखिलक्लेशसंक्लेशक्षयकारणम् ॥१४२॥
एतेषामेकमप्यर्हन्नाम्नामुच्चारयन्नघैः । मुच्यते किं पुनः सर्वाण्यर्थज्ञस्तु जिनायते ॥१४३॥

जिनसहस्रनाम

(आचार्य जिनसेनकृतम्)

प्रसिद्धाष्टसहस्रेद्धलक्षणं त्वां गिरांपतिम् । नाम्नामष्टसहस्रेण तोष्टुमोऽभीष्टसिद्धये ॥१॥

१ अथ श्रीमदादिशतम्

श्रीमान् स्वयम्भूर्वृषभः शम्भवः शम्भुरात्मभूः । स्वयंप्रभः प्रभुर्भोक्ता विश्वभूरपुनर्भवः ॥२॥
विश्वात्मा विश्वलोकेशो विश्वतश्चक्षुरक्षरः । विश्वविद्विश्वविद्येशो विश्वयोनिरनश्वरः ॥३॥
विश्वदृश्वा विभुर्धाता विश्वेशो विश्वलोचनः विश्वव्यापी विधिर्वेधाः शाश्वतो विश्वतोमुखः ॥४॥
विश्वकर्मा जगज्ज्येष्ठो विश्वमूर्तिर्जिनेश्वरः । विश्वदृक् विश्वभूतेशो विश्वज्योतिरनीश्वरः ॥५॥
जिनो जिष्णुरमेयात्मा विश्वरीशो जगत्पतिः । अनन्तजिदचिन्त्यात्मा भव्यबन्धुरबन्धनः ॥६॥
युगादिपुरुषो ब्रह्मा पंचब्रह्ममयः शिवः । परः परतरः सूक्ष्मः परमेष्ठी सनातनः ॥७॥
स्वयंज्योतिरजोऽजन्मा ब्रह्मयोनिरयोनिजः । मोहारिविजयी जेता धर्मचक्री दयाध्वजः ॥८॥
प्रशान्तारिरनन्तात्मा योगी योगीश्वरार्चितः । ब्रह्मविद् ब्रह्मतत्त्वज्ञो ब्रह्मोद्याविद्यतीश्वरः ॥९॥
शुद्धो बुद्धः प्रबुद्धात्मा सिद्धार्थः सिद्धशासनः । सिद्धः सिद्धान्तविद् ध्येयः सिद्धसाध्यो जगद्धितः ॥१०॥
सहिष्णुरच्युतोऽनन्तः प्रभविष्णुर्भवोद्भवः । प्रभूष्णुरजरोऽजर्यो भ्राजिष्णुर्धीश्वरोऽव्ययः ॥११॥
विभावसुरसंभूष्णुः स्वयंभूष्णुः पुरातनः । परमात्मा परंज्योतिस्त्रिजगत्परमेश्वरः ॥१२॥

२ अथ दिव्यादिशतम्

दिव्यभाषापतिर्दिव्यः पूतवाक् पूतशासनः । पूतात्मा परमज्योतिर्धर्माध्यक्षो दमीश्वरः ॥१३॥
श्रीपतिर्भगवानर्हन्नरजा विरजाः शुचिः । तीर्थकृत्केवलीशानः पूजार्हः स्नातकोऽमलः ॥१४॥
अनन्तदीप्तिर्ज्ञानात्मा स्वयंबुद्धः प्रजापतिः । मुक्तः शक्तो निराबाधो निष्कलो भुवनेश्वरः ॥१५॥
निरञ्जनो जगज्ज्योतिर्निरुक्तोक्तिर्निरामयः । अचलस्थितिरक्षोभ्यः कूटस्थः स्थाणुरक्षयः ॥१६॥
अग्रणीर्ग्रामणीर्नेता प्रणेता न्यायशास्त्रकृत् । शास्ता धर्मपतिर्धर्म्यो धर्मात्मा धर्मतीर्थकृत् ॥१७॥
वृषध्वजो वृषाधीशो वृषकेतुर्वृषायुधः । वृषो वृषपतिर्भर्त्ता वृषभाङ्को वृषोद्भवः ॥१८॥
हिरण्यनाभिर्भूतात्मा भूतभृद्भूतभावनः । प्रभवो विभवो भास्वान् भवो भावो भवान्तकः ॥१९॥
हिरण्यगर्भः श्रीगर्भः प्रभूतविभवोद्भवः । स्वयंप्रभुः प्रभूतात्मा भूतनाथो जगत्प्रभुः ॥२०॥
सर्वादिः सर्वदृक् सार्वः सर्वज्ञः सर्वदर्शनः । सर्वात्मा सर्वलोकेशः सर्ववित् सर्वलोकजित् ॥२१॥
सुगतिः सुश्रुतः सुश्रुक् सुवाक् सूरिर्बहुश्रुतः । विश्रुतो विश्वतः पादो विश्वशीर्षः शुचिश्रवाः ॥२२॥
सहस्रशीर्षः क्षेत्रज्ञः सहस्राक्षः सहस्रपात् । भूतभव्यभवद्भर्त्ता विश्वविद्यामहेश्वरः ॥२३॥

३ अथ स्थविष्ठादिशतम्

स्थविष्ठः स्थविरो ज्येष्ठः पृष्ठः प्रेष्ठो वरिष्ठधीः । स्थेष्ठो गरिष्ठो बंहिष्ठःश्रेष्ठोऽणिष्ठो गरिष्ठगीः ॥२४॥
विश्वभृद्विश्वसृड् विश्वेट् विश्वभुग्विश्वनायकः । विश्वाशीर्विश्वरूपात्मा विश्वजिद्विजितान्तकः ॥२५॥
विभवो विभयो वीरो विशोको विरजो जरन् । विरागो विरतोऽसंगो विविक्तो वीतमत्सरः ॥२६॥
विनेयजनताबन्धुर्विलीनाशेषकल्मषः । वियोगो योगविद्विद्वान् विधाता सुविधिः सुधीः ॥२७॥
क्षान्तिभाक् पृथिवीमूर्त्तिः शान्तिभाक् सलिलात्मकः । वायुमूर्तिरसंगात्मा वह्निमूर्तिरधर्मधक् ॥२८॥
सुयज्वा यजमानात्मा सुत्वा सुत्रामपूजितः । ऋत्विग्यज्ञपतिर्याज्यो यज्ञांगममृतं हविः ॥२९॥
व्योममूर्तिरमूर्त्तात्मा निर्लेपो निर्मलोऽचलः । सोममूर्त्तिः सुसौम्यात्मा सूर्यमूर्तिर्महाप्रभः ॥३०॥
मंत्रविन्मंत्रकृन्मंत्री मंत्रमूर्तिरनन्तगः । स्वतंत्रस्तंत्रकृत्स्वान्तः कृतान्तान्तः कृतान्तकृत् ॥३१॥
कृती कृतार्थः सत्कृत्यः कृतकृत्यः कृतक्रतुः । नित्यो मृत्युञ्जयोऽमृत्युरमृतात्माऽमृतोद्भवः ॥३२॥
ब्रह्मनिष्ठः परंब्रह्म ब्रह्मात्मा ब्रह्मसंभवः । महाब्रह्मपतिर्ब्रह्मेट् महाब्रह्मपदेश्वरः ॥३३॥
सुप्रसन्नः प्रसन्नात्मा ज्ञानधर्मदमप्रभुः । प्रशमात्मा प्रशान्तात्मा पुराणपुरुषोत्तमः ॥३४॥

४ अथ महाशोकध्वजादिशतम्

महाशोकध्वजोऽशोकः कः स्रष्टा पद्मविष्टरः । पद्मेशः पद्मसंभूतिः पद्मनाभिरनुत्तरः ॥३५॥
पद्मयोनिर्जगद्योनिरित्यः स्तुत्यः स्तुतीश्वरः । स्तवनार्हो हृषीकेशो जितजेयः कृतक्रियः ॥३६॥
गणाधिपो गणज्येष्ठो गण्यः पुण्यो गणाग्रणीः । गुणाकरो गुणाम्भोधिर्गुणज्ञो गुणनायकः ॥३७॥
गुणादरी गुणोच्छेदी निर्गुणः पुण्यगीर्गुणः । शरण्यः पुण्यवाक् पूतो वरेण्यः पुण्यनायकः ॥३८॥
अगण्यः पुण्यधीर्गुण्यः पुण्यकृत्पुण्यशासनः । धर्मारामो गुणग्रामः पुण्यापुण्यनिरोधकः ॥३९॥
पापपेतो विपापात्मा विपाप्मा वीतकल्मषः । निर्द्वन्द्वो निर्मदः शान्तो निर्मोहो निरुपद्रवः ॥४०॥
निर्निमेषो निराहारो निःक्रियो निरुपप्लवः । निष्कलंको निरस्तैना निर्धूतांगो निरास्रवः ॥४१॥
विशालो विपुलज्योतिरतुलोऽचिन्त्यवैभवः । सुसंवृतः सुगुप्तात्मा सुभृत्सुनयतत्त्ववित् ॥४२॥
एकविद्यो महाविद्यो मुनिःपरिवृढः पतिः । धीशो विद्यानिधिःसाक्षी विनेता विहतान्तकः ॥४३॥
पिता पितामहः पाता पवित्रः पावनो गतिः । त्राता भिषग्वरो वर्यो वरदः परमः पुमान् ॥४४॥
कविः पुराणपुरुषो वर्षीयान् वृषभः पुरुः । प्रतिष्ठाप्रसवो हेतुर्भुवनैकपितामहः ॥४५॥

५ अथ श्रीवृक्षलक्षणादिशतम्

श्रीवृक्षलक्षणः श्लक्ष्णो लक्षण्यः शुभलक्षणः। निरक्षः पुंडरीकाक्षः पुष्कलः पुष्करेक्षणः ॥४६॥
सिद्धिदः सिद्धसंकल्पः सिद्धात्मा सिद्धसाधनः। बुद्धबोध्यो महाबोधिर्वर्धमानो महर्द्धिकः ॥४७॥
वेदांगो वेदविद्वेद्यो जातरूपो विदांवरः। वेदवेद्यः स्वसंवेद्यो विवेदो वदतांवरः ॥४८॥
अनादिनिधनोऽव्यक्तो व्यक्तवाग्व्यक्तशासनः। युगादिकृद्युगाधारो युगादिर्जगदादिजः ॥४९॥
अतीन्द्रोऽतीन्द्रियो धीन्द्रो महेन्द्रोऽतीन्द्रियार्थदृक्। अनिन्द्रियोऽहमिन्द्रार्च्यो महेन्द्रमहितो महान् ॥५०॥
उद्भवः कारणं कर्ता पारगो भवतारकः। अगाह्यो गहनं गुह्यं परार्घ्यः परमेश्वरः ॥५१॥
अनन्तर्द्धिरमेयर्द्धिरचिन्त्यर्द्धिः समग्रधीः। प्राग्र्यः प्राग्रहरोऽभ्यग्र्यः प्रत्यग्रोऽग्र्योऽग्रिमोऽग्रजः ॥५२॥
महातपाः महातेजा महोदर्को महोदयः। महायशा महाधामा महासत्त्वो महाधृतिः ॥५३॥
महाधैर्यो महावीर्यो महासम्पन्महाबलः। महाशक्तिर्महाज्योतिर्महाभूतिर्महाद्युतिः ॥५४॥
महामतिर्महानीतिर्महाक्षान्तिर्महोदयः। महाप्राज्ञो महाभागो महानन्दो महाकविः ॥५५॥
महामहा महाकीर्तिर्महाकान्तिर्महावपुः। महादानो महाज्ञानो महायोगो महागुणः ॥५६॥
महामहपतिः प्राप्तमहाकल्याणपंचकः। महाप्रभुर्महाप्रातिहार्याधीशो महेश्वरः ॥५७॥

६ अथ महामुन्यादिशतम्

महामुनिर्महामौनी महाध्यानी महादमः। महाक्षमो महाशीलो महायज्ञो महामखः ॥५८॥
महाव्रतपतिर्मह्यो महाकान्तिधरोऽधिपः। महामैत्रीमयोऽमेयो महोपायो महोमयः ॥५९॥
महाकारुणिको मंता महामंत्रो महामतिः। महानादो महाघोषो महेज्यो महसांपतिः ॥६०॥
महाध्वरधरो धुर्यो महौदार्यो महिष्ठवाक्। महात्मा महसांधाम महर्षिर्महितोदयः ॥६१॥
महाक्लेशांकुशः शूरो महाभूतपतिर्गुरुः। महापराक्रमोऽनन्तो महाक्रोधरिपुर्वशी ॥६२॥
महाभवाब्धिसंतारी महामोहाद्रिसूदनः। महागुणाकरः क्षान्तो महायोगीश्वरः शमी ॥६३॥
महाध्यानपतिर्ध्याता महाधर्मा महाव्रतः। महाकर्मारिहात्मज्ञो महादेवो महेशिता ॥६४॥
सर्वक्लेशापहः साधुः सर्वदोषहरो हरः। असंख्येयोऽप्रमेयात्मा शमात्मा प्रशमाकरः ॥६५॥
सर्वयोगीश्वरोऽचिन्त्यः श्रुतात्मा विष्टरश्रवाः। दान्तात्मा दमतीर्थेशो योगात्मा ज्ञानसर्वगः ॥६६॥
प्रधानमात्मा प्रकृतिः परमः परमोदयः। प्रक्षीणबन्धः कामारिः क्षेमकृत् क्षेमशासनः ॥६७॥
प्रणवः प्रणयः प्राणः प्राणदः प्रणतेश्वरः। प्रमाणं प्रणिधिर्दक्षो दक्षिणोऽध्वर्युरध्वरः ॥६८॥
आनन्दो नन्दनो नन्दो वंद्योऽनिन्द्योऽभिनन्दनः। कामहा कामदः काम्यः कामधेनुररिंजयः ॥६९॥

अथ असंस्कृतादिशतम्

असंस्कृतः सुसंस्कारः प्राकृतो वैकृतान्तकृत्। अन्तकृत्कान्तिगुः कान्तश्चिन्तामणिरभीष्टदः ॥७०॥
अजितो जितकामारिरमितोऽमितशासनः। जितक्रोधो जितामित्रो जितक्लेशो जितान्तकः ॥७१॥
जिनेन्द्रः परमानन्दो मुनीन्द्रो दुन्दुभिस्वनः। महेन्द्रवन्द्यो योगीन्द्रो यतीन्द्रो नाभिनन्दनः ॥७२॥
नाभेयो नाभिजोऽजातः सुव्रतो मनुरुत्तमः। अभेद्योऽनत्ययोऽनाश्वानधिकोऽधिगुरुःसुधीः ॥७३॥
सुमेधा विक्रमी स्वामी दुराधर्षो निरुत्सुकः। विशिष्टः शिष्टभुक् शिष्टः प्रत्ययः कामनोऽनघः ॥७४॥
क्षेमी क्षेमंकरोऽक्षय्यः क्षेमधर्मपतिः क्षमी। अग्राह्यो ज्ञाननिग्राह्यो ध्यानगम्यो निरुत्तरः ॥७५॥
सुकृती धातुरिज्यार्हः सुनयश्चतुराननः। श्रीनिवासश्चतुर्वक्त्रश्चतुरास्यश्चतुर्मुखः ॥७६॥
सत्यात्मा सत्यविज्ञानः सत्यवाक् सत्यशासनः। सत्याशीः सत्यसन्धानः सत्यः सत्यपरायणः ॥७७॥
स्थेयान् स्थवीयान् नेदीयान् दवीयान् दूरदर्शनः। अणोरणीयाननणुर्गुरुराद्यो गरीयसाम् ॥७८॥

सदायोगः सदाभोगः सदातृप्तः सदाशिवः । सदागतिः सदासौख्यः सदाविद्यः सदोदयः ॥७९॥
सुघोषः सुमुखः सौम्यः सुखदः सुहितः सुहृत् । सुगुप्तो गुप्तिभृद् गोप्ता लोकाध्यक्षो दमीश्वरः ॥८०॥

८ अथ बृहदादिशतम्

बृहन् बृहस्पतिर्वाग्मी वाचस्पतिरुदारधीः । मनीषी धिषणो धीमाञ्छेमुषीशो गिरांपतिः ॥८१॥
नैकरूपो नयोत्तुङ्गो नैकात्मा नैकधर्मकृत् । अविज्ञेयोऽप्रतर्क्यात्मा कृतज्ञः कृतलक्षणः ॥८२॥
ज्ञानगर्भो दयागर्भो रत्नगर्भः प्रभास्वरः । पद्मगर्भो जगद्गर्भो हेमगर्भः सुदर्शनः ॥८३॥
लक्ष्मीवांस्त्रिदशाध्यक्षो दृढीयानिन ईशिता । मनोहरो मनोज्ञांगो धीरो गम्भीरशासनः ॥८४॥
धर्मयूपो दयायागो धर्मनेमिर्मुनीश्वरः । धर्मचक्रायुधो देवः कर्महा धर्मघोषणः ॥८५॥
अमोघवागमोघाज्ञो निर्मलोऽमोघशासनः । सुरूपः सुभगस्त्यागी समयज्ञः समाहितः ॥८६॥
सुस्थितः स्वास्थ्यभाक् स्वस्थो नीरजस्को निरुद्धवः । अलेपो निष्कलंकात्मा वीतरागो गतस्पृहः ॥८७॥
वश्येन्द्रियो विमुक्तात्मा निःसपत्नो जितेन्द्रियः । प्रशान्तोऽनन्तधामर्षिर्मंगलं मलहानघः ॥८८॥
अनीदृगुपमाभूतो दिष्टिर्दैवमगोचरः । अमूर्तो मूर्तिमानेको नैको नानैकतत्त्वदृक् ॥८९॥
अध्यात्मगम्यो गम्यात्मा योगविद्योगिवंदितः । सर्वत्रगः सदाभावी त्रिकालविषयार्थदृक् ॥९०॥
शंकरः शंवदो दान्तो दमी क्षान्तिपरायणः । अधिपः परमानन्दः परात्मज्ञः परात्परः ॥९१॥
त्रिजगद्वल्लभोऽभ्यर्च्यस्त्रिजगन्मंगलोदयः । त्रिजगत्पतिपूज्यांघ्रिस्त्रिलोकाग्रशिखामणिः ॥९२॥

९ अथ त्रिकालदर्श्यादिशतम्

त्रिकालदर्शी लोकेशो लोकधाता दृढव्रतः । सर्वलोकातिगः पूज्यः सर्वलोकैकसारथिः ॥९३॥
पुराणः पुरुषः पूर्वः कृतपूर्वांगविस्तरः आदिदेवः पुराणाद्यः पुरुदेवोऽधिदेवता ॥९४॥
युगमुखो युगज्येष्ठो युगादिस्थितिदेशकः । कल्याणवर्णः कल्याणः कल्यः कल्याणलक्षणः ॥९५॥
कल्याणप्रकृतिर्दीप्तकल्याणात्मा विकल्मषः । विकलंकः कलातीतः कलिलघ्नः कलाधरः ॥९६॥
देवदेवो जगन्नाथो जगद्बन्धुर्जगद्विभुः । जगद्धितैषी लोकज्ञः सर्वगो जगदग्रगः ॥९७॥
चराचरगुरुर्गोप्यो गूढात्मा गूढगोचरः । सद्योजातः प्रकाशात्मा ज्वलज्ज्वलनसप्रभः ॥९८॥
आदित्यवर्णो भर्माभः सुप्रभः कनकप्रभः । सुवर्णवर्णो रुक्माभः सूर्यकोटिसमप्रभः ॥९९॥
तपनीयनिभस्तुङ्गो बालार्काभोऽनलप्रभः । संध्याभ्रबभ्रुर्हेमाभस्तप्तचामीकरच्छविः ॥१००॥
निष्टप्तकनकच्छायः कनत्कांचनसन्निभः । हिरण्यवर्णः स्वर्णाभः शातकुंभनिभप्रभः ॥१०१॥
द्युम्नाभो जातरूपाभो दीप्तजाम्बूनदद्युतिः । सुधौतकलधौतश्रीः प्रदीप्तो हाटकद्युतिः ॥१०२॥
शिष्टेष्टः पुष्टिदः पुष्टः स्पष्टः स्पष्टाक्षरः क्षमः । शत्रुघ्नोऽप्रतिघोऽमोघः प्रशास्ता शासिता स्वभूः ॥१०३॥
शान्तिनिष्ठो मुनिज्येष्ठः शिवतातिः शिवप्रदः । शान्तिदः शान्तिकृच्छान्तिः कान्तिमान् कामितप्रदः ॥१०४॥
श्रेयोनिधिरधिष्ठानमप्रतिष्ठः प्रतिष्ठितः । सुस्थिरः स्थावरः स्थाणुः प्रथीयान् प्रथितः पृथुः ॥१०५॥

१० अथ दिग्वासादिशतम्

दिग्वासा वातरशनो निर्ग्रन्थेशो निरंबरः । निष्किंचनो निराशंसो ज्ञानचक्षुरमोमुहः ॥१०६॥
तेजोराशिरनन्तौजा ज्ञानाब्धिः शीलसागरः । तेजोमयोऽमितज्योतिर्ज्योतिर्मूर्तिस्तमोपहः ॥१०७॥
जगच्चूडामणिर्दीप्तः शंवान् विघ्नविनायकः । कलिघ्नः कर्मशत्रुघ्नो लोकालोकप्रकाशकः ॥१०८॥
अनिद्रालुरतन्द्रालुर्जागरूकः प्रमामयः । लक्ष्मीपतिर्जगज्ज्योतिर्धर्मराजः प्रजाहितः ॥१०९॥
मुमुक्षुर्बन्धमोक्षज्ञो जिताक्षो जितमन्मथः । प्रशान्तरसशैलूषो भव्यपेटकनायकः ॥११०॥
मूलकर्त्ताऽखिलज्योतिर्मलघ्नो मूलकारणम् । आप्तो वागीश्वरः श्रेयाञ्छ्रायसोक्तिर्निरुक्तवाक् ॥१११॥
प्रवक्ता वचसामीशो मारजिद्विश्वभाववित् । सुतनुस्तनुर्निर्मुक्तः सुगतो हतदुर्णयः ॥११२॥

श्रीशः श्रीश्रितपादाब्जो वीतभीरभयंकरः । उत्सन्नदोषो निर्विघ्नो निश्चलो लोकवत्सलः ॥११३॥
लोकोत्तरो लोकपतिर्लोकचक्षुरपारधीः । धीरधीर्बुद्धसन्मार्गः शुद्धः सूनृतपूतवाक् ॥११४॥
प्रज्ञापारमितः प्राज्ञो यतिर्नियमितेन्द्रियः । भदन्तो भद्रकृद् भद्रः कल्पवृक्षो वरप्रदः ॥११५॥
समुन्मूलितकर्मारिः कर्मकाष्ठाशुशुक्षणिः । कर्मण्यः कर्मठः प्रांशुर्हेयादेयविचक्षणः ॥११६॥
अनन्तशक्तिरच्छेद्यस्त्रिपुरारिस्त्रिलोचनः । त्रिनेत्रस्त्र्यम्बकस्त्र्यक्षः केवलज्ञानवीक्षणः ॥११७॥
समन्तभद्रः शान्तारिर्धर्माचार्यो दयानिधिः । सूक्ष्मदर्शी जितानंगः कृपालुर्धर्मदेशकः ॥११८
शुभंयुः सुखसाद्भूतः पुण्यराशिरनामयः । धर्मपालो जगत्पालो धर्मसाम्राज्यनायकः ॥११९॥
धाम्नांपते तवामूनि नामान्यागमकोविदैः । समुच्चितान्यनुध्यायन् पुण्यान् पूतस्मृतिर्भवेत् ॥१२०॥

—)०(—

जिनसहस्रनाम

(*भट्टारकसकलकीर्त्ति-विरचितम्*)

त्वामाद्यं देव चानम्य स्तोष्ये त्वन्नाम लब्धये । अष्टोत्तरसहस्रेण नाम्ना सार्थेन भक्तिभिः ॥ १ ॥
जिनेन्द्रो जिनधौरेयो जिनस्वामी जिनाग्रणीः । जिनेशो जिनशार्दूलो जिनाधीशो जिनोत्तमः ॥ २ ॥
जिनराजो जिनज्येष्ठो जिनेशी जिनपालकः । जिननाथो जिनश्रेष्ठो जिनमल्लो जिनोन्नतः ॥ ३ ॥
जिननेता जिनस्रष्टा जिनेट् जिनपतिर्जिनः । जिनदेवो जिनादित्यो जिनेशिता जिनेश्वरः ॥ ४ ॥
जिनवर्यो जिनाराध्यो जिनार्च्यो जिनपुंगवः । जिनाधिपो जिनध्येयो जिनमुख्यो जिनेडितः ॥ ५ ॥
जिनसिंहो जिनप्रेष्ठो जिनवृद्धो जिनोत्तरः । जिनमान्यो जिनस्तुत्यो जिनप्रभुर्जिनोद्वहः ॥ ६ ॥
जिनपूज्यो जिनाकांक्षी जिनेन्दुर्जिनसत्तमः । जिनाकारो जिनोत्तुंगो जिनपो जिनकुंजरः ॥ ७ ॥
जिनभर्त्ता जिनाग्रस्थो जिनभृज्जिनचक्रभाक् । जिनचक्री जिनाद्याद्यो जिनसेव्यो जिनाधिपः ॥ ८ ॥
जिनकान्तो जिनप्रीतो जिनाधिराट् जिनप्रियः । जिनधुर्यो जिनार्चांह्रिर्जिनाग्रिमो जिनस्तुतः ॥ ९ ॥
जिनहंसो जिनत्राता जिनपंमो जिनाग्रगः । जिनदृग्जिनचक्रेशो जिनदाता जिनात्मकः ॥१०॥
जिनाधिको जिनालम्बो जिनशान्तो जिनोत्कृष्टः । जिनाश्रितो जिनाह्लादी जिनातर्क्यो जिनान्वितः ॥११॥
जैनो जैनवरो जैनस्वामी जैनपितामहः । जैनेड्यो जैनसंवाच्यो जैनभृज्जैनपालकः ॥१२॥
जैनकृज्जैनधौरेयो जैनेशो जैनभूपतिः । जैनेट् जैनाग्रिमो जैनपिता जैनहितंकरः ॥१३॥
जैननेताऽथ जैनाढ्यो जैनदृग्जैनदेवराट् । जैनाधिपो हि जैनात्मा जैनेज्यो जैनचक्रभृत् ॥१४॥
जिताक्षो जितकंदर्पो जितकामो जिताशयः । जितैना जितकर्मारिर्जितेन्द्रियो जिताखिलः ॥१५॥
जितशत्रुर्जितार्शाघो जितजयो जितात्मभाक् । जितलोभो जितक्रोधो जितमानो जितान्तकः ॥१६॥
जितरागो जितद्वेषो जितमोहो जितेश्वरः । जिताऽजय्यो जिताशेषो जितेशो जितदुर्मतः ॥१७॥
जितवादी जितक्लेशो जितमुंडो जिताव्रतः । जितदेवो जिनशान्तिर्जितखेदो जितारतिः ॥१८॥
यतीडितो यतीशार्च्यो यतीशो यतिनायकः । यतिमुख्यो यतिप्रेक्ष्यो यतिस्वामी यतीश्वरः ॥१९॥
यतिर्यतिवरो यत्याराध्यो यतिगुणस्तुतः । यतिश्रेष्ठो यतिज्येष्ठो यतिभर्त्ता यतीहितः ॥२०॥
यतिधुर्यो यतिस्रष्टा यतिनाथो यतिप्रभुः । यत्याकरो यतित्राता यतिबन्धुर्यतिप्रियः ॥२१॥
योगीन्द्रो योगिराट् योगिपतिर्योगिविनायकः । योगीश्वरोऽथ योगीशो योगी योगपरायणः ॥२२॥
योगिपूज्यो हि योगांगो योगवान् योगपारगः । योगभृद्योगरूपात्मा योगभाग्योगभूषितः ॥२३॥
योग्यान्तो योगिकल्पांगो योगिकृद्योगिवेष्टितः । योगिभृद्योगिमुख्यार्च्यो योगिभूर्योगिभूपतिः ॥२४॥

सर्वज्ञः सर्वलोकज्ञः सर्वदृक् सर्वतत्त्ववित् । सर्वक्लेशसहः सार्वः सर्वचक्षुश्च सर्वराट् ॥२५॥
सर्वाग्रिमोऽथ सर्वात्मा सर्वेशः सर्वदर्शनः । सर्वेज्यः सर्वधर्मांगः सर्वजीवदयावहः ॥२६॥
सर्वज्येष्ठो हि सर्वाधिकः सर्वत्रिजगद्धितः । सर्वधर्ममयः सर्वस्वामी सर्वगुणाश्रितः ॥२७॥
विश्वविद्विश्वनाथार्च्यो विश्वेड्यो विश्वबान्धवः । विश्वनाथोऽथ विश्वार्हो विश्वात्मा विश्वकारकः ॥२८॥
विश्वेड् विश्वपिता विश्वधरो विश्वाभयंकरः । विश्वव्यापी हि विश्वेशी विश्वधृद्विश्वभूमिपः ॥२९॥
विश्वधीर्विश्वकल्याणो विश्वकृद्विश्वपारगः । विश्ववृद्धोऽपि विश्वांगिरक्षको विश्वपोषकः ॥३०॥
ॉ जगद्भर्त्ता जगत्राता जगज्जयी । जगन्मान्यो जगज्ज्येष्ठो जगच्छ्रेष्ठो जगत्पतिः ॥३१॥
जगद्धृतो जगन्नाथो जगद्ध्येयो जगत्स्तुतः । जगत्पाता जगद्धाता जगत्सेव्यो जगद्धितः ॥३२॥
ज ी जगत्पूज्यो जगत्सार्थो जगद्धितः । जगद्वेत्ता जगच्चक्षुर्जगद्दर्शी जगत्पिता ॥३३॥
जगत्कान्तो जगद्दान्तो जगद्ज्ञाता जगज्जितः । जगद्धीरो जगद्वीरो जगच्छान्तो जगत्प्रियः ॥३४॥
महाज्ञानी महाध्यानी महाकृती महाव्रती । महाराजो महार्यज्ञो महातेजो महातपाः ॥३५॥
महाजेता महाजय्यो महाक्षान्तो महादमः । महादान्तो महाशान्तो महाकान्तो महाबली ॥३६॥
महादेवो महापूतो महायोगी महाधनी ॥ महाकामी महाशूरो महाभटो महायशाः ॥३७॥
महानादो महास्तुत्यो महामहपतिर्महान् । महाधीरो महावीरो महाबन्धुर्महाश्रमः ॥३८॥
महाधारो महाकारो महाशर्मा महाश्रयः । महायोगी महाभोगी महाब्रह्मा महीधरः ॥३९॥
महाधुर्यो महावीर्यो महादर्शी महार्थवित् । महाभर्त्ता महाकर्त्ता महाशीलो महागुणी ॥४०॥
महाधर्मा महामौनी महाभरो महाग्रिमः । महास्रष्टा महातीर्थो महाख्यातो महाहितः ॥४१॥
महाधन्यो महाधीशो महारूपी महामुनिः । महाविभुर्महाकीर्त्तिर्महादाता महारतः ॥४२॥
महाकृपो महाराध्यो महाश्रेष्ठो महायतिः । महाशान्तिर्महालोको महानेत्रो महार्थकृत् ॥४३॥
महाश्रमी महायोग्यो महाशमी महादमी । महेशेशो महेशात्मा महेशार्च्यो महेशराट् ॥४४॥
महानन्तो महातृप्तो महाहरो महावरः । महर्षीशो महाभागो महास्थानो महान्तकः ॥४५॥
महौदर्यो महाकार्यो महाकेवललब्धिभाक् । महाशिष्टो महानिष्ठो महादक्षो महाबलः ॥४६॥
महालक्षो महार्थज्ञो महाविद्वान् महात्मकः । महेज्यार्हो महानाथो महानेता महापिता ॥४७॥
महामना महाचिन्त्यो महासारो महायमी । महेन्द्रार्च्यो महावंद्यो महावादी महानुतः ॥४८॥
परमात्मा परात्मज्ञः परंज्योतिः परार्थकृत् । परब्रह्म परब्रह्मरूपो परतरः परः ॥४९॥
परमेशः परेज्यार्हः परार्थी परकार्यधृत् । परस्वामी परज्ञानी पराधीशः परेहकः ॥५०॥
सत्यवादी हि सत्यात्मा सत्यांगः सत्यशासनः । सत्यार्थः सत्यवागीशः सत्याधारोऽतिसत्यवाक् ॥५१॥
सत्यायः सत्यविद्येशः सत्यधर्मी हि सत्यभाक् । सत्याशयोऽतिसत्योत्तमतः सत्यहितंकरः ॥५२॥
सत्यतीर्थोऽतिसत्याढ्यः सत्याप्तः सत्यतीर्थकृत् । सत्यसीमाधरः सत्यधर्मतीर्थप्रवर्त्तकः ॥५३॥
लोकेशो लोकनाथार्च्यो लोकालोकविलोकनः । लोकविल्लोकमूर्द्धस्थो लोकनाथो ह्यलोकवित् ॥५४॥
लोकदृक् लोककार्यार्थी लोकज्ञो लोकपालकः । लोकेड्यो लोकमांगल्यो लोकोत्तमो हि लोकराट् ॥५५॥
तीर्थकृत्तीर्थभूतात्मा तीर्थेशस्तीर्थकारकः । तीर्थभृत्तीर्थकर्त्ता तीर्थप्रणेता सुतीर्थभाक् ॥५६॥
तीर्थाधीशो हि तीर्थात्मा तीर्थज्ञस्तीर्थनायकः । तीर्थाढ्यस्तीर्थसद्राजा तीर्थधृत्तीर्थवर्धकः ॥५७॥
तीर्थंकरो हि तीर्थेशस्तीर्थोह्यस्तीर्थपालकः । तीर्थसृष्टाऽऽतीर्थविद्स्तीर्थाग्रस्तीर्थदेशकः ॥५८॥
निःकर्मा निर्मलो नित्यो निराबाधो निरामयः । निस्तमस्को निरौपम्यो निःकलंको निरायुधः ॥५९॥
निर्लेपो निष्कलोऽत्यन्तनिर्दोषो निर्जराग्रणीः । निस्वप्नो निर्भयोऽतीवनिःप्रमादो निराश्रयः ॥६०॥
निरंबरो निरातंको निर्भूपो निर्मलाशयः । निर्मदो निरवीचारो निर्मोहो निरुपद्रवः ॥६१॥
निर्विकारो निराधारो निरीहो निर्मलांगभाक् । निर्जरो निरजस्कोऽथ निराशो निर्विशेषवित् ॥६२॥
निर्निमेषो निराकारो निरतो निरतिक्रमः । निर्वेदो निष्कषायात्मा निर्बन्धो निस्पृहाग्रगः ॥६३॥

विरजा विमलात्मज्ञो विमलो विमलान्तरः । विरतो विरताधीशो विरागो वीतमत्सरः ॥६४॥
विभवो विभवान्तस्थो वीतरागो विचारकृत् । विश्वाग्री विगताबाधो विचारज्ञो विशारदः ॥६५॥
विवेकी विगतग्रन्थो विविक्तोऽव्यक्तसंस्थितिः । विजयी विजितारातिर्विनष्टारिर्वियच्छ्रितः ॥६६॥
त्रिरत्नेशस्त्रिपीठस्थस्त्रिलोकज्ञस्त्रिकालवित् । त्रिदण्डस्त्रिलोकेशस्त्रिछत्राङ्कस्त्रिभूमिपः ॥६७॥
त्रिशल्यारिस्त्रिलोकार्च्यस्त्रिलोकपतिसेवितः । त्रियोगी त्रिकसर्वेगस्त्रैलोक्याढ्यस्त्रिलोकराट् ॥६८॥
अनन्तोऽनन्तसौख्याब्धिरनन्तकेवलेक्षणः । अनन्त ऽनन्तवीर्योऽनन्तगुणाकरः ॥६९॥
अनन्तविक्रमोऽनन्तस्ववेत्ताऽनन्तशक्तिमान् । अनन्तमहिमारूढोऽनन्तज्ञोऽनन्तशर्मदः ॥७०॥
सिद्धो बुद्धः प्रसिद्धात्मा स्वयंबुद्धोऽतिबुद्धिमान् । सिद्धिदः सिद्धमार्गस्थः सिद्धार्थः सिद्धसाधनः ॥७१॥
सिद्धसाध्योऽतिशुद्धात्मा सिद्धिकृत्सिद्धिशासनः । सुसिद्धान्तविशुद्धाढ्यः सिद्धगामी बुधाधिपः ॥७२॥
अच्युतोऽच्युतनाथेशोऽचलचित्तोऽचलस्थितिः । अतिप्रभोऽतिसौम्यात्मा सोमरूपोऽतिकान्तिमान् ॥७३॥
वरिष्ठः स्थविरो ज्येष्ठो गरिष्ठोऽनिष्टदूरगः । द्रष्टा पुष्टो विशिष्टात्मा स्रष्टा धाता प्रजापतिः ॥७४॥
पद्मासनः सपद्माङ्कः पद्मयानश्चतुर्मुखः । श्रीपतिः श्रीनिवासो हि विजेता पुरुषोत्तमः ॥७५॥
धर्मचक्रधरो धर्मी धर्मतीर्थप्रवर्त्तकः । धर्मराजोऽतिधर्मात्मा धर्माधारः सुधर्मदः ॥७६॥
धर्ममूर्त्तिरधर्मघ्नो धर्मचक्री सुधर्मधीः । धर्मकृद्धर्मभृद्धर्मशीलो धर्माधिनायकः ॥७७॥
मंत्रमूर्त्तिः सुमंत्रज्ञो मंत्री मंत्रमयोऽद्भुतः । तेजस्वी विक्रमी स्वामी तपस्वी संयमी यमी ॥७८॥
कृती व्रती कृतार्थात्मा कृतकृत्यः कृताविधिः प्रभुर्विभुर्गुरुर्योगी गरीयान् गुरुकार्यकृत् ॥७९॥
वृषभो वृषभाधीशो वृषचिन्हो वृषाश्रयः । वृषकेतुर्वृषाधारो वृषमेन्द्रो वृषप्रदः ॥८०॥
ब्रह्मात्मा ब्रह्मनिष्ठात्मा ब्रह्मा ब्रह्मपदेश्वरः । ब्रह्मज्ञो ब्रह्मभूतात्मा ब्रह्मा च ब्रह्मपालकः ॥८१॥
पूज्योऽर्हन् भगवान् स्तुत्यः स्तवनार्हः स्तुतीश्वरः । वंद्यो नमस्कृतोऽत्यन्तप्रणामयोग्य ऊर्जितः ॥८२॥
गुणी गुणाकरोऽनन्तगुणाब्धिः गुणभूषणः । गुणाद्री गुणग्रामो गुणार्थी गुणपारगः ॥८३॥
गुणरूपो गुणातीतो गुणदो गुणवेष्टितः । गुणाश्रयो गुणात्माढ्यो गुणसक्तोऽगुणान्तकृत् ॥८४॥
गुणाधिपो गुणान्तस्थो गुणभृद्गुणपोषकः । गुणाराध्यो गुणज्येष्ठो गुणाधारो गुणाग्रगः ॥८५॥
पवित्रः पूतसर्वांगः पूतवाक् पूतशासनः । पूतकर्माऽतिपूतात्मा शुचिः शौचात्मकोऽमलः ॥८६॥
कर्मारिः कर्मशत्रुघ्नः कर्मारातिनिकन्दनः । कर्मविध्वंसकः कर्मोच्छेदी कर्मागनाशकः ॥८७॥
सुसंवृतस्त्रिगुप्तात्मा निरास्रवस्त्रिगुप्तिवान् । विद्यामयोऽतिविद्यात्मा सर्वविद्येश आत्मवान् ॥८८॥
मुनिर्यतिरनागारः पुराणपुरुषोऽव्ययः । पिता पितामहो भर्त्ता कर्त्ता दान्तः क्षमः शिवः ॥८९॥
ईश्वरः शंकरो धीमान् मृत्युञ्जयः सनातनः । दक्षो ज्ञानी शमी ध्यानी सुशीलः शीलसागरः ॥९०॥
ऋषिः कविः कवीन्द्राद्यः ऋषीन्द्रः ऋषिनायकः । वेदांगो वेदविद्वेद्यः स्वसंवेद्योऽमलस्थितिः ॥९१॥
दिगम्बरो हि दिग्वासा जातरूपो विदांवरः । निर्ग्रन्थो ग्रन्थदूरस्थो निःसंगो निःपरिग्रहः ॥९२॥
धीरो वीरः प्रशान्तात्मा धैर्यशाली सुलक्षणः । शान्तो गंभीर आत्मज्ञः कलमूर्त्तिः कलाधरः ॥९३॥
युगादिपुरुषोऽव्यक्तो व्यक्तवाग् व्यक्तशासनः । अनादिनिधनो दिव्यो दिव्यांगो दिव्यधीघनः ॥९४॥
तपोधनो वियद्गामी नागस्कोऽप्यतीन्द्रियः । अनन्तर्द्धिरचिन्त्यर्द्धिरमेयर्द्धिः पराद्धर्यभाक् ॥९५॥
मौनी धुर्यो भटः शूरः सार्थवाहः शिवाध्वगः । साधुर्गणी सुताधारः पाठकोऽतीन्द्रियार्थदृक् ॥९६॥
आदीश आदिभूभर्त्ता आदिम आदिजिनेश्वरः । आदितीर्थंकरश्चादिसृष्टिकृच्चादिदेशकः ॥९७॥
आदिब्रह्माऽऽदिनाथोऽर्च्य आदिषट्कर्मदेशकः । आदिधर्मविधाताऽऽदिधर्मराजोऽग्रजोऽग्रिमः ॥९८॥
श्रेयान् श्रेयस्करः श्रेयोऽग्रणीः श्रेयः सुखावहः । श्रेयोदः श्रेयवाराशिः श्रेयवान् श्रेयसंभवः ॥९९॥
अजितो जितसंसारः सन्मतिः सन्मतिप्रियः । संस्कृतः प्राकृतः प्राज्ञो ज्ञानमूर्त्तिरच्युतोपमः ॥१००॥
नाभेय आदियोगीन्द्र उत्तमः सुव्रतो मनुः । शत्रुञ्जयः सुमेधावी नाथोऽप्याद्योऽखिलार्थवित् ॥१०१॥
क्षेमी कुलकरः कामो देवदेवो निरुत्सुकः । क्षेमः क्षेमंकरोऽग्र्यो ज्ञानगम्यो निरुत्तरः ॥१०२॥
स्थेयांस्स्थूरः सदाचारी सुघोषः सन्मुखः सुखी । वाग्मी वागीश्वरो वाचस्पतिः सद्बुद्धिरुन्नतः ॥१०३॥

उदारो मोक्षगामी च मुक्तो मुक्तिस्वरूपकः । भव्यसार्थाधिपो देवो मनीषी सुहितः सुहृत् ॥१०४॥
मुक्तिभर्त्ताऽप्रतर्क्यात्मा दिव्यदेहः प्रभास्वरः । मनःप्रियो मनोहारी मनोज्ञांगो मनोहरः ॥१०५॥
स्वस्थो भूतपतिः पूर्वः पुराणपुरुषोऽव्ययः । शरण्यः पंचकल्याणपूजार्होऽबन्धुबान्धवः ॥१०६॥
कल्याणात्मा सुकल्याणः कल्याणः प्रकृतिः प्रियः । सुभगः कान्तिमान् दीप्तो गूढात्मा गूढगोचरः ॥१०७॥
जगच्चूडामणिस्तुंगो दिव्यभामंडलः सुधीः । महौजाऽतिस्फुरत्कान्तिः सूर्यकोट्यधिकप्रभः ॥१०८॥
निष्टप्तकनकच्छायो हेमवर्णः स्फुरद्द्युतिः । प्रतापो   : पूर्णस्तेजोराशिर्गतोपमः ॥१०९॥
शान्तेशः शान्तकर्मारिः शान्तिकृच्छान्तिकारकः । मुक्तिदो मुक्तिदो दाता ज्ञानाब्धिः शीलसागरः ॥११०॥
स्पष्टवाक् पुष्टिदः पुष्टः शिष्टेष्टः शिष्टसेवितः । स्पष्टाक्षरो विशिष्टांगः स्पष्टवृत्तो विशुद्धितः ॥१११॥
निष्किंचनो निरालम्बो निपुणो निपुणाश्रितः । निर्ममो निरहंकारः प्रशस्तो जैनवत्सलः ॥११२॥
तेजोमयोऽमितज्योतिः शुभ्रमूर्त्तिस्तमोपहः । पुण्यदः पुण्यहेत्वात्मा पुण्यवान् पुण्यकर्मकृत् ॥११३॥
पुण्यमूर्त्तिर्महापुण्यः पुण्यवाक् पुण्यशासनः । पुण्यभोक्ताऽतिपुण्यात्मा पुण्यशाली शुभाशयः ॥११४॥
अनिद्रालुरतन्द्रालुर्मुमुक्षुर्मुक्तिवल्लभः । मुक्तिप्रियः प्रजाबन्धुः प्रजाकरः प्रजाहितः ॥११५॥
श्रीशः श्रीश्रितपादाब्जः श्रीविरागो विरक्तधीः । ज्ञानवान् बन्धमोक्षज्ञो बन्धघ्नो बन्धदूरगः ॥११६॥
वनवासी जटाधारी क्लेशातीतोऽतिसौख्यवान् । आप्तोऽमूर्त्तः कनत्कायः शक्तः शक्तिप्रदो बुधः ॥११७॥
हताक्षो हतकर्मारिर्हतमोहो हिताश्रितः । हतमिथ्यात्व अ   : सुरूपो हतदुर्नयः ॥११८॥
स्याद्वादी च नयप्रोक्ता हितवादी हितध्वनिः । भव्यचूडामणिर्भव्योऽसमोऽसमगुणाश्रयः ॥११९॥
निर्विघ्नो निश्चलो लोकवत्सलो लोकलोचनः । आदेयादिम आदेयो हेयादेयप्ररूपकः ॥१२०॥
भद्रो भद्राशयो भद्रशासनो भद्रवाक् कृती । भद्रकृद्भद्रभव्याढ्यो भद्रबन्धुरनामयः ॥१२१॥
केवली केवलः लोकः केवलज्ञानलोचनः । केवलेशो महर्द्धीशोऽच्छेद्योऽभेद्योऽतिसूक्ष्मवान् ॥१२२॥
सूक्ष्मदर्शी कृपामूर्त्तिः कृपालुश्च कृपावहः । कृपाम्बुधिः कृपावाक्यः कृपोपदेशतत्परः ॥१२३॥
दयानिधिर्दयावर्शीत्यमूनि सार्थकान्यपि । सहस्राष्टकनामान्यर्हतो ज्ञेयानि कोविदैः ॥१२४॥
देवानेन महानामराशिस्तवफलेन मे । वंद्यस्त्वं देहि सर्वाणि स्वन्नामानि गुणैः समम् ॥१२५॥
इदं नामावलीदृब्धस्तोत्रं पुण्यं पठेत्सुधीः । नित्यं योऽर्हद्गुणान् प्राप्याचिरात्सोऽर्हन् भवेद् ध्रुवम् ॥१२६॥

—:०:—

श्रीअर्हन्नामसहस्रसमुच्चयः

(श्रीहेमचन्द्राचार्य-विरचितः)

अर्हं नामापि कर्णाभ्यां शृण्वन् वाचा समुच्चरन् । जीवः पीवरपुण्यश्रीर्लभते फलमुत्तमम् ॥१॥
अतएव प्रतिप्रातः समुत्थाय मनीषिभिः । भक्त्याऽष्टाग्रसहस्रार्हन्नामोच्चारो विधीयते ॥२॥
श्रीमानर्हन् जिनः स्वामी स्वयम्भूः शम्भुरात्मभूः । स्वयंप्रभुः प्रभुर्भोक्ता विश्वभूरपुनर्भवः ॥३॥
विश्वात्मा विश्वलोकेशो विश्वतश्चक्षुरक्षरः । विश्वविद् विश्वविद्येशो विश्वयोनिरनीश्वरः ॥४॥
विश्वदृश्वा विभुर्धाता विश्वेशो विश्वलोचनः । विश्वव्यापी विधुर्वेधाः शाश्वतो विश्वतोमुखः ॥५॥
विश्वपो विश्वतःपादो विश्वशीर्षः शुचिश्रवाः । विश्वदृग् विश्वभूतेशो विश्वज्योतिरनश्वरः ॥६॥
विश्वसृट् विश्वसूर्विश्वेट् विश्वभुक् विश्वनायकः । विश्वाशी विश्वभूतात्मा विश्वजिद् विश्वपालकः ॥७॥
विश्वकर्मा जगद्विश्वो विश्वमूर्त्तिर्जिनेश्वरः । भूतभाविभवद्भर्त्ता विश्ववैद्यो यतीश्वरः ॥८॥
सर्वादिः सर्वदृक् सार्वः सर्वज्ञः सर्वदर्शनः । सर्वात्मा सर्वलोकेशः सर्ववित् सर्वलोकजित् ॥९॥
सर्वगः सुश्रुतः सुश्रूः सुवाक् सूरिर्बहुश्रुतः । सहस्रशीर्षः क्षेत्रज्ञः सहस्राक्षः सहस्रपात् ॥१०॥

युगादिपुरुषो ब्रह्मा पंचब्रह्ममयः शिवः । ब्रह्मविद् ब्रह्मतत्त्वज्ञो ब्रह्मयोनिरयोनिजः ॥११॥
ब्रह्मनिष्ठः परब्रह्म ब्रह्मात्मा ब्रह्मसम्भवः । ब्रह्मेड् ब्रह्मपतिर्ब्रह्मचारी ब्रह्मपदेश्वरः ॥१२॥
विष्णुर्जिष्णुर्जयी जेता जिनेन्द्रो जिनपुंगवः । परः परतरः सूक्ष्मः परमेष्ठी सनातनः ॥१३॥
॥ १०० ॥
जिननाथो जगन्नाथो जगत्स्वामी जगत्प्रभुः । जगत्पूज्यो जगद्वन्द्यो जगदीशो जगत्पतिः ॥१४॥
जगन्नेता जगज्जेता जगन्मान्यो जगद्विभुः । जगज्ज्येष्ठो जगच्छ्रेष्ठो जगद्ध्येयो जगद्धितः ॥१५॥
जगदर्च्यो जगद्बन्धुर्जगच्छास्ता जगत्पिता । जगन्नेत्रो जगन्मैत्रो जगद्दीपो जगद्गुरुः ॥१६॥
स्वयंज्योतिरजोऽजन्मा परंतेजः परंमहः । परमात्मा शमी शान्तः परंज्योतिस्तमोऽपहः ॥१७॥
प्रशान्तारिरनन्तात्मा योगी योगीश्वरो गुरुः । अनन्तजिदनन्तात्मा भव्यबन्धुरबन्धनः ॥१८॥
शुद्धबुद्धिः प्रबुद्धात्मा सिद्धार्थः सिद्धशासनः । सिद्धः सिद्धान्तविद् ध्येयः सिद्धः साध्यः सुधीः सुगीः ॥१९॥
सहिष्णुरच्युतोऽनन्तः प्रभविष्णुर्भवोद्भवः । स्वयंभूष्णुरसंभूष्णुः प्रभूष्णुरभयोऽव्ययः ॥२०॥
दिव्यभाषापतिर्दिव्यः पूतवाक् पूतशासनः । पूतात्मा परमज्योतिर्धर्माध्यक्षो दमीश्वरः ॥२१॥
निर्मोहो निर्मदो निःस्वो निर्दम्भो निरुपद्रवः । निराधारो निराहारो निर्लोभो निश्चलोऽचलः ॥२२॥
निष्कामी निर्ममो निष्पक् निष्कलंको निरंजनः । निर्गुणो नीरसो निर्भीर्निर्व्यापारो निरामयः ॥२३॥
निर्निमेषो निराबाधो निर्द्वंद्वो निष्क्रियोऽनघः । निःशंकश्च निरातंको निष्कलो निर्मलोऽमलः ॥२४॥
॥ २०० ॥
तीर्थकृद् तीर्थसृद् तीर्थंकरस्तीर्थंकरः सुदृक् । तीर्थकर्त्ता तीर्थभर्त्ता तीर्थेशस्तीर्थनायकः ॥२५॥
सुतीर्थोऽधिपतितीर्थसेव्यस्तीर्थिकनायकः । धर्मतीर्थंकरस्तीर्थप्रणेता तीर्थकारकः ॥२६॥
तीर्थाधीशो महातीर्थस्तीर्थस्तीर्थविधायकः । सत्यतीर्थंकरस्तीर्थसेव्यस्तीर्थिकतायकः ॥२७॥
तीर्थनाथस्तीर्थराजस्तीर्थेट् तीर्थप्रकाशकः । तीर्थवंद्यस्तीर्थमुख्यस्तीर्थाराध्यः सुतीर्थिकः ॥२८॥
स्थविष्ठः स्थविरो ज्येष्ठः प्रेष्ठः प्रष्ठो वरिष्ठधीः । स्थेष्ठो गरिष्ठो बंहिष्ठो श्रेष्ठोऽणिष्ठो गरिष्ठधीः ॥२९॥
विभवो विभयो वीरो विशोको विरजो जरन् । विरागो विमदोऽव्यक्तो विविक्तो वीतमत्सरः ॥३०॥
वीतरागो गतद्वेषो वीतमोहो विमन्मथः । वियोगो योगविद् विद्वान् विधाता विनयी नयी ॥३१॥
क्षान्तिमान् पृथिवीमूर्त्तिः शान्तिभाक् सलिलात्मकः । वायुमूर्त्तिरसंगात्मा वह्निमूर्त्तिरधर्मधक् ॥३२॥
सुयज्वा यजमानात्मा सुत्रामस्तोमपूजितः । ऋत्विग् यज्ञपतिर्याज्यो यज्ञांगममृतं हविः ॥३३॥
सोममूर्त्तिः सुसौम्यात्मा सूर्यमूर्तिर्महाप्रभः । व्योममूर्त्तिरमूर्तात्मा नीरजा वीरजाः शुचिः ॥३४॥
मंत्रविन्मंत्रकृन्मन्त्री मंत्रमूर्त्तिरनन्तरः । स्वतंत्रः सूत्रकृत् स्वत्रः कृतान्तश्च कृतान्तकृत् ॥३५॥
॥ ३०० ॥
कृती कृतार्थः संस्कृत्यः कृतकृत्यः कृतक्रतुः । नित्यो मृत्युंजयोऽमृत्युरमृतात्माऽमृतोद्भवः ॥३६॥
हिरण्यगर्भः श्रीगर्भः प्रभूतविभवोऽभवः । स्वयंप्रभः प्रभूतात्मा भवो भावो भवान्तकः ॥३७॥
महाशोकध्वजोऽशोकः कः स्रष्टा पद्मविष्टरः । पद्मेशः पद्मसंभूतिः पद्मनाभिरनुत्तरः ॥३८॥
पद्मयोनिर्जगद्योनिरित्यः स्तुत्यः स्तुतीश्वरः । स्तवनार्हो हृषीकेशोऽजितो जेयः कृतक्रियः ॥३९॥
विशालो विपुलोज्योतिरतुलोऽचिन्त्यवैभवः । सुसंवृत्तः सुगुप्तात्मा शुभंयुः शुभकर्मकृत् ॥४०॥
एकविद्यो महावैद्यो मुनिः परिवृढो दृढः । पतिर्विद्यानिधिः साक्षी विनेता विहतान्तकः ॥४१॥
पिता पितामहः पाता पवित्रः पावनो गतिः । त्राता भिषग्वरो वर्यो वरदः पारदः पुमान् ॥४२॥
कविः पुराणपुरुषो वर्षीयान् ऋषभः पुरः । प्रतिष्ठाप्रसवो हेतुर्भुवनैकपितामहः ॥४३॥
श्रीवत्सलक्षणः श्लक्ष्णो लक्षण्यः शुभलक्षणः । निरक्षः पुंडरीकाक्षः पुष्कलः पुष्कलेक्षणः ॥४४॥
सिद्धिदः सिद्धसंकल्पः सिद्धात्मा सिद्धशासनः । बुद्धबोध्यो महाबुद्धिर्वर्धमानो महर्द्धिकः ॥४५॥
वेदांगो वेदविद् वेद्यो जातरूपो विदांवरः । वेदवेद्यः स्वसंवेद्यो विवेदो वदतांवरः ॥४६॥

॥ ४०० ॥

सुधर्मा धर्मधीर्धर्मो धर्मात्मा धर्मदेशकः । धर्मचक्री दयाधर्मः शुद्धधर्मो वृषध्वजः ॥४७॥
वृषकेतुर्वृषाधीशो वृषांकश्च वृषोद्भवः । हिरण्यनाभिर्भूतात्मा भूतभृद् भूतभावनः ॥४८॥
प्रभवो विभवो भास्वान् मुक्तः शक्तोऽक्षयोऽक्षतः । कूटस्थः स्थाणुरक्षोभ्यः शास्ता नेताऽचलस्थितिः ॥४९॥
अग्रणीर्ग्रामणीर्गण्यो गण्यगण्यो गणाग्रणीः । गणाधिपो गणाधीशो गणज्येष्ठो गणार्चितः ॥५०॥
गुणाकरो गुणाम्भोधिर्गुणज्ञो गुणवान् गुणी । गुणादरो गुणोच्छेदी सुगुणोऽगुणवर्जितः ॥५१॥
शरण्यः पुण्यवाक् पूतो वरेण्यः पुण्यगीर्गुणः । अगण्यपुण्यधीः पुण्यः पुण्यकृत् पुण्यशासनः ॥५२॥
अतीन्द्रोऽतीन्द्रियोऽधीन्द्रो महेन्द्रोऽतीन्द्रियार्थदृक् । अतीन्द्रियो महेन्द्रार्च्यो महेन्द्रमहितो महान् ॥५३॥
उद्भवः कारणं कर्त्ता पारगो भवतारकः । अग्राह्यो गहनं गुह्यः परर्द्धिः परमेश्वरः ॥५४॥
अनन्तर्द्धिरमेयर्द्धिरचिन्त्यर्द्धिः धीः । प्राग्र्यः प्राग्र्यहरोऽत्यग्रः प्रत्यग्रोऽग्रोऽग्रिमोऽग्रजः ॥५५॥
प्राणदः प्रणवः प्राणः प्राणदः प्राणितेश्वरः । प्रधानमात्मा प्रकृतिः परमः परमोदयः ॥५६॥

॥ ५०० ॥

महाजिनो महाबुद्धो महाब्रह्मा महाशिवः । महाविष्णुर्महाजिष्णुर्महानाथो महेश्वरः ॥५७॥
महादेवो महास्वामी महाराजो महाप्रभुः । महाचन्द्रो महादित्यो महाशूरो महागुरुः ॥५८॥
महातपा महातेजा महोदर्को महाभयः । महायशो महाधामा महासत्त्वो महाबलः ॥५९॥
महाधैर्यो महावीर्यो महाकान्तिर्महाद्युतिः । महाशक्तिर्महाज्योतिर्महाभूतिर्महाद्युतिः ॥६०॥
महामतिर्महानीतिर्महाक्षान्तिर्महाकृतिः । महाकीर्त्तिर्महास्फूर्त्तिर्महाप्राज्ञो महोदयः ॥६७॥
महाभागो महाभोगो महारूपो महावपुः । महादानो महाज्ञानो महाशास्ता महामहः ॥६८॥
महामुनिर्महामौनी महाध्यानो महादमः । महाक्षमो महाशीलो महायोगो महालयः ॥६९॥
महाव्रतो महायज्ञो महाश्रेष्ठो महाकविः । महामंत्रो महातंत्रो महोपायो महानयः ॥७०॥
महाकारुणिको मन्ता महानादो महायतिः । महामोदो महाघोषो महेज्यो महसांपतिः ॥७१॥
महावीरो महाधीरो महाधुर्यो महेष्टवाक् । महात्मा महसां धाम महर्षिर्महितोदयः ॥७२॥
महामुक्तिर्महागुप्तिर्महासत्यो महार्जवः । महाबुद्धिर्महासिद्धिर्महाशौचो महावशी ॥७३॥
महाधर्मा महाशर्मा महात्मज्ञो महाशयः । महामोक्षो महासौख्यो महानन्दो महोदयः ॥७४॥

॥ ६०० ॥

महाभवाब्धिसन्तारी महामोहारिसूदनः । महायोगीश्वराराध्यो महामुक्तिपदेश्वरः ॥७५॥
आनन्दो नन्दनो नन्दो वन्द्यो नन्द्योऽभिनन्दनः । कामहा कामदः काम्यः कामधेनुररिंजयः ॥७६॥
मनःक्लेशापहः साधुरुत्तमोऽघहरो हरः । असंख्येयः प्रमेयात्मा शमात्मा प्रशमाकरः ॥७७॥
सर्वयोगीश्वरश्चिन्त्यः श्रुतात्मा विष्टरश्रवाः । दान्तात्मा दमतीर्थेशो योगात्मा योगसाधकः ॥७८॥
प्रमाणपरिधिर्दक्षो दक्षिणोऽध्वर्युरध्वरः । प्रक्षीणबन्धः कर्मारिः क्षेमकृत्क्षेमशासनः ॥७९॥
क्षेमी क्षेमंकरोऽक्षय्यः क्षेमधर्मा क्षमापतिः । अग्राह्यो ज्ञानिविज्ञेयो ज्ञानिगम्यो जिनोत्तमः ॥८०॥
जिनेन्दुर्जनितानन्दो मुनीन्दुर्दुन्दुभिस्वनः । मुनीन्द्रवन्द्यो योगीन्द्रो यतीन्द्रो यतिनायकः ॥८१॥
असंस्कृतः सुसंस्कारः प्राकृतो वैकृतान्तवित् । अन्तकृत् कान्तगुः कान्तश्चिन्तामणिरभीष्टदः ॥८२॥
अजितो जितकामारिरमितोऽमितशासनः । जितक्रोधो जितामित्रो जितक्लेशो जितान्तकः ॥८३॥
सत्यात्मा सत्यविज्ञानः सत्यवाक् सत्यशासनः । सत्याशीः सत्यसन्धानः सत्यः सत्यपरायणः ॥८४॥
सदायोगः सदाभोगः सदातृप्तः सदाशिवः । सदागतिः सदासौख्यः सदाविद्यः सदोदयः ॥८५॥
सुघोषः सुमुखः सौम्यः सुखदः सुहितः सुहृत् । सुगुप्तो गुप्तिभृद् गोप्ता गुप्ताक्षो गुप्तमानसः ॥८६॥

॥ ७०० ॥

बृहद् बृहस्पतिर्वाग्मी वाचस्पतिरुदारधीः । मनीषी धिषणो धीमान् शेमुषीशो गिरांपतिः ॥८७॥
नैकरूपो नयोत्तुंगो नैकात्मा नैकधर्मकृत् । अविज्ञेयोऽप्रतर्क्यात्मा कृतज्ञः कृतलक्षणः ॥८८॥

ज्ञानगर्भो दयागर्भो रत्नगर्भः प्रभास्वरः । पद्मगर्भो जगद्गर्भो हेमगर्भः सुदर्शनः ॥८९॥
लक्ष्मीशः सद्योऽध्यक्षो दृढयोनिर्नयीशिता । मनोहरो मनोज्ञोऽर्हो धीरो गम्भीरशासनः ॥९०॥
धर्मयूपो दयायागो धर्मनेमिर्मुनीश्वरः । धर्मचक्रायुधो देवः कर्महा धर्मघोषणः ॥९१॥
स्थेयान् स्थवीयान् नेदीयान् दवीयान् दूरदर्शनः । सुस्थितः स्वास्थ्यभाक् सुस्थो नीरजस्को गतस्पृहः ॥९२॥
वश्येन्द्रियो विमुक्तात्मा निःसपत्नो जितेन्द्रियः । श्रीनिवासश्चतुर्वक्त्रश्चतुरास्यश्चतुर्मुखः ॥९३॥
अध्यात्मगम्योऽगम्यात्मा योगात्मा योगिवन्दितः । सर्वत्रगः सदाभावी त्रिकालविषयार्थदृक् ॥९४॥
शंकरः सुखदो दान्तो दमी क्षान्तिपरायणः । स्वानन्दः परमानन्दः सूक्ष्मवर्चाः परापरः ॥९५॥
अमोघोऽमोघवाक् स्वाज्ञो दिव्यदृष्टिरगोचरः । सुरूपः सुभगस्त्यागी मूर्तोऽमूर्त्तः समाहितः ॥९६॥

॥ ८०० ॥

एकोऽनेको निरालम्बोऽनीदृग् नाथो निरन्तरः । प्रार्थ्योऽभ्यर्थ्यः समभ्यर्च्यस्त्रिजगन्मंगलोदयः ॥९७॥
ईशोऽधीशोऽधिपोऽधीन्द्रो ध्येयोऽसेयो दयामयः । शिवः शूरः शुभः सारः शिष्टः स्पष्टः स्फुटोऽस्फुटः ॥९८॥
इष्टः पुष्टः क्षमोऽक्षामोऽकायोऽमायोऽस्मयोऽमयः । दृश्योऽदृश्योऽणुरस्थूलो जीर्णो नव्यो गुरुर्लघुः ॥९९॥
स्वभूः स्वात्मा स्वयंबुद्धः स्वेशः स्वैरीश्वरः स्वरः । आद्योऽलक्ष्योऽपरोऽरूपोऽस्पर्शोऽशाटोऽरिहाऽरुहः ॥१००॥
दीप्तोऽलेश्योऽरसोऽगन्धोऽच्छेद्योऽमेयोऽजरोऽमरः । प्राज्ञो धन्यो यतिः पूज्यो मह्योऽर्च्यः प्रशमी यमी ॥१०१॥
श्रीशः श्रीन्द्रः शुभः सुश्रीरुत्तमश्रीः श्रियः पतिः । श्रीपतिः श्रीपरः श्रीपः सच्छ्रीः श्रीयुक् श्रियाश्रितः ॥१०२॥
ज्ञानी तपस्वी तेजस्वी यशस्वी बलवान् बली । दानी ध्यानी मुनिर्मौनी लयी लक्ष्यः क्षयी क्षमी ॥१०३॥
लक्ष्मीवान् भगवान् श्रेयान् सुगतः सुतनुर्बुधः । बुद्धो वृद्धः स्वयंसिद्धः प्रोच्चः प्रांशुः प्रभामयः ॥१०४॥

॥ ९०० ॥

आदिदेवो देवदेवः पुरुदेवोऽधिदेवता । युगादीशो युगाधीशो युगमुख्यो युगोत्तमः ॥१०५॥
दीप्तः प्रदीप्तः सूर्याभोऽरिघ्नोऽविघ्नोऽघनो घनः । शत्रुघ्नः प्रतिवस्तुगोऽसंगः स्वंगोऽग्रगः सुगः ॥१०६॥
स्याद्वादी दिव्यगीर्दिव्यध्वनिरुद्दामगीः प्रगीः । पुण्यवागर्थ्यवागर्धमागधीयोक्तिरिद्धगीः ॥१०७॥
पुराणपुरुषोऽपूर्वोऽपूर्वश्रीः पूर्वदेशकः । जिनदेवो जिनाधीशो जिननाथो जिनाग्रणीः ॥१०८॥
शान्तिनिष्ठो मुनिज्येष्ठः शिवतातिः शिवप्रदः । शान्तिकृत् शान्तिदः शान्तिः कान्तिमान् कामितप्रदः ॥१०९॥
श्रियांनिधिरधिष्ठानमप्रतिष्ठः प्रतिष्ठितः । सुस्थितः स्थावरः स्थाणुः पृथीयान् प्रथितः पृथुः ॥११०॥
पुण्यराशिः श्रियोराशिस्तेजोराशिरसंशयी । ज्ञानोदधिरनन्तौजा ज्योतिर्मूर्तिरनन्तधीः ॥१११॥
विज्ञानोऽप्रतिमो भिक्षुर्मुमुक्षुर्मुनिपुंगवः । अनिद्रालुरतन्द्रालुर्जागरूकः प्रमामयः ॥११२॥
कर्मण्यः कर्मठोऽकुंठो रुद्रो भद्रोऽभयंकरः । लोकोत्तरो लोकपतिर्लोकेशो लोकवत्सलः ॥११३॥
त्रिलोकीशस्त्रिकालज्ञस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरान्तकः । त्र्यम्बकः केवलालोकः केवली केवलेक्षणः ॥११४॥
समन्तभद्रः शान्तारिर्धर्माचार्यो दयानिधिः । सूक्ष्मदर्शी सुमार्गज्ञः कृपालुर्मार्गदर्शकः ॥११५॥

॥ १००८ ॥

प्रातिहार्योज्ज्वलस्फीतातिशयो विमलाशयः । सिद्धानन्तचतुष्कश्रीर्जीयाच्छ्रीजिनपुंगवः ॥११६॥
एतदष्टोत्तरं नामसहस्रं श्रीमदर्हतः । भव्याः पठन्तु सानन्दं महानन्दैककारणम् ॥११७॥
इत्येतज्जिनदेवस्य जिननामसहस्रकम् । सर्वापराधशमनं परं भक्तिविवर्धनम् ॥११८॥
अक्षयं त्रिषु लोकेषु सर्वस्वर्गैकसाधनम् । स्वर्गलोकैकसोपानं सर्वदुःखैकनाशनम् ॥११९॥
समस्तदुःखदं सद्यः परं निर्वाणदायकम् । कामक्रोधादिनिःशेषमनोमलविशोधनम् ॥१२०॥
शान्तिदं पावनं नृणां महापातकनाशनम् । सर्वेषां प्राणिनामाशु सर्वाभीष्टफलप्रदम् ॥१२१॥
जगज्जाड्यप्रशमनं सर्वविद्याप्रवर्त्तकम् । राज्यदं राज्यभ्रष्टानां रोगिणां सर्वरोगहृत् ॥१२२॥
वन्ध्यानां सुतदं चाशु क्षीणानां जीवितप्रदम् । भूत-ग्रह-विषध्वंसि श्रवणात् पठनाज्जपात् ॥१२३॥

इति श्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितः श्रीअर्हन्नामसहस्रसमुच्चयः समाप्तः ।

पण्डितप्रवर-आशाधर-विरचितम्

जिनसहस्रनाम

स्वोपज्ञविवृतियुतम्

प्रभो भवाङ्गभोगेषु निर्विण्णो दुःखभीरुकः । एष विज्ञापयामि त्वां शरण्यं करुणार्णवम् ॥ १ ॥
सुखलालसया मोहाद् भ्राम्यन् बहिरितस्ततः । सुखैकहेतोर्नामापि तव न ज्ञातवान् पुरा ॥ २ ॥
अद्य मोहग्रहावेशशैथिल्यात्किञ्चिदुन्मुखः । अनन्तगुणमाप्तेभ्यस्त्वां श्रुत्वा स्तोतुमुद्यतः ॥ ३ ॥
भक्त्या प्रोत्सार्यमाणोऽपि दूरं शक्त्या तिरस्कृतः । त्वां नामाष्टसहस्रेण स्तुत्वाऽऽत्मानं पुनाम्यहम् ॥ ४ ॥

(हे प्रभो, त्रिभुवनैकनाथ, एष) प्रत्यक्षीभूतोऽहं आशाधरमहाकविः त्वां भवन्तं विज्ञापयामि विज्ञप्तिं करोमि (कथम्भूतोऽहम्? भवाङ्गभोगेषु संसार-शरीर-भोगेषु निर्विण्णो निर्वेदं प्राप्तः। कस्मात्कारणान्निर्विण्ण इत्याह—दुःखभीरुकः, दुःखाद्भीरुकः दुःखभीरुकः। कथम्भूतं त्वाम्? शरण्यम्। शृणाति भयमनेनेति शरणं करणाधिकरणयोश्च युट्। शरणाय हितः शरण्यः, यदुगवादितः। आर्त्तिमथन इत्यर्थः (तम्)। भूयः कथम्भूतं त्वाम्? करुणार्णवम्। क्रियते स्वर्गगामिभिः प्राणिवर्गेषु इति करुणा, कृवृतृवृजयमिदार्यजिभ्यः उन्। अर्णो जलं विद्यते यस्य सोऽर्णवः, सलोपश्च अस्त्यर्थे वप्रत्ययः। करुणाया अर्णवः करुणार्णवस्तं करुणार्णवं दयासमुद्रं इति यावत् ॥१॥ सुखयति आत्मनः प्रीतिमुत्पादयतीति सुखं अचि इन् लोपः। भृशं पुनः पुनः वा लसनं लालसा सुखस्य शर्मणः मद्विधस्य ज्ञातस्य लालसया अत्याकांक्षया (मोहाद्) अज्ञानात् पर्यटन् सन् (बहिः) कुदेवादौ प्रार्थयमानः (इतस्ततः) यत्र तत्र। कथंभूतस्य तव सुखस्य परमा-(नन्दलक्षणस्य) एकोऽद्वितीयः हेतुः कारणं सुखैकहेतुस्तस्य सुखैकहेतोः अभिधानमात्रमपि सर्वज्ञवीतरागस्य न ज्ञातवान् अहं (पुरा) पूर्वकाले अनादिकाले ॥२॥ हे स्वामिन्, (अद्य, अस्मिन्,) भवे मोहः अज्ञानं मिथ्यात्वं मोहो वा, स एव ग्रहः शाथिल्यकारित्वात् मोहग्रहः, तस्य आवेशः प्रवेशः (अ-) यथार्थप्रवर्त्तनं तस्य शैथिल्यं उपशमः क्षयोपशमो वा, तस्मात्। कियत्? किञ्चित् ईषन्मनाक् उन्मुखः बद्धोत्कण्ठः। कीदृशं श्रुत्वा? अनन्तगुणं केवलज्ञानाद्यनन्तगुणसंयुक्तम्। केभ्यः श्रुत्वा? आप्तेभ्यः उदयसेन-मदनकीर्त्ति-महावीरनामादि-गुरुभ्यः आचार्येभ्यः सकाशात् त्वां भगवन्तं (श्रुत्वा) आकर्ण्य अहं उद्यमपरः संजातः ॥३॥ हे त्रिभुवनैकनाथ, अहमाशाधरः। त्वां भवन्तं, स्तुत्वा स्तुतिं नीत्वा। आत्मानं निजजीवस्वरूपं पुनामि पवित्रयामि। केन कृत्वा? स्तुत्वा नामाष्टसहस्रेण। कथम्भूतोऽहं?) (भक्त्या) आत्मानुरागेण (प्रोत्सार्यमाणः प्रकृष्टमुद्यमं) प्राप्यमाणः त्वं (जिनवर-) स्तवनं कुर्विति प्रेर्यमाणः (दूरं) अतिशयेन (शक्त्या) तिरस्कृतः जिनवरस्तवनं मा कार्षीरिति निषिद्धः। अष्टभिरधिकं सहस्रं अष्टसहस्रं नाम्नां अष्टसहस्रं नामाष्टसहस्रं तेन पवित्रयामि अहं आशाधरमहाकविः ॥४॥

हे प्रभो, हे त्रिभुवनके एकमात्र स्वामी जिनेन्द्र देव! संसार, शरीर और इन्द्रिय-विषयरूप भोगोंसे अत्यन्त विरक्त और शारीरिक, मानसिक आदि नाना प्रकारके सांसारिक कष्टोंसे भयभीत हुआ यह आपके सन्मुख प्रत्यक्ष उपस्थित मैं आशाधर महाकवि जगज्जनोंको शरण देनेवाले और दयाके सागर ऐसे आपको पाकर यह नम्र निवेदन करता हूँ। हे भगवन्, सुखकी लालसासे मोहके कारण बाहर इधर-उधर परिभ्रमण करते हुए अर्थात् कुदेवादिककी सेवा करते हुए मैंने सुखका एक-मात्र कारण आपका नाम भी पहले कभी नहीं जाना। हे स्वामिन्, आज इस भवमें मोहरूप ग्रहका आवेश शिथिल होनेसे सुमार्गकी ओर कुछ उन्मुख होता हुआ मैं (उदयसेन, मदनकीर्त्ति, महावीर आदि) गुरुजनोंसे अनन्त गुणशाली आपका नाम सुनकर आपकी स्तुति करनेके लिए उद्यत हुआ हूँ। हे त्रिभुवननाथ, भक्तिके द्वारा प्रोत्साहित किया गया भी मैं शक्तिसे अत्यन्त तिरस्कृत हूँ, अतएव केवल एक हज़ार आठ नामोंके द्वारा आपकी स्तुति करके मैं अपनी आत्माको पवित्र करता हूँ ॥१-४॥

जिन-सर्वज्ञ-यज्ञार्ह-तीर्थकृन्नाथ-योगिनाम् । निर्वाण-ब्रह्म-बुद्धान्तकृतां चाष्टोत्तरैः शतैः ॥ ५ ॥
जिनो जिनेन्द्रो जिनराट् जिनपृष्ठो जिनोत्तमः । जिनाधिपो जिनाधीशो जिनस्वामी जिनेश्वरः ॥ ६ ॥
जिननाथो जिनपतिर्जिनराजो जिनाधिराट् । जिनप्रभुर्जिनविभुर्जिनभर्त्ता जिनाधिभूः ॥ ७ ॥

समासस्तु जिनश्च सर्वज्ञश्च यज्ञार्हश्च (तीर्थ-) कृच्च नाथश्च योगी च जिन-सर्वज्ञ-यज्ञार्ह-तीकृन्नाथयोगिनः, तेषां, इति षट् शतानि । तथा निर्वाणश्च ब्रह्मा च बुद्धश्च अन्तकृच्च निर्वाण-ब्रह्म-बुद्धान्तकृतः, तेषां; इति चत्वारि शतानि । तद्यथा—तदेव निरूपयति ॥५॥ अनेकविषमभवगहन-व्यसनप्रापणहेतून् कर्मारातीन् जयति क्षयं नयतीति जिनः, 'इण् जि-कृषिभ्यो नक्'। एकदेशेन समस्तभावेन (वा) कर्मारातीन् जितवन्तो जिनाः, सम्यग्दृष्टयः श्रावकाः प्रमत्तसंयताः अप्रमत्ताः अपूर्वकरणाः अनिवृत्तिकरणाः सूक्ष्मसाम्पराया उपशान्तकषायाः क्षीणकषायाश्च जिनशब्देनोच्यन्ते । तेषामिन्द्रः स्वामी जिनेन्द्रः, वा जिनश्चासाविन्द्रो जिनेन्द्रः । जिनेषु अर्हत्सु राजते । जिनेषु पृष्ठः प्रधानं । जिनेषु उत्तमः । जिनानामधिपः स्वामी । जिनानामधीशः स्वामी । जिनानां स्वामी । जिनानामीश्वरः स्वामी ॥६॥ जिनानां नाथः स्वामी । जिनानां पतिः स्वामी । जिनानां राजा स्वामी । जिनानामधिराट् स्वामी । जिनानां प्रभुः स्वामी । जिनानां विभुः स्वामी । जिनानां भर्त्ता स्वामी, जिनानामधिभूः स्वामी ॥७॥

भावार्थ—भक्ति भी मेरी स्त्री है और शक्ति भी । भक्तिरूपी स्त्री तो आपकी स्तुति करनेके लिए मुझे बार-बार उत्साहित कर रही है, परन्तु शक्तिरूपी स्त्री मुझे बलात् रोक रही है, अतएव मैं द्विविधामें पड़ गया हूँ कि किसका कहना मानूं ? यदि एकका कहना मानता हूँ, तो दूसरी कुपित हुई जाती है, ऐसा विचार कर दोनोंको ही प्रसन्न रखनेके लिए केवल कुछ नाम लेकरके ही आपकी स्तुति कर रहा हूँ ।

हे अनन्त गुणशालिन्, मैं जिन, सर्वज्ञ, यज्ञार्ह तीर्थंकृत्, नाथ, योगी, निर्वाण, ब्रह्म, बुद्ध और अन्तकृत् नामक आठ नामों से अधिक दश शतोंके द्वारा आपकी स्तुति कर अपनी आत्माको पवित्र करनेके लिए उद्यत हुआ हूँ ॥५॥

(१) अथ जिननाम शतक—

अर्थ—हे भगवन्, आप जिन हैं, जिनेन्द्र हैं, जिनराट् हैं, जिनपृष्ठ हैं, जिनोत्तम हैं, जिनाधिप हैं, जिनाधीश हैं, जिनस्वामी हैं, जिनेश्वर हैं, जिननाथ हैं, जिनपति हैं, जिनराज हैं, जिनाधिराट् हैं, जिनप्रभु हैं, जिनविभु हैं, जिनभर्त्ता हैं और जिनाधिभू हैं ॥६-७॥

व्याख्या—हे जिन—आपने भव-कानन-सम्बन्धी अनेक विषम व्यसनरूपी महाकष्टोंके कारणभूत कर्मरूपी शत्रुओंको जीत लिया है अतः जिन कहलाते हैं (१)। जिनेन्द्र—चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थान तकके जीवोंको भी कर्मोंके एकदेश जीतनेके कारण जिन कहते हैं। इन जिनोंमें आप इन्द्रके समान हैं, अतः जिनेन्द्र कहलाते हैं (२)। जिनराट्—आप जिनोंमें अनन्त ऐश्वर्यके कारण शोभित होते हैं, अतः जिनराट् कहलाते हैं (३)। जिनप्रष्ठ—आप जिनोंमें प्रष्ठ अर्थात् प्रधान हैं (४)। जिनोत्तम—आप जिनोंमें उत्तम हैं (५)। जिनाधिप—आप जिनोंके अधिप (स्वामी) हैं (६)। जिनाधीश—आप जिनोंके अधीश हैं (७)। जिनस्वामी—आप जिनोंके स्वामी हैं (८)। जिनेश्वर—आप जिनोंके ईश्वर हैं (९)। जिननाथ—आप जिनोंके नाथ हैं (१०)। जिनपति—आप जिनोंके पति हैं (११)। जिनराज—आप जिनोंके राजा हैं (१२) जिनाधिराट्—आप जिनोंके अधिराज हैं (१३)। जिनप्रभु—आप जिनोंके प्रभु हैं (१४)। जिनविभु—आप जिनोंके विभु हैं (१५)। जिनभर्त्ता—जिनोंके भरण-पोषण करनेके कारण आप जिनभर्त्ता हैं, अर्थात् उन्हें सन्मार्ग-दर्शन और सद्बोधामृत-पान करानेवाले हैं (१६) जिनाधिभू—जिनोंके अधिवास अर्थात् आत्मामें निवास करनेके लिए निर्मल रत्नत्रयमयी भूमिको प्रदान करनेसे जिनाधिभू हैं (१७)।

जिननेता जिनेशानो जिनेनो जिननायकः । जिनेट् जिनपरिवृढो जिनदेवो जिनेशिता ॥ ८ ॥
जिनाधिराजो जिनपो जिनेशी जिनशासिता । जिनाधिनाथोऽपि जिनाधिपतिर्जिनपालकः ॥ ९ ॥
जिनचन्द्रो जिनादित्यो जिनार्को जिनकुंजरः । जिनेन्दुर्जिनधौरेयो जिनधुर्यो जिनोत्तरः ॥१०॥
जिनवर्यो जिनवरो जिनसिंहो जिनोद्वहः । जिनर्षभो जिनवृषो जिनरत्नं जिनोरसम् ॥११॥
जिनेशो जिनशार्दूलो जिनाग्र्यं जिनपुंगवः । जिनहंसो जिनोत्तंसो जिननागो जिनाग्रणीः ॥१२॥

जिनानां नेता स्वामी । जिनानामीशानः स्वामी । जिनानां इनः प्रभुः स्वामी । जिनानां नायकः स्वामी । जिनानामीट् स्वामी । जिनानां परिवृढः स्वामी जिनपरिवृढः । परिवृढदढौ प्रभुबलवतोः । जिनानां देवः स्वामी । जिनानामीशिता स्वामी ॥८॥ जिनानामधिराजः स्वामी । जिनान् पातीति जिनपः, आतोऽनुपसर्गात्कः । जिनेषु ईष्टे ऐश्वर्यवान् भवतीत्येवं शीलः । जिनानां शासिता रक्षकः । जिनानामधिको नाथः । जिनानामधिपतिः स्वामी । जिनानां पालकः स्वामी ॥ ९ ॥ जिनानां चन्द्र आल्हादकः । जिनानामादित्यः प्रकाशकः । जिनानामर्कः प्रकाशकः । जिनानां कुंजरः प्रधानः । जिनानामिन्दुः । जिनानां धुरि नियुक्तः । जिनानां धुर्यः । जिनेषु उत्तरः उत्कृष्टः ॥१०॥

जिनेषु वर्यो मुख्यः । जिनेषु वरः श्रेष्ठः । जिनानां जिनेषु वा सिंहः मुख्यः । जिना उद्वहाः पुत्राः यस्य स जिनोद्वहः । अथवा जिनानुद्वहति ऊर्ध्वं नयति इति । जिनेषु ऋषभः श्रेष्ठः । जिनेषु वृषः श्रेष्ठः । जिनेषु रत्नं उत्तमः जिनरत्नं । जिनानामुरः प्रधानो जिनोरसं । उरः प्रधानार्थं राजादौ ॥११॥ जिनानामीशः स्वामी । जिनानां शार्दूलः प्रधानः । जिनानां अग्र्यं प्रधानः । जिनानां पुंगवः प्रधानः । जिनानां हंसो

अर्थ—हे जगदीश्वर, आप जिननेता हैं, जिनेशान हैं, जिनेन हैं, जिननायक हैं, जिनेट् हैं, जिनपरिवृढ हैं, जिनदेव हैं, जिनेशिता हैं, जिनाधिराज हैं, जिनप हैं, जिनेशी हैं, जिनशासिता हैं, जिनाधिनाथ हैं, जिनाधिपति हैं, जिनपालक हैं, जिनचन्द्र हैं, जिनादित्य हैं, जिनार्क हैं, जिनकुंजर हैं, जिनेन्द्र हैं, जिनधौरेय हैं, जिनधुर्य हैं, और जिनोत्तर हैं ॥ ८-१० ॥

व्याख्या—सुमार्ग पर ले जानेवालेको नेता कहते हैं। हे भगवन्, आप जिनोंको मोक्षमार्ग पर ले जाते हैं अतएव जिननेता हैं (१८) ईशान, इन, नायक ईट्, परिवृढ, देव, ईशिता, और अधिराज ये सर्व शब्द स्वामीके पर्याय-वाचक हैं, आप सम्यग्दृष्टियोंके स्वामी हैं, अतएव आप जिनेशान, जिनेन, जिननायक, जिनेट्, जिनपरिवृढ, जिनदेव, जिनेशिता, और जिनाधिराज कहलाते हैं (१९-२६)। जिनोंको पालन करनेसे आप जिनप हैं (२७)। जिनोंमें आप ऐश्वर्यवान् हैं अतएव आप जिनेशी हैं (२८)। जिनोंके शासक हैं, अतः जिनशासिता कहलाते हैं (२९)। अधिनाथ, अधिपति, पालक ये तीनों ही शब्द स्वामी अर्थके वाचक हैं, अतः आप जिनाधिनाथ, जिनाधिपति और जिनपालक कहे जाते हैं (३०-३२)। जिनोंको चन्द्रके समान आह्लाद उत्पन्न करते हैं, अतः आप जिनचन्द्र हैं (३३)। आदित्य और अर्क शब्द सूर्यके पर्याय-वाचक हैं। आप जिनोंको सूर्यके समान मोक्षमार्गका प्रकाश करते हैं, अतः आप जिनादित्य और जिनार्क कहलाते हैं (३४-३५)। कुंजर नाम गजराजका है। जैसे पशुओंमें कुंजर सबसे प्रधान या बड़ा होता है उसी प्रकार आप भी जिनोंमें सबसे प्रधान हैं, अतः जिनकुंजर कहे जाते हैं (३६)। जिनोंमें इन्दु अर्थात चन्द्रके तुल्य हैं, अतः आप जिनेन्दु हैं (३७) गाड़ीकी धुरापर बैठकर जो उसको चलाता है, उसे धौरेय या धुर्य कहते हैं। आप भी मोक्षमार्ग पर ले जानेवाले रथकी धुरा पर आसीन हैं, अतएव जिनधौरेय और जिनधुर्य ये दोनों ही नाम आपके सार्थक हैं (३८-३९)। जिनोंमें आप उत्तर अर्थात् उत्कृष्ट हैं, अतएव आप जिनोत्तर कहलाते हैं (४०)।

अर्थ—हे त्रिलोकीनाथ, आप जिनवर्य हैं, जिनवर हैं, जिनसिंह हैं, जिनोद्वह हैं, जिनर्षभ जिनवृष हैं, जिनरत्न हैं, जिनोरस हैं, जिनेश हैं, जिनशार्दूल हैं, जिनाग्र्य हैं, जिनपुंगव हैं, जिनहंस

जिनप्रवेकश्च जिनग्रामणीर्जिनसत्तमः । जिनप्रवर्हः परमजिनो जिनपुरोगमः ॥१३॥
जिनश्रेष्ठो जिनज्येष्ठो जिनमुख्यो जिनाग्रिमः । श्रीजिनश्चोत्तमजिनो जिनवृन्दारकोऽरिजित् ॥१४॥
निर्विघ्नो विरजाः शुद्धो निस्तमस्को निरंजनः । घातिकर्मान्तकः कर्ममर्मावित्कर्महानघः ॥१५॥

भास्करः । जिनानामुत्तंसः मुकुटः । जिनानां नागः प्रधानः । जिनानामग्रणीः प्रधानः ॥१२॥ जिनानां प्रवेकः प्रधानः । जिनानां ग्रामणीः प्रधानः जिनग्रामणीः, अथवा जिनग्रामान् सिद्धसमूहान् नयतीति जिनग्रामणीः । जिनानां सत्तमः श्रेष्ठः प्रधानः । जिनेषु प्रवर्हः मुख्यः जिनप्रवर्हः । परया उत्कृष्टया मया लक्ष्म्या अभ्युदय-निःश्रेयसलक्षणोपलक्षितया वर्तत इति परमः । परमश्चासौ जिनः परमजिनः । जिनानां पुरोगमः प्रधानः अग्रेसरः ॥ १३ ॥

जिनानां श्रेष्ठः प्रशस्यः । जिनानां ज्येष्ठः अतिशयेन वृद्धः प्रशस्यो वा । जिनेषु मुख्यः प्रधानः, जिनानामग्रिमः प्रधानः । श्रिया अभ्युदय-निःश्रेयसलक्षणया लक्ष्म्या उपलक्षितो जिनः श्रीजिनः । उत्तम उत्कृष्टो जिनः । जिनानां वृन्दारकः श्रेष्ठः । अरिं मोहं जितवान् ॥१४॥ निर्गतो विनष्टो विघ्नोऽन्तरायो यस्येति । विगतं विनष्टं रजो ज्ञान-दर्शनावरणद्वयं यस्येति । शुद्धः कर्ममलकलंकरहितः । निर्गतं तमो अज्ञानं यस्येति । निर्गतं अंजनं यस्येति निरंजनः, द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्मरहितः । घातिकर्मणां मोहनीय-ज्ञानावरण-दर्शनावरणान्तराया-(णामन्त-) को विनाशकः, कर्मणां मर्म जीवनस्थानं (वि-) ध्यतीति कर्ममर्मावित् । न हि वृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्विबन्तेषु (प्रा) दि कारकाणामेव दीर्घः । कर्म हन्तीति कर्महा,

---

हैं, जिनोत्तंस हैं, जिननाग हैं, जिनाग्रणी हैं, जिनप्रवेक हैं, जिनग्रामणी हैं, जिनसत्तम हैं, जिनप्रवर्ह हैं, परमजिन हैं और जिनपुरोगम हैं ॥ ११–१३ ॥

व्याख्या—जिनोंमें वर्य अर्थात् मुख्य हैं, अतएव आप जिनवर्य हैं (४१)। वर नाम श्रेष्ठका है। जिनोंमें आप सर्वश्रेष्ठ हैं, अतः जिनवर हैं (४२)। जिनोंमें सिंहके समान कर्मरूप गजोंका मद-भंजन करनेके कारण आप जिनसिंह हैं (४३) जिनोंको आप ऊपरकी ओर ले जाते हैं अतः जिनोद्वह हैं (४४)। ऋषभ और वृष ये दोनों शब्द श्रेष्ठ अर्थके वाचक हैं, आप जिनोंमें श्रेष्ठ हैं, अतः जिनर्षभ और जिन-वृषभ कहलाते हैं (४५-४६)। जिनोंमें रत्नके समान शोभायमान हैं, अतः जिनरत्न हैं (४७)। उरस् नाम प्रधानका है, जिनोंमें प्रधान होनेसे जिनोरस हैं (४८)। जिनोंके ईश होनेसे जिनेश हैं (४९)। शार्दूल नाम प्रधानका है, जिनोंमें आप प्रधान हैं अतः जिनशार्दूल नाम भी आपका सार्थक है (५०)। अग्र्य नाम आगे रहनेवाले मुखियाका है। जिनोंमें अग्र्य होनेसे आप जिनाग्र्य कहलाते हैं (५१)। जिनोंमें पुंगव अर्थात् प्रधान हैं, अतः जिनपुंगव हैं (५२)। जिनोंमें हंसके समान निर्मल एवं धवल हैं अतः जिनहंस हैं। हंस नाम सूर्यका भी है, जिनोंमें सूर्यके समान भास्करायमान होनेसे भी जिनहंस कहलाते हैं (५३)। जिनोंमें उत्तंस अर्थात् मुकुटके समान शोभायमान होनेसे जिनोत्तंस कहे जाते हैं (५४)। जिनोंमें नाग (हाथी) के समान प्रधान होनेसे जिननाग नाम आपका है (५५)। आगे चलनेवालेको अग्रणी कहते हैं, जिनोंमें अग्रणी होनेसे जिनाग्रणी कहलाते हैं (५६)। जिनोंमें प्रवेक अर्थात् प्रधान हैं, अतः जिनप्रवेक हैं (५७)। ग्रामणी नाम प्रधानका है। जिनोंमें ग्रामणी होनेसे जिनग्रामणी कहे जाते हैं। अथवा भव्योंको जिनग्राम अर्थात् सिद्ध-समूहके पास ले जाते हैं, अतः जिनग्रामणी हैं (५८)। सत्तम और प्रवर्ह नाम श्रेष्ठ और प्रधानका है। जिनोंमें श्रेष्ठ होनेसे जिन-सत्तम तथा जिनप्रवर्ह कहे जाते हैं (५९–६०)। पर अर्थात् उत्कृष्ट मा (लक्ष्मी) के धारक जिन होनेसे परमजिन कहलाते हैं (६१)। जिनोंमें पुरोगम अर्थात् अग्रगामी हैं, अतः जिन पुरोगम हैं (६२)।

अर्थ—हे भगवन्, आप जिनश्रेष्ठ हैं, जिनज्येष्ठ हैं, जिनमुख्य हैं, जिनाग्रिम हैं, श्रीजिन हैं, उत्तमजिन हैं, जिनवृन्दारक हैं, अरिजित् हैं, निर्विघ्न हैं विरज हैं, शुद्ध हैं, निस्तमस्क हैं, निरञ्जन हैं, घातिकर्मान्तक हैं, कर्ममर्मावित् हैं, कर्महा हैं, अनघ हैं, वीतराग हैं, अक्षुत् हैं, अद्वेष हैं,

वीतरागोऽक्षुदद्वेषो निर्मोहो निर्मदोऽगदः । वितृष्णो निर्ममोऽसंगो निर्भयो वीतविस्मयः ॥१६॥

अविद्यमानं अघं पापचतुष्टयं यस्येति ॥१५॥ वीतो विनष्टो रागो यस्येति वीतरागः, अजेर्वी । अविद्यमाना क्षुद् बुभुक्षा यस्येति । अविद्यमानो द्वेषो यस्येति । निर्गतो मोहो अज्ञानं यस्मादिति । निर्गतो मदोऽहंकारोऽष्टप्रकारो यस्मादिति । अविद्यमानो गदो रोगो यस्येत्यगदः । इत्यनेन केवलिनां रोगं कवलाहारं च ये कथयन्ति ते प्रत्युक्ताः । विगता विशेषेण विनष्टा तृष्णा विषयाभिकांक्षा अभिलाषो यस्य स भवति वितृष्णः, विनष्टा वा तृष्णा मोक्षाभिलाषो यस्येति वितृष्णः, वीनां पक्षिणां निस्तारणे तृष्णा यस्येति वितृष्णः, तदुपलक्षणं अन्येषामपि कर्मबद्धानां पशूनां संसारिणां निस्तारकेच्छ इत्यर्थः । निर्गतं ममेति मनो यस्येति निर्ममः, निश्चिता मा प्रमाणं यस्येति निर्मः-प्रत्यक्ष-परोक्षप्रमाणवानित्यर्थः । निर्मः सन् पदार्थान् माति मिनोति मिमीते वा निर्ममः । आतोऽनुपसर्गात्कः । अविद्यमानः संगः परिग्रहो यस्येति असंगः, (न) सम्यक् गम्यते ध्यानं विना प्राप्यते असंगः, डो संज्ञायामपि । निर्गतं भयं यस्य भव्यानां वा यस्मादिति निर्भयः । अथवा निश्चिता भा दीप्तिर्यत्र तत् निर्भा केवलाख्यं ज्योतिः, तद्याति गच्छति प्राप्नोतीति निर्भयः, आतोऽनुपसर्गात्कः । वीतो विनष्टो विस्मयोऽद्भुतरसोऽष्टविधो मदो वा यस्येति । अथवा वीतो विनष्टो वेर्गरुडस्य स्मयो गर्वो यस्मादिति । भगवान् विषं कर्मविषं च विनाशयति यस्मादिति भावः ॥१६॥

निर्मोह हैं, निर्मद हैं, अगद हैं, वितृष्ण हैं, निर्मम हैं, असंग हैं, निर्भय हैं, और वीतविस्मय हैं ॥ १४–१६ ॥

व्याख्या—हे भगवन् आप जिनोंमें श्रेष्ठ या प्रशस्य हैं अतः जिनश्रेष्ठ हैं (६३)। जिनोंमें अति ज्ञानवृद्ध होनेसे जिनज्येष्ठ हैं (६४)। जिनोंमें मुखिया होनेसे जिनमुख्य कहलाते हैं (६५)। जिनोंमें अग्रगामी हैं, अतः जिनाग्रिम कहे जाते हैं (६६) श्री अर्थात् अनन्त चतुष्टयरूप लक्ष्मीसे संयुक्त होनेके कारण श्रीजिन हैं (६७)। उत्तम अर्थात् सर्वोत्कृष्ट जिन होनेसे उत्तमजिन हैं (६८)। वृन्दारक नाम श्रेष्ठ और देव अर्थका वाचक है। आप जिनोंमें श्रेष्ठ भी हैं और उनके देव भी हैं अतः जिनवृन्दारक हैं (६९)। मोहरूप अरिके जीतनेसे अरिजित् यह नाम आपका सार्थक है (७०) विघ्नोंके करनेवाले अन्तरायकर्मके निकल जानेसे आप निर्विघ्न कहे जाते हैं (७१)। ज्ञानावरण और दर्शनावरण रूप रजके विनष्ट हो जानेसे आप विरज नामके धारक हैं (७२)। कर्म-मल-कलंकसे रहित होनेके कारण शुद्ध हैं (७३)। तम अर्थात् अज्ञानरूप अन्धकारके दूर हो जानेसे निस्तमस्क कहलाते हैं (७४)। द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरूप अंजनके निकल जानेसे निरंजन हैं (७५)। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मोंका अन्त करनेके कारण घातिकर्मान्तक कहे जाते हैं (७६) कर्मोंके मर्म अर्थात् जीवन-स्थानके वेधन करनेसे कर्म-मर्मावित् कहलाते हैं (७७)। कर्मोंका हनन अर्थात् घात करनेसे कर्महा नामके धारक हैं (७८)। अघ अर्थात् पापसे रहित हैं अतः अनघ हैं (७९)। रागके वीत अर्थात् विनष्ट हो जानेसे वीतराग हैं (८०)। क्षुधाकी बाधाके सर्वथा अभाव हो जानेसे अक्षुत् कहे जाते हैं (८१)। द्वेषसे रहित हैं अतः अद्वेष कहलाते हैं (८२)। मोहके निकल जानेसे आप निर्मोह हैं (८३)। आठों मदोंके दूर हो जानेसे आप निर्मद हैं (८४)। सर्व प्रकारके गद अर्थात् रोगोंके अभाव हो जानेसे आप अगद हैं (८५)। विषयाभिलाषरूप तृष्णाके अभाव हो जानेसे आप वितृष्ण हैं अथवा मोक्षाभिलाषारूप विशिष्ट प्रकारकी तृष्णाके पाये जानेसे आप वितृष्ण कहलाते हैं। अथवा 'वि' शब्द पक्षियोंका वाचक है, अतः उपलक्षणसे पशु-पक्षियों तकके भी उद्धार करनेकी भावनारूप तृष्णा आपके रही है, अतः आप वितृष्ण कहे जाते हैं (८६)। ममता भावके निकल जानेसे आप निर्मम हैं। अथवा प्रत्यक्ष-परोक्षरूप प्रमाणको 'मा' कहते हैं। निश्चित मा अर्थात् प्रमाणके द्वारा आप संसारके समस्त पदार्थोंको जानते हैं, इस अपेक्षा भी आपका निर्मम यह नाम सार्थक है (८७)। संग अर्थात् बाह्य और

अस्वप्नो निःश्रमोऽजन्मा निःस्वेदो निर्जरोऽमरः । अरत्यतीतो निश्चिन्तो निर्विपादस्त्रिपष्टिजित् ॥१७॥

इति जिनशतम् ॥ १ ॥

अविद्यमानः स्वप्नो निद्रा यस्येति, अप्रमत्त इत्यर्थः । अथवा असून् प्राणिनां प्राणान् अपोऽ-र्तिं जीवनं नयतीति परमकारुणिकत्वात् अस्वप्नः, अन्यत्रापि चड्प्रत्ययः । निर्गतः श्रमः खेदो यस्येति, निश्चितः श्रमो बाह्याभ्यन्तरलक्षणं तपो यस्येति वा । न विद्यते जन्म गर्भवासो यस्येति । शिशुत्वेऽपि स्वेद-रहितः, निःस्वानां दरिद्राणां इं कामं वांछितं अभीष्टं धनादिकं ददातीति । निर्गता जरा यस्मादिति । न म्रियते अमरः । अरतिररुचिरतया अतीतो रहितः । निर्गता चिन्ता यस्मादिति । निर्गतो विषादः पश्चात्तापो यस्मादिति । अथवा निर्विषं पापविषरहितं परमानन्दामृतं अत्ति आस्वादयतीति । त्रिषष्टिं कर्मप्रकृतीनां जयतीति ॥१७॥ इति जिनशतम् ॥ १ ॥

अन्तरंग सर्व प्रकारके परिग्रहके अभाव हो जानेसे आप असंग कहलाते हैं (८८)। सर्व प्रकारके भयोंके दूर हो जानेसे आप निर्भय हैं। अथवा निश्चितरूपसे भा अर्थात् केवलज्ञानरूप ज्योतिके द्वारा सर्व पदार्थोंके ज्ञायक हैं, इसलिए भी आपका निर्भय नाम सार्थक है (८९)। विस्मयके वीत (नष्ट) हो जानेसे आप वीतविस्मय हैं। अथवा वीत अर्थात् नष्ट हो गया है वि अर्थात् गरुडका स्मय अर्थात् गर्व जिनके द्वारा इस प्रकारकी निरुक्तिकी अपेक्षा भी आपका वीतविस्मय नाम सार्थक है। इसका अभिप्राय यह है कि गरुड़को सर्पविषके दूर करनेका गर्व था, पर हे भगवन्, आपको सर्पविष और कर्मविष इन दो प्रकारके विषोंका नाशक देखकर उसका गर्व नष्ट हो गया (९०)।

अर्थ—हे स्वामिन्, आप अस्वप्न हैं, निःश्रम हैं, अजन्मा हैं, निःस्वेद हैं, निर्जर हैं, अमर हैं, अरत्यतीत हैं, निश्चिन्त हैं, निर्विषाद हैं और त्रिषष्टिजित् हैं ॥ १७ ॥

व्याख्या—स्वप्न अर्थात् निद्राके अभाव हो जानेसे आप अस्वप्न हैं, अर्थात् सदा जागरूक हैं अप्रमत्त हैं। अथवा असु अर्थात् प्राणियोंके प्राणोंके अप अर्थात् अभयदानके द्वारा पालक होनेसे भी आप अस्वप्न कहलाते हैं (९१)। श्रम अर्थात् बाह्य आभ्यन्तर तपोंके परिश्रमसे रहित होनेके कारण निःश्रम हैं (९२)। गर्भवासरूप जन्मसे रहित हैं, अतः अजन्मा हैं (९३)। सर्व अवस्थाओंमें स्वेद अर्थात् पसेवसे रहित हैं, अतः निःस्वेद हैं। अथवा निःस्व अर्थात् दरिद्रोंके ई अर्थात् लक्ष्मीके दाता होनेसे भी निःस्वेद कहलाते हैं (९४)। जरा अर्थात् वृद्धावस्थासे रहित होनेके कारण निर्जर हैं (९५)। मरणसे रहित होनेके कारण अमर हैं (९६)। अरति अर्थात् अरुचिसे रहित होनेके कारण अरत्यतीत हैं (९७)। सर्व प्रकारकी चिन्ताओंके निकल जानेके कारण निश्चिन्त हैं (९८)। विषाद अर्थात् पश्चात्तापके अभाव होनेसे निर्विषाद हैं। अथवा पापरूप विषसे रहित परम आनन्दरूप अमृतके अद अर्थात् आस्वादन करनेके कारण भी निर्विषाद यह नाम सार्थक है (९९)। कर्मोंकी त्रेसठ प्रकृतियोंके जीतनेसे आप त्रिषष्टिजित् कहलाते हैं। वे त्रेसठ प्रकृतियां इस प्रकार हैं:—ज्ञाना-वरणकी ५, दर्शनावरणकी ९, मोहनीयकी २८, अन्तरायकी ५, इसप्रकार घातिया कर्मोंकी ४७। तथा आयुकर्मकी मनुष्यायुको छोड़कर शेष तीन प्रकृतियां और नामकर्मकी १३। नामकर्मकी १३ प्रकृतियां इस प्रकार हैं:—साधारण[1], आताप[2], एकेन्द्रियजाति आदि ४ जातियां[6], नरकगति[7], नरकगत्यानुपूर्वी[8], तिर्यग्गति[9], तिर्यग्गत्यानुपूर्वी[10], स्थावर[11], सूक्ष्म[12] और उद्योत[13] (१००)।

इस प्रकार जिनशतक समाप्त हुआ।

२ अथ सर्वज्ञशतम्—

सर्वज्ञः सर्ववित्सर्वदर्शी सर्वावलोकनः । अनन्तविक्रमोऽनन्तवीर्योऽनन्तसुखात्मकः ॥१८॥
अनन्तसौख्यो विश्वज्ञो विश्वदृश्वाऽखिलार्थदृक् । न्यक्षदृग्विश्वतश्चक्षुर्विश्वचक्षुरशेषवित् ॥१९॥

सर्वं त्रैलोक्य-कालत्रयवर्त्ति द्रव्यपर्यायसहितं वस्त्वलोकं च जानातीति । सर्वं वेत्तीति । सर्वं द्रष्टुमवलोकयितुं शीलमस्य स तथोक्तः । सर्वस्मिन् अवलोकनं ज्ञानचक्षुर्यस्य स तथोक्तः । अनन्तोऽपर्यन्तो विक्रमः पराक्रमो यस्येति, केवलज्ञानेन स-(र्व) वस्तुवेदकशक्तिरित्यर्थः । अथवा शरीरसामर्थ्ये-(न) मेर्वादिकानपि समु-(त्पा-) टनसमर्थ इत्यर्थः । अथवा अनन्ते अलोकाकाशे विक्रमो ज्ञानेन गमनं यस्येति । अथवा अनन्तः शेषनागः श्रीविष्णु आकाशस्थित सूर्याचन्द्रमसादयो विशेषेण क्रमयोर्नम्रीभूता यस्येति । अथवा अनन्तो विशिष्टः क्रमश्चारित्रं अनुक्रमो वा यस्येति । अनन्तं वीर्यं शक्तिरस्येति । अनन्तं सुखमात्मनो यस्य स तथोक्तः, नद्यन्ताच्छेषाद्वा बहुव्रीहौ कः । अथवा अनन्तं सुखं निश्चयनयेन आत्मानं कायति कथयति यः सोऽनन्तसुखात्मकः । 'कै गै रै शब्दे, आतोऽनुपसर्गात्कः ॥१८॥ अनन्तं सौख्यं यस्येति । विश्वं जगत् जानातीति, नाम्युपधात्प्रीकृगृज्ञां कः । विश्वं दृष्टवान्, दृशेः क्वनिप् अतीते । अखिलान् अर्थान् पश्यतीति । न्यक्षं सर्व पश्यतीति, न्यक्षं इन्द्रियरहितं पश्यतीति वा न्यक्षदृक् । विश्वतो विश्वस्मिन् चक्षुः केवलदर्शनं यस्येति, विश्वस्मिन् लोकालोके चक्षुः केवलज्ञानदर्शनद्वयं यस्येति । अशेषं लोकालोकं वेत्तीति ॥ १९ ॥

अर्थ—हे भगवन्, आप सर्वज्ञ हैं, सर्ववित् हैं, सर्वदर्शी हैं, सर्वावलोकन हैं, अनन्तविक्रम हैं, अनन्तवीर्य हैं, अनन्तगुणात्मक हैं, अनन्तसौख्य हैं, विश्वज्ञ हैं, विश्वदृश्वा हैं, अखिलार्थदृक् हैं, न्यक्षदृक् हैं, विश्वतश्चक्षु हैं, विश्वचक्षु हैं और अशेषवित् हैं ॥ १८-१९ ॥

व्याख्या—हे भगवन्, आप त्रिलोक-त्रिकालवर्त्ती सर्वद्रव्य-पर्यायात्मक वस्तुस्वरूपके जानने वाले हैं, अतः सर्वज्ञ हैं (१)। सर्व लोक और अलोकके वेत्ता हैं , अतः सर्ववित् हैं (२)। सर्व चराचर जगत् के देखनेवाले हैं, अतः सर्वदर्शी हैं (३)। सर्व-पदार्थ-जातके अवलोकन करने के कारण सर्वावलोकन कहलाते हैं (४)। अनन्त पराक्रमके धारक होनेसे अनन्त-विक्रम कहे जाते हैं । अर्थात् तीर्थंकर या अरिहंतदशामें आप अपने शरीर की सामर्थ्यके द्वारा सुमेरु पर्वतको भी उखाड़कर फेंकने की सामर्थ्य रखते हैं और अपने ज्ञानके द्वारा सर्व पदार्थोंके जानने-देखनेकी शक्ति से सम्पन्न हैं । अथवा अनन्त अलोकाकाशमें विक्रम अर्थात् ज्ञानके द्वारा गमन करने की सामर्थ्यके धारक हैं । अथवा अनन्त नाम शेषनाग और आकाश-स्थित सूर्य,चन्द्रमादिक का भी है, सो आपने अपने विशेष प्रभाव के द्वारा उन्हें अपने क्रम अर्थात् चरणमें नम्रीभूत किया है । अथवा क्रम नाम चारित्रका भी है, आप यथाख्यातरूप अनन्त विशिष्ट चारित्र के धारक हैं, अतः अनन्तविक्रम इस नामके धारक हैं (५) । अनन्त बलके धारी होने से अनन्तवीर्य कहलाते हैं (६) । आपका आत्मा अनन्त सुखस्वरूप है, अतः आप अनन्तसुखात्मक हैं। अथवा आपने निश्चयनयसे आत्माको अनन्त सुखशाली कहा है, अतः आप अनन्तसुखात्मक कहलाते हैं (७)। अनन्त सौख्यसे युक्त होनेके कारण आपका नाम अनन्तसौख्य है (८)। आप समस्त विश्वको जानते हैं, अतः विश्वज्ञ हैं (९) आपने सारे विश्वको देख लिया है, अतः आप विश्वदृश्वा हैं (१०)। अखिल अर्थोंके देखनेके कारण आप अखिलार्थदृक् कहलाते हैं। (११) । न्यक्ष नाम सर्वका है, आप सर्व लोकालोकको देखते हैं, अतः न्यक्षदृक् हैं । अथवा अक्ष नाम इन्द्रियका है, आप इन्द्रियोंकी सहायताके विना ही सर्वके देखनेवाले हैं, अतः न्यक्षदृक् कहलाते हैं (१२)। आप केवलज्ञान और केवलदर्शनरूप चक्षुओंके द्वारा सर्व विश्वके देखनेवाले हैं अतः विश्वतश्चक्षु और विश्वचक्षु इन दो नामोंसे पुकारे

आनन्दः परमानन्दः सदानन्दः सदोदयः । नित्यानन्दो महानन्दः परानन्दः परोदयः ॥२०॥
परमोजः परंतेजः परंधाम परंमहः । प्रत्यग्ज्योतिः परंज्योतिः परंब्रह्म परंरहः ॥२१॥
प्रत्यागात्मा प्रबुद्धात्मा महात्मात्ममहोदयः । परमात्मा प्रशान्तात्मा परात्मात्मनिकेतनः ॥२२॥

आसमन्तात् नन्दति । परम उत्कृष्ट आनन्दः सौख्यं यस्येति । सदा सर्वकालं आनन्दः सुखं यस्य । अथवा सन् समीचीनः आनन्दो यस्येति । सदा सर्वकालं उदयोऽनस्तमनं यस्येति । वा सदा सर्वकालं उत्कृष्टः अयः शुभावहो विधिर्यस्य । नित्यः शाश्वतः आनन्दः सौख्यं यस्येति । महान् आनन्दः सौख्यं यस्येति । अथवा महेन तच्चरणपूजया आनन्दो भव्यानां यस्मादिति । पर उत्कृष्ट आनन्दो यस्येति । अथवा परेषां सर्वप्राणिनामानन्दो यस्मादिति । पर उत्कृष्ट उदयोऽभ्युदयो यस्येति । अथवा परेषां भव्यानामुत्कृष्टः अयः विशिष्टं पुण्यं शुभायुर्नामगोत्रलक्षणं निदानादिरहितं (तीर्थ-) करनामगोत्रलक्षणोपलक्षितं पुण्यं यस्मादिति ॥२०॥ परमतिशयवत् ओजः उत्साहरूपः । परं उत्कृष्टं तेजो भूरिभास्करप्रकाशरूपः । परमुत्कृष्टं धाम तेजःस्वरूपः । परमुत्कृष्टं महः तेजस्वरूपः । प्रत्यक् पाश्चात्यं ज्योतिः तेजःस्वरूपः । परमुत्कृष्टं ज्योतिश्चक्षुः-प्रायः परंज्योतिः, लोकालोकलोचनत्वात् । परमुत्कृष्टं ब्रह्म पंचमज्ञानस्वरूपः । परमुत्कृष्टं रहो गुह्यस्वरूपस्तत्त्व-स्वरूपो वा ॥२१॥ प्रत्यक् पाश्चात्यः आत्मा बुद्धिर्यस्य स तथोक्तः ।

सूर्येऽग्नौ पवने चित्ते धृतौ यत्नेऽसुमत्यपि । बुद्धौ काये मतश्चात्मा स्वभावे परमात्मनि ॥

इत्यभिधानात् । प्रबुद्धः प्रकर्षेण केवलज्ञानसहितः आत्मा जीवो यस्य स तथोक्तः । महान् केवलज्ञानेन लोकालोकव्यापक आत्मा यस्य । आत्मनो महानुदयो यस्य, कदाचिदपि अज्ञानरहित इत्यर्थः । अथवा आत्मनो महस्य पूजाया उदयस्तीर्थंकरनामोदयो यस्य । परम उत्कृष्टः केवलज्ञानी आत्मा जीवो यस्य । प्रशान्तो घातिकर्मक्षयवान् आत्मा यस्य स । पर उत्कृष्टः केवलज्ञानोपेतत्वात् आत्मा यस्येति । अथवा परे एकेन्द्रियादिपंचेन्द्रियपर्यन्ताः प्राणिनः आत्मानः निश्चयनयेन निजसमाना यस्य, आत्मैव शरीरमेव निकेतनं गृहं यस्येति आत्मनिकेतनः व्यवहारेणेत्यर्थः । निश्चयनयेन तु आत्मा जीवो निकेतनं गृहं यस्य ॥२२॥

जाते हैं (१३-१४)। तथा अशेष अर्थात् समस्त लोक और अलोकके वेत्ता होनेसे अशेषवित् कहे जाते हैं (१५)।

अर्थ—हे स्वामिन्, आप आनन्द हैं, परमानन्द हैं, सदानन्द हैं, सदोदय हैं, नित्यानन्द हैं, महानन्द हैं, परानन्द हैं, परोदय हैं, परमोज हैं, परंतेज हैं, परंधाम हैं, परंमह हैं, प्रत्यग्ज्योति हैं, परंज्योति हैं, परंब्रह्म हैं, परंरह हैं, प्रत्यगात्मा हैं, प्रबुद्धात्मा हैं, महात्मा हैं, आत्ममहोदय हैं, परमात्मा हैं, प्रशान्तात्मा हैं, परात्मा हैं, और आत्मनिकेतन हैं ॥ २०-२२ ॥

व्याख्या—हे अनन्त सुखके स्वामी जिनेन्द्रदेव, सर्वदा सर्वाङ्गमें आप समृद्धिशाली हैं, अतः आनन्दरूप हैं (१६)। परम अर्थात् उत्कृष्ट आनन्दके धारक हैं, अतः परमानन्द हैं (१७)। सदा-सर्वकाल सुखरूप होनेसे सदानन्द हैं, अथवा सत् अर्थात् समीचीन अविनाशी आनन्दरूप हैं, अतः सदानन्द कहलाते हैं (१८)। सदा उदयरूप हैं, अर्थात् किसी भी समय आपकी ज्ञानज्योति अस्तंगत नहीं होती है, अतः सदोदय हैं। अथवा सदाकाल उत्कृष्ट अय अर्थात् जगद्-हितकारी शुभावह विधिके कर्त्ता होनेसे भी सदोदय कहलाते हैं (१९)। नित्य आनन्दरूप होनेसे नित्यानन्द कहे जाते हैं (२०)। महान् आनन्दके धारक हैं, अतः महानन्द हैं। अथवा भव्य जीव आपकी मह अर्थात् पूजा करनेसे आनन्दको प्राप्त होते हैं, इसलिए भी आप महानन्द कहलाते हैं (२१)। पर अर्थात् उत्कृष्ट आनन्दके धारक हैं, अतः परमानन्द हैं। अथवा पर अर्थात् अन्य सर्व प्राणियोंको आनन्दके उत्पन्न करनेवाले हैं, इसलिए भी परमानन्द कहलाते हैं (२२)। पर उत्कृष्ट अभ्युदय-शाली होनेसे परोदय कहलाते हैं। अथवा पर प्राणियोंके उत्-उत्कृष्ट अयं अर्थात् तीर्थंकरादि विशिष्ट पुण्य उत्पादक होनेसे भी परोदय कहे जाते हैं (२३)। परम अतिशयशाली ओज अर्थात् उत्साहके

परमेष्ठी महिष्ठात्मा श्रेष्ठात्मा स्वात्मनिष्ठितः । ब्रह्मनिष्ठो महानिष्ठो निरूढात्मा दृढात्मदृक् ॥२३॥
एकविद्यो महाविद्यो महाब्रह्मपदेश्वरः । पंचब्रह्ममयः सार्वः सर्वविद्येश्वरः स्वभूः ॥२४॥

परमे उत्कृष्टे इन्द्र-धरणेन्द्र-नरेन्द्र-गणीन्द्रादिवंदिते पदे तिष्ठतीति । अतिशयेन महान् आत्मा यस्येति । अथवा महौ अष्टमभूमौ तिष्ठति इति महिष्ठः, महिष्ठ आत्मा यस्येति । अतिशयेन प्रशस्यः श्रेष्ठः । अथवा अतिशयेन वृद्धः लोकालोकव्यापी श्रेष्ठः, श्रेष्ठः आत्मा यस्येति । केवलज्ञानापेक्षया सर्वव्यापी जीवस्वरूप इत्यर्थः । आत्मनि निजशुद्धबुद्धैकस्वरूपेऽतिशयेन स्थितः । ब्रह्मणि केवलज्ञाने न्यतिशयेन तिष्ठतीति । महती निष्ठा स्थितिः क्रिया यथाख्यातचारित्रं यस्येति, परमौदासीनतां प्राप्त इत्यर्थः । नि-अतिशयेन रूढस्त्रिभुवनदृढ आत्मा यस्येति, दृढात्मा निश्चलस्वरूपा अनन्तगुणोपेता सत्तामात्रावलोकिनी दृक् दर्शनं यस्येति ॥२३॥

एका अद्वितीया केवलज्ञानलक्षणोपलक्षिता मतिश्रुतावधिमनःपर्ययरहिता विद्या यस्येति । महती

धारक हैं, अतः परमोज हैं (२४)। परम तेजके धारक होनेसे परंतेज कहलाते हैं (२५)। धाम और मह शब्द भी तेज अर्थके वाचक हैं। हे भगवन्, आप परम धाम और परम महके धारक होनेसे परंधाम और परंमह कहे जाते हैं (२६–२७)। प्रत्यक् अर्थात् पाश्चात्य ज्योतिके धारक हैं अतः प्रत्यग्ज्योति हैं; अर्थात् आपके पीछे कोटि रविकी प्रभाको लज्जित करनेवाला भामण्डल रहता है (२८)। परम ज्योतिके धारक होनेसे परंज्योति कहलाते हैं (२९)। परमब्रह्म अर्थात् केवलज्ञानके धारक हैं, अतः परंब्रह्म हैं (३०)। रह नाम गुप्त और तत्वका है, आपका स्वरूप अत्यन्त गुप्त अर्थात् सूक्ष्म और अतीन्द्रिय है अतः आप परंरह कहलाते हैं (३१)। प्रत्यक् शब्द श्रेष्ठका और आत्मा शब्द बुद्धिका भी वाचक है। आप सर्व श्रेष्ठ बुद्धिके धारक हैं, अतः प्रत्यगात्मा हैं (३२)। आपका आत्मा सर्वकाल प्रबुद्ध अर्थात् जाग्रत रहता है, अतः आप प्रबुद्धात्मा हैं (३३)। आपका आत्मा महान् है अर्थात् ज्ञानकी अपेक्षा लोकालोकमें व्यापक है, अतः आप महात्मा हैं (३४)। आप आत्माके महान् उदयशाली तीर्थंकर पदको प्राप्त हैं, अतः आत्ममहोदय हैं (३५)। आपका आत्मा परम केवल ज्ञानका धारक है, अतः आप परमात्मा हैं (३६)। आपने घातिया कर्मोंका क्षय कर उन्हें सदाके लिए प्रशान्त कर दिया है, अतः आप प्रशान्तात्मा हैं (३७)। पर अर्थात् उत्कृष्ट आत्मा होनेसे परात्मा कहलाते हैं। अथवा एकेन्द्रियादि सर्व पर प्राणियोंके आत्माओंको भी निश्चयनयसे आपने अपने समान बताया है, अतः आप परात्मा कहे जाते हैं। (३८)। आपके आत्माका निकेतन अर्थात् रहनेका आवास (घर) आपका आत्मा ही है, बहिर्जनोंके समान शरीर नहीं, अतः आप आत्मनिकेतन कहलाते हैं (३९)।

अर्थ—हे परमेश्वर, आप परमेष्ठी हैं, महिष्ठात्मा हैं, श्रेष्ठात्मा हैं, स्वात्मनिष्ठित हैं, ब्रह्मनिष्ठ हैं, महानिष्ठ हैं, निरूढात्मा हैं, और दृढात्मदृक् हैं ॥२३॥

व्याख्या—हे परमेष्ठिन्, आप परम अर्थात् इन्द्र, नागेन्द्र, धरणेन्द्र, गणधरादिसे वंद्य आर्हन्त्य पदमें तिष्ठते हैं, अतएव परमेष्ठी कहलाते हैं (४०)। अतिशय महान् आत्मस्वरूपके धारक हैं, अतः महिष्ठात्मा हैं। अथवा ईषत्प्राग्भार नामक आठवीं मोक्षमही पर आपका आत्मा विराजमान है, इसलिए भी आप महिष्ठात्मा हैं (४१)। श्रेष्ठ शब्द अति प्रशस्त और वृद्ध या व्यापक अर्थका वाचक है। आपका आत्मा अति प्रशस्त है और केवलज्ञानकी अपेक्षा सर्वव्यापक है, अतः श्रेष्ठात्मा हैं (४२)। आप स्व अर्थात् निज शुद्ध-बुद्धस्वरूप आत्मस्वभावमें अतिशय करके अवस्थित हैं, उससे कदाचित् भी विचलित नहीं होते, अतः स्वात्मनिष्ठित कहे जाते हैं (४३)। ब्रह्म अर्थात् अनन्तज्ञानी आत्मामें विराजमान होनेसे ब्रह्मनिष्ठ कहलाते हैं (४४)। महान् निष्ठावान् हैं अर्थात् परम उदासीनतारूप यथाख्यात-चारित्रके धारक हैं, अतः महानिष्ठ कहे जाते हैं, (४५)। निरूढ अर्थात् त्रिभुवनमें आपका आत्मा प्रसिद्ध है, अतः निरूढात्मा हैं (४६)। दृढात्मा अर्थात् निश्चल स्वरूपवाले अनन्त दर्शनके धारक हैं, अतः दृढात्मदृक् हैं (४७)।

अर्थ—हे, परमेश्वर आप एकविद्य हैं, महाविद्य हैं, महाब्रह्मपदेश्वर हैं, पंचब्रह्ममय हैं,

अनन्तधीरनन्तात्माऽनन्तशक्तिरनन्तदृक् । अनन्तानन्तधीशक्तिरनन्तचिदनन्तमुत् ॥२५॥

केवलज्ञानलक्षणा विद्या यस्येति । ब्रह्मणः केवलज्ञानस्य पदं स्थानं ब्रह्मपदं, महच्च तत् ब्रह्मपदं च महाब्रह्मपदं मोक्षः, तस्य ईश्वरः स्वामी । अथवा महाब्रह्माणो गणधरदेवादयः पदयोश्चरणयोर्लग्नाः महाब्रह्मपदाः, तेषामीश्वरः । अथवा महाब्रह्मपदं समवसरणं तस्येश्वरः । पंचभिः ब्रह्मभिर्मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानैर्निर्वृत्तः निष्पन्नः पंचब्रह्ममयः, ज्ञानचतुष्टयस्य केवलज्ञानान्तर्गर्भितत्वात् । अथवा पंचभिर्ब्रह्मभिः अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभिर्निर्वृत्तः निष्पन्नः पंचपरमेष्ठिनां गुणैरूपेतत्वात् । सर्वेभ्यः हितः सार्वः, सर्वा चासौ विद्या च सर्वविद्या सकलविमलकेवलज्ञानम्, तस्या ईश्वरः । शोभना समवशरणलक्षणा मोक्षलक्षणा ईषत् (प्राग्-) भारनाम्नी भूः स्थानं यस्येति स्वभूः ॥२४॥ अनन्ता धीः केवलज्ञानलक्षणा धीः बुद्धिर्यस्येति, अथवा अनन्तस्य शेषनागस्य धीश्चिन्तनं यस्मिन्, अथवा अनन्ते मोक्षे धीर्यस्य, अथवा अनन्तेषु धीर्यस्य स तथोक्तः । अनन्तेन केवलज्ञानेनोपलक्षितः आत्मा यस्येति वा । अनन्तो विनाशरहित आत्मा यस्येति । अथवा अनन्तानन्ता आत्मानो जीवा यस्य मते सोऽनन्तात्मा । अनन्ता शक्तिर्यस्येति । अनन्ता दृक् केवलदर्शनं यस्येति । अनन्तानन्ता धीः शक्तिर्विक्रमः प्रज्ञासामर्थ्यमथवा यस्येति । अनन्ता चित् केवलज्ञानं यस्येति । अनन्ता मुत् हर्षः सुखं यस्येति ॥२५॥

सार्व हैं, सर्वविद्येश्वर हैं, स्वभू हैं, अनन्तधी हैं, अनन्तात्मा हैं, अनन्तशक्ति हैं, अनन्तदृक् हैं, अनन्तानन्तधीशक्ति हैं, अनन्तचित् हैं और अनन्तमुत् हैं ॥२४-२५॥

व्याख्या—एक अर्थात् अद्वितीय केवलज्ञानरूप विद्याके धारक होनेसे एकविद्य हैं (४८)। केवलज्ञानलक्षण महाविद्याके धारी हैं अतः महाविद्य कहलाते हैं (४९)। महाब्रह्मरूप मोक्षपदके स्वामी होनेसे महाब्रह्मपदेश्वर कहलाते हैं। अथवा हरि, हर, ब्रह्मादि लोक-प्रसिद्ध महादेवता भी आपके पद-पद्मोंकी सेवा करते हैं, और आप महाब्रह्मपद अर्थात् गणधरादिकोंसे युक्त समवसरणके ईश्वर हैं, इसलिए भी महाब्रह्मपदेश्वर कहलाते हैं (५०)। आप पांचों ज्ञानोंसे निष्पन्न हैं, अथवा पांचों परमेष्ठियोंके गुणोंसे सम्पन्न हैं, अतएव पंचब्रह्ममय हैं (५१)। सर्व प्राणियोंके हितैषी हैं, अतः सार्व कहलाते हैं (५२)। आप लोक-प्रसिद्ध स्वसमय-परसमय सम्बन्धी[1] सर्व विद्याओंके ईश्वर हैं, तथा परमार्थ-स्वरूप निर्मल केवलज्ञानरूप विद्याके स्वामी हैं, अतः सर्वविद्येश्वर हैं (५३)। अरहन्त-अवस्थामें समवशरणस्वरूप और सिद्ध-दशामें सिद्धशिलारूप सुन्दर भूमिपर विराजमान होनेके कारण सुभू कहलाते हैं (५४)। अनन्तपरिमाणवाली केवलज्ञानलक्षण बुद्धिके धारक हैं, अतः अनन्तधी हैं। अथवा अनन्तकाल तक एक स्वरूप रहनेवाले तथा अनन्त सुखसे संयुक्त मोक्षमें ही निरन्तर बुद्धिके लगे रहनेसे भी अनन्तधी कहलाते हैं। अथवा अनन्त नाम शेषनागका भी है, उसकी बुद्धि निरन्तर आपके गुण-चिन्तनमें ही लगी रहती है, इस लिए भी आप अनन्तधी कहे जाते हैं। अथवा दीक्षाके समय अनन्त सिद्धोंमें आपकी बुद्धि लगी रही, अतः आपका अनन्तधी नाम सार्थक है (५५)। अनन्त केवलज्ञानसे युक्त आपका आत्मा है, अतः आप अनन्तात्मा हैं। अथवा जिसका कभी अन्त न हो, उसे अनन्त कहते हैं, आपकी शुद्ध दशाको प्राप्त आत्माका कभी विनाश नहीं होगा, अतः आप अनन्तात्मा कहलाते हैं। अथवा आपके मतमें अनन्त आत्माएं बतलाई गई हैं (५६)। आपकी शक्ति अनन्त है, अतः आप अनन्तशक्ति कहलाते हैं (५७)। आपका केवल दर्शन भी अनन्त है, अतः आप अनन्तदृक् हैं (५८)। आपके ज्ञानकी शक्ति अनन्तानन्त है, अतः आप अनन्तानन्तधीशक्ति कहलाते हैं (५९)। आपका चित् अर्थात् केवलज्ञान अनन्त है, अतः आप अनन्तचित् हैं (६०)। आपका मुत् अर्थात् आनन्द-सुख भी अनन्त है, अतः आप अनन्तमुत् भी कहे जाते हैं (६१)।

[1] विशेषके लिए इसी नामकी श्रुतसागरी टीका देखिये।

सदाप्रकाशः सर्वार्थसाक्षात्कारी धीः । कर्मसाक्षी जगच्चक्षुरलक्ष्यात्माऽचलस्थितिः ॥२६॥
निराबाधोऽप्रतर्क्यात्मा धर्मचक्री विदांवरः । भूतात्मा सहजज्योतिर्विश्वज्योतिरतीन्द्रियः ॥२७॥

सदा सर्वकालं प्रकाशः केवलज्ञानं यस्येति, एकसमयेऽपि ज्ञानं न त्रुट्यति भगवत इत्यर्थः । सर्वान् अर्थान् द्रव्याणि पर्यायांश्च साक्षात्करोति प्रत्यक्षं जानाति पश्यति चेत्येवंशीलः । समग्रा परिपूर्णा धीर्बुद्धिः केवलज्ञानं यस्येति । कर्मणां पुण्य-पापानां साक्षी ज्ञायकः, अन्धकारेऽपि प्रविश्य पुण्यं पापं वा यः कश्चित्करोति तत्सर्वं भगवान् जानातीत्यर्थः । जगतां त्रिभुवनस्थितप्राणिवर्गाणां चक्षुर्लोचनसमानः । अलक्ष्यः अविज्ञेयः आत्मा स्वरूपं यस्येति, छद्मस्थानां मुनीनामपि अदृश्य इत्यर्थः । अचलो निश्चला स्थितिः स्थानं समाचारः यस्येति, आत्मनि एकलोलीभावो दृढचारित्र इत्यर्थः ॥२६॥ निर्गता आबाधा कष्टं यस्येति । अप्रतर्क्यः अविज्ञेयः अविचार्यः अवक्तव्य आत्मा स्वभावः स्वरूपं यस्येति । धर्मेणोपलक्षितं चक्रं धर्मचक्रं विद्यते यस्य स तथोक्तः । विदां विद्वज्जनानां मध्ये वरः श्रेष्ठः । भूतः सत्यार्थ आत्मा यस्येति भूतात्मा, कोऽसौ आत्मशब्दस्य सत्या-(वाच्या-)र्थ इति (चे) दुच्यते—अत सातत्य-(गमने) इति तावत् धातुर्वर्त-(ते) अतति सततं गच्छति लोकालोकस्वरूपं जानातीति आत्मा, सर्वधातुभ्यो मन्, सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था इत्यभिधानात् । तथा चोक्तं—

सत्तायां मंगले वृद्धौ निवासे व्याप्तिसंपदोः । अभिप्राये च शक्तौ च प्रादुर्भावे गतौ च भूः ॥

इति वचनात् । भूतो लोकालोकस्य ज्ञानेन व्यापक आत्मा यस्येति भूतात्मा, न तु पृथिव्यप्तेजोवायुलक्षणचतुर्भूतमयश्चार्वाककथित आत्मा वर्तते । सहजं स्वाभाविकं ज्योतिः केवलज्ञानं यस्येति । विश्वस्मिन् लोके अलोके च ज्योतिः केवलज्ञान-केवलदर्शनलक्षणं ज्योतिर्लोचनं यस्येति । अथवा विश्वस्य लोकस्य ज्योतिश्चक्षुर्विश्वज्योतिः लोकलोचनमित्यर्थः । अतिक्रान्तानि इन्द्रियाणि येनेति इन्द्रियज्ञानरहित इत्यर्थः ॥ २७ ॥

अर्थ—हे प्रकाशपुञ्ज, आप सदाप्रकाश हैं, सर्वार्थसाक्षात्कारी हैं, समग्रधी हैं, कर्मसाक्षी हैं, जगच्चक्षु हैं, अलक्ष्यात्मा हैं, अचलस्थिति हैं, निराबाध हैं, अप्रतर्क्यात्मा है, धर्मचक्री हैं, विदांवर हैं, भूतात्मा हैं, सहजज्योति हैं, विश्वज्योति हैं, और अतीन्द्रिय हैं ॥२६–२७॥

व्याख्या—हे अखण्ड प्रकाशके पुंज, आप सर्वदा प्रकाशरूप हैं आपकी ज्ञानज्योति कभी बुझती नहीं है, अतः आपका नाम सदाप्रकाश है (६२)। आप सर्व अर्थोंके अर्थात् द्रव्योंके समस्त गुण-पर्यायोंके प्रत्यक्ष करनेवाले ज्ञाता हैं, अतः सर्वार्थसाक्षात्कारी कहे जाते हैं (६३)। समग्र अर्थात् समस्त ज्ञेयप्रमाण बुद्धिके धारक होनेसे समग्रधी हैं (६४)। पुण्य-पापरूप कर्मोंके साक्षी अर्थात् ज्ञाता हैं, अतएव आप कर्मसाक्षी कहे जाते हैं। यदि कोई मनुष्य घोर अन्धकारमें प्रवेश करके भी कोई भला-बुरा कार्य करे, तो भी आप उसके ज्ञाता हैं (६५)। तीनों जगत्में स्थित जीवोंके लिए आप नेत्रके समान मार्ग-दर्शक हैं, अतः आप जगच्चक्षु कहलाते हैं (६६)। मनःपर्ययज्ञानके धारी छद्मस्थ वीतरागी साधुजनोंके लिए भी आपकी आत्मा अलक्ष्य हैं, अर्थात् ज्ञानके अगोचर हैं, अतएव योगीजन आपको अलक्ष्यात्मा कहते हैं (६७)। आपकी अपने आपमें स्थिति अचल है, आप उससे कदाचित् भी चल-विचल नहीं होते, अतएव आप अचलस्थिति कहलाते हैं (६८)। आप सर्वप्रकारके कष्टोंकी बाधाओंसे रहित हैं, अतः निराबाध हैं (६९) आपके आत्माका स्वरूप हम छद्मस्थ जनोंके प्रतर्क्य अर्थात् विचार या चिन्तवनसे परे है, अतएव आप अप्रतर्क्यात्मा हैं (७०)। जब आप भव्य जीवोंके सम्बोधनके लिए भूतल पर विहार करते हैं, तब आपके आगे-आगे धर्मका साक्षात् प्रवर्त्तक एक सहस्र अर (आरों) से रुचिर, अत्यन्त दैदीप्यमान धर्मचक्र आकाशमें निराधार चलता है, जिसके देखने मात्रसे ही जगज्जनोंके सन्ताप शान्त हो जाते हैं और समस्त जीव आपसमें वैर-भाव भूलकर आनन्दका अनुभव करते हैं। इसप्रकार धर्मचक्रके धारण करनेसे आप धर्मचक्री कहे जाते हैं (७१)। विद्व-

केवली केवलालोको लोकालोकविलोकनः । विविक्तः केवलोऽव्यक्तः शरण्योऽचिन्त्यवैभवः ॥२८॥
विश्वभृद्विश्वरूपात्मा विश्वात्मा विश्वतोमुखः । विश्वव्यापी स्वयंज्योतिरचिन्त्यात्मामितप्रभः ॥२९॥

केवलं केवलज्ञानं विद्यते यस्येति । केवलोऽसहायो मतिज्ञानादिनिरपेक्ष आलोकः केवलज्ञानोद्योतो यस्येति । लोकालोकयोर्विलोकनं अवलोकनं यस्येति । विविच्यते स्म विविक्तः सर्वविषयेभ्यः पृथग्भूतः, विचिर् पृथग्भावे । केवलोऽसहायः, वा के बलो आत्मनि बलं यस्येति । अव्यक्तः इन्द्रियाणां मनसः अगम्यः अगोचरः, केवलज्ञानेन गम्य इत्यर्थः । शरणे साधुः शरण्यः, अर्तिमथनसमर्थ इत्यर्थः । अचिन्त्यं मनसः अगम्यं विभवं विभुत्वं यस्येति ॥२८॥ विश्वं बिभर्ति धरति पुष्णाति वा, विशंति प्रविशंति पर्यटन्ति प्राणिनोऽस्मिन्निति विश्वं त्रैलोक्यं तद्रूपस्तदाकार आत्मा लोकपूरणावसरे जीवो यस्येति । अथवा विशन्ति जीवादयः पदार्था यस्मिन्निति विश्वं केवलज्ञानं विश्वरूपः केवलज्ञानस्वरूपः आत्मा यस्येति । अशि लटि खटि विशिभ्यः कः । यथा चक्षुषि स्थितं कज्जलं चक्षुरिति, प्रस्थप्रमितं धान्यं प्रस्थ इत्युपचर्यते, तथा विश्वस्थितः प्राणिगणो विश्वशब्देनोच्यते विश्वं आत्मा निजसदृशो यस्येति । विश्वं लोकालोकं केवलज्ञानेन व्याप्नोतीत्येवंशीलः । अथवा लोकपूरणप्रस्तावे विश्वं जगत् आत्मप्रदेशैः व्याप्नोतीत्येवंशीलः । स्वयं आत्मा ज्योतिश्चक्षुर्यस्येति, प्रकाशकत्वात् स्वयं सूर्य इत्यर्थः । अचिन्त्यः अवाङ्मानसगोचर आत्मा स्वरूपं यस्येति अचिन्त्यस्वरूपः । अमिता प्रभा केवलज्ञानस्वरूपं तेजो यस्येति । अथवा अमिता प्रभा कोटिभास्कर-कोटिचन्द्रसमानशरीरतेजो यस्येति ॥२९॥

ज्ञनोंमें आप सर्वश्रेष्ठ हैं, अतः विदांवर हैं (७१) । भूत अर्थात् सत्यार्थ स्वरूप को आपके आत्मा ने प्राप्त कर लिया है, अतः आप भूतात्मा हैं (७३) । सहज अर्थात् स्वाभाविक केवलज्ञानरूप ज्योतिके धारक होनेसे आप सहजज्योति कहलाते हैं (७४) । अपने अनन्त ज्ञान-दर्शनसे समस्त विश्वके ज्ञाता-द्रष्टा हैं और सर्वलोकके लोचनस्वरूप हैं, अतः योगीजन आपको विश्वज्योति कहते हैं (७५) । इन्द्रिय-ज्ञानसे अतीत हैं, अतः अतीन्द्रिय हैं (७६) ।

अर्थ—हे प्रकाशपुञ्ज, आप केवली हैं, केवलालोक हैं, लोकालोकविलोकन हैं, विविक्त हैं, केवल हैं, अव्यक्त हैं, शरण्य हैं, अचिन्त्यवैभव हैं, विश्वभृत् हैं, विश्वरूपात्मा हैं, विश्वात्मा हैं, विश्वतोमुख हैं, विश्वव्यापी हैं, स्वयंज्योति हैं, अचिंत्यात्मा हैं, और अमितप्रभ हैं ॥२८-२९॥

व्याख्या—केवल अर्थात् केवलज्ञानके धारक होनेसे मुनिजन आपको केवली कहते हैं (७७) । केवल नाम पर-सहाय-रहित एकमात्र अकेलेका है, आपका आलोक अर्थात् ज्ञानरूप उद्योत इन्द्रिय-रहित है; अतः आप केवलालोक कहलाते हैं (७८) । लोक और अलोकके अवलोकन करनेसे आप लोकालोकविलोकन कहलाते हैं (७९) । सर्व विषयोंसे आप पृथग्भूत हैं, अतएव साधुजन आपको विविक्त कहते हैं (८०) । आप सदा काल पर-सहाय-रहित एकाकी हैं, अतः केवल हैं । अथवा के अर्थात् आपके आत्मामें अनन्त बल हैं अतएव आप केवल कहलाते हैं (८१) । आप इन्द्रिय और मनके अगम्य हैं, अतः अव्यक्त कहलाते हैं (८२) । शरणागतको शरण देकर उनके दुख दूर करते हैं अतः शरण्य कहे जाते हैं (८३) । आपका वैभव अचिन्त्य है अर्थात् मनके अगम्य है, इसलिए ज्ञानीजन आपको अचिन्त्य-वैभव कहते हैं (८४) । हे विश्वके ईश्वर, आप धर्मोपदेशके द्वारा सारे विश्वका भरण-पोषण करते हैं, अतएव आप विश्वभृत् हैं (८५) । लोकपूरणसमुद्घातके समय आपके आत्माके प्रदेश सारे विश्वमें फैल जाते हैं, इसलिए आप विश्वरूपात्मा कहलाते हैं । अथवा जाननेकी अपेक्षा जीवादि पदार्थ जिसमें प्रवेश करते हैं, ऐसा केवलज्ञान भी विश्व शब्दसे कहा जाता है, उसरूप आपका आत्मा है इसलिए भी आप विश्वरूपात्मा हैं (८६) । जिस प्रकार चक्षुमें लगा हुआ काजल चक्षु शब्दसे और प्रस्थ-प्रमित धान्य प्रस्थ शब्दसे कहा जाता है, उसी प्रकार विश्वमें स्थित प्राणिगण भी विश्व शब्दसे कहे जाते हैं । ऐसे विश्वको आप अपने समान मानते हैं, अतः आपको लोग विश्वात्मा कहते हैं । अथवा विश्व नाम केवलज्ञानका है । केवलज्ञान ही आपकी आत्माका स्वरूप है, इस-

महौदार्यो महाबोधिर्महालाभो महोदयः । महोपभोगः सुगतिर्महाभोगो महाबलः ॥३०॥
॥ इति सर्वज्ञशतम् ॥

महत् औदार्यं दानशक्तिर्यस्येति, भगवान निर्ग्रन्थोऽपि सन् वांछितफलप्रदायक इत्यर्थः । महती बोधि-वैराग्यं रत्नत्रयप्राप्तिर्वा यस्येति । महान् लाभो नवकेवललब्धिलक्षणो यस्येति । महान् तीर्थंकरनामकर्मणः उदयो विपाको यस्येति । महान् उपभोगः सच्छत्र-चामर-सिंहासनाशोकतरुप्रमुखो मुहुर्भोग्यं समवशरणादिलक्षणं वस्तु यस्येति । शोभना मतिः केवलज्ञानं यस्येति । महाभोगः गन्धोदकवृष्टिः पुष्पवृष्टिः शीतलमृदुसुगन्धपृषतो वातादि-लक्षणो भोगः सकृद् भोग्यं वस्तु यस्येति । महत् बलं समस्तवस्तुपरिच्छेदकलक्षणं केवलज्ञानं यस्येति ॥ ३० ॥
॥ इति सर्वज्ञशतम् ॥

लिए भी आप विश्वात्मा कहलाते हैं (८७)। समवसरण-स्थित जीवोंको विश्वतः अर्थात् चारों ओर आपका मुख दिखाई देता है, अतः आप विश्वतोमुख कहे जाते हैं। अथवा विश्वतोमुख जलका भी नाम है, क्योंकि उसका कोई एक अग्र भाग निश्चित न होनेसे सर्व ओर उसका मुख माना जाता है। जिस प्रकार जल वस्त्रादिके मैलका प्रक्षालन करता है, तृषितोंकी प्यास शान्त करता है और निर्मल स्वरूप होता है, उसी प्रकार आप भी जगज्जनोंके अनन्त भव-संचित पापमलको प्रक्षालन करते हैं, विषय-जनित तृषाका निवारण करते हैं और स्वयं निर्मल-स्वरूप रहते हैं, इसलिए भी योगिजन आपको विश्वतोमुख कहते हैं। अथवा आपका मुख संसारका तस्यति अर्थात् निरा-करण करता है, इसलिए भी आप विश्वतोमुख कहलाते हैं। अथवा केवलज्ञानके द्वारा सर्वाङ्गसे आप सारे विश्वको जानते हैं, इसलिए भी आप विश्वतोमुख कहे जाते हैं (८८)। जाननेकी अपेक्षा आप सारे विश्वमें व्याप्त हैं, अथवा लोकपूरण दशामें आपके प्रदेश सारे विश्वमें व्याप्त हो जाते हैं, इसलिए आप विश्वव्यापी कहलाते हैं (८९)। स्वयं प्रकाशमान होनेसे आप स्वयंज्योति कहलाते हैं (९०) आपके आत्माका स्वरूप अचिन्त्य अर्थात् मन और वचनके अगोचर है अतः आप अचिन्त्यात्मा हैं (९१)। केवलज्ञानरूप आन्तरिक प्रभा भी आपकी अपरिमित है और शारीरिक प्रभा भी कोटि सूर्य और कोटि चन्द्रकी प्रभाको लज्जित करनेवाली है अतः आप अमितप्रभ कहलाते हैं (९२)।

अर्थ—हे विश्वेश्वर, आप महौदार्य हैं, महाबोधि हैं, महालाभ हैं, महोदय हैं, महोपभोग हैं, सुगति हैं, महाभोग हैं और महाबल हैं ॥३०॥

व्याख्या—हे भगवन्, आपकी औदार्य अर्थात् दानशक्ति महान् है, क्योंकि वैराग्यके समय आप सर्व सम्पदाका दान कर देते हैं और आर्हन्त्यदशामें निरन्तर अनन्त प्राणियोंको अभय दान देते हैं, इसलिए आप महौदार्य हैं (९३)। रत्नत्रयकी प्राप्तिको बोधि कहते हैं। आप महा बोधिके धारक हैं, अतः मुनिजन आपको महाबोधि कहते हैं (९४)। नवकेवललब्धिरूप महान् लाभके धारक हैं अतः आप महालाभ नामसे प्रख्यात हैं (९५)। तीर्थंकरप्रकृतिके महान् उदयके धारक होनेसे आप महोदय कहलाते हैं। अथवा महान् उत्कृष्ट अय अर्थात् शुभावह विधिके धारक हैं। अथवा कदाचित् भी अस्तंगत नहीं होनेवाले केवलज्ञानरूप सूर्यके महान् उदयके धारक हैं। अथवा महस् नाम तेजका है और द शब्द दयाका सूचक है। आपकी दया केवलज्ञानरूप तेजसे युक्त है, इसलिए भी आप महोदय कहलाते हैं (९६)। छत्र, चामर, सिंहासनादि महान् उपभोगके धारक होनेसे महोपभोग कहलाते हैं (९७)। शोभन गति अर्थात् केवलज्ञानके धारक होनेसे अथवा श्रेष्ठ पंचमगति मोक्षके धारक होनेसे आप सुगति कहलाते हैं (९८)। गन्धोदकवृष्टि, पुष्पवृष्टि आदि महान् भोगके धारण करनेसे तथा प्रतिसमय अनन्यसाधारण शरीर-स्थितिके कारणभूत परम पवित्र नोकर्मरूप पुद्गल परमाणुओंको ग्रहण करनेसे आप महाभोग कहे जाते हैं (९९)। बाल्यावस्थामें संगम नामक देवके गर्वको खर्व करनेसे तथा आर्हन्त्यावस्थामें अनन्त बलशाली होनेसे आपको मुनिजन महाबल कहते हैं (१००)।

इसप्रकार द्वितीय सर्वज्ञशतक समाप्त हुआ।

(३) अथ यज्ञार्हशतम्—

यज्ञार्हो भगवानर्हन्महार्हो मघवार्चितः । भूतार्थयज्ञपुरुषो भूतार्थक्रतुपूरुषः ॥ ३१ ॥
पूज्यो भट्टारकस्तत्रभवानत्रभवान्महान् । महामहार्हस्तत्रायुस्ततो दीर्घायुरर्घ्यवाक् ॥ ३२ ॥

जिनानां यजनं यज्ञः, याचिविच्छिप्रच्छियजिस्वपिरक्षियतां नङ् । यज्ञं इन्द्र-धरणेन्द्र-नागेन्द्रादिकृता-महर्णां पूजामनन्यसंभाविनीमर्हतीति यज्ञार्हः, कर्मण्यण् । भगो ज्ञानं परिपूर्णैश्वर्यं तपः श्रीर्वैराग्यं मोक्षश्च विद्यते यस्य स तथोक्तः । इन्द्रादिकृतामनन्यसंभाविनीमर्हणामर्हतीति योग्यो भवतीति । महस्य यज्ञस्य अर्हो योग्यः, अथवा महमर्हतीति, कर्मण्यण् । अथवा महांश्चासावर्हः महार्हः, अर्हः प्रशंसायामिति साधुः । मघवता मघोना वा शतक्रतुना शक्रेण इन्द्रेण इन्द्रस्य वा अर्चितः पूजितः । अथवा मघं कैतवं कपटं वायन्ति शोषयन्ते ये ते मघवाः जैनाः दिगम्बराः, तैरर्चितः मघवार्चितः । श्वन् युवन् मघोनां च शौ च, मघवान् मघवा वा । भूतार्थः सत्यार्थः यज्ञपुरुषः यज्ञार्हः पुरुषः अर्हः भूतार्थयज्ञपुरुषः । भूतार्थः सत्यार्थः क्रतुपूरुषः यज्ञपुरुषः ॥३१॥ पूजायां नियुक्तः । भट्टान् पंडितान् आरयति प्रेरयति स्याद्वादपरीक्षार्थमिति भट्टारकः । पूज्यः, पूज्यः, पूज्यः, महापूजायोग्यः इति । अर्हण्यम्यः । पूज्यः, पूज्यः, अर्घ्या पूज्या वाग् यस्य सः ॥३२॥

अर्थ—हे महामह्य, आप यज्ञार्ह हैं, भगवान् हैं, अर्हन् है, महार्ह हैं, मघवार्चित हैं, भूतार्थयज्ञपुरुष हैं, भूतार्थक्रतुपूरुष हैं, पूज्य हैं, भट्टारक हैं, तत्रभवान् हैं, अत्रभवान् हैं, महान् हैं, महामहार्ह हैं, तत्रायु हैं, दीर्घायु हैं, अर्घ्यवाक् हैं ॥३१-३२॥

व्याख्या—हे जगत्पूज्य जिनेन्द्र, आप ही इन्द्र, नरेन्द्र, धरणेन्द्रादि के द्वारा की जानेवाली पूजा के योग्य हैं, अतः यतिजन आपको यज्ञार्ह कहते हैं (१) । भगशब्द ऐश्वर्य, परिपूर्ण ज्ञान, तप, लक्ष्मी, वैराग्य और मोक्ष इन छह अर्थोंका वाचक है, आप इन छहोंसे संयुक्त हैं, अतः योगिजन आपको भगवान् कहते हैं, (२) । आप अन्य जनोंमें नहीं पाई जानेवाली पूजाके योग्य होनेसे अर्हन् कहलाते हैं । अथवा अकारसे मोहरूप अरिका, रकारसे ज्ञानावरण और दर्शनावरणरूप रजका, तथा रहस्य अर्थात् अन्तराय कर्मका ग्रहण किया गया है । हे भगवान्, आपने इन चारों ही घातिया कर्मोंका हनन करके अरहन्त पद प्राप्त किया है इसलिए आप अर्हन्, अरहन्त और अरिहन्त इन नामोंसे पुकारे जाते हैं, (३) । आप मह अर्थात् पूजनके योग्य हैं, अथवा महान् योग्य हैं, इसलिए आप महार्ह हैं (४) । मघवा नाम इन्द्रका है, आप गर्भादि कल्याणकोंमें इन्द्रके द्वारा अर्चित हैं, इसलिए मघवार्चित कहलाते हैं । अथवा मघ नाम छल-कपटका है उसे जो वायन अर्थात शोषण करते हैं वे मघवा अर्थात् दिगम्बर जैन कहलाते हैं । उनके द्वारा आप पूजित हैं, इसलिए भी आप मघवार्चित कहलाते हैं, (५) । यज्ञ और क्रतु एकार्थवाचक हैं भूतार्थ अर्थात् सत्यार्थ यज्ञके योग्य आप ही सत्य पुरुष हैं, इसलिए आप भूतार्थयज्ञपुरुष और भूतार्थक्रतुपूरुष कहे जाते हैं (६-७) पूजाके योग्य होनेसे आप पूज्य हैं (८) । भट्ट अर्थात् विद्वानोंको आप स्याद्वादकी परीक्षाके लिए प्रेरणा करते हैं अतः आप भट्टारक कहलाते हैं (९) । तत्रभवान् और अत्रभवान् ये दोनों पद पूज्य अर्थ में प्रयुक्त होते हैं । आप सर्व जगत्में पूज्य हैं अतः तत्रभवान् और अत्रभवान् कहे जाते हैं (१०-११) । सर्व श्रेष्ठ होनेसे महान् कहलाते हैं (१२) । महान् पूजनके योग्य होनेसे महामहार्ह कहलाते हैं (१३) । तत्रायु और दीर्घायु ये दोनों पद पूज्य अर्थके वाचक हैं । आप त्रैलोक्य-पूज्य हैं अतः तत्रायु और दीर्घायु कहलाते हैं (१४-१५) । आपकी दिव्यध्वनिरूप वाणी सर्वजनोंसे अर्घ्य अर्थात् पूज्य है, अतः आप अर्घ्यवाक् हैं (१६) ।

आराध्यः परमाराध्यः पंचकल्याणपूजितः । दृग्विशुद्धिगणोदग्रो वसुधारार्चितास्पदः ॥ ३३ ॥
सुस्वप्नदर्शी दिव्यौजाः शचीसेवितमातृकः । स्याद्रत्नगर्भः श्रीपूतगर्भो गर्भोत्सवोच्छ्रितः ॥ ३४ ॥
दिव्योपचारोपचितः पद्मभूर्निष्कलः स्वजः । सर्वीयजन्मा पुण्यांगो भास्वानुद्भूतदैवतः ॥३५॥
विश्वविज्ञातसंभूतिर्विश्वदेवागमाद्भुतः । शचीसृष्टप्रतिच्छन्दः सहस्राक्षदृगुत्सवः ॥३६॥

पूज्यः, परमैरिन्द्रादिभिराराध्यते परमाराध्यः, परमश्चासावाराध्यः परमाराध्यः । पंचसु कल्याणेषु गर्भावतार-जन्माभिषेक-निःक्रमण-ज्ञान-निर्वाणेषु पूजितः । दृशः सम्यक्त्वस्य विशुद्धिर्निरतीचारता यस्य गणस्य द्वादशभेदगणस्य स दृग्विशुद्धिः, दृग्विशुद्धिश्चासौ गणः तस्मिन् उदग्रः उत्कर्षेण मुख्यः । वसुधाराभिः रत्नसुवर्णादिधनवर्षणैरर्चितं पूजितं आस्पदं मातुरंगणं यस्येति ॥३३॥ सुष्ठु शोभनान् स्वप्नान् मातुर्दर्शयतीति । दिव्यं अमानुषं ओजोऽवष्टम्भो दीप्तिः प्रकाशो बलं धातुः तेजो वा यस्य । शच्या शक्रस्य महादेव्या सेविता आराधिता माता अम्बिका यस्य, नद्यन्तात् ऋदंतात् शेषाद्वा बहुव्रीहौ कः । गर्भेषु उत्तमो गर्भः रत्नगर्भः, रत्नैरुपलक्षितो गर्भो वा यस्य स रत्नगर्भः, नवमासेषु रत्नवृष्टिसंभवात् । श्रीशब्देन श्री-ह्री-धृति-कीर्ति-बुद्धि-लक्ष्मी-शान्ति-पुष्टिप्रभृतयो दिक्कुमार्यो लभ्यन्ते । श्रीभिः पूतः पवित्रितः गर्भो मातुरुदरं यस्य । गर्भस्य उत्सवो गर्भकल्याणं देवैः कृतं, तेनोच्छ्रतः उन्नतः ॥३४॥

दिव्येन देवोपनीतेनोपचारेण पूजया उपचितः पुष्टिं प्राप्तः, वा पुष्टिं नीतः । पद्मैरुपलक्षिता

अर्थ—हे महामह, आप आराध्य हैं, परमाराध्य हैं पंचकल्याणपूजित हैं, दृग्विशुद्धिगणोदग्र हैं, वसुधारार्चितास्पद हैं, सुस्वप्नदर्शी हैं, दिव्यौज हैं, शचीसेवितमातृक हैं, रत्नगर्भ हैं, गर्भोत्सवोच्छ्रित हैं ॥३३–३४॥

व्याख्या—निरन्तर आराधनाके परम योग्य हैं, अतः आराध्य कहलाते हैं (१७)। विभवशाली इन्द्रादिकोंके द्वारा आराधनाके योग्य होनेसे परमाराध्य कहे जाते हैं (१८)। गर्भावतार आदि पंच कल्याणकोंमें सर्व जगत्‌के द्वारा पूजे जाते हैं अतः पंचकल्याणपूजित कहलाते हैं (१९)। सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि युक्त द्वादश भेद रूप गणमें प्रमुख होनेसे आपको लोग दृग्विशुद्धिगणोदग्र कहते हैं (२०)। वसुधारा अर्थात् रत्न, सुवर्ण आदि धनकी वर्षाके द्वारा जन्मभूमिरूप आस्पद अर्थात् माताके भवनका आंगण इन्द्रादिकोंके द्वारा पूजा जाता है, अतः आप वसुधारार्चितास्पद कहलाते हैं (२१)। गर्भमें आनेके पूर्व आप माताको सुन्दर सोलह स्वप्नोंके दर्शक हैं अतः सुस्वप्नदर्शी कहलाते हैं (२२)। ओज शब्द दीप्ति, प्रकाश, बल और तेजका वाचक है। आप मनुष्योंमें नहीं पाये जानेवाले ओजके धारक हैं, अतः दिव्यौज हैं (२३)। शची अर्थात् सौधर्मेन्द्रकी इन्द्राणीके द्वारा आपकी माताकी गर्भ और जन्मके समय सेवाकी जाती है अतः आप शचीसेवितमातृक कहलाते हैं (२४)। गर्भोंमें उत्तम गर्भको रत्नगर्भ कहते हैं। आपका माताके उदर रूप गर्भमें निवास सर्व-श्रेष्ठ है अतः आप रत्नगर्भ कहलाते हैं। अथवा नव मास तक गर्भमें रहनेके समय रत्नोंकी वर्षा होती रहनेसे आपको रत्नगर्भ कहा जाता है (२५)। श्री, ह्री, धृति आदि दिक्कुमारियोंके द्वारा आपकी माताका गर्भ पवित्र किया जाता है अतः आपको श्रीपूतगर्भ कहते हैं (२६)। आपके गर्भ में आनेका उत्सव देवोंके द्वारा किया जाता है, अतः आपको लोग गर्भोत्सवोच्छ्रित कहते हैं (२७)।

अर्थ—दिव्योपचारोपचित हैं, पद्मभू हैं, निष्कल हैं, स्वज हैं, सर्वीयजन्मा हैं, पुण्यांग हैं, भास्वान हैं, और उद्भूतदैवत हैं, विश्वविज्ञातसंभूति हैं, विश्वदेवागमाद्भुत हैं शचीसृष्ट-प्रतिच्छन्द हैं, सहस्राक्षदृगुत्सव हैं ॥३५–३६॥

व्याख्या-हे जिनेश्वर, आप देवोपनीत दिव्य पूजारूप उपचारसे गृहस्थावस्थामें पुष्टिक प्राप्त हुए हैं, अतः दिव्योपचारोपचित कहलाते हैं (२८)। आपके गर्भ-कालमें माताके भवनका आंगण पद्मोंसे व्याप्त रहता है अतः आप पद्मभू हैं। अथवा गर्भकालमें आपके दिव्य पुण्यके प्रभावसे गर्भाशयमें एक कमलकी रचना होती है, उसकी कर्णिका पर एक सिंहासन होता है, उस

नृत्यदैरावतासीनः सर्वशक्रनमस्कृतः । हर्षाकुलामरखगश्चारणर्षिमतोत्सवः ॥३७॥

भूर्मातुरंगणं यस्येति । अथवा मातुरुदरे स्वामिनो दिव्यशक्त्या कमलं भवति, तत्कर्णिकायां सिंहासनं भवति, तस्मिन् सिंहासने स्थितो गर्भरूपो भगवान् वृद्धिं याति इति कारणात् पद्मभूर्भगवान् भण्यते । निर्गता कला कालो यस्येति । स्वेन आत्मना जायते उत्पद्यते स्वानुभूत्या प्रत्यक्षीभवति । अथवा शोभनो रागद्वेष-मोहादिरहितः अजो ब्रह्मा स्वजः । सर्वेभ्यो हितं सर्वीयं, सर्वीयं जन्म यस्येति । पुण्यं पुण्योपार्जन-हेतुभूतमंगं शरीरं यस्येति । भास्यो दीप्तयो विद्यन्ते यस्येति, चन्द्रार्ककोटेरपि अधिकतेजा इत्यर्थः । उद्भूतं उदयमागतं उत्कृष्टभूतं वा दैवतं पुण्यं यस्य सः । विश्वस्मिन् त्रिभुवने विज्ञाता संभूतिर्जन्म यस्येति । विश्वेषां भवनवासि-व्यन्तर-ज्योतिष्क-कल्पवासिनां देवानां आगमेन आगमनेन सेवोपढौकनेन अद्भुतमाश्चर्यं यस्मात् लोकानां स तथोक्तः । शच्या इन्द्राण्या सृष्टो विक्रियया कृतः प्रतिच्छंदः प्रतिकायो मायामयबालको यस्य स तथोक्तः । सहस्राक्षस्य इन्द्रस्य दशां लोचनानां उत्सवः आनन्दो यस्मादिति ॥३६॥ नृत्यन् नर्तनं कुर्वन् योऽसावैरावतः, तस्मिन् आसीन उपविष्टः । सर्वै द्वात्रिंशता शक्रैर्देवेन्द्रैर्नमस्कृतः प्रणामविषयीकृतः । अमराश्च खगाश्च अमरखगाः, हर्षेण जन्माभिषेकावलोकनार्थं आकुला आधीनाः हर्षाकुलाः आनन्देन उत्सुकाः विह्वलीभूताः परमधर्मानुरागं प्राप्ता अमर-खगाः यस्येति । चारणर्षीणां मतोऽभीष्टः उत्सवो जन्माभिषेककल्याणं यस्येति ॥३७॥

पर अवस्थित गर्भरूप भगवान् वृद्धिको प्राप्त होते हैं, इस कारणसे लोग भगवानको पद्मभू, अब्जभू आदि नामोंसे पुकारते हैं (२९)। कला अर्थात् समयकी मर्यादासे रहित अनादि-निधन हैं, अतः आप निष्कल हैं। अथवा निश्चित कला-कौशलरूप विज्ञानसे युक्त हैं इसलिए भी लोग आपको निष्कल कहते हैं। अथवा कल शब्द रेतस् अर्थात् वीर्यरूप धातुका भी वाचक है, आपमेंसे काम-विकार सर्वथा निकल गया है, अतः आप निष्कल अर्थात् काम-विकार-रहित हैं। अथवा कल नाम अजीर्णका भी है, आप कवलाहारसे रहित हैं इसलिए भी आप निष्कल हैं। अथवा निष्क अर्थात् रत्नसुवर्णको रत्नवृष्टि, पंचाश्चर्य आदिके समय भूतल पर लाते हैं, इसलिए भी लोग आपको निष्कल कहते हैं। अथवा निष्क नाम हारका भी है। आप राज्यकालमें एक हजार लड़ीके हारको अपने वक्षःस्थल पर धारण करते हैं, इसलिए भी आप निष्कल कहलाते हैं (३०)। आप स्व अर्थात् अपने आप जन्म लेते हैं, यानी स्वानुभूतिसे प्रत्यक्ष प्रगट होते हैं, इसलिए आप स्वज कहलाते हैं। अथवा राग-द्वेष-मोहादिसे रहित सु अर्थात सुन्दर अज (ब्रह्मा) हैं, इसलिए भी आपको लोग स्वज (सु+अज) कहते हैं (३१)। आपका जन्म सर्वीय अर्थात् सबका हितकारक है, इसलिए आप सर्वीयजन्मा कहलाते हैं। क्योंकि, आपके जन्म-समय औरोंकी तो बात क्या, नारकियोंको भी एक क्षणके लिए सुख प्राप्त होता है (३२)। आपका शरीर जगज्जनोंको पुण्यके उपार्जनका कारणभूत है, अतः आप पुण्यांग कहलाते हैं। अथवा आपके शरीर के अंग पवित्र हैं, मल-मूत्र-रहित हैं, इसलिए भी आप पुण्यांग कहलाते हैं। अथवा आपके द्वारा उपदिष्ट आचारांगादि द्वादश श्रुतके अंग पुण्य-रूप हैं, पूर्वापर-विरोधसे रहित हैं, इस कारण भी लोग आप को पुण्यांग कहते हैं। अथवा आपकी सेनाके अंगभूत हस्ती, अश्व आदि ऊर्ध्वगामी होनेसे पाप-रहित हैं, पुण्यरूप हैं, इसलिए भी आप पुण्यांग कहलाते हैं (३३)। आप कोटि चन्द्र-सूर्यसे भी अधिक दीप्ति और तेजके धारक हैं अतः भास्वान् कहलाते हैं (३४)। आपके सर्वोत्कृष्ट दैव अर्थात् पुण्यका उदय प्राप्त हुआ है अतः आप उद्भूतदैवत कहलाते हैं। अथवा उद्भूत अर्थात् अनन्तानन्त भवोपार्जित दैवके तक्षण (क्षय) करनेके कारण भी आप उद्भूतदैवत कहलाते हैं। अथवा उत् अर्थात् उत्कृष्ट भूतोंके इन्द्रादिकोंके भी आप देवता हैं, इसलिए भी आप उद्भूतदैवत कहलाते हैं (३५)।

अर्थ—हे जिनेश, आप नृत्यदैरावतासीन हैं, सर्वशक्रनमस्कृत हैं, हर्षाकुलामरखग हैं

व्योम विष्णुपदारक्षा स्नानपीठायिताद्रिराट् । तीर्थेशंमन्यदुग्धाब्धिः स्नानाम्बुस्नातवासवः ॥३८॥
गन्धाम्बुपूतत्रैलोक्यो वज्रसूचीशुचिश्रवाः । कृतार्थितशचीहस्तः शक्रोद्घुष्टेष्टनामकः ॥३९॥

विशेषेण अवति रक्षति प्राणिवर्गानिति व्योम । वेवेष्टि व्याप्नोति लोकमिति विष्णुः प्राणिवर्गः, 'विषेः किच्च' इत्यनेन नुप्रत्ययः । विष्णोः प्राणिवर्गस्य पदानि चतुर्दशमार्गणास्थानानि (गुणस्थानानि) च तेषामासमन्तात् रक्षा विष्णुपदारक्षा, परमकारुणिकत्वात् स्वामिनः । व्योम विष्णुपदारक्षा इति नामद्वयं आविष्टलिंगं ज्ञातव्यम् । स्नानस्य जन्माभिषेकस्य पीठं चतुष्किका, तदिवाचरति स्म स्नानपीठायिता अद्रिराट् मेरुपर्वतो यस्य स तथोक्तः । तीर्थानां जलाशयानामीशः स्वामी तीर्थेशः, तीर्थेशमात्मानं मन्यते तीर्थेशंमन्यः, तीर्थेशंमन्यो दुग्धाब्धिः क्षीरसागरो यस्य स तथोक्तः । स्नानाम्बुना स्नानजलेन स्नातः प्रक्षालितशरीरो वासवो देवेन्द्रो यस्येति ॥३८॥ गन्धाम्बुना ऐशानेन्द्रा (व) र्जितेन गंधोदकेन पुण्यं (पूतं) पवित्रीभूतं त्रैलोक्यं यस्येति । परमेश्वरस्य कर्णौ किल स्वाभाव्येन सच्छिद्रौ भवतः, ऊर्णनामपटलसदृशेन पटलेन झंपितौ च भवतः । पश्चाद्देवेन्द्रो वज्रसूचीं गृहीत्वा तत्पटलं दूरीकरोति, कर्णच्छिद्रे (च) प्रकटीभवतः, तत्र कुण्डले आरोपयति । अयं आचार इति कर्णवेधं करोति । तत्प्रस्तावे इदं भगवतो नाम, यत् सूच्या शुचिनी श्रवसी कर्णौ यस्येति । कृतार्थितौ सफलीकृतौ शच्या इन्द्रमहादेव्या हस्तौ येन स तथोक्तः । शक्रेण उद्घुष्टमुच्चैरुच्चारितं इष्टं सर्वैर्मानितं नाम यस्येति ॥३९॥

और चारणर्षिमतोत्सव हैं ॥३७॥

व्याख्या—संभूति नाम जन्मका है, सारे विश्व में हर्ष उत्पन्न होने के कारण आपका जन्म विश्व-विज्ञात है, इसलिए आप विश्वविज्ञातसंभूति कहलाते हैं। अथवा संभूति नाम समीचीन ऐश्वर्य-विभूतिका भी है। आपका ऐश्वर्य-वैभव विश्व-विदित है, इसलिए भी आप विश्वविज्ञातसंभूति कहलाते हैं (३६)। आपके पांचों कल्याणकोंमें सर्व प्रकारके देवोंका आगमन होनेसे संसार आश्चर्य-चकित होता है, अतः लोग आपको विश्वदेवागमाद्भुत कहते हैं। अथवा आपके पूर्वापर-विरोधरहित आगम (शास्त्र)के श्रवणसे विश्वके देव आश्चर्यसे स्तम्भित रह जाते हैं, इसलिए भी आप विश्वदेवागमाद्भुत कहलाते हैं (३७)। आपके जन्माभिषेकके समय माताके पास सुलानेके लिए शचीके द्वारा प्रतिच्छन्द अर्थात् मायामयी बालकका रूप रचा जाता है, इसलिए आप शचीसृष्टप्रतिच्छन्द कहलाते हैं (३८)। सहस्राक्ष अर्थात् इन्द्रके सहस्र नेत्रोंके लिए आप उत्सव-जनक हैं, अतः योगिजन आपको सहस्राक्षदृगुत्सव कहते हैं (३९)। जन्माभिषेकके समय सुमेरु-गिरि पर जाते और आते समय नृत्य करते हुए ऐरावत हाथी पर आप आसीन अर्थात् विराजमान रहते हैं, इसलिए आपको नृत्यदैरावतासीन कहते हैं (४०)। सर्व शक्रोंसे नमस्कार किये जानेके कारण आप सर्वशक्रनमस्कृत कहे जाते हैं (४१)। आपका जन्माभिषेक देखनेके लिए अमर-गण और खग अर्थात् विद्याधर हर्षसे आकुल-व्याकुल रहते हैं, और देखकर आनन्द-विभोर होते हैं, अतः आप हर्षाकुलामरखग कहलाते हैं (४२)। चारणऋद्धिके धारक ऋषिजनोंके द्वारा भी आपके जन्मका उत्सव मनाया जाता है इसलिए आप चारणर्षिमतोत्सव कहलाते हैं (४३)।

अर्थ—हे विश्वोपकारक, आप व्योम हैं, विष्णुपदारक्ष हैं, स्नानपीठायिताद्रिराट् हैं, तीर्थेशंमन्यदुग्धाब्धि हैं, स्नानाम्बुस्नातवासव हैं, गन्धाम्बुपूतत्रैलोक्य हैं, वज्रसूचीशुचिश्रवा हैं, कृतार्थितशचीहस्त हैं और शक्रोद्घुष्टेष्टनामक हैं ॥३८-३९॥

व्याख्या—हे विश्वके उपकारक, आप विशेषरूपसे जगज्जीवोंकी रक्षा करते हैं, अतः व्योम कहलाते हैं (४४)। विष्णु अर्थात् विश्वव्यापी प्राणिवर्गके गुणस्थान और मार्गणास्थान रूप पदोंके रक्षक होने से विष्णुपदारक्ष कहलाते हैं (४५)। अद्रिराट् अर्थात् गिरिराज सुमेरुपर्वत आपके स्नानके लिए पीठ (चौकी) के समान आचरण करता है, इसलिए साधुजन आपको स्नानपीठायिताद्रिराट्

शक्रारब्धानन्दनृत्यः शचीविस्मापिताम्बिकः । इन्द्रनृत्यन्तपितृको रैदपूर्णमनोरथः ॥४०॥
आज्ञार्थीन्द्रकृतासेवो देवर्षीष्टशिवोद्यमः । दीक्षाक्षणक्षुब्धजगद् भूर्भुवःस्वःपतीडितः ॥४१॥

शक्रेण सौधर्मेन्द्रेण आरब्धं मेरुमस्तके जिनेश्वराग्रे आनन्दनृत्यं भगवज्जन्माभिषेककरणोत्पन्नविशिष्टपुण्यसमुपार्जनसमुद्भूतहर्षनाटकं यस्येति । शच्या इन्द्राण्या सौधर्मेन्द्रपत्न्या विस्मापिता स्वपुत्रवैभवदर्शनेनाश्चर्यं प्रापिता अम्बिका माता यस्येति । नर्तनं नृतिः स्त्रियां क्तिः । इन्द्रस्य नृतिः इन्द्रनृतिः, अन्ते अग्रे पितुर्वभुर्यस्येति । नद्यन्तात् कृदन्तात् शेषा-(द्वा) बहुव्रीहौ कः । रैदेन कुबेरयक्षेण सौधर्मेन्द्रादेशात् पूर्णाः परिपूरिताः समाप्तिं नीताः भोगोपभोगपूरणेन मनोरथा दोहदा यस्येति ॥४०॥

आज्ञा शिष्टिरादेश इति यावत् । आज्ञाया आदेशस्य अर्थी ग्राहकः आज्ञार्थी, स चासाविन्द्रः आज्ञार्थीन्द्रः । आज्ञार्थीन्द्रेण कृता विहिता आसमन्तात् सेवा पर्युपासनं सेवनं यस्येति । देवानां ऋषयो लौकान्तिकाः, देवर्षीणां लौकान्तिकदेवानामिष्टोऽभीष्टो वल्लभः शिवोद्यमः शिवस्य मोक्षस्य उद्यमो यस्येति ।

कहते हैं (४६)। दुग्धाब्धि अर्थात् क्षीरसागर अपने जलके द्वारा आपका जन्माभिषेक किये जानेके कारण अपनेको तीर्थेश अर्थात् जलाशयोंका स्वामी मानता है, इसलिए योगिजन आपको तीर्थेशंमन्यदुग्धाब्धि कहते हैं (४७)। आपके स्नानके जलसे सर्व वासव अर्थात् इन्द्र स्नान करते हैं, इसलिए आप स्नानाम्बुस्नातवासव कहलाते हैं (४८)। जन्माभिषेकके समय ऐशानेन्द्रके द्वारा सर्व ओर छोड़े गये गन्धोदकसे त्रैलोक्य पवित्र हुआ है, इसलिए आप गन्धाम्बुपूतत्रैलोक्य कहलाते हैं (४९)। इन्द्र वज्रसूचीसे आपके कर्णवेधन-संस्कारको करता है इसलिए आप वज्रसूचीशुचिश्रवा कहलाते हैं। यद्यपि भगवान् के कर्ण स्वभाव से ही छेद-सहित होते हैं, पर उनके ऊपर मकड़ीके जालके समान सफेद आवरण रहता है। इन्द्र वज्रमयी सूई हाथमें लेकर उस आवरण-पटलको दूर करता है और उनमें कुंडल पहिनाता है, अतएव यह नाम भगवान् का प्रसिद्ध हुआ है (५०)। जन्माभिषेकके समय इन्द्राणी ही सर्व प्रथम भगवानको माताके पाससे उठाती है। पुनः अभिषेकके पश्चात् वह भगवान्के शरीरको पोंछती है, वस्त्राभरण पहिराती है और चन्दन का तिलक लगाती है। इस प्रकार आपने अपने जन्मके द्वारा शचीके हस्त कृतार्थ किये हैं इसलिए आप कृतार्थितशचीहस्त कहलाते हैं (५१)। शक्रके द्वारा ही सर्वप्रथम आपके इष्ट नामका उद्घोष किया जाता है, इसलिए आप शक्रोद्घुष्टेष्टनामक कहलाते हैं (५२)। मेरुमस्तक पर जन्माभिषेकके पश्चात् इन्द्रके द्वारा आनन्दोत्पादक नृत्य आरम्भ किया जाता है, इसलिए आप शक्रारब्धानन्दनृत्य कहलाते हैं (५३)। शची आपका वैभव दिखाकर माताको विस्मययुक्त करती है, इसलिए आप शचीविस्मापिताम्बिक कहलाते हैं (५४)। सुमेरुगिरिसे आकर इन्द्र आपके पिताके पास ताण्डवनृत्य आरम्भ करता है, इसलिए आप इन्द्रनृत्यन्तपितृक कहलाते हैं (५५)। रैद अर्थात् कुबेरके द्वारा आपके भोगोपभोगके सर्व मनोरथ परिपूर्ण किये जाते हैं इसलिए आप रैदपूर्णमनोरथ कहलाते हैं (५६)। आपकी आज्ञाको मस्तक पर धारण करनेके इच्छुक इन्द्रोंके द्वारा आपकी सेवा-अराधना की जाती है, इसलिए आप आज्ञार्थीन्द्रकृतासेव कहलाते हैं (५७)। देवोंके ऋषि जो लौकान्तिक देव हैं, उन्हें आपके शिव-गमनका उद्यम इष्ट है, अतिवल्लभ है और इसी कारण वे दीक्षा-कल्याणकके समय आपको सम्बोधन कर स्तुति करनेके लिए भूलोकमें आते हैं, इसलिए आप देवर्षीष्टशिवोद्यम कहलाते हैं (५८)। आपके जिन-दीक्षा ग्रहण करनेके समय सारा जगत् क्षोभको प्राप्त हो जाता है, इसलिए आप दीक्षाक्षणक्षुब्धजगत् कहलाते हैं (५९)। भूर् नाम पाताल लोकका है, भुवर् नाम मध्यलोकका और स्वर् नाम ऊर्ध्वलोकका है। आप इन तीनों लोकोंके पतियोंसे पूजित हैं, अतः भूर्भुवःस्वःपतीडित कहे जाते हैं (६०)।

अर्थ—हे त्रिभुवनेश, आप शक्रारब्धानन्दनृत्य हैं, शचीविस्मापिताम्बिक हैं, इन्द्रनृत्यन्तपितृक हैं, रैदपूर्णमनोरथ हैं, आज्ञार्थीन्द्रकृतासेव हैं, देवर्षीष्टशिवोद्यम हैं, दीक्षाक्षणक्षुब्धजगत् हैं, और भूर्भुवःस्वःपतीडित हैं ॥४०-४१॥

कुबेरनिर्मितास्थानः श्रीयुग्योगीश्वरार्चितः । ब्रह्मेड्यो ब्रह्मविद्वेद्यो याज्यो यज्ञपतिः क्रतुः ॥४२॥
यज्ञांगममृतं यज्ञो हविःस्तुत्यः स्तुतीश्वरः । भावो महामहपतिर्महायज्ञोऽग्रयाजकः ॥४३॥

दीक्षाक्षणे निःक्रमणकल्याणे क्षुब्धं क्षोभं प्राप्तं जगत् त्रैलोक्यं यस्येति । भूर् पाताललोकः, भुवर् मध्यलोकः, स्वर् ऊर्ध्वलोकः, तेषां पतयः स्वामिनः भूर्भुवःस्वःपतयः; तैरीडितः स्तुतीनां कोटिभिः कथितः भूर्भुवःस्वःपतीडितः । वैदिकादिका एते शब्दाः रकारान्ताः अव्ययाः ज्ञातव्याः ॥४१॥

कुबेरेण ऐलविलेन राजराजेन शक्रभांडागारिणा धनदयक्षेण निर्मितं सृष्टं आस्थानं समवशरणं यस्येति । श्रियं नवनिधिलक्षणां द्वादशद्वारेषु दीनजनदानार्थं वा युनक्ति । अथवा श्रियां अभ्युदयनिःश्रेयसलक्षणोपलक्षितां लक्ष्मीं युनक्ति योजयति भक्तानामिति । यम-नियमासन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधि-लक्षणा अष्टौ योगा विद्यन्ते येषां ते योगिनः, योगिनां मुनीनां ईश्वरा गणधरदेवादयः, तैरर्चितः पूजितः । ब्रह्म-भिरहमिन्द्रैरीड्यः, स्वस्थानस्थितैः स्तूयते । अथवा ब्रह्मनाम्ना मायाविना विद्याधरेण ईड्यः । अथवा ब्रह्मणा ज्ञानेन द्वादशांगेन ईड्यः । ब्रह्माणं आत्मानं वेत्तीति । वेदे ज्ञाने नियुक्तः, अथवा वेदितुं योग्यः । यज्यते याज्यः, स्वराद्यः । यज्ञस्य पतिः स्वामी । क्रियते योगिभिर्ध्यानेन प्रकटो विधीयते ॥४२॥

यज्ञस्य अंगं अस्युपायः, स्वामिनं विना पूज्यो जीवो न भवतीति । आविष्टलिंगं नामेदं । मरणं मृतं, न मृतं अमृतं, मृत्युरहितं इत्यर्थः, आविष्टलिंगमिदं नाम । इज्यते पूज्यते । हूयते निजात्मनि लक्ष्यतया दीयते । स्तोतुं योग्यः । स्तुतेरीश्वरः स्तुतीश्वरः, स्तुतौ स्तुतिकरणे ईश्वरा इन्द्रादयो यस्य स तथोक्तः । समवसरण-विभूतिमंडितत्वात् भावः । अथवा यः पुमान् विद्वान् भवति स भावः कथ्यते, स्वर्ग-मोक्षावि (दि?) कारण-

अर्थ—हे स्वामिन्, आप कुबेरनिर्मितास्थान हैं, श्रीयुक् हैं, योगीश्वरार्चित हैं, ब्रह्मेड्य हैं, ब्रह्मवित् हैं, वेद्य हैं, याज्य हैं, यज्ञपति हैं, क्रतु हैं यज्ञांग हैं, अमृत हैं, यज्ञ हैं, हवि हैं, स्तुत्य हैं, स्तुतीश्वर हैं, भाव हैं, महामहपति हैं, महायज्ञ हैं और अग्रयाजक हैं ॥४२-४३॥

व्याख्या—हे त्रिभुवनके ईश, आपका आस्थान अर्थात् समवसरण कुबेरके द्वारा रचा जाता है, अतः आप कुबेरनिर्मितास्थान कहे जाते हैं (६१)। आप अपने भक्तोंको निःश्रेयस-अभ्युदयस्वरूप लक्ष्मीसे युक्त करते हैं, स्वयं अन्तरंग अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीसे और वहिरंग समवसरणरूप लक्ष्मी से युक्त हैं और द्वादश द्वारों पर स्थापित नव निधियोंके द्वारा दीन जनोंको धनादि लक्ष्मीसे युक्त करते हैं, अतएव आप श्रीयुक् कहलाते हैं (६२)। अष्टांग योगके धारण करनेवाले साधु योगी कहलाते हैं, उनके ईश्वर गणधरादिसे आप पूजित हैं, इसलिए आप योगीश्वरार्चित कहलाते हैं। अथवा स्त्रीके संयोगसे युक्त महादेवको जगज्जन योगीश्वर कहते हैं, उसके द्वारा भी आप अर्चित हैं। ऐसा कहा जाता है कि जब महावीरस्वामी उज्जयिनीके स्मशान-में रात्रिके समय कायोत्सर्गसे स्थित थे, उस समय पार्वती-सहित महादेवने आकर उनकी परीक्षाके लिए नाना प्रकारके घोर उपसर्ग किये। परन्तु जब वह भगवान्को चल-विचल न कर सके, तब उनके चरणोंमें गिर पड़े और 'महति-महावीर' नाम देकर तथा नाना प्रकारसे उनकी पूजा करके चले गये (६३)। ब्रह्म अर्थात् अहमिन्द्रोंके द्वारा स्वस्थानसे ही आप पूजे जाते हैं, इसलिए आप ब्रह्मेड्य कहलाते हैं। अथवा ब्रह्म नामक एक मायावी विद्याधरके द्वारा पूजे जानेसे भी आप ब्रह्मेड्य कहलाते हैं। अथवा ब्रह्म नाम द्वादशांग श्रुतज्ञान का भी है, उसके द्वारा पूज्य होनेसे भी ब्रह्मेड्य कहलाते हैं (६४)। ब्रह्म अर्थात् आत्मस्वरूपके जाननेवाले हैं, इसलिए आप ब्रह्मवित् हैं (६५)। आप सदैव योगिजनोंके द्वारा भी जानने योग्य हैं, अतः वेद्य हैं (६६)। यज्ञ अर्थात् पूजनके योग्य हैं, अतः याज्य कहलाते हैं (६७)। यज्ञके स्वामी होनेसे यज्ञपति कहलाते हैं (६८)। योगियोंके द्वारा ध्यानावस्थामें प्रकट किये जाते हैं, अतः क्रतु कहलाते हैं (६९)। आप यज्ञ के अंग हैं, क्योंकि आपके विना कोई जीव पूज्य नहीं होता, अतः आप यज्ञाङ्ग हैं (७०)। आप मृत अर्थात् मरणसे रहित

दयायागो जगत्पूज्यः पूजार्हो जगदर्चितः । देवाधिदेवः शक्रार्च्यो देवदेवो जगद्गुरुः ॥४४॥

भूतत्वात् । अथवा शब्दानां प्रवृत्तिहेतुत्वात् भावः, भगवन्तं विना शब्दाः कुतः प्रवर्तन्ते । महामहस्य महापूजायाः पतिः स्वामी, अथवा महस्य यज्ञस्य पतिर्महपतिः महांश्चासौ महपतिश्च महामहपतिः । महान् घातिकर्मसमिद्धोमलक्षणो यज्ञो यस्य स तथोक्तः । अग्रः श्रेष्ठोऽधिको प्रथमो वा याजको यज्ञकर्त्ता ॥४३॥

दया सगुण-निर्गुणसर्वप्राणिवर्गाणां करुणा यागः पूजा यस्य स दयायागः । जगतां त्रिभुवनस्थितभव्यजीवानां पूज्यः । पूजाया अष्टविधार्चनस्य अर्हो योग्यः । जगतां त्रैलोक्यस्थितभव्यप्राणिनां अर्चितः पूजितः । देवानां इन्द्रादीनामधिको देवः । शक्नुवंतीति शक्रा द्वात्रिंशदिन्द्रास्तेषामर्च्य पूज्यः । देवानामिन्द्रादीनामाराध्यो देवः । अथवा देवानां राज्ञां देवो राजा देवदेवः, राजाधिराज इत्यर्थः । अथवा देवानां मेघकुमाराणां देवः परमाराध्यः । जगतां जगति स्थितप्राणिवर्गाणां गुरुः पिता धर्मोपदेशको वा महान् ॥४४॥

हैं, अतः अमृत कहलाते हैं । अमृत नाम रसायनका भी है, क्योंकि वह भी जरा और मरणको दूर करता है । अमृत नाम जलका भी है । आप भी संसार, शरीर और भोगरूप तृष्णाको निवारण करते हैं, तथा जलके समान निर्मल स्वभावके धारक हैं । अथवा अनन्त सुखका दायक होनेसे मोक्षका भी नाम अमृत है । तथा अमृत शब्द यज्ञशेष, गोरस, घृत, आकाश, सुवर्ण आदि अनेक अर्थोंका वाचक है । आप यज्ञशेषके समान आदर पूर्वक ग्रहण किये जाते हैं, गोरस और घृतके समान सुस्वादु और जीवनवर्धक हैं, आकाशके समान निर्लेप हैं, सुवर्णके समान भास्वररूपसे युक्त हैं, इसलिए लोग आपको अमृत कहते हैं (७१) । आप याजकोंके द्वारा पूजे जाते हैं, इसलिए आप यज्ञ कहलाते हैं (७२) । अपने आत्मस्वरूपमें ही आप हवन किये जाते हैं, इसलिए आप हवि कहलाते हैं (७३) । स्तुतिके योग्य होनेसे स्तुत्य कहलाते हैं (७४) । स्तुतियोंके ईश्वर होनेसे स्तुतीश्वर कहलाते हैं (७५) । भावशब्द सत्ता, आत्मा, वस्तु, स्वभाव आदि अनेक अर्थोंका वाचक है । आप सदा सत्स्वरूप हैं, आत्मस्वभावको प्राप्त हैं, समवसरण-विभूति-मंडित हैं, अतः आपको लोग भाव कहते हैं (७६) । महापूजाके स्वामी हैं अतः महामहपति कहलाते हैं (७७) । घातिया कर्मोंके क्षयरूप महान् यज्ञमय होनेसे महायज्ञ कहलाते हैं । अथवा पांचों कल्याणकोंमें इन्द्र, नरेन्द्र, धरणेन्द्रादिके द्वारा महापूजाको प्राप्त करनेसे भी आप महायज्ञ कहे जाते हैं (७८) । अग्र अर्थात् श्रेष्ठ याजक होनेसे आप अग्रयाजक कहे जाते हैं । अथवा लोकाग्र पर विराजमान सिद्धोंके दीक्षाकालमें याजक होनेसे आप अग्रयाजक कहलाते हैं (७९) ।

अर्थ—हे दयालो, आप दयायाग हैं, जगत्पूज्य हैं, पूजार्ह हैं, जगदर्चित हैं, देवाधिदेव हैं, शक्रार्च्य हैं, देवदेव हैं और जगद्गुरु हैं ॥४४॥

व्याख्या—हे दयालु जिनेन्द्र, आपने सर्व प्राणियों पर दया करनेको ही यज्ञ कहा है, इसलिए आप दयायाग हैं (८०) । आप जगत्के सर्व प्राणियोंसे पूज्य हैं, अतः जगत्पूज्य हैं (८१) । पूजाके योग्य होनेसे पूजार्ह कहलाते हैं (८२) । जगत्से अर्चित होनेके कारण जगदर्चित कहलाते हैं (८३) । इन्द्रादिक देवोंके भी अधिनायक होनेसे देवाधिदेव कहलाते हैं । अथवा देवोंकी आधि अर्थात् मानसिक पीडाके दूर करनेके कारण भी आप देवाधिदेव कहलाते हैं (८४) । शक्र अर्थात् चतुर्निकाय देवोंके बत्तीस इन्द्रोंके द्वारा पूजे जानेसे शक्रार्च्य कहलाते हैं (८५) । देवोंके देव अर्थात् आराध्य होनेसे देवदेव कहलाते हैं । अथवा देवशब्द राजाका भी वाचक है । आप राजाओंके भी राजा हैं अतः देवदेव हैं । अथवा देवशब्द जलवृष्टि करनेवाले मेघकुमारोंका भी वाचक है, आप उनके परम आराध्य हैं, क्योंकि आपके विहारकालमें वे आगे आगे जलवृष्टि करते हुए चलते हैं (८६) । आप जगत्के गुरु हैं, क्योंकि उसे महान् धर्मका उपदेश देते हैं (८७) ।

संहूतदेवसंघार्च्यः पद्मयानो जयध्वजी । भामंडली चतुःषष्टिचामरो देवदुन्दुभिः ॥४५॥
वागस्पृष्टासनश्छत्रत्रयराट् पुष्पवृष्टिभाक् । दिव्याशोको मानमर्दी संगीतार्होऽष्टमंगलः ॥४६॥

॥ इति यज्ञार्हशतम् ॥

संहूत इन्द्रादेशेनामंत्रितो योऽसौ देवसंघः चतुर्निकायदेवसमूहः, तेन अर्च्यः पूज्यः । पद्मेन यानं गमनं यस्य । जयध्वजा विद्यन्ते (यस्य) । भामंडलं कोट्यर्कसमानतेजोमंडलं विद्यते यस्य । चतुरधिका षष्टिः चतुःषष्टिः, चतुःषष्टिश्चामराणि प्रकीर्णकानि यस्य । देवानां संबंधिन्यो दुन्दुभयः सार्द्धद्वादशकोटिपटहा यस्येति ॥४५॥ वाग्भिर्वर्णैभिरस्पृष्टं आसनं उरःप्रभृति स्थानं यस्य स तथोक्तः । उक्तं च—

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा । जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ॥

छत्रत्रयेणोपर्युपरि धृतेन राजते । द्वादश योजनानि व्याप्य पुष्पवृष्टिर्भवति, तानि च पुष्पाणि उपरि-मुखानि अधोवृन्तानि (च) स्युः । ईदृग्विधां पुष्पवृष्टिं भजते भोग्यतया गृह्णाति । दिव्योऽमानुषो महामंडपोपरि स्थितः योजनैकप्रमाणकटप्रो मणिमयोऽशोकोऽशोकवृक्षो यस्य सः । मानस्तम्भचतुष्टयेन मिथ्यावादिनां मानमहंकारं दूरादपि दर्शनमात्रेण मर्दयति शतखण्डीकरोतीत्येवंशीलः । गीत-नृत्य-वादित्रविराजमाननाट्यशालागतदेवांगनानृत्ययोग्यः । अष्टौ मंगलानि प्रतिप्रतोलि यस्येति ॥४६॥

॥ इति यज्ञार्हशतम् ॥ ३ ॥

अर्थ—हे स्वामिन्, आप संहूतदेवसंघार्च्य हैं, पद्मयान हैं, जयध्वजी हैं, भामंडली हैं, चतुःषष्टिचामर हैं, देवदुन्दुभि हैं, वागस्पृष्टासन हैं, छत्रत्रयराट् हैं, पुष्पवृष्टिभाक् हैं, दिव्याशोक हैं, मानमर्दी हैं, संगीतार्ह हैं और अष्टमंगल हैं ॥४५-४६॥

व्याख्या—संहूत अर्थात् इन्द्रके आदेशसे आमंत्रित चतुर्विध देव-संघके द्वारा पूज्य हैं अतः संहूतदेवसंघार्च्य कहलाते हैं (८८) । आप विहारकालमें देवगणोंसे रचित कमलों पर पादन्यास करते हुए चलते हैं, अतः पद्मयान कहलाते हैं (८९) । आपके समवसरणमें और विहारकालमें त्रिजगद्विजयकी सूचना देनेवाली ध्वजा-पताकाएं फहराती रहती हैं अतएव लोग आपको जयध्वजी कहते हैं (९०) । आपके पृष्ठ भागकी ओर भा अर्थात् कान्तिका वृत्ताकार पुंज सदैव विद्यमान रहता है, अतः आप भामंडली कहलाते हैं (९१) । आपके समवसरणमें यक्षगण चौसठ चंवर ढोरते रहते हैं, अतः आप चतुःषष्टिचामर कहलाते हैं (९२) । समवसरणमें देवगण साढ़े बारह कोटि दुन्दुभियोंको बजाते हैं अतः आप देवदुन्दुभि कहलाते हैं (९३) । आपकी वाणी तालु, ओष्ठ आदि स्थानोंको नहीं स्पर्श करती हुई ही निकलती है, अतः आप वागस्पृष्टासन कहलाते हैं (९४) । तीन छत्रोंको धारण कर समवसरणमें विराजमान रहते हैं, अतः छत्रत्रयराट् कहे जाते हैं (९५) । आपके समवसरणमें देवगण बारह योजन तक की भूमिपर पुष्पवृष्टि करते हैं । पुष्प-वृष्टिके समय फूलोंके मुख ऊपरकी ओर तथा डंठल नीचेकी ओर रहते हैं । इस प्रकारकी पुष्पवृष्टिके भोक्ता होनेसे आपको लोग पुष्पवृष्टिभाक् कहते हैं (९६) । समवसरणमें महामंडपके ऊपर दिव्य अशोक वृक्ष रहता है, जिसे देखकर शोक-सन्तप्त प्राणी शोक-रहित हो जाते हैं, अतः आप दिव्याशोक कहलाते हैं (९७) । समवसरणमें चारों ओर अवस्थित मानस्तम्भोंके दर्शनमात्रसे बड़े-बड़े मानियोंके भी मानका मर्दन स्वयमेव हो जाता है, अतएव आप मानमर्दी कहलाते हैं (९८) । समवसरण-स्थित संगीतशालाओं के भीतर गाये जानेवाले संगीतके योग्य होनेसे आप संगीतार्ह कहलाते हैं (९९) । भृंगार, ताल (बीजना), कलश, ध्वजा, सांथिया, छत्र, दर्पण और चंवर ये आठ मंगल द्रव्य सौ-सौ की संख्यामें समवसरणके भीतर सदा विद्यमान रहते हैं, अतः आप 'अष्टमंगल' इस नामसे प्रख्यात हुए हैं (१००) ।

इस प्रकार तृतीय यज्ञार्ह शतक समाप्त हुआ ।

(४) अथ तीर्थकृच्छतम्

तीर्थकृत्तीर्थसृट् तीर्थकरस्तीर्थंकरः सुदृक् । तीर्थकर्त्ता तीर्थभर्त्ता तीर्थेशस्तीर्थनायकः ॥४७॥
धर्मतीर्थकरस्तीर्थप्रणेता तीर्थकारकः । तीर्थप्रवर्त्तकस्तीर्थवेधास्तीर्थविधायकः ॥४८॥
सत्यतीर्थकरस्तीर्थसेव्यस्तैर्थिकतारकः । सत्यवाक्याधिपः सत्यशासनोऽप्रतिशासनः ॥४९॥

तीर्यते संसारसागरो येन तत्तीर्थं द्वादशांगशास्त्रं तत्करोतीति । तीर्थं सृजतीति । तीर्थं करोतीति । तीर्थं करोतीति तीर्थंकरः, वर्णागमत्वात् मोऽन्तः । शोभना दृक् क्षायिकं सम्यक्त्वं यस्य स सुदृक् । शोभन-लोचनो वा । तीर्थस्य भर्त्ता स्वामी । अथवा तीर्थं बिभर्त्तीत्येवंशीलः । तीर्थस्य ईशः स्वामी । तीर्थस्य नायकः स्वामी ॥४७॥ धर्मश्चारित्रं, स एव तीर्थः, तं करोतीति । तीर्थं प्रणयतीति । तीर्थ-(स्य) कारकः । तीर्थस्य प्रवर्त्तकः । तीर्थस्य वेधाः कारकः । तीर्थस्य विधायकः कारकः ॥ ४८ ॥ सत्यतीर्थं करोतीति । तीर्थानां तीर्थभूतपुरुषाणां सेव्यः सेवनीयः । तीर्थे शास्त्रे नियुक्तास्तैर्थिकाः, वा तीर्थं गुरुः, तस्मिन्नियुक्ता सेवापरा तैर्थिकाः । अथवा तीर्थं जिनपूजनं तत्र नियुक्ताः । अथवा तीर्थं पुण्यक्षेत्रं गिर-नारादि, तद्यात्राकारकाः । अथवा पात्रं त्रिविधं, तस्य दानादिनियुक्तास्तैर्थिकास्तेषां तारको मोक्षदायकस्तै-र्थिकतारकः । त्यादि-स्यादिचयो वाक्यमुच्यते, क्रियासहितानि कारकाणि वा वाक्यं कथ्यते । सत्यानि सत्पुरुषयोग्यानि तानि वाक्यानि सत्यवाक्यानि, सत्यवाक्यानामधिपः स्वामी । अथवा सत्यानि वाक्यानि येषां ते सत्यवाक्याः ऋषयः, ऋषयः सत्यवचसः इत्यभिधानात् । सत्यवाक्यानामृषीणां दिगम्बरमुनीनां अधिपः । अथवा सत्यवाक्यानां सत्यवादिनां आधिं धर्मचिन्तां पाति रक्षति इति सत्यवाक्याधिपः । सत्यं शासनं शास्त्रं यस्य । अथवा सत्यं श्यन्ति, असत्यं वदन्ति पूर्वापरविरोधिशास्त्रं मन्यन्ते ते सत्यशाः जिमिनि-कपिल-कणचर-चार्वाक-शाक्याः, तान् अस्यति निराकरोतीति सत्यशासनः । अविद्यमानं प्रति-शासनं मिथ्यामतं यत्र स तथोक्तः । अथवा अविद्यमानं प्रतिशं दुःखं आसने (यस्य) स अप्रतिशासनः । भगवान् खलु वृषभनाथः किंचिदूनपूर्वलक्षकालपर्यन्तं पद्मासन एवोपविष्टो धर्मोपदेशं दत्तवान्, तथापि दुःखं नाभूत् । कुतः, अनन्तसुखानन्तवीर्यत्वात् ॥४९॥

अर्थ—हे तीर्थेश, आप तीर्थकृत् हैं, तीर्थसृट् हैं, तीर्थंकर हैं, तीर्थकर हैं, सुदृक् हैं, तीर्थकर्त्ता हैं, तीर्थभर्त्ता हैं, तीर्थेश हैं, तीर्थनायक हैं, धर्मतीर्थकर हैं, तीर्थप्रणेता हैं, तीर्थकारक हैं, तीर्थप्रवर्त्तक हैं, तीर्थवेधा हैं, तीर्थविधायक हैं, सत्यतीर्थकर हैं, तीर्थसेव्य हैं, तैर्थिकतारक हैं, सत्यवाक्याधिप हैं, सत्यशासन हैं, और अप्रतिशासन हैं ॥४७-४९॥

व्याख्या—जिसके द्वारा संसार-सागरके पार उतरते हैं उसे तीर्थ कहते हैं। जगज्जन द्वादशांग श्रुतका आश्रय लेकर भवके पार होते हैं, अतः द्वादशांग श्रुतको तीर्थ कहते हैं। आप इस प्रकारके तीर्थके करने अर्थात् चलानेवाले हैं, इसलिए आप तीर्थकृत, तीर्थसृट्, तीर्थंकर, तीर्थकर, तीर्थकर्त्ता, तीर्थभर्त्ता, तीर्थेश, तीर्थनायक, धर्मतीर्थकर, तीर्थप्रणेता, तीर्थकारक, तीर्थप्रवर्त्तक, तीर्थवेधा और तीर्थविधायक कहलाते हैं (१-१४)। क्षायिकसम्यक्त्वके धारण करनेसे सुदृक् कहलाते हैं (१५)। सत्य तीर्थके चलानेसे सत्यतीर्थकर कहे जाते हैं (१६)। तीर्थस्वरूप पुरुषोंके द्वारा पूज्य होनेसे तीर्थसेव्य कहलाते हैं (१७)। तीर्थशब्द गुरु, पुण्यक्षेत्र, यज्ञ, पात्र आदि अनेक अर्थोंका भी वाचक है। जो इस प्रकारके तीर्थमें नियुक्त होते हैं उन्हें तैर्थिक कहते हैं, ऐसे तैर्थिक पुरुषोंके तारनेवाले होनेसे आप तैर्थिकतारक कहलाते हैं (१८)। आप सत्य वाक्योंके उपदेष्टा हैं, सत्यवचन बोलनेवाले मुनियोंके स्वामी हैं और सत्यवादियोंकी आधि अर्थात् मानसिक चिन्ताको दूर कर उनकी रक्षा करते हैं इसलिए आप सत्यवाक्याधिप कहलाते हैं (१९)। आपका शासन सत्य है, पूर्वापर-विरोधसे रहित है, इसलिए आप सत्यशासन कहलाते हैं। अथवा जो सत्यका अपलाप करते हैं और असत्यको बोलते हैं ऐसे लोग सत्यशा कहलाते हैं। आप उनका निराकरण कर यथार्थ वस्तु स्वरूपका

स्याद्वादी दिव्यगीर्दिव्यध्वनिरव्याहतार्थवाक् । पुण्यवागर्थ्यवागर्धमागधीयोक्तिरिद्धवाक् ॥५०॥
अनेकान्तदिगेकान्तध्वान्तभिद्दुर्णयान्तकृत् । सार्थवागप्रयत्नोक्तिः प्रतितीर्थमदघ्नवाक् ॥५१॥

स्याच्छब्दपूर्वं वदतीत्येवंशीलः । दिव्या अमानुषी गीर्वाणी यस्य । दिव्यो अमानुषो ध्वनिः शब्द-व्यापारो वचनरचना यस्येति । अव्याहतार्था परस्परविरुद्धार्था असंकुलार्था वाग्वाणी यस्येति । अथवा आ समंताद् हननं आहतं, अवीनां छागादीनां आहतस्य आहननस्य अर्थोऽभिधेयः प्रयोजनं वा यस्या सा अव्याहतार्था, अविशब्दाद् आहतशब्दाच्चोपरि अकारप्रश्लेषो ज्ञातव्यः । अव्याहतार्था छागादिप्राणिनामघात-प्रयोजना वाग्यस्य सः । पुण्या पुण्योपार्जनहेतुभूता वाग्वाणी यस्य सः । अर्थादनपेता अर्थ्या, निरर्थकतारहिता वाग्वाणी यस्य । अथवा अर्थ्या गणधर-चक्रि-शक्रादिभिः प्रार्थनीया वाग्वाणी यस्य । भगवद्भाषाया अर्धं मगधदेशभाषात्मकं अर्धं च सर्वभाषात्मकम् । अर्धे मागधीया उक्तिर्भाषा यस्य स तथोक्तः । (इद्धा परमातिशयं प्राप्ता वाक् यस्य सः) ईदृशी वाक्कस्यापि न भवतीति भावः ॥५०॥ अनेकान्तं स्याद्वादं अनेकस्वभावं वस्तु दिशति उपदिशतीति । एकान्तं यथा स्वरूपादि चतुष्टयेन सत्, तथा पररूपचतुष्टयेनापि सत् द्रव्यं, एवं सत्येकान्तवादो भवति । स एव ध्वान्तं अन्धकारं वस्तुयथावत्स्वरूपप्रच्छादकत्वात् । एकान्तध्वान्तं भिनत्ति नयवशात् शतखंडीकरोतीति । एकदेशवस्तुग्राहिणो दुर्णया कथ्यन्ते, तेषामन्तकृद्विनाशकः । सार्था अर्थ-सहिता न निरर्थिका वाक् यस्य, वा सार्था प्रयोजनवती वाक् यस्य । अथवा अर्थैर्जीवादिपदार्थैः सहिता वाक् यस्य । अथवा सा लक्ष्मीरभ्युदय-निःश्रेयसलक्षणा, तस्या अर्थे वाक् यस्य स सार्थवाक् । भगवद्वाणी-मनुश्रुत्य जीवा स्वर्ग-मोक्षादिकार्यं साधयन्तीति कारणात् । (अ-) प्रयत्ना अविवक्षापूर्विका भव्यजीवपुण्य-प्रेरिता (उक्तिः) वाक् यस्य । अथवा अप्रयत्ना अनायासकारिणी उक्तिर्यस्य । प्रतितीर्थानां (हरि-) हर-हिरण्यगर्भमतानुसारिणां जिमिनि-कपिल-कणचर-चार्वाक-शाक्यानां वा मिथ्यादृष्टीनां मदघ्नी अहंकार-निराकारिणी वाक् वाणी यस्य स तथोक्तः ॥ ५१ ॥

प्रतिपादन करते हैं, इसलिए भी आप सत्यशासन कहलाते हैं (२०)। यथार्थ प्रकाशक आपके विद्यमान रहने पर प्रतिपक्षियोंका शासन अस्तंगत हो जाता है अतः आपको योगिजन अप्रतिशासन कहते हैं। अथवा प्रतिश नाम दुःखका है, भगवान्के एकही आसनसे दीर्घकाल तक अवस्थित रहने पर भी दुःखका अनुभव नहीं होता है इसलिए भी उन्हें अप्रतिशासन कहते हैं। ऐसा कहा जाता है कि भगवान् ऋषभदेव कुछ कम एक लाख पूर्व वर्ष तक पद्मासनसे विराजमान रहकर हा भव्य-जीवोंको धर्मका उपदेश देते रहे, फिर भी अनन्त बलशाली और अनन्तसुखके धारक होनेसे उन्हें किसी प्रकारके दुःखका अनुभव नहीं हुआ (२१)।

अर्थ—हे भगवन्, आप स्याद्वादी हैं, दिव्यगी हैं, दिव्यध्वनि हैं, अव्याहतार्थवाक् हैं, पुण्य-वाक् हैं, अर्थ्यवाक् हैं, अर्धमागधीयोक्ति हैं, इद्धवाक् हैं, अनेकान्तदिक् हैं, एकान्तध्वान्तभित् हैं, दुर्णयान्तकृत् हैं, सार्थवाक् हैं, अप्रयत्नोक्ति हैं और प्रतितीर्थमदघ्नवाक् हैं ॥५०-५१॥

व्याख्या—हे स्वामिन्, आप स्याद्वादी हैं, क्योंकि आपके वचन 'स्यात्' शब्दपूर्वक ही निकलते हैं और इसी स्याद्वादरूप अमोघ शस्त्रके द्वारा आप एकान्तवादोंका निराकरण करते हैं (२२)। आपकी वाणी मानुषी प्रकृतिसे रहित दिव्य होती है, सभी देशोंके विभिन्न भाषा-भाषी मनुष्य, पशु-पक्षी और देवगण भी अपनी-अपनी बोलीमें समझ जाते हैं, इसलिए आप दिव्यगी और दिव्यध्वनि नामोंसे पुकारे जाते हैं (२३-२४)। आप अव्याहत अर्थात् परस्पर विरोधरूप व्याघातसे रहित अर्थका स्वरूप कहते हैं, इसलिए अव्याहतार्थवाक् कहलाते हैं। अथवा अवि अर्थात् छाग आदि पशुओंको यज्ञमें नहीं मारनेरूप वचनके बोलनेवाले हैं, इसलिए भी अव्याहतार्थवाक् कहलाते हैं। (२५)। आपकी वाणी पुण्यको उपार्जन करानेवाली है, तथा रोम, चर्म, अस्थि आदि अपवित्र वस्तुओंके सेवनका निषेध करनेके कारण पवित्र है, इसलिए आप पुण्यवाक् हैं (२६)। अर्थशब्द वस्तु,

स्यात्कारध्वजवागीहापेतवागचलौष्ठवाक्। अपौरुषेयवाक्शास्ता रुद्धवाक् सप्तभंगिवाक् ॥५२॥

स्यात्कारः स्याद्वादः, स एव ध्वजश्चिह्नं, अनेकान्तमतप्रासादमंडनत्वात्; स्यात्कारध्वजा वाग् वाणी यस्य। ईहापेता निराकांक्षा प्रत्युपकारानपेक्षिणी वाक् यस्य। अथवा ईहा उद्यमस्तदपेता ईहापेता वाग् यस्य स तथोक्तः। अहं लोकं संबोधयामीत्युद्यमरहितवाक् स्वभावेन संबोधकवागित्यर्थः। अचलौ निश्चलौ ओष्ठौ अधरौ यस्यां सा अचलोष्ठा वाक्भाषा यस्य, स तथोक्तः। अपौरुषेयीणामनादिभूतानां वाचां शास्ता गुरुः। अथवा अपौरुषेयीणां दिव्यानां वाचां शास्ता। रुद्धा मुखविकाश-(स) रहिता वाग् यस्य। सप्तानां भंगानां समाहारः सप्तभंगी, सप्तभंगी-सहिता वाक् यस्य स सप्तभंगिवाक्। याकारो ङ्यीकृतौ ह्रस्वौ क्वचिदिति वचनात् भंगीशब्दस्य ईकारस्य ह्रस्वः ॥५२॥

द्रव्य, प्रकार, अभिधेय, निवृत्ति, प्रयोजन आदि अनेक अर्थोंका वाचक है। आप निरर्थकता-रहित सार्थक वाणीको बोलते हैं, गणधर, चक्रवर्त्ती, इन्द्रादिकके द्वारा प्रार्थना किये जाने पर ही आपकी वाणी प्रकट होती है, आपकी वाणी अर्थीजनोंको बोधि और समाधिकी देनेवाली है, तथा अर्थ्य अर्थात् युक्ति-युक्त वचनोंके आप बोलनेवाले हैं, इसलिए आप अर्थ्यवाक् कहलाते हैं (२७)। आपकी वाणीका अर्धभाग मगधदेशकी भाषाके रूप है और अर्धभाग सर्व देशोंकी भाषाके स्वरूप है, इस कारण सर्व देशोंके मनुष्य उसे सहज ही में समझ लेते हैं, अतएव आप अर्धमागधीयोक्ति कहलाते हैं। अन्य ग्रन्थोंमें इसका अर्थ इस प्रकार किया गया है कि भगवानकी वाणी तो एक योजन तक ही सुनाई देती है किन्तु मागधजातिके देव उसे अपनी विक्रिया-शक्तिके द्वारा बारह योजन तक फैला देते हैं, अतः भगवानकी भाषा अर्धमागधी कहलाती है (२८)। आपकी वाणी परम अतिशयसे युक्त है, बहरे मनुष्य तक सुन लेते हैं, इसलिए आप इद्धवाक् कहलाते हैं (२९)। आप अनेक-धर्मात्मक वस्तुका उपदेश देते हैं, इसलिए अनेकान्तदिक् कहे जाते हैं (३०)। एकान्तवादरूप अन्धकारके भेदनेके कारण एकान्त ध्वान्तभित् कहलाते हैं (३१)। मिथ्यावादरूप दुर्णयोंके अन्त करनेके कारण दुर्णयान्तकृत् कहलाते हैं (३२)। सार्थक वाणी बोलनेके कारण सार्थवाक् कहलाते हैं। अथवा 'सा' नाम अभ्युदय-निःश्रेयसस्वरूप लक्ष्मीका भी है। आपकी वाणीके द्वारा लोग उसे प्राप्त करते हैं, अतः सार्थवाक् कहलाते हैं (३३)। आपकी वाणी बोलनेकी इच्छारूप प्रयत्नके विना ही भव्यजीवोंके पुण्यसे प्रेरित होकर निकलती है, अतः आप अप्रयत्नोक्ति कहलाते हैं (३४)। हरि-हरादि-प्रतिपादित मतानुसारी प्रतितीर्थ अर्थात् प्रतिवादियोंके अहंकाररूप मदका नाश करनेवाली आपकी वाणी है, अतः आप प्रतितीर्थमदघ्नवाक् कहलाते हैं (३५)।

अर्थ—हे स्याद्वादिन्, आप स्यात्कारध्वजवाक् हैं, ईहापेतवाक् हैं, अचलौष्ठवाक् हैं, अपौरुषेय-वाक् हैं, शास्ता हैं, रुद्धवाक् हैं और सप्तभंगिवाक् हैं ॥५२॥

व्याख्या—हे स्याद्वादके प्रयोक्ता, आपकी वाणी 'स्यात्' पदरूप ध्वज अर्थात् चिन्हसे युक्त है, इसलिए आप स्यात्कारध्वजवाक् कहलाते हैं (३६)। आपके वचन प्रत्युपकारकी आकांक्षासे रहित निरपेक्षभावसे और विना किसी उद्यमके निकलते हैं इसलिए आप ईहापेतवाक् कहलाते हैं, (३७)। आपके ओष्ठ वाणी निकलनेके समय अचल रहते हैं, इसलिए आप अचलौष्ठवाक् कहलाते हैं, (३८)। आप अपौरुषेय अर्थात् अनादिनिधन द्वादशांग श्रुतज्ञानरूप वाणीके उपदेष्टा हैं, अथवा पुरुषोंके द्वारा बोली जानेवाली वाणीसे भिन्न दिव्यवाणीके प्रयोक्ता हैं, अतः अपौरुषेयवाक्शास्ता कहे जाते हैं, (३९)। आपकी वाणी मुखके विना खोले ही प्रगट होती है, अतः आप रुद्धवाक् कहलाते हैं। (४०)। आपकी वाणी स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्तिनास्ति, स्यादवक्तव्य, स्यादस्ति-अवक्तव्य, स्यान्नास्ति अवक्तव्य और स्यादस्ति-नास्ति-अवक्तव्य, इन सप्त भंगों अर्थात् वचन विकल्पोंसे युक्त होती है, अतः आप सप्तभंगिवाक् कहलाते हैं (४१)।

अवर्णगीः सर्वभाषामयगीर्व्यक्तवर्णगीः । अमोघवागक्रमवागवाच्यानन्तवागवाक् ॥ ५३ ॥
अद्वैतगीः सूनृतगीः सत्यानुभयगीः सुगीः । योजनव्यापिगीः क्षीरगौरगीस्तीर्थकृत्त्वगीः ॥५४॥

न विद्यन्ते वर्णा अक्षराणि गिरि भाषायां यस्य स तथोक्तः । अथवा अपगतं ऋणं पुनःपुनरभ्यासो यस्या सा अवर्णा, ईदृशी गीर्यस्य स अवर्णगीः, अभ्यासमन्तरेणापि भगवान् विद्वानित्यर्थः । सर्वेषां देशानां भाषामयी गीर्वाणी यस्य स तथोक्तः । व्यक्ता वर्णा अक्षराणि गिरि यस्य स तथोक्तः । अमोघा सफला वाक् यस्य स तथोक्तः । अक्रमा युगपद्वर्तिनी वाक् यस्य स तथोक्तः । अवाच्या वक्तुमशक्या अनन्तानन्तार्थप्रकाशिनी वाक् यस्य स तथोक्तः । न विद्यते वाक् यस्य सः ॥ ५३ ॥ अद्वैता एकान्तमयी गीर्वाणी यस्य स तथोक्तः, आत्मैकशासनिका अद्वैता प्रोच्यते । सूनृता सत्या गीर्यस्य स तथोक्तः । सत्या सत्यार्था, अनुभया असत्यरहिता सत्यासत्यरहिता गीर्यस्य स तथोक्तः । सुष्ठु शोभना गीर्यस्य स तथोक्तः । एकयोजनव्यापिनी गीर्यस्य स तथोक्तः । क्षीरवद् गोदुग्धवद् (गौर) उज्ज्वला गीर्यस्य स तथोक्तः । तीर्थकृत्वा अमितजन्मपातकप्रक्षालिनी गीर्यस्य स तथोक्तः ॥ ५४ ॥

अर्थ—हे अनिर्वचनीय, आप अवर्णगी, हैं, सर्वभाषामयगी हैं, व्यक्तवर्णगी हैं, अमोघवाक् हैं, अक्रमवाक् हैं, अवाच्यानन्तवाक् हैं, अवाक् हैं, अद्वैतगी हैं, सूनृतगी हैं, सत्यानुभयगी हैं, सुगी हैं, योजनव्यापिगी हैं, क्षीरगौरगी हैं और तीर्थकृत्त्वगी हैं ॥५३-५४॥

व्याख्या—आपकी गिरा अर्थात् वाणी अकारादि अक्षररूप वर्णोंके बिना निरक्षरी प्रगट होती है, इसलिए आप अवर्णगी कहलाते हैं। अथवा ऋणनाम पुनः पुनः अभ्यासका है, आप किसी गुरु आदिसे अभ्यास किये बिना ही स्वयं बुद्ध होकर धर्मका उपदेश देते हैं इसलिए भी आप अवर्णगी कहलाते हैं (४२)। आपकी वाणी सर्व देशोंकी भाषाओंसे युक्त होती है, अर्थात् आप उपदेश देते समय सर्व देशोंकी भाषाओंका प्रयोग करते हैं इसलिए आप सर्वभाषामयगी हैं (४३)। आपकी वाणी व्यक्त अर्थात् स्पष्ट वर्णोंसे युक्त होती है, इसलिए आप व्यक्तवर्णगी कहलाते हैं (४४)।

शंका—पहले 'अवर्णगी' नामके द्वारा भगवान्‌की वाणी को निरक्षरी कहा गया है और अब व्यक्तवर्णगी नामके द्वारा भगवान्‌की वाणीको स्पष्ट वर्णवाली कहा जा रहा है, यह पूर्वापर-विरोध कैसा ?

समाधान—भगवान्‌की वाणी स्वतः तो निरक्षरी निकलती है, किन्तु श्रोताओंके कर्ण-प्रदेशमें पहुँचकर वह स्पष्ट अक्षररूपसे सुनाई देती है ऐसा भगवान्‌का अतिशय है। अतः प्रथम नाम वक्ता की अपेक्षा और दूसरा नाम श्रोताओंकी अपेक्षासे है और इसलिए दोनों नामोंके होनेमें कोई विरोध नहीं जानना चाहिए।

व्याख्या—आपकी वाणी अमोघ अर्थात् सफल होती है, अतः आप अमोघवाक् हैं (४५) तथा वह क्रम-रहित युगपद् सर्वतत्त्वका प्रकाश करती है अतः आप अक्रमवाक् हैं (४६)। जिन्हें शब्द के द्वारा नहीं कहा जा सकता, ऐसे अनन्त पदार्थोंको आपकी वाणी प्रगट करती है, अतः आप अवाच्यानन्तवाक् कहलाते हैं (४७)। सर्व साधारण जनोंके समान आपके वचन नहीं निकलते अतः आप अवाक् कहलाते हैं (४८)। अद्वैत अर्थात् एकमात्र आत्माका शासन करनेवाली आपकी वाणी है, अतः आप अद्वैतगी कहलाते हैं (४९)। आप सूनृत अर्थात् सत्य वाणीको बोलते हैं, अतः आपका नाम सूनृतगी है (५०)। आपके वचन सत्य और अनुभयरूप होते हैं, अतः आप सत्यानुभयगी कहलाते हैं (५१)। आप सर्वजनोंको प्रिय लगनेवाली सुन्दर वाणीको बोलते हैं, अतः सुगी कहलाते हैं (५२)। आपकी वाणी एक योजन तक बैठे हुए लोगोंको सुनाई देती है, अतः आप योजनव्यापिगी कहलाते हैं (५३)। क्षीर अर्थात् दूधके समान आपकी वाणी उज्ज्वल और श्रोताओंको पुष्ट करनेवाली है अतः आप क्षीरगौरगी कहलाते हैं (५४)। आपकी वाणी तीर्थकृत्व है अर्थात् असंख्य जन्मों के पापोंका प्रक्षालन करनी है, इसलिए आप तीर्थकृत्वगी कहे जाते हैं (५५)।

भव्यैकश्रव्यगुः सद्गुश्चित्रगुः परमार्थगुः । प्रशान्तगुः प्राश्निकगुः सुगुर्नियतकालगुः ॥५५॥
सुश्रुतिः सुश्रुतो याज्यश्रुतिः सुश्रुन्महाश्रुतिः । धर्मश्रुतिः श्रुतिपतिः श्रुत्युद्धर्त्ता ध्रुवश्रुतिः ॥५६॥
निर्वाणमार्गदिग्मार्गदेशकः सर्वमार्गदिक् । सारस्वतपथस्तीर्थपरमोत्तमतीर्थकृत् ॥५७॥

भव्यैरेक (व) श्रव्या श्रोतुं योग्या गौर्वाणी यस्य स तथोक्तः । गोरप्रधानस्यानन्तस्य स्त्रियामादा दीनां चेति ह्रस्वः । सन्ध्यक्षराणामिदुतौ ह्रस्वादेशे । सती समीचीना पूर्वापरविरोधरहिता शाश्वती वा गौर्वाणी यस्य स तथोक्तः । चित्रा विचित्रा नाना प्रकारा त्रिभुवनभव्यजनचित्तचमत्कारिणी गौर्वाणी यस्यस तथोक्तः । परमार्था सत्यमयी गौर्यस्य स तथोक्तः । प्रशान्ता कर्मक्षयकारिणी रागद्वेषमोहादिरहिता गौर्यस्य । प्रश्ने भवा प्राश्निका, प्राश्निकी गौर्यस्य स तथोक्तः । प्रश्नं विना तीर्थंकरो न ब्रूते यतः, तत एव कारणाद्वीरस्य गणधरं विना कियत्कालपर्यन्तं ध्वनिर्नाभूत् । सुष्ठु शोभना गौर्यस्य । नियतो निश्चितः कालोऽवसरो यस्याः सा नियतकाला गौर्यस्य ॥५५॥ सुष्ठु शोभना श्रुतिर्यस्य स तथोक्तः, अबाधितवागित्यर्थः । शोभनं श्रुतं शास्त्रं यस्य स तथोक्तः । अबाधितार्थश्रुत इत्यर्थः । अथवा सुष्ठु अतिशयेन श्रुतो विख्यातस्त्रिभुवनजनप्रसिद्धः । याज्या पूज्या महापंडितैर्मान्या श्रुतिर्यस्य । सुष्ठु शोभनं यथा भवति तथा शृणोति इति सुश्रुत् । श्रुतिः सर्वार्थप्रकाशिका (महा) श्रुतिर्यस्य स तथोक्तः । धर्मेण विशिष्टपुण्येन निदानरहितेन पुण्येनोपलक्षिता श्रुतिर्यस्य स धर्मश्रुतिः, तीर्थंकरनामप्रदायिनी भव्यानां श्रुतिर्यस्येति । श्रुतीनां शास्त्राणां पतिः स्वामी । श्रुते श्रुतीनां वा उद्धर्त्ता उद्धारकारकः ध्रुवा शास्वती अनादिकालीना श्रुतिर्यस्य ॥ ५६ ॥ निर्वाणानां मुनीनां मार्ग

अर्थ—हे भगवन्, आप भव्यैकश्रव्यगु हैं, सद्गु हैं, चित्रगु हैं, परमार्थगु हैं, प्रशान्तगु हैं, प्राश्निकगु हैं, सुगु हैं, नियतकालगु हैं, सुश्रुति हैं, सुश्रुत हैं, याज्यश्रुति हैं, सुश्रुत् हैं, महाश्रुति हैं, धर्मश्रुति हैं, श्रुतिपति हैं, श्रुत्युद्धर्त्ता हैं, ध्रुवश्रुति हैं, निर्वाणमार्गदिक् हैं मार्गदेशक हैं, सर्वमार्गदिक् हैं, सारस्वतपथ हैं और तीर्थपरमोत्तमतीर्थकृत् हैं ॥५५-५७॥

व्याख्या—हे हितोपदेशिन्, आपकी वाणी एकमात्र भव्य जीवोंके ही सुननेके योग्य है, अथवा भव्योंको ही सुनाई देती है, इसलिए आप भव्यैकश्रव्यगु कहलाते हैं (५६)। आप सद् अर्थात् पूर्वापर-विरोध-रहित समीचीन अथवा शाश्वत वाणीको बोलते हैं, अतः आप सद्गु नामसे पुकारे जाते हैं। (५७) चित्र अर्थात् नाना प्रकारसे भव्य जीवोंको सम्बोधन करनेवाली आपकी वाणी होती है, अतः आप चित्रगु कहलाते हैं (५८)। आप अपनी वाणीके द्वारा परमार्थ-अर्थात् परम निःश्रेयसरूप अर्थका उपदेश देते हैं, इसलिए परमार्थगु कहलाते हैं (५९)। आपकी वाणी प्रशान्त अर्थात् राग, द्वेप-मोहादि रहित है और कर्मोंका क्षय करानेवाली है, अतः आप प्रशान्तगु कहलाते हैं (६०)। प्रश्नकर्त्ताके द्वारा प्रश्न किए जाने पर ही आपकी वाणी प्रगट होती है, अतः आप प्राश्निकगु कहलाते हैं (६१)। आपकी वाणी अतिशोभना है अतः आप सुगु कहलाते हैं (६२)। नियत कालपर आपकी वाणी खिरती है, अर्थात् प्रातः मध्यान्ह, अपरान्ह और मध्यरात्रि इन चार कालोंमें छह-छह घड़ी आपकी दिव्यध्वनि प्रगट होती है, इसलिए आप नियतकालगु कहलाते हैं (६३)। द्वादशांग श्रुतरूप वाणीको श्रुति कहते हैं। आपकी श्रुति अति शोभायुक्त है, अतः आप सुश्रुति कहलाते हैं (६४)। आपका श्रुत अर्थात् शास्त्र अबाधितार्थ होनेसे अति सुन्दर है, अतः आप सुश्रुत कहलाते हैं। अथवा आप विश्वविख्यात हैं इसलिए सुश्रुत कहलाते हैं (६५)। आपकी वाणी महापंडितोंके द्वारा याज्य अर्थात् पूज्य है, मान्य है, अतः आप याज्यश्रुति हैं (६६)। आपकी वाणी श्रोताओंके द्वारा भक्ति-पूर्वक भली-भांति सुनी जाती है, इसलिए आप सुश्रुत् कहलाते हैं (६७)। महान् अर्थात् सर्व अर्थकी प्रकाश करनेवाली आपकी वाणी है अतः आप महाश्रुति हैं (६८)। आपकी वाणी धर्मरूप है, विशिष्ट पुण्यके उपार्जनका कारण है और तीर्थंकर-प्रकृतिका बन्ध कराती है, अतः आप धर्मश्रुति कहलाते हैं (६९)। श्रुति अर्थात् शास्त्रोंके पति होनेसे आप श्रुतिपति कहलाते हैं (७०)। श्रुतियोंके

देष्टा वाग्मीश्वरो धर्मशासको धर्मदेशकः । वागीश्वरस्त्रयीनाथस्त्रिभंगीशो गिरांपतिः ॥५८॥
सिद्धाज्ञः सिद्धवागाज्ञासिद्धः सिद्धैकशासनः । जगत्प्रसिद्धसिद्धान्तः सिद्धमंत्रः सुसिद्धवाक् ॥५९॥
शुचिश्रवा निरुक्तोक्तिस्तंत्रकृन्न्यायशास्त्रकृत् । महिष्ठवाग्महानादः कवीन्द्रो दुन्दुभिस्वनः ॥६०॥
॥ इति तीर्थकृच्छतम् ॥

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रलक्षणं मोक्षमार्गं दिशति उपदिशति यः स तथोक्तः । अथवा निर्वाणस्य मोक्षस्य तत्फलभूतस्य मार्गं सूत्रं दिशतीति । मार्गस्य रत्नत्रयस्य देशकः उपदेशकः । सर्वं परिपूर्णं मार्गं सर्वेषां सद्दृष्टि-मिथ्यादृष्टिनां च मार्गं संसारस्य मोक्षस्य च मार्गं दिशतीति । सरस्वत्याः मारत्याः पन्थाःमार्गः सारस्वत-पथः । अथवा सारस्य स्वतत्त्वस्य आत्मज्ञानस्य पंथाः सारस्वतपथः । तीर्थेषु समस्तसमयसिद्धान्तेषु परमोत्तमं परमप्रकृष्टं तीर्थं करोतीति । अथवा तीर्थपरमोत्तमेन जैनशास्त्रेण तीर्थमिथ्यादृष्टीनां शास्त्रं कृन्तति छिनत्तीति शतखण्डीकरोतीति ॥५७॥

दिशति स्वामितया आदेशं ददाति । वाग्मिनो वाचोयुक्तिपटवस्तेषामीश्वरः । धर्मः चारित्रं, रत्नत्रयं वा, जीवानां रक्षणं वा, वस्तुस्वभावो वा, क्षमादिदशविधो वा धर्मः, तं शास्ति शिक्षयतीति । धर्मस्य देशकः कथकः । वाचां वाणीनामीश्वरो वागीश्वरः । त्रयी त्रैलोक्यं कालत्रयं च, तस्या नाथः, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्राणां वा समाहारस्त्रयी, तस्या नाथः । ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वराणां वा नाथः, ऋग्वेद-यजुर्वेद-सामवेदानां वा नाथः, हेयतयोपदेशकः । त्रयो भंगा समाहृतास्त्रिभंगी, तस्या ईश । गिरां वाणीनां पतिः, क्वचिन्न लुप्यन्ते (इत्य-) भिधानात् ॥५८॥ सिद्धा आज्ञा वाग्यस्य स तथोक्तः । सिद्धा वाग् यस्य स तथोक्तः । आज्ञा वाक् सिद्धा यस्य स तथोक्तः । सिद्धं एकमद्वितीयं शासनं वाक् यस्य स तथोक्तः । जगति संसारे प्रसिद्धो विख्यातः सिद्धान्तो वाक् यस्य स तथोक्तः । सिद्धो मन्त्रो वेदो यस्य, स तथोक्तः ।

उद्धारक होनेसे आप श्रुत्युद्धर्त्ता कहलाते हैं (७१)। आपकी वाणी ध्रुव अर्थात् शाश्वत-अनादिकालीन है, अतः आप ध्रुवश्रुति कहलाते हैं (७२)। निर्वाण अर्थात् मोक्षके मार्गका उपदेश करनेके कारण आप निर्वाणमार्गदिक् कहलाते हैं। अथवा निर्वाण अर्थात् बाणरूप शल्यसे रहित मुनियोंको आप रत्नत्रयरूप मार्गका उपदेश करते हैं, इसलिए भी आप उक्त नामसे पुकारे जाते हैं (७३) सुखरूप मार्ग के उपदेशक होनेसे मार्गदेशक कहलाते हैं (७४)। आप सर्व अर्थात् परिपूर्ण मार्गके उपदेशक हैं, अथवा सभी सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि जीवोंको संसार और मोक्षका मार्ग दिखाते हैं, इसलिए सर्व मार्गदिक् कहलाते हैं (७५)। सरस्वतीके मार्गस्वरूप हैं, अथवा आत्मज्ञानरूप सार तत्त्वके प्रचारक हैं अतः सारस्वतपथ कहलाते हैं (७६)। तीर्थोंमें सर्वोत्कृष्ट तीर्थके करनेवाले हैं अतः तीर्थपरमोत्तम-तीर्थकृत् हैं अथवा तीर्थपरमोत्तम अर्थात् सत्यार्थ शास्त्रके द्वारा मिथ्यादृष्टियोंके कुशास्त्ररूप तीर्थ का कर्त्तन करते हैं, उसे शतखंड कर देते हैं, इसलिए भी आप उक्त नामसे पुकारे जाते हैं (७७)।

अर्थ—हे गिरीश, आप देष्टा हैं, वाग्मीश्वर हैं, धर्मशासक हैं, धर्मदेशक हैं, वागीश्वर हैं, त्रयीनाथ हैं, त्रिभंगीश हैं, गिरांपति हैं, सिद्धाज्ञ हैं, सिद्धवाक् हैं, आज्ञासिद्ध हैं, सिद्धैकशासन हैं, जगत्प्रसिद्धसिद्धान्त हैं, सिद्धमंत्र हैं, सुसिद्धवाक् हैं, शुचिश्रवा हैं, निरुक्तोक्ति हैं, तंत्रकृत् हैं, न्याय-शास्त्रकृत् हैं, महिष्ठवाक् हैं, महानाद हैं, कवीन्द्र हैं, और दुन्दुभिस्वन हैं, ॥५८-६०॥

व्याख्या—हे वाणीके ईश्वर, आप भव्यजीवोंको स्वामिरूपसे आदेश देते हैं, इसलिए देष्टा कहलाते हैं (७८)। वाग्मी अर्थात् वचन बोलनेमें कुशल गणधरादिके आप ईश्वर हैं, अतः वाग्मीश्वर कहलाते हैं (७९)। चारित्ररूप, रत्नत्रयरूप, वस्तुस्वभावरूप, जीवोंकी रक्षारूप और क्षमा-दिरूप धर्मके आप शासक अर्थात् शिक्षा देनेवाले हैं, इसलिए धर्मशासक कहलाते हैं (८०)। धर्मका उपदेश देनेसे धर्मदेशक कहलाते हैं (८१)। वाक् अर्थात् वाणीके ईश्वर होनेसे वागीश्वर, वागीश, गिरीश आदि नामोंसे पुकारे जाते हैं (८२)। तीनके समुदायको त्रयी कहते हैं। आप तीनों लोकों और तीनों कालोंके स्वामी हैं, अथवा सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप त्रयीके स्वामी हैं, अथवा ब्रह्मा,

(५) अथ नाथशतम्

नाथः पतिः परिवृढः स्वामी भर्त्ता विभुः प्रभुः । ईश्वरोऽधीश्वरोऽधीशोऽधीशानोऽधीशितेशिता ॥६१॥
ईशोऽधिपतिरीशान इन इन्द्रोऽधिपोऽधिभूः । महेश्वरो महेशानो महेशः परमेशिता ॥६२॥

सुष्ठु अतिशयेन सिद्धा वाक् वाणी यस्य स तथोक्तः ॥५९॥ शुचिनी पवित्रे श्रवसी कर्णौ यस्य स तथोक्तः । निरुक्ता निश्चिता उक्तिर्वचनं यस्य स तथोक्तः । तंत्रं शास्त्रं करोतीति । न्यायशास्त्रं अविरुद्धशास्त्रं कृतवान् । महिष्ठा पूज्या वाक् यस्य स तथोक्तः । महान् नादो ध्वनिर्यस्य स तथोक्तः । कवीनां गणधरदेवादीनामिन्द्रः स्वामी । दुन्दुभिर्जयपटहः, तद्वत् स्वनः शब्दो यस्य स तथोक्तः ॥६०॥

॥ अथ नाथशतक-प्रारम्भः ॥

(नाथः) राज्यावस्थायां नार्थति पष्ठं भागधेयं याचते, 'नाधृ-नाथृ याचने' इति धातोः प्रयोगात् अचा सिद्धं; नाथ्येते स्वर्ग-मोक्षौ याच्येते भक्तैर्वा नाथः अन्यत्रापि चेति कर्मणि अच् । पाति रक्षति संसार दुःखादिति पतिः । पाति प्राणिवर्गं विपयकषायेभ्य आत्मानमिति वा । पातेर्डति, औणादिकः

विष्णु और महेशरूप त्रयीके स्वामी हैं, अतः त्रयीनाथ कहलाते हैं (८३) । उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप तीन भंगोंके अथवा सत्ता, उदय और उदीरणारूप त्रिभंगीके, अथवा आयुके त्रिभागोंके ईश अर्थात् प्रतिपादक होनेसे त्रिभंगीश कहलाते हैं (८४) । गिरां अर्थात् वाणियोंके पति हैं, अतः गिरांपति कहलाते हैं (८५) । आपकी आज्ञा सिद्ध है अर्थात् जो कुछ आदेश देते हैं वही होता है, इसलिए आप सिद्धाज्ञ कहलाते हैं (८६) । आपकी वाणी सिद्ध है अर्थात् जिसे जो कह देते हैं वही होता है, इसलिए आप सिद्धवाक् कहलाते हैं (८७) । आपकी आज्ञा सिद्ध होने से आप आज्ञासिद्ध कहलाते हैं (८८) । सर्व शासनोंमें एकमात्र आपका ही शासन सिद्ध है, इसलिए आप सिद्धैकशासन कहलाते हैं (८९) । आपके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त जगत्में प्रसिद्ध हैं, अतः आप जगत्प्रसिद्धसिद्धान्त नामसे पुकारे जाते हैं (९०) । आपका मंत्र अर्थात् उपदेश या ज्ञान सिद्ध है, अतः सिद्धमंत्र कहलाते हैं (९१) । आपकी वाणी अतिशय कर सिद्ध है, अतः सुसिद्धवाक् कहलाते हैं (९२) । आपके वचन श्रवस् अर्थात् कर्णोंको पवित्र करनेवाले हैं इसलिए शुचिश्रवा कहलाते हैं (९३) । निरुक्त अर्थात् निश्चित प्रमाण-संगत उक्तियोंके कहनेसे निरुक्तोक्ति कहलाते हैं (९४) । तंत्र अर्थात् शास्त्रके कर्ता हैं, अतः तंत्रकृत् कहलाते हैं (९५) । न्याय शास्त्र अर्थात् पक्षपात और पूर्वापर विरोध-रहित शास्त्रके कर्ता होनेसे न्यायशास्त्रकृत् कहलाते हैं (९६) । महिष्ठ अर्थात् पूज्य वाणीके होनेसे आप महिष्ठवाक् हैं (९७) । मेघध्वनिके समान महान् नादके धारक हैं अतः महानाद कहे जाते हैं । (९८) । कवि अर्थात् द्वादशांग वाणीकी रचना करनेवाले गणधर देवोंके आप इन्द्र हैं, अतः कवीन्द्र कहलाते हैं (९९) । दुन्दुभिके समान आपका स्वन अर्थात् शब्दोच्चारण होता है, इसलिए आप दुन्दुभिस्वन कहलाते हैं (१००) ।

॥ अथ नाथशतक-प्रारम्भ ॥

अर्थ—हे स्वामिन्, आप नाथ हैं, पति हैं, परिवृढ हैं, स्वामी हैं, भर्त्ता हैं, विभु हैं, प्रभु हैं, ईश्वर हैं, अधीश्वर हैं, अधीश हैं, अधीशान हैं, अधीशिता हैं, ईशिता हैं, ईश हैं, अधिपति हैं, ईशान हैं, इन हैं, इन्द्र हैं, अधिप हैं, अधिभू हैं, महेश्वर हैं, महेशान हैं, महेश हैं और परमेशिता हैं ॥६१-६२॥

व्याख्या—हे भगवन् आप राज्य-अवस्थामें अपनी प्रजासे उसकी आमदनीका छठवाँ भाग कर-रूपसे माँगते हैं और कैवल्य-अवस्थामें भक्तजन आपसे स्वर्ग और मोक्ष माँगते हैं, इसलिए आप नाथ कहलाते हैं (१) । आप संसारके दुःखोंसे प्राणिवर्गकी रक्षा करते हैं और उनके विषय-कषाय छुड़ाकर उनकी आत्माका उद्धार करते हैं, इसलिए पति कहलाते हैं (२) ।

प्रत्ययोऽयं । परि समन्तात् वृंहति स्म, वर्द्धते स्म वा । स्व आत्मा विद्यतेऽस्य स्वामी, स्वस्येति सुरात्वं चेति इन् आत्वं च । विभर्त्ति धरति पुष्णाति वा जगद्भव्यजनं उत्तमस्थाने धरति केवलज्ञानादिभिर्गुणैः पुष्णातीति । विभवति विशेषेण मंगलं करोति वृद्धिं विदधाति समवसरणसभायां प्रभुतया निवसति, केवलज्ञानेन चराचरं जगत् व्याप्नोति, संपदं ददाति, जगत्तारयामीति अभिप्रायं वैराग्यकाले करोति, तारयितुं प्रादुर्भवति, एकेन समयेन लोकालोकं गच्छति जानातीति विभुः । तदुक्तं—

सत्तायां मंगले वृद्धौ निवासे व्याप्ति-सपदोः । अभिप्राये च शक्तौ च प्रादुर्भावे गतौ विभुः ॥

भुवो डुर्विंशप्रेषु चेति साधुः । प्रभवति समर्थो भवति । कुतः, सर्वेषां स्वामित्वात् । ईष्टे समर्थो भवति, ऐश्वर्यवान् भवति । अधिक ईश्वरः इन्द्रादीनामपि प्रभुः । अधियां अज्ञानिनां पशूनामपि संबोधने समर्थः । अधिक ईशः स्वामी, अधियां हरि-हर-हिरण्यगर्भादीनामीशः अधीशः । ईष्टे ईशानः । अधिक ईशानः । अथवा ये अधियो निर्विवेकाः लोका भवन्ति, ते स्वामिनः ऐश्वर्यं दृष्ट्वा ईशानमिति मन्यन्ते । कुतः, मिथ्यामतित्वात् । अधिकृतोऽधिको वा ईशिता स्वामी, ईष्टेः ऐश्वर्यवान् भवतीत्येवं-शीलः ॥ ६१ ॥ ईष्टे निग्रहानुग्रहसमर्थत्वात् । अधिकः पतिः स्वामी । ईष्टे अहमिन्द्राणामपि स्वामी भवति । एति योगिनां ध्यानबलेन हृदयकमलमागच्छतीति इनः । इण जि कृषिभ्यो नक् । इंदति परमैश्वर्यं प्राप्नोति शक्रादीनामप्याराध्यत्वात्, रक् प्रत्ययः । अधिकं पाति, सर्वजीवान् रक्षति । उपसर्गे त्वातो डः' । अथवा अधिकं पिबति केवलज्ञानेन लोकालोकं व्याप्नोतीति । अधिका त्रैलोक्यसंबंधिनी

आपने अपने आपको सर्वप्रकारसे समर्थ और बलवान् बनाया है, इसलिए आप परिवृढ कहलाते हैं (३) । आप अपनी आत्माके स्वयं ही अधिपति हैं, अतः स्वामी कहलाते हैं (४) । जगत्के जीवोंका सद्गुणोंके द्वारा भरण-पोषण करनेसे भर्त्ता कहलाते हैं (५) । विभुशब्द मंगल, वृद्धि, सत्ता, निवास, शक्ति, व्याप्ति, सम्पत्ति, गति आदि अनेक अर्थोंका वाचक है। आपमें ये सब अर्थ विभिन्न विवक्षाओंसे पाये जाते हैं, इसलिए आप विभु कहलाते हैं । जैसे—आप संसारके मंगलकर्त्ता हैं, जीवोंके आनन्दकी वृद्धि करते हैं, सत्-चिद्-रूप हैं, समवसरणमें स्वामीरूपसे निवास करते हैं, अनन्तशक्तिके धारक हैं, ज्ञानरूपसे सर्वजगत्में व्याप्त हैं, अन्तरंग और बहिरंग सम्पत्तिवान् हैं और ज्ञेयोंको एक समयमें जानते हैं; इत्यादि (६) । आप सर्वप्रकारसे समर्थ हैं, अतः प्रभु कहलाते हैं (७) । ऐश्वर्यवान् होनेसे ईश्वर कहलाते हैं (८) । इन्द्रादिकोंके भी ईश्वर हैं, अथवा अधी अर्थात् बुद्धि-रहित मूर्ख मनुष्य, पशु-पक्षी आदिके भी सम्बोधन करनेवाले हैं, इसलिए अधीश्वर कहलाते हैं (९) । अधी अर्थात् कुबुद्धि या अल्पबुद्धिवाले हरि-हर-हिरण्यगर्भ आदिके स्वामी होनेसे अधीश कहलाते हैं (१०) । अधी अर्थात् अविवेकी मिथ्यादृष्टि लोग आपके समवसरणादि बाह्य वैभवको देखकर ही आपको ईशान अर्थात् महान् स्वामी मानते हैं इसलिए आप अधीशान कहलाते हैं (११) । आपकी ईशिता अर्थात् स्वामिपना सबसे अधिक है इससे अधीशिता कहलाते हैं (१२) । ऐश्वर्यवान् होनेसे ईशिता कहलाते हैं (१३) । निग्रह और अनुग्रहमें समर्थ होनेसे ईश कहलाते हैं (१४) । अधिक अर्थात् समर्थ पति होनेसे अधिपति कहलाते हैं (१५) । अहमिन्द्रोंके स्वामी होनेसे ईशान कहलाते हैं (१६) । ध्यानके द्वारा योगियोंके हृदय-कमलको प्राप्त होते हैं, अतः इन कहलाते हैं (१७) । इन्दन अर्थात् परम ऐश्वर्यको प्राप्त होनेसे इन्द्र कहलाते हैं (१८) । सर्व जीवोंको अच्छी तरह पालनेसे अधिप कहलाते हैं । अथवा निजानन्दरूप रसका अधिक पान करनेसे अधिप कहलाते हैं (१९) । भू धातु सत्ता, मंगल, वृद्धि, सम्पत्ति, आदि अनेक अर्थोंकी वाचक है । भगवान्में भी त्रिजगत्का स्वामीपना होनेसे, सर्वके मंगलकर्ता और ऋद्धि-सिद्धिके विधाता होनेसे सर्व अर्थ घटित होते हैं, अतः अधिभू यह नाम भी सार्थक है । अथवा अधिभू नाम नायक या नेताका है, आप त्रिजगत्के नायक और मोक्षमार्गके नेता हैं, अतः अधिभू कहलाते हैं (२०) । महान् ईश्वर होनेसे महेश्वर कहलाते

अधिदेवो महादेवो देवस्त्रिभुवनेश्वरः । विश्वेशो विश्वभूतेशो विश्वेट् विश्वेश्वरोऽधिराट् ।।६३।।
लोकेश्वरो लोकपतिर्लोकनाथो जगत्पतिः । त्रैलोक्यनाथो लोकेशो जगन्नाथो जगत्प्रभुः ।।६४।।
पिता परः परतरो जेता जिष्णुरनीश्वरः । कर्त्ता प्रभूष्णुर्भ्राजिष्णुः प्रभविष्णुः स्वयंप्रभुः ।।६५।।

भूर्भूमिर्यस्य स तथोक्तः, अधिभूः त्रिभुवनैकनायक इत्यर्थः । महतामिन्द्रादीनामीश्वरः स्वामी । अथवा महस्य पूजाया, ईश्वरः । महांश्चासावीशानः । अथवा महतामीशानः । अथवा महस्य यज्ञस्य ईशान ः। महांश्चासावीशः, अथवा महतामीशः, अथवा महस्य यागस्य ईश्वरः । परमः प्रकृष्ट ईशिता ।।६२।।

(अधिकः शक्रादीनां देवः परमाराध्यः । महान् इन्द्रादीनामाराध्यो देवः । दीव्यति क्रीडति परमानन्दपदे देवः परमाराध्य इत्यर्थ. । त्रीणि भुवनानि समाहृतानि त्रिभुवनं, तस्य ईश्वरः । विश्वस्य ईशः स्वामी । विश्वेषां भूतानां प्राणिवर्गाणां ईशः । विश्वस्य ईट् स्वामी । विश्वस्य ईश्वरः प्रभु. । अधिकं राजते अधिराट् ।।६३।। लोकानां त्रिभुवनजनानामीश्वरः स्वामी । लोकस्य त्रिभुवनस्थितप्राणिवर्गस्य पतिः स्वामी । लोकस्य नाथः स्वामी । जगतां त्रिभुवनानां पतिः स्वामी । त्रैलोक्यस्य नाथः । लोकानामीशः । जगतां नाथः जगतः प्रभुः ।।६४।। पाति रक्षति दुर्गतौ पतितुं न ददाति । पिपर्त्ति पालयति पूरयति वा लोकान् निर्वाणपदे स्थापयति परः । परस्मात् सिद्धात् उत्कृष्टः परः । जयति सर्वोत्कर्षेण प्रवर्तते जेता । जयनशीलः । न विद्यते ईश्वरो यस्य । अनन्तज्ञानादिचतुष्टयमात्मनः करोतीति । प्रभवति इन्द्र-धरणेन्द्र-नरेन्द्रादीनां प्रभुत्वं प्राप्नोतीत्येवंशीलः । भ्राजते चन्द्रार्ककोटिभ्योऽपि अधिकां दीप्तिं प्राप्नोतीत्येवंशीलः । प्रभवति अनन्तशक्तित्वात् समर्थो भवतीत्येवंशीलः । स्वयमात्मना प्रभुः समर्थः ।।६५।।)

हैं (२१)। महापुरुषोंके भी ईशान अर्थात् स्वामी होनेसे महेशान कहलाते हैं (२२)। मह अर्थात् पूजाके ईश होनेसे महेश कहलाते हैं (२३)। पर शब्द उत्कृष्टका और मा शब्द लक्ष्मीका वाचक है। आप उत्कृष्ट लक्ष्मीके ईशिता अर्थात् स्वामी हैं, अतः परमेशिता कहलाते हैं ।।२४।।

अर्थ—हे जिनेन्द्र, आप अधिदेव हैं, महादेव हैं, देव हैं, त्रिभुवनेश्वर हैं, विश्वेश हैं, विश्वभूतेश हैं, विश्वेट् हैं, विश्वेश्वर हैं, अधिराट् हैं, लोकेश्वर हैं, लोकपति हैं, लोकनाथ हैं, जगत्पति हैं, त्रैलोक्यनाथ हैं, लोकेश हैं, जगन्नाथ हैं, जगत्प्रभु हैं, पिता हैं, पर हैं, परतर हैं, जेता हैं, जिष्णु हैं, अनीश्वर हैं, कर्त्ता हैं, प्रभूष्णु हैं, भ्राजिष्णु हैं, प्रभविष्णु हैं, और स्वयंप्रभु हैं ।।६३-६५।।

व्याख्या—हे भगवन्, आप परम आनन्दको भोगते हुए सर्वदा विजयशील रहते हैं, इसलिए देव कहलाते हैं (२५)। स्वर्गवासी देवोंके आराध्य हैं, अतः अधिदेव कहलाते हैं (२६)। इन्द्रादिकोंसे पूज्य हैं अतः महादेव कहलाते हैं (२७)। स्वर्गलोक, मर्त्यलोक और पाताललोक इन तीन भुवनोंके ईश्वर होनेसे आप त्रिभुवनेश्वर, विश्वेश, विश्वेट्, विश्वेश्वर, लोकेश्वर, लोकपति, लोकनाथ, जगत्पति, त्रैलोक्यनाथ, लोकेश, जगन्नाथ और जगत्प्रभु कहलाते हैं (२८-३९)। सर्व विश्वके भूतों अर्थात् प्राणियोंके ईश होनेसे विश्वभूतेश कहलाते हैं (४०)। आपने राजाओंको अपने वशमें किया है और स्वयं अतिशय करके विराजमान हैं, इसलिए अधिराट कहलाते हैं (४१)। पालने वालेको पिता कहते हैं। आप जगज्जनोंकी दुर्गतिके दुःखोंसे रक्षा करते हैं, अतः पिता कहलाते हैं (४२)। लोगोंको शिवपद पर स्थापित करते हैं, इसलिए पर कहलाते हैं (४३)। पर अर्थात् सिद्धोंसे भी पर हैं, प्रधान हैं, क्योंकि धर्मका उपदेश देनेके कारण सिद्धोंसे पहले आपका (अरहन्तोंका) नाम लिया जाता है और आपको नमस्कार किया जाता है इसलिए परतर कहलाते हैं (४४)। कर्मशत्रुओंके जीतनेसे जेता कहलाते हैं (४५)। सदा विजयशील रहनेसे जिष्णु कहलाते हैं (४६)। आपका कोई ईश्वर नहीं है और न आपके अतिरिक्त संसारमें कोई ईश्वर है, इसलिए आप अनीश्वर कहलाते हैं (४७)। आप अपने लिए अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्यके करनेवाले हैं, अतः कर्त्ता कहलाते हैं (४८)। इन्द्र, धरणेन्द्र, नरेन्द्र आदिके भी प्रभुत्वको प्राप्त हैं, अतः प्रभूष्णु कहलाते हैं (४९)। कोटि-कोटि चन्द्र-सूर्यसे भी अधिक

लोकजिद्विश्वजिद्विश्वविजेता विश्वजित्वरः । जगज्जेता जगज्जैत्रो जगज्जिष्णुर्जगज्जयी ॥६६॥
अग्रणीर्ग्रामणीर्नेता भूर्भुवः स्वरधीश्वरः । धर्मनायक ऋद्धीशो भूतनाथश्च भूतभृत् ॥६७॥
गतिः पाता वृषो वर्यो मंत्रकृच्छुभलक्षणः । लोकाध्यक्षो दुराधर्षो भव्यबन्धुर्निरुत्सुकः ॥६८॥

(लोकं संसारं जितवान् । विश्वं त्रैलोक्यं जितवान् । विश्वं त्रैलोक्यं विजयते, निजसेवकं करोतीत्येवं-शीलः । विशति आत्मप्रदेशेषु मिलति, बन्धमायाति श्लेषं करोतीति । विश्वं ज्ञानावरणाद्यष्टकर्मसमूहः, तं जयति क्षयं नयतीत्येवंशीलः । जगतां सर्वमिथ्यादृष्टीनां जेता जयनशीलः । जगन्ति जयतीत्येवंशीलः । गच्छतीत्येवंशीलं जगत्, तज्जयतीत्येवंशीलः, जि-भुवोःष्णुक् । जगज्जयतीत्येवंशीलः ॥६८॥ अग्रं त्रैलोक्योपरि नयति । ग्राम सिद्धसमूहं नयतीति स्वधर्ममित्येवंशीलः । भूरधोलोकः, भुवर्मध्यलोकः । तेषामधीश्वरः । धर्मस्य अहिंसालक्षणस्य नायको नेता । ऋद्धीनामीशः स्वामी । भूतानां प्राणिनां देवविशेषाणां च नाथः । भूतानां

दीप्तिको धारण करनेसे भ्राजिष्णु कहलाते हैं (५०) । अनन्त शक्तिशाली होनेपर भी अति सहनशील हैं, अतएव प्रभविष्णु हैं (५१) । पर की सहायसे निरपेक्ष होकर स्वयं ही समर्थ हैं, अतः स्वयंप्रभु कहलाते हैं (५२) ।

अर्थ—हे लोकेश्वर, आप लोकजित् हैं, विश्वजित् हैं, विश्वविजेता हैं, विश्वजित्वर हैं, जगज्जेता हैं, जगज्जैत्र हैं, जगज्जिष्णु हैं, जगज्जयी हैं, अग्रणी हैं, ग्रामणी हैं, नेता हैं, भूर्भुवः-स्वरधीश्वर हैं, धर्मनायक हैं, ऋद्धीश हैं, भूतनाथ हैं, भूतभृत् हैं, गति हैं, पाता हैं, वृष हैं, वर्य हैं, मंत्रकृत् हैं, शुभलक्षण हैं, लोकाध्यक्ष हैं, दुराधर्ष हैं, भव्यबन्धु हैं और निरुत्सुक हैं ॥६६-६८॥

व्याख्या—लोक, विश्व और जगत् यद्यपि एकार्थवाचक नाम हैं, तथापि निरुक्तिकी अपेक्षा उनमें कुछ विशेषता है । जिसमें जीवादि पदार्थ अवलोकन किये जायें उसे लोक कहते हैं । जिसमें जीवादि पदार्थ प्रवेश करते हैं, रहते हैं, उसे लोक कहते हैं । जो गमन अर्थात् परिवर्तन शील हो, उसे जगत् कहते हैं । जित्, जेता, विजेता, जित्वर, जैत्र, जिष्णु और जयी ये सब शब्द निरुक्त्यर्थ की अपेक्षा सूक्ष्म अन्तर रखते हुए भी विजयशील या विजयीके अर्थमें प्रयुक्त होते हैं । उपसर्ग और प्रत्ययोंकी विभिन्नतासे बननेवाले शब्दोंके अर्थमें कुछ न कुछ विभिन्नता आ ही जाती है, इसी दृष्टिसे स्तुतिकारने भगवानकी स्तुति करते हुए उन्हें लोकजित्, विश्वजित्, विश्वविजेता, विश्वजित्वर, जगज्जेता, जगज्जैत्र, जगज्जिष्णु और जगज्जयी नामोंसे पुकारा है । इन सभी नामोंका सामान्यतः 'लोकको जीतनेवाला' अर्थ होता है (५३-६०) । अग्र शब्दके यद्यपि प्रथम, प्रकार, ऊपर, आगे और श्रेष्ठ आदि अनेक अर्थ हैं, तथापि यहां ऊपर और श्रेष्ठ अर्थ विवक्षित है । जिनेन्द्र भगवान् अपने भक्तोंको ऊपर लोकके अग्र भागपर स्थित शिवलोकमें ले जाते हैं, इसलिए अग्रणी कहलाते हैं । अथवा भव्य जीवोंको श्रेयस् अर्थात् परमकल्याणमें स्थित श्रेष्ठ सिद्धोंके पास ले जाते हैं, इसलिए भी अग्रणी कहलाते हैं (६१) । ग्राम नाम गाँव और समूहका है । हे भगवन्, संसाररूप वनमें अकेले भटकनेवाले जीवोंको आप सिद्धोंके गाँव या समुदाय रूप सिद्धपुरीमें ले जाते हैं, इसलिए ग्रामणी कहलाते हैं (६२) । अपने कर्त्तव्यसे विमुख और पथ-भ्रष्ट लोगोंको आप उनके कर्त्तव्य या पथकी ओर ले जाते हैं, अतः नेता हैं (६३) । भूर्, भुव और स्वर् ये तीनों वैदिक शब्द क्रमशः अधो, मध्य और ऊर्ध्व लोकके वाचक हैं । आप इन तीनों ही लोकोंके अधीश्वर हैं, अतः भूर्भुवःस्वरधीश्वर कहलाते हैं (६४) । अहिंसामय धर्मके प्रणेता होनेसे धर्मनायक कहलाते हैं (६५) । बुद्धि, तप, विक्रिया, औषधि, रस, बल और अक्षीण नामक सात ऋद्धियोंके धारक साधुओंके आप ईश हैं, अतः ऋद्धीश हैं (६६) । भू अर्थात् पृथिवी पर जो उत्पन्न हुए हैं उन्हें भूत कहते हैं; इस प्रकारका निरुक्त्यर्थ होनेसे उपलक्षणाका आश्रय कर जलादिके आश्रयसे उत्पन्न होनेवाले सभी जीवोंको भूत कहते हैं । आप उनके स्वामी हैं, अतः

धीरो जगद्धितोऽजय्यस्त्रिजगत्परमेश्वरः । विश्वासी सर्वलोकेशो विभवो भुवनेश्वरः ॥६९॥
त्रिजगद्वल्लभस्तुंगस्त्रिजगन्मंगलोदयः । धर्मचक्रायुधः सद्योजातस्त्रैलोक्यमंगलः ॥७०॥
वरदोऽप्रतिघोऽच्छेद्यो दृढीयानभयंकरः । महाभागो निरौपम्यो धर्मसाम्राज्यनायकः ॥७१॥

॥ इति नाथशतम् ॥

अतीतानां उपलक्षणात् वर्तमानानां भविष्यतां च प्राणिनां नाथः । भूतान् बिभर्ति पालयतीति ॥६७॥ गमनं ज्ञानमात्रं वा गतिः । सर्वेषां अर्त्तिमथनसमर्थो वा । पाति रक्षति दुःखादिति । वर्षति धर्मामृतं वृषः । व्रियते वर्यः, स्वगद्यः । वरणीयो मुक्तिलक्ष्म्याऽभिलषणीय इत्यर्थः । मंत्रं श्रुतं कृतवान् । शुभानि लक्षणानि यस्य सः ।) लोकानां प्रजानामध्यक्षः प्रत्यक्षीभूतः । अथवा लोकमध्यक्षो लोकपरिमुक्तः, गलनियोगिकनकाध्यक्षवत् । अथवा लोका त्रीणि भुवनानि अध्यक्षाणि प्रत्यक्षाणि यस्येति । वा लोकेभ्यः प्रजाभ्यः अधिकानि अक्षाणि ज्ञानलक्षणानि लांछनानि यस्येति । दुःखेन महता कष्टेनापि आसमंताद् धर्षयितुं पराभवितुमशक्यो दुराधर्षः, ईषद्दुःख-सुख-कृच्छ्राकृच्छ्रेषु खलप्रत्ययः । भव्यानां रत्नत्रययोग्यानां बन्धुरुपकारकः । स्थिरप्रकृतिरित्यर्थ ॥६८॥

ध्येयं प्रति धियं बुद्धिमीरयति प्रेरयतीति । अथवा धियं राति ददाति भक्तानामिति धीरः । तर्हि दधातेर्दानार्थत्वात् तद्योगे चतुर्थी कथं न भवति ? सत्यं, यस्मै दित्सा दानमिच्छा भवति तत्र चतुर्थी भवति । परमेश्वरस्तु स्वभावेन बुद्धिं ददाति, नतिच्छया, तस्या मोहजनितत्वात् । स तु मोहो भगवति न वर्तते, तेन लिंगात् षष्ठी भवति, सम्बन्धमात्रविवक्षितत्वात् । जगतां हितः, जगद्भ्यो वा हितः । न जेतुं केनापि इन्द्रादिना काम-क्रोध-मोह-लोभादिना वा शक्यः । त्रयाणां जगतां परम ईश्वरः

भूतनाथ हैं (६७)। भूतोंको पालते हैं, अतः भूतभृत् भी कहलाते हैं (६८)। गति शब्दकी निष्पत्ति गम् धातुसे हुई है। गम् धातु गमन, ज्ञान और अर्त्तिमथन अर्थात् पीड़ाको दूर करना, इन तीनों अर्थोंमें व्यवहृत होती है। प्रकृतमें आप ज्ञानस्वरूप हैं और पीड़ित जनोंकी पीड़ाके दूर करनेवाले हैं, अतः गति नामसे पुकारे जाते हैं (६९)। जगज्जनोंकी दुःखोंसे रक्षा करते हैं, अतः पाता कहलाते हैं (७०)। धर्मरूप अमृतकी वर्षा करते हैं, अतः वृष कहलाते हैं (७१)। मुक्तिलक्ष्मीके द्वारा वरण करनेके योग्य हैं, अतः वर्य कहलाते हैं (७२)। मंत्रों अर्थात् बीजपदरूप शास्त्रोंके कर्त्ता होनेसे मंत्रकृत् कहलाते हैं (७३)। श्रीवृक्ष, शंख, चक्र आदि शुभलक्षणोंके धारक होनेसे शुभलक्षण कहलाते हैं (७४)। लोकके अध्यक्ष अर्थात् प्रत्यक्षीभूत हैं, अतः लोकाध्यक्ष कहलाते हैं। अथवा संसारके स्वामी होनेसे भी लोकाध्यक्ष कहलाते हैं। अथवा लोक अर्थात् साधारण जनोंसे अधिक अर्थात् विशिष्ट ज्ञानरूप अक्ष अर्थात् नेत्रके धारक हैं, इसलिए भी लोकाध्यक्ष कहलाते हैं (७५)। आप दुष्टोंके द्वारा अधर्ष हैं अर्थात् कभी भी पराभवको प्राप्त नहीं होते, अतः दुराधर्ष कहलाते हैं (७६)। भव्य अर्थात् रत्नत्रय धारण करनेके योग्य जीवोंके आप बन्धु हैं, अतः भव्यबन्धु हैं (७७)। कृतकृत्य होनेसे अब आपको कोई कार्य करना शेष नहीं रहा, अतः किसी कामके करनेकी उत्कण्ठारूप उत्सुकता भी नहीं रही, इस कारण आप निरुत्सुक कहलाते हैं (७८)।

अर्थ—हे धर्मचक्रेश्वर, आप धीर हैं, जगद्धित हैं, अजय्य हैं, त्रिजगत्परमेश्वर हैं, विश्वासी हैं, सर्वलोकेश हैं, विभव हैं, भुवनेश्वर हैं, त्रिजगद्वल्लभ हैं, तुङ्ग हैं, त्रिजगन्मंगलोदय हैं, धर्मचक्रायुध हैं, सद्योजात हैं, त्रैलोक्यमंगल हैं, वरद हैं, अप्रतिघ हैं, अच्छेद्य हैं, दृढीयान् हैं, अभयंकर हैं, महाभाग हैं, निरौपम्य हैं, और धर्म-साम्राज्यके नायक हैं ॥६९-७१॥

व्याख्या—हे धर्मचक्रके ईश्वर, आप धीर हैं, क्योंकि अपने ध्येय या कर्तव्यके प्रति धी अर्थात् बुद्धिको प्रेरित करते हैं, लगाते हैं। अथवा भक्तोंके लिए 'धियं राति' अर्थात् बुद्धिको देते हैं, उन्हें सन्मार्ग सुझाते हैं और उसपर चलनेके लिए प्रेरित करते हैं (७९)। जगत्का हित करनेके कारण आप जगद्धित कहलाते हैं (८०)। बाह्यमें इन्द्र, नरेन्द्रादिके द्वारा और अन्तरंगमें

स्वामी । अथवा त्रिजगतां परा उत्कृष्टा मा लक्ष्मीस्तस्या ईश्वरः । विश्वासो विद्यते यस्य स तथोक्तः, तदस्यास्तीति मत्वं त्वीन् । अथवा विश्वस्मिन् लोकालोके केवलज्ञानापेक्षयाऽऽस्ते तिष्ठतीत्येवंशीलः, नाम्न्य-जातौ णिनिरताच्छील्ये । सर्वस्य लोकस्य त्रैलोक्यस्थितप्राणिगणस्य ईशः प्रभुः । विगतो भवः संसारो यस्य स विभवः । अथवा विशिष्टो (भवो) जन्म यस्य । भुवनस्य त्रैलोकस्य ईश्वरः ॥६९॥ त्रिजगतां वल्लभोऽभीष्टः । तुंगः, उन्नतः विशिष्टफलदायक इत्यर्थः । त्रिजगतां त्रिभुवनस्थितभव्यजीवानां मंगलानां पंचकल्याण (ना)मुदयः प्राप्तिर्यस्मादसौ त्रिजगन्मंगलोदयः, तीर्थकरनामगोत्रयोः भक्तानां दायक इत्यर्थः । धर्म एव चक्रं पापारिखंडकत्वात् धर्मचक्रं । धर्मचक्रमायुधं शस्त्रं यस्य । सद्यस्तत्कालं स्वर्गात्प्रच्युत्य मातुर्गर्भे उत्पन्नत्वात् । त्रैलोक्यस्य मंगं सुखं (लाति) ददाति, मलं वा गालयतीति ॥७०॥ वरमभीष्टं स्वर्गं मोक्षं च ददाति इति । अविद्यमानः प्रतिघः क्रोधो यस्य स तथोक्तः । न छेत्तुं शक्यः । अतिशयेन दृढः ।

पृथुं मृदुं दृढं चैव भृशं च कृशमेव च । परिपूर्वं दृढं चैव षडेतान् रविधौ स्मरेत् ॥

न भयंकरोऽरौद्रः । अथवा अभयं निर्भयं करोतीति । महान् भागो राजदेयं यस्य । अथवा महेन पूजया आसमन्ताद् भज्यते सेव्यते महाभागः । निर्गतमौपम्यं यस्य स तथोक्तः । धर्म एव साम्राज्यं चक्र-वर्त्तित्वं, तस्य नायक स्वामी ॥७१॥

इति नाथशतम् ।

काम, क्रोधादि शत्रुओंके द्वारा आप जीते नहीं जा सकते, अतः अजय्य हैं (८१)। तीनों जगत्के परमेश्वर हैं, अथवा तीनों लोकोंमें जो परा मा अर्थात् उत्कृष्ट लक्ष्मी है, उसके ईश्वर (स्वामी) हैं, अतः त्रिजगत्परमेश्वर हैं (८२)। विश्वासको धारण करते हैं, अतः विश्वासी हैं। अथवा केवलज्ञानकी अपेक्षा आप विश्वभरमें आस अर्थात् निवास करते हैं (८३)। सर्वलोकमें स्थित प्राणियोंके ईश होनेसे सर्वलोकेश कहलाते हैं (८४)। आपका भव अर्थात् संसार विगत हो गया है, इसलिए विभव कहलाते हैं। अथवा कैवल्य प्राप्तिकी अपेक्षा विशिष्ट भव अर्थात् जन्मको–जिसके पश्चात् फिर मरण नहीं है—लेनेसे भी विभव कहलाते हैं (८५)। आप त्रैलोक्यरूप भुवनके ईश्वर हैं (८६)। तीनों जगत्के वल्लभ अर्थात अतिप्रिय होनेसे त्रिजगद्वल्लभ हैं (८७)। तुङ्ग अर्थात् उन्नत हैं, क्योंकि भक्तोंको विशिष्ट फल देते हैं (८८)। त्रिजगत्में स्थित भव्य जीवोंके पंचकल्याणकरूप मंगलका उदय अर्थात् लाभ आपके निमित्तसे होता है, अतः आप त्रिजगन्मंगलोदय हैं (८९)। धर्म-चक्ररूप आयुध (शस्त्र) के धारण करनेसे धर्मचक्रायुध कहलाते हैं, क्योंकि आप धर्मरूप चक्रके द्वारा पापरूप शत्रुओंका नाश करते हैं (९०)। सद्यः अर्थात् स्वर्गसे च्युत होकर तत्काल ही माता-के गर्भमें उत्पन्न होते हैं, बीचमें अन्यत्र जन्म नहीं लेते, इसलिए सद्योजात कहलाते हैं (९१)। त्रैलोक्यके मं अर्थात् पापको गलाते हैं, नष्ट करते हैं, और मंग अर्थात् सुखको लाते हैं, इसलिए त्रैलोक्यमंगल कहलाते हैं (९२)। वर अर्थात् इच्छित स्वर्ग-मोक्षको देनेके कारण वरद कहलाते हैं (९३)। आपके प्रतिघ अर्थात् क्रोधका अभाव है, इसलिए आप अप्रतिघ कहलाते हैं (९४)। किसी भी बाह्य या अन्तरंग शत्रुके शस्त्रसे छेदे नहीं जा सकते हैं, इसलिए अछेद्य कहलाते हैं (९५)। अतिशय दृढ़ अर्थात् बलशाली या स्थिर होनेसे दृढीयान् कहलाते हैं (९६)। आप किसी भी प्राणीको भय नहीं करते, प्रत्युत निर्भय करते हैं, इसलिए अभयंकर कहलाते हैं। अथवा आप भयंकर अर्थात् रौद्र या भयानक नहीं हैं, प्रत्युत अति सुन्दराकार हैं (९७)। महान् भाग्यशाली होनेसे महाभाग कहलाते हैं, क्योंकि त्रिजगत आपकी सेवा-पूजा करता है (९८)। संसारमें कोई भी वस्तु आपकी उपमाके योग्य नहीं है, इसलिए आप निरौपम्य कहलाते हैं (९९)। धर्मरूप साम्राज्यके स्वामी होनेसे धर्मसाम्राज्यनायक कहलाते हैं (१००)।

इस प्रकार पंचम नाथ शतक समाप्त हुआ।

(६) अथ योगिशतम्

योगी प्रव्यक्तनिर्वेदः साम्यारोहणतत्परः । सामयिकी सामायिको निःप्रमादोऽप्रतिक्रमः ॥७२॥
यमः प्रधाननियमः स्वभ्यस्तपरमासनः । प्राणायामचणः सिद्धप्रत्याहारो जितेन्द्रियः ॥७३॥
धारणाधीश्वरो धर्मध्याननिष्ठः समाधिराट् । स्फुरत्समरसीभाव एकी करणनायकः ॥७४॥

योगो ध्यानसामग्री अष्टांगानि विद्यन्ते यस्य स योगी । कानि तानि ? यम-नियमासन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-समाधय इति । प्रव्यक्तः स्फुटो मुखकमलविकाससूचितो निर्वेदः संसारशरीर भोग-वैराग्यं यस्य स तथोक्तः । साम्यस्य समाधेरारोहणे चटने तत्परः अनन्यवृत्तिः । सर्वजीवानां समभावपरिणामः सामायिकं, सम्यक् अयः समयः शुभावहो विधिर्जैनधर्मः, समय एव सामायिकं । स्वार्थे शैषिक इकण् । सामायिकं सर्वसावद्ययोगविरतिलक्षणं विद्यते यस्य स तथोक्तः । अथवा सा लक्ष्मीर्माया यस्य स सामायः सर्वर्द्धिसमूहः, सा विद्यते यस्य स, सामायी एव सामायिकः । स्वार्थेः कः । सामायिको गणधरदेवसमूहो विद्यते यस्य स सामायिकी । इन अस्त्यर्थे । समये जैनधर्मे नियुक्तः सामायिकः, इकण् । निर्गतः प्रमादो यस्य । न विद्यते प्रतिक्रमो यस्य स अप्रतिक्रमः । कृतदोषनिराकरणं प्रतिक्रमणं, ते तु दोषाः स्वामिनो न विद्यन्ते येन, तेन प्रतिक्रमणमपि न करोति, ध्यान एव तिष्ठति ॥७२॥ यमो यावज्जीवनियमः, तद्योगात् स्वाम्यपि यमः, सर्वसावद्ययोगोपरतत्वात् । प्रधानो मुख्यः नियमो यस्य स तथोक्तः । उक्तं च—

नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोगसंहारे । नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते ॥

(सुष्ठु) अतिशयेनाभ्यस्तमनुशीलितं आसनं पद्मासनं येन स तथोक्त । किञ्चिदूनकोटिपूर्वपर्यन्तं भगवान् खलु पद्मासनेनोपविष्टो हि धर्मोपदेशं ददाति, जघन्येन त्रिंशद्वर्षपर्यन्तमेकेनासनेन पद्मासनेन तिष्ठति । मध्ये नानाविधकालपर्यन्तं ज्ञातव्यम् । अथवा सुष्ठु अतिशयेन अभ्यस्ता भुक्ता या परमा

अर्थ—हे योगेश्वर, आप योगी हैं, प्रव्यक्त निर्वेद हैं, साम्यारोहणतत्पर हैं, सामायिकी हैं, सामायिक हैं, निःप्रमाद हैं, अप्रतिक्रम हैं, यम हैं, प्रधाननियम हैं, स्वभ्यस्तपरमासन हैं, प्राणायामचण हैं, सिद्धप्रत्याहार हैं, जितेन्द्रिय हैं, धारणाधीश्वर हैं, धर्मध्याननिष्ठ है, समाधिराट् हैं, स्फुरत्समरसीभाव हैं, एकी हैं और करणनायक हैं ॥ ७२-७४ ॥

व्याख्या—हे स्वामिन्, आपके यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिरूप अष्टाङ्ग योग पाया जाता है, अतः आप योगी हैं (१)। आपका निर्वेद अर्थात् संसार, शरीर और भोगसे वैराग्य मुख-कमलके विकाससे ही प्रगट है, अतः आप प्रव्यक्तनिर्वेद हैं (२)। साम्य, समाधि, स्वास्थ्य, योग, चित्तनिरोध और शुद्धोपयोग; ये सब एकार्थवाचक नाम हैं। आप शुद्धोपयोगरूप साम्यभावके आरोहणमें तत्पर हैं, उसमें तन्मय हैं, इसलिए साम्यारोहणतत्पर कहलाते हैं (३)। सर्वजीवोंमें समताभावरूप परिणामको और सर्व सावद्ययोगके त्यागको सामायिक कहते हैं। इस प्रकारकी सामायिक आपके पाई जाती है, इसलिए सामायिकी कहलाते हैं। अथवा सा नाम लक्ष्मीका है, उसे जो मायारूप मानते हैं, ऐसे साधुजनोंको सामाय कहते हैं। उनके धारण करने वाले गणधर समूहको सामायिक कहते हैं। आपके गणधरोंका समुदाय पाया जाता है, इसलिए भी आप सामायिकी कहलाते हैं (४)। समय अर्थात् जैनधर्ममें आप युक्त हैं, अतः आप सामायिक कहे जाते हैं (५)। आप सर्व प्रकारके प्रमादोंसे रहित हैं, इसलिए निःप्रमाद कहलाते हैं (६)। किये हुए दोषोंके निराकरणको प्रतिक्रमण कहते हैं, आप सर्व प्रकारके दोषोंसे रहित हैं, अतः अप्रतिक्रम हैं (७)। पाप, विषय, कषायादिके यावज्जीवन त्यागको यम कहते हैं और उसके योगसे आप भी यम नामसे पुकारे जाते हैं (८)। आत्म-नियमनरूप नियम आपके प्रधान है, अतः प्रधाननियम कहलाते

परमा लक्ष्मीस्तां अस्यति त्यजति निःक्रमणकाले यः स तथोक्तः । प्राणायामे कुम्भक-पूरक रेचकादिलक्षणे वायुप्रचारे चणो विचक्षणः प्रवीणः प्राणायामचणः । वित्ते चंचु-चणौ इति तद्धितः चण् प्रत्ययः । सिद्धः प्राप्तिमायातः प्रत्याहारः पूर्वोक्तनिर्विषयबीजाक्षरं ललाटे स्थापनं मनो यस्य । जितानि विषयसुख-पराङ्मुखीकृतानि इन्द्रियाणि स्पर्शन रसन-घ्राण-चक्षु-श्रोत्रलक्षणानि येन स तथोक्तः ॥ ७३ ॥ धारणा पूर्वोक्ता पंचविधा, तस्यां अधीश्वरः समर्थः । अथवा धारणा जीवानां स्वर्ग-मोक्षयोः स्थापना, तस्या धीर्बुद्धिर्धारणाधीः, भव्यजीवानां स्वर्गे मोक्षे च स्थापनाबुद्धिस्तस्या ईश्वरो रत्नत्रयदानसमर्थः, तद्विना तद्वितयं न भवतीति कारणात् । धारणाधीश्वरः मोक्षहेतुरत्नत्रयबुद्धिदायक इत्यर्थः । धर्मध्याने आज्ञापाय-विपाकसंस्थानविचयलक्षणे न्यतिशयेन तिष्ठतीति । समाधिना शुक्लध्यानेन केवलज्ञानलक्षणेन राजते शोभते । स्फुरन् चित्ते चमत्कुर्वन् समरसीभावः, सर्वे जीवाः शुद्धबुद्धैकस्वभावा इति परिणामः समरसीभावो यस्य । अथवा स्फुरन् आत्मनि समरसीभाव एककलोलीभावो यस्य स तथोक्तः, एक एव अद्वितीयः संकल्पविकल्प-रहित आत्मा विद्यते यस्य स । अथवा एके एक सदृशा आत्मानो जीवा विद्यन्ते यस्य स एकी । करणानां पंचानामिन्द्रियाणां मनःषष्ठानां स्व-स्वविषयगमननिषेधे नायकः समर्थः । अथवा करणशब्देन परिणामा उच्यन्ते, तेषां त्रिविधानामपि नायकः प्रवर्त्तकः ॥७४॥

हैं (९)। परम अर्थात् उत्कृष्ट आसनका आपने अच्छी तरह अभ्यास किया है, यही कारण है कि आप आठ वर्ष और अन्तर्मुहूर्त्तसे कम एक कोटि वर्ष-पर्यन्त एक पद्मासनसे बैठे हुए ही भव्यजीवोंको धर्मोपदेश देते रहते हैं, इसलिए आप स्वभ्यस्तपरमासन कहलाते हैं। अथवा निरुक्तिके बलसे यह भी अर्थ निकलता है कि अच्छी तरह भोगी गई पर अर्थात् श्रेष्ठ मा-लक्ष्मी का भी आप आसन अर्थात् निराकरण करते हैं, दीक्षा-कालमें उसे छोड़ देते हैं (१०)। पूरक, रेचक, कुम्भकादिलक्षण वायुप्रचार-निरोधस्वरूप प्राणायाममें आप चण अर्थात् प्रवीण हैं, इसलिए प्राणायामचण हैं (११)। पंचेद्रियों के विषयोंसे मनको खींचकर ललाटपट्टपर 'अर्हं' इस बीजाक्षर के ऊपर उसे स्थिर करने को प्रत्याहार कहते हैं। आपको यह प्रत्याहारनामक योगका पांचवां अंग भी सिद्ध हो चुका है, अतः सिद्ध प्रत्याहार कहलाते हैं (१२)। आपने पांचों इन्द्रियोंको जीत लिया है, अर्थात् आप विषयसुखसे परा-न्मुख हैं और आत्मसुखमें लवलीन हैं, अतः जितेन्द्रिय हैं (१३)। पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी और तात्विकी इन पांचों धारणाओंके, अथवा उनके धारक योगियोंके आप स्वामी हैं, अतः योगके छठे अंग धारणा पर विजय प्राप्त करनेके कारण आप धारणाधीश्वर कहलाते हैं। अथवा जीवोंको संसारसे उठाकर मोक्षमें स्थापित करनेकी बुद्धिको धारणाधी कहते हैं, ऐसी बुद्धि और उसके धारकोंके आप ईश्वर हैं, इसलिए भी धारणाधीश्वर कहलाते हैं (१४)। आपने चतुर्विध धर्मध्यान को भली भांति सिद्ध किया है, अतः धर्मध्याननिष्ठ कहलाते हैं (१५)। आत्मस्वरूपमें जल-भरे घड़ेके समान निश्चल होकर अवस्थित होनेको समाधि कहते हैं। आप इसप्रकार योगके अष्टम अंगरूप समाधिमें भली भांतिसे विराजमान हैं, अतः समाधिराट् कहलाते हैं (१६)। सर्व जीव शुद्ध बुद्धस्वरूप एक समान स्वभाववाले हैं, इस प्रकारके परिणामको समरसी भाव कहते हैं। आपके सर्वाङ्गमें यह स्फुरायमान है, अतः आप स्फुरत्समरसीभाव कहलाते हैं। अथवा आत्मामें सम-रस हो करके एक लोली-भावसे स्थिर होनेको भी समरसीभाव कहते हैं। आपमें यह समरसीभाव पूर्णरूपसे स्फुरित है (१७)। आप सर्व संकल्प-विकल्पोंसे रहित एक हैं अर्थात् पर-बुद्धिसे रहित हैं, इसलिए एकी कहलाते हैं। अथवा आपके मतमें सर्व जीव एक समान शक्तिके धारक हैं (१८)। करण अर्थात् पांचों इन्द्रिय और मनको वशमें करनेके कारण आप आप उनके स्वामी हैं अतः करणनायक कहलाते हैं। अथवा करण नाम अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण परिणामोंका भी है, आप इनके प्रवर्त्तक हैं; इसलिए भी करणनायक कहलाते हैं (१९)।

निर्ग्रन्थनाथो योगीन्द्रः ऋषिः साधुर्यतिर्मुनिः । महर्षिः साधुधौरेयो यतिनाथो मुनीश्वरः ॥७५॥
महामुनिर्महामौनी महाध्यानी महाव्रती । महाक्षमो महाशीलो महाशान्तो महादमः ॥७६॥
निर्लेपो निर्भ्रमस्वान्तो धर्माध्यक्षो दयाध्वजः । ब्रह्मयोनिः स्वयंबुद्धो ब्रह्मज्ञो ब्रह्मतत्त्ववित् ॥७७॥

निर्ग्रन्थानां चतुर्विधमुनीनां नाथः । योगिनां ध्यानिनामिन्द्रः स्वामी । 'रिषी ऋषी गतौ' ऋषति गच्छति बुद्धिऋद्धिं च (क्षीं) प्रर्धाद्धिं विक्रियर्द्धि प्राप्नोतीति ऋषिः । इगुपधात् किः । साधयति रत्नत्रय-मिति, कृ वा पा जिमिस्वदि साध्य शू दृपमि जनि चरि चटिभ्य उण् । यतते यत्नं करोति रत्नत्रये, यत-धातोरिः । मन्यते जानाति प्रत्यक्षप्रमाणेन चराचरं जगदिति मुनिः, मन्यतेरिच्च उच्च । महांश्चासौ ऋषिः ऋद्धिसम्पन्नः । साधूनां रत्नत्रयसाधकानां धुरि नियुक्तः, ध्यश्चादेरयण् । यतीनां निःकषायाणां नाथ स्वामी । मुनीनां प्रत्यक्षज्ञानिनामीश्वरः ॥७५॥ महांश्चासौ मुनि । प्रत्यक्षज्ञानी । मुनिषु ज्ञानिषु भवं मौनं । मौनं विद्यते यस्य स मौनी, महांश्चासौ मौनी महामौनी । वर्षसहस्रपर्यन्तं स्वल्वादिनाथो न धर्ममुपदि-देश, ईदृश स्वामी महामौनी मण्यते । ध्यानं धर्म्य-शुक्लध्यानद्वयं विद्यते यस्य स ध्यानी, महांश्चासौ ध्यानी च महाध्यानी । व्रतानि प्राणातिपातपरिहारानृतवचनपरित्यागाचौर्यब्रह्मचर्याकिञ्चन्यरात्रीभोजन-परिहारलक्षणानि विद्यन्ते यस्य स व्रती । महान् इन्द्रादीनां पूज्यो व्रती महाव्रती । महती अनन्यसाधारणा क्षमा प्रशमो यस्य । महान्ति अष्टादशसहस्रगणनानि शीलानि व्रतरक्षणोपाया यस्य स । महांश्चासौ शान्तो

अर्थ—शीलेश्वर, आप निर्ग्रन्थनाथ हैं, योगीन्द्र हैं, ऋषि हैं, साधु हैं, यति हैं, मुनि हैं, महर्षि हैं, साधुधौरेय हैं, यतिनाथ हैं, मुनीश्वर हैं, महामुनि हैं, महामौनी हैं, महाध्यानी हैं, महा-व्रती हैं, महाक्षम हैं, महाशील हैं, महाशान्त हैं, महादम हैं, निर्लेप हैं, निर्भ्रमस्वान्त हैं, धर्मा-ध्यक्ष हैं, दयाध्वज हैं, ब्रह्मयोनि हैं, स्वयंबुद्ध हैं, ब्रह्मज्ञ हैं, और ब्रह्मतत्त्ववित् हैं ॥७५-७७॥

व्याख्या—हे निर्ग्रन्थेश, निर्ग्रन्थ अर्थात् अन्तरंग-बहिरंग परिग्रहसे रहित ऐसे ऋषि, यति, मुनि और अनगार इन चार प्रकारके, अथवा पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक इन पांच प्रकारके निर्ग्रन्थोंके आप नाथ हैं, इसलिए निर्ग्रन्थनाथ कहलाते हैं (२०) । योगको धारण करनेवाले ऐसे ध्यानी पुरुषको योगी कहते हैं, उनमें आप इन्द्रके समान प्रभावशाली हैं, अतः योगीन्द्र कहलाते हैं (२१) । बुद्धि, विक्रिया, औषधि आदि सर्व ऋद्धियोंको प्राप्त करनेसे आप ऋषि कहलाते हैं । अथवा सर्व क्लेशराशियोंका आपने रेषण अर्थात् निरोधरूप संवरण कर दिया है, इसलिए भी आप ऋषि कहलाते हैं (२२) । रत्नत्रयको सिद्ध करनेके कारण साधु हैं (२३) । पूर्ण रत्नत्रय धर्ममें अथवा मोक्ष प्राप्तिमें सदा यत्नशील हैं, अतः यति हैं । अथवा घातिकर्मरूप पापोंका नाश कर चुकने पर भी अघाति-कर्मरूप अवशिष्ट पापोंके नाश करनेके लिए भी सतत प्रयत्न करते हैं, इसलिए भी यति कहलाते हैं (२४) । मन धातु जाननेके अर्थमें प्रयुक्त होती है । आप प्रत्यक्ष ज्ञानसे चराचर जगत्को जानते हैं, इसलिए मुनि कहलाते हैं (२५) । ऋद्धि-सम्पन्न ऋषियोंमें आप महान् हैं, अतः महर्षि कहलाते हैं (२६) । रत्नत्रयकी साधना करनेवालेको साधु कहते हैं, आप उनमें धौरेय अर्थात् अग्रेसर हैं, अतः साधुधौरेय कहलाते हैं (२७) । कषायोंके नाश करनेमें उद्यत साधुओंको यति कहते हैं । आप उनके नाथ हैं, अतः यतिनाथ कहलाते हैं (२८) । आप मुनियोंके ईश्वर हैं, अतः मुनीश्वर हैं (२९) । मुनियोंमें महान् हैं, अतः महामुनि कहलाते हैं । (३०) । मौन धारण करनेवालोंमें महान् होनेसे आप महामौनी कहलाते हैं । भगवान् आदिनाथने एक हजार वर्षपर्यन्त मौन धारण किया था (३१) । शुक्लध्यान नामक महाध्यानके ध्याता होनेसे महाध्यानी कहलाते हैं (३२) । महान् व्रतोंके धारण करनेसे महाव्रती हैं । अथवा इन्द्रादिकोंसे पूज्य महान् व्रती हैं, इसलिए भी महाव्रती कहलाते हैं (३३) । दूसरोंमें नहीं पाई जानेवाली ऐसी महाक्षमाके धारण करनेके कारण महाक्षम कहलाते हैं (३४) । शील अर्थात् ब्रह्मचर्यके महान् १८००० अठारह हजार भेदोंके धारण करनेसे महाशील कहलाते हैं (३५) । राग-द्वेष-रूप कषाय

पूतात्मा स्नातको दान्तो भदन्तो वीतमत्सरः । धर्मवृक्षायुधोऽक्षोभ्यः प्रपूतात्माऽमृतोद्भवः ॥७८॥
मंत्रमूर्तिः स्वसौम्यात्मा स्वतंत्रो ब्रह्मसंभवः । सुप्रसन्नो गुणाम्भोधिः पुण्यापुण्यनिरोधकः ॥७९॥

रागद्वेषरहितः । महान् दमस्तपःक्लेशसहिष्णुता यस्य स तथोक्तः ॥७६॥ निर्गतो निर्नष्टो लेपः पापं कर्ममल-कलंको यस्य । निर्भ्रमं तत्वे भ्रान्तिरहितं स्वान्तं मनो यस्य स तथोक्तः। संशय-विभ्रमरहिततत्वप्रकाशक इत्यर्थः । धर्मे चारित्रे अध्यक्षः अधिकृतः अधिकारी नियोगवान्, नियुक्तो न कमपि धर्मविध्वंसं कर्तुं ददाति । दया ध्वजा पताका यस्य । अथवा दयाया अध्वनि मार्गे जायते योगिनां प्रत्यक्षो भवतीति । अथवा दया ध्वजा लांछनं यस्य स तथोक्तः । ब्रह्मणरतपसो ज्ञानस्यात्मनो मोक्षस्य चारित्रस्य वा योनि-रुत्पत्तिस्थानं । स्वयं आत्मना गुरुमन्तरेण बुद्धो निर्वेदं प्राप्तः । ब्रह्माणमात्मानं ज्ञानं तपश्चारित्रं मोक्षं च जानातीति । ब्रह्मणो मोक्षस्य ज्ञानस्य तपसश्चारित्रस्य च तत्त्वं स्वरूपं हृदयं मर्म वेत्तीति जानातीति ॥७७॥

पूतः पवित्रः कर्ममलकलंकरहितः आत्मा स्वभावो यस्य । स्नातः कर्ममलकलंकरहितः द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्मरहितत्वात् । पूतः प्रक्षालितः क आत्मा यस्य स तथोक्तः । उक्तं च—

पुलाकः सर्वशास्त्रज्ञो वकुशो भव्यबोधकः । कुशीले स्तोकचारित्रं निर्ग्रन्थो ग्रन्थाहारकः ।

और संकल्प-विकल्पसे रहित होनेके कारण महाशान्त कहलाते हैं । अथवा कर्ममल-कलंकसे रहित हैं, इसलिए भी महाशान्त कहलाते हैं । अथवा 'श' नाम सुखका और अन्त नाम धर्मका है । आत्मस्वभावको धर्म कहते हैं । आपका आत्मस्वभाव महान् सुखस्वरूप है, इसलिए भी महा-शान्त कहलाते हैं । अथवा आपने परिग्रहकी तृष्णारूप महा आशाका अन्त कर दिया है, इस प्रकारकी निरुक्तिके अनुसार भी आप महाशान्त सिद्ध होते हैं (३६) । कषायोंके दमन और कष्टोंके सहन करनेको दम कहते हैं । आपने प्रचंड परीषह और घोर उपसर्गोंको भी बड़ी शान्तिके साथ सहन किया है, अतः महादमके नामसे पुकारे जाते हैं । अथवा 'द' शब्द दान, पालन, दया आदि अनेक अर्थोंका वाचक है । आप त्रैलोक्यके प्राणियोंको अभय दान देकर उनका पालन करते हैं, इसलिए भी आप महादम अर्थात् महान् दाता हैं (३७) । कर्ममलकलंक रूप लेपसे आप रहित हैं, अतः निर्लेप हैं (३८) । आपका स्वान्त अर्थात् चित्त संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप भ्रमसे रहित है, अतः निर्भ्रमस्वान्त हैं (३९) । रत्नत्रयरूप धर्मका अधिकारपूर्वक प्रचार करते हैं, इसलिए धर्माध्यक्ष कहलाते हैं । अथवा धर्म-प्रचार और संरक्षणरूप आधि अर्थात् मानसिक चिन्तवनमें आपका अक्ष अर्थात् आत्मा निरत है, इसलिए भी आप धर्माध्यक्ष कहाते हैं (४०) । दयारूप ध्वजाके धारण करनेसे दयाध्वज कहलाते हैं । अथवा दयाके अध्व अर्थात् मार्गमें जो चलते हैं ऐसे योगियोंको दयाध्व कहते हैं, उनके हृदयमें आप जन्म लेते हैं, अर्थात् उन्हें ही प्रत्यक्ष होते हैं, अन्यको आपका साक्षात्कार नहीं होता, इसलिए भी आप दयाध्वज कहलाते हैं (४१) । ब्रह्मशब्द आत्मा, ज्ञान, मोक्ष, और चारित्रका वाचक है । आप इस सबकी योनि अर्थात् उत्पत्तिके आधार हैं, इसलिए साधुजन आपको ब्रह्मयोनि कहते हैं (४२) । विना किसी गुरुके स्वयं ही बोधको प्राप्त हुए हैं, इसलिए स्वयंबुद्ध हैं (४३) । ब्रह्म अर्थात् ज्ञान, तप, चारित्र और आत्माको जानते हैं इसलिए ब्रह्मज्ञ हैं (४४) । ब्रह्मके तत्व अर्थात् स्वरूप, रहस्य, हृदय या मर्मको जानते हैं, इसलिए ब्रह्मतत्ववित् कहलाते हैं (४५) ।

अर्थ—हे पतित-पावन, आप पूतात्मा हैं, स्नातक हैं, दान्त हैं, भदन्त हैं, वीतमत्सर हैं, धर्म-वृक्षायुध हैं, अक्षोभ्य हैं, प्रपूतात्मा हैं, अमृतोद्भव हैं, मंत्रमूर्ति हैं, स्वसौम्यात्मा हैं, स्वतंत्र हैं, ब्रह्मसंभव हैं, सुप्रसन्न हैं, गुणाम्भोधि हैं और पुण्यापुण्यनिरोधक हैं ॥७८-७९॥

व्याख्या—पूत अर्थात् कर्ममलकलंकसे रहित पवित्र आपका आत्मा है, अतः आप पूतात्मा हैं (४६) । स्नात अर्थात् द्रव्य, भाव और नोकर्मरूप लेपसे रहित हो जानेके कारण प्रक्षा-

स्नातकः केवलज्ञानी शेषाः सर्वे तपोधनाः । दान्तः तपःक्लेशसहः । अथवा दो दानं अभयदानं अन्तः स्वभावो यस्य स दान्तः । भदन्त इन्द्रचन्द्रधरणेन्द्रमुनीन्द्रादीनां पूज्यपर्यायत्वाद्भदन्तः । वीतो विनष्टो मत्सरः परेषां शुभकर्मद्वेषो यस्य (स तथोक्तः,) अनेर्षी । धर्म एव वृक्षः स्वर्ग-मोक्षफलदायकत्वात्, स एवायुधं प्रहरणं कर्मशत्रुनिपातनत्वात् । धर्मवृक्ष आयुधं यस्य स तथोक्तः । न क्षोभयितुं चारित्राच्चालयितुं शक्यः । अथवा अक्षेण केवलज्ञानेन उभ्यते प्रेर्यते अक्षोभ्यः । प्रकर्षेण पूतः पवित्र आत्मा यस्य स तथोक्तः । अथवा प्रपुनाति प्रकर्षेण पवित्रयति भव्यजीवान् प्रपूः, पवित्रकारकः सिद्धपरमेष्ठी । तस्य ता लक्ष्मीः अनन्त चतुष्टयं तया उपलक्षित आत्मा स्वभावो यस्य स प्रपूतात्मा सिद्धस्वरूप इत्यर्थः । अविद्यमानं मृतं मरणं यत्र तत् अमृतं मोक्षः, तस्य उद्भव उत्पत्तिर्भव्यानां यस्मात्सोऽयममृतोद्भवः ॥७८॥ मंत्रः सप्ताक्षरो मंत्रः, स एव मूर्तिः स्वरूपं यस्य । स्वेनात्मना स्वयमेव परोपदेशं विनैव सौम्योऽक्रूरः आत्मा स्वभावो यस्य स तथोक्तः । न पराधीनः स्वः आत्मा तंत्रं शरीरं यस्य । ब्रह्मणः आत्मनश्चारित्रस्य ज्ञानस्य मोक्षस्य च संभव उत्पत्तिर्यस्मात्स तथोक्तः । सुष्ठु अतिशयेन प्रसन्नः प्रहसितवदनः, स्वर्ग-मोक्षप्रदायको वा । गुणानां

लित है 'क' अर्थात् आत्मा जिनका; ऐसे आप हैं, अतः स्नातक कहलाते हैं (४७)। तपश्चरणके महाक्लेशको सहन करते हैं, अतः दान्त कहलाते हैं । अथवा द अर्थात् अभयदान देना ही आपका अन्त अर्थात् स्वभाव है (४८)। आपकी आर्हन्त्य-अवस्था इन्द्र, चन्द्र, नरेन्द्र, धरणेन्द्र मुनीन्द्र आदिकोंके द्वारा पूज्य है, अतः आप भदन्त कहलाते हैं (४९)। आप मत्सरभावसे सर्वथा रहित हैं, अतः वीतमत्सर हैं (५०)। आपका धर्मरूपी वृक्ष भव्यजीवोंके स्वर्ग-मोक्षरूपी फल प्रदान करता है और वह धर्मवृक्ष ही आपका आयुध है, कर्मरूप शत्रुओंको मारनेके लिए शस्त्रका कार्य करता है, अतः आप धर्मवृक्षायुध कहलाते हैं (५१)। आप किसी भी बाहिरी या भीतरी शत्रुसे क्षोभित नहीं किये जा सकते हैं इसलिए अक्षोभ्य कहलाते हैं । अथवा अक्ष अर्थात् केवलज्ञानसे आपका आत्मा परिपूर्ण है इसलिए अक्षोभ्य कहे जाते हैं (५२)। आपका आत्मा प्रकर्षरूपसे पवित्र है, इसलिए आप प्रपूतात्मा हैं अथवा जो भव्यजीवोंको प्रकर्षरूपसे पवित्र करते हैं, ऐसे सिद्धोंको 'प्रपू' कहते हैं उनकी 'ता' अर्थात् अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीसे आपका आत्मा उपलक्षित है, अतः आप प्रपूतात्मा कहलाते हैं (५३)। जहां पर मरण नहीं है, ऐसे मोक्षधामको अमृत कहते हैं, उसका उद्भव अर्थात् उत्पत्ति भव्यजीवोंको आपके निमित्तसे होती है अतः आपको अमृतोद्भव कहते हैं। अथवा मृत नाम मरणका है और उद्भव नाम उत्पत्ति अर्थात् जन्मका है। आपके अब जन्म और मरण दोनोंका ही अभाव है अतः अमृतोद्भव नाम भी आपका सार्थक है (५४)। 'णमो अरहंताणं' इन सात अक्षरोंको मन्त्र कहते हैं, यही आपकी मूर्ति है दूसरी कोई मूर्त्ति नहीं है अतः आप मंत्रमूर्त्ति कहे जाते हैं अथवा मन्त्रनाम स्तुतिका है। स्तुतिकारोंको ही आपकी अलक्ष्य मूर्तिका साक्षात्कार होता है, इसलिए भी आप मंत्रमूर्त्ति कहलाते हैं ।अथवा ब्राह्मण वेदके चालीस अध्यायोंको मंत्र कहते हैं। किन्तु वे मंत्र पशुयज्ञादि उपदेश देनेसे पापरूप हैं, निर्दयताके प्ररूपक हैं; अतः उन्हें हिंसा-विधायक होनेसे मूर्त्तिरूप अर्थात् कठिन या कठोर आपने बतलाया है (५५)। परोपदेशके विना स्वयमेव ही आपका आत्मा अत्यन्त सौम्य है, दयालु-स्वभाव है, अतः आप स्वसौम्यात्मा हैं (५६)। तन्त्र शब्द करण, शास्त्र, परिच्छद, औषधि, कुटुम्ब, प्रधान, सिद्धान्त आदि अनेक अर्थोंका वाचक है। आपका आत्मा ही उन सब अर्थोंमें व्याप्त है, अर्थात् आप ही शास्त्रस्वरूप हैं, औषधिरूप हैं, इत्यादि। अतएव आप स्वतंत्र हैं (५७)। ब्रह्मशब्द आत्मा, ज्ञान, चारित्र आदि अनेक अर्थोंका वाचक है। आपसे ज्ञान, चारित्र, मोक्ष आदिकी संभव अर्थात् उत्पत्ति हुई है, अतएव आप ब्रह्मसंभव कहलाते हैं (५८)। आप सदा अत्यन्त प्रसन्न रहते हैं और भक्तोंको स्वर्ग-मोक्षके दाता हैं, अतएव सुप्रसन्न कहलाते हैं (५९)। अनन्त ज्ञान, दर्शन,

सुसंवृत्तः सुगुप्तात्मा सिद्धात्मा निरुपप्लवः। महोदर्को महोपायो जगदेकपितामहः ॥८०॥
महाकारुणिको गुण्यो महाक्लेशांकुशः शुचिः। अरिंजय सदायोगः सदाभोगः सदाधृतिः ॥८१॥

अनन्तकेवलज्ञान-अनन्तदर्शन-अनन्तवीर्य-अनन्तसौख्य-सम्यक्त्व-अस्तित्व-वस्तुत्व-प्रमाणत्व-प्रमेयत्व-चैतन्यादीनां अनन्तगुणानां अम्भोधिः समुद्रः। पुण्यापुण्ययोर्निरोधको निषेधकारकः ॥७९॥

सुष्ठु अतिशयेन संवृणोति स्म, अतिशयवद्विशिष्टसंवरयुक्त इत्यर्थः। सुष्ठु अतिशयेन गुप्तः आस्रव विशेषाणामगम्यः आत्मा टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावः आत्मा जीवो यस्य। सिद्धो हस्तप्राप्तिमायातः आत्मा जीवो यस्य। निर्गतो निर्नष्टो मूलादुन्मूलितः समूलकाषं कषितः उपप्लवः उत्पातः उपसर्गो यस्य स तथोक्तः, तपोविघ्नरहितः षडूर्मिदूरः। महान् सर्वकर्मनिर्मोक्षलक्षणः अनन्तकेवलज्ञानादिलक्षणश्च उदर्कः उत्तरफलं यस्य। महान् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रतपोलक्षण उपायो मोक्षस्य यस्य स तथोक्तः। जगतामधोमध्योर्ध्वलोकस्थितभव्यलोकानामेकोऽद्वितीयः पितामहः जनकजनको हितकारकत्वात् ॥८०॥ करुणायां सर्वजीवदयायां नियुक्तः कारुणिक। महांश्चासौ कारुणिको महाकारुणिकः, सर्वदैव मरणनिषेधक इत्यर्थः। गुणेषु पूर्वोक्तेषु चतुरशीतिलक्षसंख्येषु नियुक्तः साधुर्वा। महान् तपः संयमपरीषहसहनादिलक्षणो योऽसौ क्लेशः कृच्छ्रं स एवांकुशः श्रृणिर्मत्तमनोगजेन्द्रोन्मार्गनिषेधकारकत्वात्। (शुचिः) परमपवित्रः। अरीन् अष्टाविंशतिभेदभिन्नमोहमहाशत्रून् जयति निर्मूलकाषं कषतीति। सदा सर्वकालं योगो आसंसारमलब्धलाभलक्षणं परमशुक्लध्यानं यस्य। सदा सर्वकालं भोगो निजशुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मैकलोलीभावलक्षणपरमानन्दामृतरसास्वादस्वभावो भोगो यस्य। सदा सर्वकालं धृतिः सन्तोषो यस्य ॥८१॥

सुख, वीर्यादि गुणोंके अम्भोधि अर्थात् समुद्र हैं, अतः गुणाम्भोधि कहलाते हैं (६०)। पुण्यरूप शुभकर्म और अपुण्यरूप पापकर्मोंका आपने निरोध कर पूर्ण संवरको प्राप्त किया है, अतएव आप पुण्यापुण्यनिरोधक कहलाते हैं (६१)।

अर्थ—हे करुणासागर, आप सुसंवृत्त हैं, सुगुप्तात्मा हैं, सिद्धात्मा हैं, निरुपप्लव हैं, महोदर्क हैं, महोपाय हैं, जगदेकपितामह हैं, महाकारुणिक हैं, गुण्य हैं, महाक्लेशांकुश हैं, शुचि हैं, अरिंजय हैं, सदायोग हैं, सदाभोग हैं, और सदाधृति हैं ॥८०–८१॥

व्याख्या—आपका आत्मा पूर्णरूपसे संवर को प्राप्त हो चुका है अतः आप सुसंवृत्त हैं (६२)। आपका आत्मा सुगुप्त अर्थात् सर्व प्रकारसे सुरक्षित है, किसी भी प्रकारके आस्रवके गम्य नहीं हैं, अतः आप सुगुप्तात्मा हैं (६३)। आपको आत्मा सिद्ध हो गया है, अथवा आपका आत्मा सर्व कर्मोंसे रहित सिद्धस्वरूप है, अतः आप सिद्धात्मा हैं (६४)। उपप्लव अर्थात् उत्पात, उपसर्ग उपद्रव आदिसे आप सर्वथा रहित हैं, अतः निरुपप्लव कहलाते हैं। अथवा भूख, प्यास, शोक, मोहन, जन्म, और मृत्यु इन छह ऊर्मियोंको भी उपप्लव कहते हैं। आप उनसे रहित शुद्ध शिवस्वरूप हैं (६५)। सर्व कर्म-विप्रमोक्षलक्षण और अनन्त केवलज्ञानादि स्वरूप महान् उदर्क अर्थात् उत्तरफल को प्राप्त हैं, अतः महोदर्क कहलाते हैं (६६)। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रस्वरूप मोक्षके महान् उपाय के प्राप्त कर लेनेसे आप महोपाय कहलाते हैं (६७)। सर्व जगत्के एकमात्र पितामह अर्थात् परम हितैषी हैं, अतः जगदेकपितामह हैं (६८)। महान् दयालु स्वभाव होनेसे महाकारुणिक कहलाते हैं (६९)। चौरासी लाख उत्तर गुणोंसे युक्त हैं, अतः गुण्य कहलाते हैं (७०)। महान् क्लेशरूप गजों को जीतनेके लिए अंकुशके समान हैं, अतः महाक्लेशांकुश हैं (७१)। आप जन्मकालसे ही मल-मूत्र से रहित हैं, अन्तरंग-बहिरंग सर्व प्रकारके पापोंसे निर्लिप्त हैं, परम ब्रह्मचर्यसे युक्त हैं और निज शुद्ध-बुद्धैकस्वभावरूप परम पवित्र तीर्थमें निर्मल भावनारूप जलसे आपका अन्तःकरण अति पवित्र है, अतः आप शुचि कहलाते हैं (७२)। महान् मोहरूप अरिको जीतनेके कारण आप अरिंजय कहलाते हैं (७३)। सदा ही शुक्लध्यानरूप योगसे युक्त हैं, अतः सदायोग कहलाते हैं (७४)।

परमौदासिताऽनाश्वान् सत्याशीः शान्तनायकः । अपूर्ववैद्यो योगज्ञो धर्ममूर्तिरधर्मधक् ॥८२॥

परम उत्कृष्ट उदासिता, उदास्ते इत्येवंशीलः उदासिता, तृन् । उत्कृष्टौदासीन्यः शत्रु-मित्र-तृण-कांचन समत्वपरिणाम इत्यर्थः । न आश न भुक्तवान् अनाश्वान् 'ऽनूचानो' निपातनाच्च, वेयस्वोश्च कृति नेट् । अनाश्वान् अनाश्वांसौ अनाश्वांसः इत्यादि रूपाणि भवन्ति, अनाशुषा अनाशुद्भ्यामित्यादि च । सत्सु भव्यजीवेषु योग्या सत्या, सत्सु निर्वाण्या सत्या ऋद्धयो हिता वा सत्या । सत्या सफला वा आशीः अभयदान-मस्तु इत्यादिरूपा आशीर्वादो यस्य स तथोक्तः । शान्तानां रागद्वेषमोहादिरहितानां नायकः स्वामी । वा मोक्षनगरप्रापको वा शान्तोऽङ्कुरः, स चासौ नायकः स्वामी; वा शस्य सुखस्य अन्तो विनाशो यस्मादसौ शान्तः संसारस्तस्य न आय आगमनं यस्य स शान्तनायकः । न आद् नयादिति नस्य स्थितिः । (विद्या मंत्रौषधि-लक्षणा विद्यते यस्य स वैद्यः । स वैद्यो लोकानां व्याधिचिकित्सनं किमपि करोति तेन स वैद्यः सर्वेषामपि स पूर्वो दृष्टः श्रुतश्च विद्यते ।) भगवांस्तु सर्वेषां जन्मप्रभृत्यपि व्याधितानां प्राणिनां नाममात्रेणापि व्याधिविनाशं करोति, कुष्ठिनामपि शरीरं सुवर्णशलाकासदृशं विदधाति, जन्म-जरा-मरणं च मूलादुन्मूलयति तेन भगवान् अपूर्वश्चासौ वैद्यः अपूर्ववैद्यः । योगं धर्म्य-शुक्लध्यानद्वयं जानात्यनुभवतीति । धर्मस्य चारित्रस्य मूर्तिरङ्गः, धर्मस्याहिंसालक्षणस्य मूर्तिः । अधर्म हिंसादिलक्षणं पापं तस्य ध्वंसं च दहति भस्मीकरोतीति अधर्मधक् ॥८२॥

सर्वदा निज शुद्ध-बुद्धैकस्वभावी परमानन्दामृत-रसास्वादनरूप भोगको प्राप्त हैं, अतः सदाभोग कहलाते हैं (७५) सदा ही धृति अर्थात् परम धैर्यरूप सन्तोषको धारण करते हैं, अतः सदाधृति कहलाते हैं (७६) ।

अर्थ—हे निरीह, आप परमौदासिता हैं, अनाश्वान् हैं, सत्याशीः हैं, शान्तनायक हैं, अपूर्ववैद्य हैं, योगज्ञ हैं, धर्ममूर्त्ति हैं और अधर्मधक् हैं, ॥८२॥

व्याख्या—आप शत्रु और मित्रमें परम उदासीनरूपसे अवस्थित रहते हैं, अतः परमौदासिता कहलाते हैं (७७) । आप अशन अर्थात् कवलाहारसे रहित हैं अतः अनाश्वान कहलाते हैं । अथवा आप शाश्वत कल्याणके मार्गमें आरूढ हैं और समस्त प्राणियोंके विश्वासपात्र हैं, इसलिए भी अनाश्वान् कहलाते हैं (७८) । आपका अभयदानरूप आशीर्वाद सदा सत्य और सफल ही होता है अतः आप सत्याशीः कहलाते हैं (७९) । जिनके राग, द्वेष, मोहादि शान्त हो गये हैं, ऐसे साधुओं के आप नायक हैं, अथवा भव्योंको परम शान्तिरूप मोक्षनगरको प्राप्त कराते हैं अतः शान्तनायक कहलाते हैं अथवा श अर्थात् सुखका अन्त करनेवाले संसारका आय अर्थात् आगमन आपके नहीं हैं, पुनरागमनसे आप रहित हो चुके हैं, इसलिए भी आप शान्तनायक कहलाते हैं (८०) । आप जैसा वैद्य आज तक न किसीने देखा है और न सुना है, अतः आप अपूर्ववैद्य हैं । अर्थात् आपका नाम लेने मात्रसे ही रोगियोंके बड़े-बड़े रोग दूर हो जाते हैं, कोढ़ियोंके कुष्ठ-गलित शरीर भी सुवर्ण सदृश चमकने लगते हैं और जिन जन्म, जरा मरणादि व्याधियोंका अन्य किसी वैद्यने इलाज नहीं कर पाया है, उन्हें आपने सर्वथा सर्वदा के लिए दूर कर दिया है, अतः आपको योगिजन अपूर्ववैद्य कहते हैं (८१) । धर्म और शुक्लध्यानरूप योगके आप ज्ञाता हैं, अथवा कर्मास्रवके कारणभूत मन, वचन, कायरूप शुभाशुभ योगके आप जानने वाले हैं, आप ही बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहसे रहित हैं और मोक्षमार्गमें प्रवृत्त हैं इसलिए योगज्ञ कहलाते हैं (८२) । अहिंसालक्षण या रत्नत्रयस्वरूप धर्मकी आप साक्षात् मूर्त्ति हैं । अथवा धर्मशब्द न्याय, आचार, कर्त्तव्य, उपमा, स्वभाव, दान आदि अनेक अर्थोंका भी वाचक है । आप न्याय, कर्त्तव्य, आदिके मूर्तिमान् रूप हैं, इसलिए भी धर्ममूर्त्ति कहलाते हैं (८३) । अधर्म अर्थात् हिंसादिलक्षण पापके दहन करनेवाले हैं, इसलिए अधर्मधक् कहलाते हैं (८४) ।

ब्रह्मेट् महाब्रह्मपतिः कृतकृत्यः कृतक्रतुः । गुणाकरो गुणोच्छेदी निर्निमेषो निराश्रयः ॥८३॥
सूरिः सुनयतत्त्वज्ञो महामैत्रीमयः शमी । प्रक्षीणबन्धो निर्द्वन्द्वः परमर्षिरनन्तगः ॥८४॥
इति योगिशतम् ।

ब्रह्मणो ज्ञानस्य वृत्तस्य मोक्षस्य च ईट् स्वामी । ब्रह्मणां मतिज्ञानादीनां चतुर्णां उपरि वर्त्तमानं पंचमं केवलज्ञानं महाब्रह्मोच्यते, तस्य पतिः स्वामी । कृतं कृत्यं आत्मकार्यं येन स तथोक्तः । कृतो विहितः क्रतुर्यज्ञः शक्रादिभिर्यस्य स तथोक्तः । गुणानां केवलज्ञानादीनां वा चतुरशीतिलक्षाणां आकर उत्पत्तिस्थानं गुणाकरः । गुणान् क्रोधादीन् उच्छेदयतीत्येवंशीलः । अगुणोच्छेदी इति पाठे अगुणान् दोषान् छिनत्ति इति । चक्षुषोः मेषोन्मेषरहितः, दिव्यचक्षुरित्यर्थः । लोचनस्पन्दरहित इति यावत् । निर्गतो निर्नष्टः आश्रयो गृहं यस्य, वा निर्निश्चित आश्रयो निर्वाणपदं यस्य ॥८३॥ सुतेः बुद्धिं सूरिः । भू सू अदिभ्य क्रिः । ये स्याच्छब्दोपलक्षितास्ते सुनयास्तेषां तत्त्वं मर्म जानातीति सुनयतत्त्वज्ञः । महती चासौ मैत्री महामैत्री सर्वजीवजीवनबुद्धिः, तया निर्वृत्तः । शमः सर्वकर्मक्षयो विद्यते यस्य । समी इति पाठे समः समतापरिणामो विद्यते यस्य । प्रकर्षेण क्षीणः क्षयं गतो बंधो यस्य । निर्गतं द्वन्द्वं कलहो यस्य । परमश्चासौ ऋषिःकेवलज्ञानर्द्धिसहितः । अनन्तं केवलज्ञानं गच्छति प्राप्नोतीति ॥८४॥
इति योगिशतम् ।

अर्थ—हे स्वामिन्, आप ब्रह्मेट् हैं, महाब्रह्मपति हैं, कृतकृत्य हैं, कृतक्रतु हैं, गुणाकर हैं, गुणोच्छेदी हैं, निर्निमेष हैं निराश्रय हैं, सूरि हैं, सुनयतत्त्वज्ञ हैं, महामैत्रीमय हैं, शमी हैं, प्रक्षीणबन्ध हैं, निर्द्वन्द्व हैं, परमर्षि हैं और अनन्तग हैं ॥८३–८४॥

व्याख्या—ब्रह्म अर्थात् आत्मा, ज्ञान, चारित्र और मोक्षके आप ईश्वर हैं, अतः ब्रह्मेट् कहलाते हैं (८५)। ब्रह्म नाम ज्ञानका है, सर्व ज्ञानोंमें श्रेष्ठ केवलज्ञानको महाब्रह्म कहते हैं, आप उसके पति हैं, अतः महाब्रह्मपति हैं । अथवा महाब्रह्मा नाम सिद्धपरमेष्ठी का है, दीक्षाके अवसरमें आप उन्हें नमस्कार करते हैं, अतः वे आपके स्वामी हैं, इस अपेक्षा भी आप महाब्रह्मपति कहलाते हैं (८६)। करनेके योग्य कार्योंको आपने कर लिया है, अतः आप कृतकृत्य कहलाते हैं (८७)। आपका क्रतु अर्थात् पूजन इन्द्रादिकोंने किया है, इसलिए आप कृतक्रतु हैं । अथवा भव्योंके द्वारा की गई आपकी पूजा सदा सफल ही होती है, कभी भी निष्फल नहीं जाती, उन्हें स्वर्ग और मोक्षको देती है, इसलिए भी आप कृतक्रतु कहलाते हैं । अथवा आपने कर्मोंको भस्म करनेरूप यज्ञ समाप्त कर लिया है, इससे भी कृतक्रतु नाम आपका सार्थक है (८८)। आप छ्यालीस मूल गुणोंके, अथवा चौरासी लाख उत्तर गुणोंके अथवा ज्ञानादि आत्मिक अनन्त गुणोंके आकर अर्थात् खानि हैं, अतः गुणाकर कहलाते हैं (८९)। क्रोधादि विभावगुणोंके उच्छेद करनेसे गुणोच्छेदी कहलाते हैं । अथवा अगुणोच्छेदी पाठके स्वीकार करनेपर अगुण अर्थात् दोषोंके आप उच्छेदक हैं, इसलिए अगुणोच्छेदी नाम भी आपका सार्थक है (९०)। निमेष अर्थात् नेत्रोंके उन्मीलन-निमीलनरूप टिमकारसे आप रहित हैं, अतः निर्निमेष हैं (९१)। आपका आश्रय अर्थात् सांसारिक निवास नष्ट हो चुका है और निर्वाणरूप निश्चित आश्रयको आपने प्राप्त कर लिया है, अतः आप दोनोंही अपेक्षाओंसे निराश्रय सिद्ध होते हैं (९२)। आप भव्योंके जगत्-उद्धारक बुद्धिको सूते अर्थात् उत्पन्न करते हैं, इसलिए योगिजन आपको सूरि कहते हैं (९३)। स्यात्पदसे संयुक्त नयोंको सुनय कहते हैं । उन नयोंके आप तत्त्व अर्थात् रहस्य या मर्मको जानते हैं इसलिए सुनयतत्त्वज्ञ हैं (९४)। आप महा मित्रतासे युक्त हैं, सर्व जीवोंके सदा हितैषी हैं, अतः महामैत्रीमय कहलाते हैं (९५)। सर्व कर्मोंका क्षय करनेसे शमी कहलाते हैं । 'समी' इस पाठके मानने पर आप समता भावसे युक्त हैं, अतः समी कहलाते हैं (९६)। आपने सर्व कर्मबन्धोंको प्रक्षीण कर दिया है, अतः प्रक्षीणबन्ध हैं (९७)। आप द्वन्द्व अर्थात् कलह-दुविधासे रहित हैं, अतः निर्द्वन्द्व कहलाते हैं (९८)। केवलज्ञानरूप परम ऋद्धिसे युक्त हैं अतः परमर्षि कहलाते हैं (९९)। अनन्त केवलज्ञानको प्राप्त किया है, अथवा अनन्त संसारसे परे गमन किया है, अथवा अनन्त पदार्थोंके ज्ञाता हैं, इसलिए आप अनन्तग कहलाते (१००)।

इस प्रकार योगिशतक समाप्त हुआ ।

अथ निर्वाणशतम्

निर्वाणः सागरः प्राज्ञैर्महासाधुरुदाहृतः। विमलाभोऽथ शुद्धाभः श्रीधरो दत्त इत्यपि ॥८५॥

निर्वाति स्म निर्वाणः, सुखीभूतः अनन्तसुखं प्राप्तः। निर्वाणो वा ते इति साधुः। वा निर्गता- वाणाः शराः कन्दर्पवाणाः यस्मादिति। वा निर्गताः वाणाः सामान्यशरास्तदुपलक्षणं सर्वायुधानां, निर्वाणः। वा वने नियुक्तो वानः, निश्चितो वानो निर्वाणः। यतो भगवान् निःक्रान्तः सन् वनवासी एव भवति, जिनकल्पित्वात्, न तु स्थविरकल्पिवत् वसत्यादौ तिष्ठति। सा लक्ष्मीर्गले कण्ठे यस्य स सागरः, अभ्यु- दय-निःश्रेयसलक्ष्मीसमालिंगितत्वात्। वा निःक्रमणकल्याणावसरे सा राज्यलक्ष्मीर्गरः विषसदृशी अरोचमान- त्वात्। दक्षः कुशलो हितश्च साधुरुच्यते। महांश्चासौ साधुर्महासाधुः। विमला कर्ममलकलंकरहिता आभा शोभा यस्येति। शुद्धा शुक्ला आभा दीप्तिर्यस्य स तथोक्तः। शुक्ललेश्यो वा। श्रियं बाह्यां समवसरणलक्षणो- पलक्षितां, अभ्यन्तरां केवलज्ञानादिलक्षणां धरतीति। दानं दत्तं, दत्तयोगाद् भगवानपि दत्तः, वांछितफल- प्रदायक इत्यर्थः ॥८५॥

अर्थ—हे भगवन्, आप निर्वाण हैं, सागर हैं, महासाधु हैं, विमलाभ हैं, शुद्धाभ हैं, श्रीधर हैं और दत्त हैं ॥८५॥

व्याख्या—हे भगवन्, आप कामके बाणोंसे अथवा आकुलताके कारणभूत सर्व प्रकारकी शल्योंसे रहित हैं, अतः निर्वाण हैं। अथवा निर्वाण अर्थात् अनन्त सुखको प्राप्त कर लेनेसे आप निर्वाण कहलाते हैं। अथवा वनमें बसनेवाले को वान कहते हैं। जिसका वनमें बसना सर्वथा निश्चित है, उसे निर्वाण कहा जाता है। भगवान् भी घर छोड़नेके पश्चात् जिनकल्पी होकर वनमें ही वास करते हैं (१)। सा नाम लक्ष्मीका है और गर नाम गला या कंठका है। भगवानके गलेमें अभ्युदय-निःश्रेयसरूप लक्ष्मी आलिंगन करती है, अतः आप सागर हैं। अथवा गर नाम विषका भी है। आप दीक्षाके अवसरमें राज्यलक्ष्मीको विषके सदृश हेय जानकर छोड़ देते हैं, इसलिए भी सागर कहलाते हैं। अथवा गर अर्थात् विषके साथ जो वर्तमान हो, उसे सगर कहते हैं, इस निरुक्तिके अनुसार सगर नाम धरणेन्द्रका है,। उसके आप सांकल्पिक पुत्र हैं, अतः आप सागर कहलाते हैं। ऐसा कहा जाता है कि भगवान् बाल्यावस्थामें सिंहासन पर बैठते हैं, तब धरणेन्द्र उन्हें अपनी गोदमें लेकर बैठता है और सौधर्मेन्द्र सिंहासनके नीचे बैठकर उनके चरण-कमलोंकी सेवा करता है। अथवा सा अर्थात् लक्ष्मीसे उपलक्षित अग अर्थात् गिरिराज सुमेरुको साग कहते हैं, क्योंकि वह जन्मकल्याणकके समय भारी लक्ष्मीसे सम्पन्न होता है। उस लक्ष्मी-सम्पन्न सुमेरुको आप जन्माभिषेकके समय 'राति' अर्थात् स्वीकार करते हैं, इसलिए भी आपका सागर यह नाम सार्थक है। अथवा सा अर्थात् लक्ष्मी जिनकी गत या नष्ट हो चुकी है, ऐसे दरिद्री जनोंको साग कहते हैं, उन्हें आप 'रायति' अर्थात् धन ग्रहण करनेके लिए आह्वानन करते हैं और उनका दारिद्र्य-दुःख दूर करते हैं, इसलिए भी आप सागर कहलाते हैं (२)। दक्ष, कुशल या हितैषीको साधु कहते हैं। आप महान् कुशल हैं अतः महासाधु हैं। अथवा तीर्थंकर जैसा महान् पद पा करके भी आप मुक्तिके देनेवाले रत्नत्रयकी साधना करते हैं, इसलिए भी योगिजन आपको महासाधु कहते हैं (३)। कर्ममलकलंकसे रहित विमल आत्माको धारण करनेसे आप विमलाभ कहलाते हैं। अथवा विशिष्ट मा अर्थात् केवलज्ञानरूप लक्ष्मीका लाभ आपको हुआ है, इसलिए भी आपका विमलाभ नाम सार्थक है। अथवा राहु, केतु आदि ग्रहोंके उपरागसे रहित विमल और कोटि सूर्य-चन्द्रकी आभाको भी तिरस्कृत करनेवाले ऐसे भामंडलको आप धारण करते हैं, इसलिए भी आप विमलाभ कहलाते हैं (४)। कर्ममलकलंकसे रहित शुद्ध अभा अर्थात् चैतन्य ज्योतिको धारण करनेसे आप शुद्धाभ कहलाते हैं। अथवा शुद्ध अर्थात् शुक्ललेश्यारूप आपकी आभा है, इसलिए भी आप शुद्धाभ हैं (५)। बाह्य समवसरण-

अमलाभोऽप्युद्धरोऽग्निः संयमश्च शिवस्तथा । पुष्पांजलिः शिवगण उत्साहो ज्ञानसंज्ञक. ॥८६॥
परमेश्वर इत्युक्तो विमलेशो यशोधरः । कृष्णो ज्ञानमतिः शुद्धमतिः श्रीभद्र शान्तयुक् ॥८७॥
वृषभस्तद्वदजितः संभवश्चाभिनन्दनः । मुनिभिः सुमतिः पद्मप्रभः प्रोक्तः सुपार्श्वकः ॥८८॥

अविद्यमाना मलस्य पापस्य आभा लेशो यस्य । अथवा न विद्यते मा लक्ष्मीर्येषां ते अमाः, दीन-दुःस्थित-दरिद्रास्तेषां लाभो धनप्राप्तिर्यस्मादसौ अमलाभः । उत् ऊर्ध्वस्थाने धरति स्थापयति भव्यजीवानिति । अंगति ऊर्ध्वं गच्छति त्रैलोक्याग्रं व्रजति, ऊर्ध्वं व्रज्यास्वभावत्वात् अग्निः, अगिशुषियुवहिभ्यो निः । सम्यक् प्रकारो यमो यावज्जीवव्रतो यस्य । शिवं परमकल्याणं तद्योगात् पंचकल्याणप्रापकत्वात् शिवः । पुष्पवत् कमलवत् अञ्जलिः इन्द्रादीनां करसंपुटो यं प्रति स पुष्पांजलिः । शिवः श्रेयस्करो गणो निर्ग्रन्थादिद्वादश-भेदः संघो यस्य । सहनं सहः, भावे घञ् । उत्कृष्टः साहः सहनं परीषहादिक्षमता उत्साहः । ज्ञानं जानाति विश्वं इति ज्ञानं । कृत्ययुटोऽन्यत्रापि च कर्त्तरि युट् । वा ज्ञान् पण्डितान् अनति जीवति ज्ञानः । अत्रान्तर्भूत इन्प्रत्ययः ॥८६॥ परमश्चासौ ईश्वरः स्वामी । विमलः कर्ममलकलंकरहितो व्रतेष्वनतिचारो वा विमलः, स चासावीशः । यशः पुण्यगुणकीर्त्तनं धरतीति । कर्षति मूलादुन्मूलयति निर्मूलकापं कषति घातिकर्मणां घातं करोतीति । ज्ञानं केवलज्ञानं मतिर्ज्ञानं यस्य । शुद्धा कर्ममलकलंकरहिता मतिः सकलविमलकेवलज्ञानं यस्य । श्रिया अभ्युदय-निःश्रेयसलक्षणया लक्ष्म्या भद्रो मनोहरः । शाम्यति स्म शान्तः रागद्वेषरहित इत्यर्थः ॥८७॥ वृषेणाहिंसालक्षणोपलक्षितेन धर्मेण भाति शोभते । न केनापि काम-क्रोधादिना शत्रुणा जितः अजितः । सं

रूप और अन्तरंग अनन्त ज्ञानादिरूप श्री को धारण करनेसे 'श्रीधर' यह नाम भी आपका सार्थक है । अथवा श्री से उपलक्षित धरा अर्थात् समवसरणभूमि आपके हैं, इसलिए भी आप श्रीधर हैं । अथवा श्रीके आप धर अर्थात् निवासभूमि हैं (६) । भक्तोंको वांछित फलके दाता होनेसे आप दत्त कहलाते हैं । अथवा आप अपनी ही आत्माको ध्यानमें देते हैं अर्थात् लगाते हैं, इसलिए भी दत्त कहलाते हैं (७) ।

अर्थ—हे परमेश्वर, आप अमलाभ हैं, उद्धर हैं, अग्नि हैं, संयम हैं, शिव हैं, पुष्पांजलि हैं, शिवगण हैं, उत्साह हैं, ज्ञानसंज्ञक हैं, परमेश्वर हैं, विमलेश हैं, यशोधर हैं, कृष्ण हैं, ज्ञानमति हैं, शुद्धमति हैं, श्रीभद्र हैं, शान्त हैं, वृषभ हैं, अजित हैं, संभव हैं, अभिनन्दन हैं, सुमति हैं, पद्मप्रभ हैं और सुपार्श्व हैं ॥८६–८८॥

व्याख्या—हे परम ईश्वर, आपके पापरूप मलकी आभा अर्थात् लेश भी नहीं है, इसलिए आप अमलाभ कहलाते हैं । अथवा मा अर्थात् लक्ष्मीसे रहित दीन-दरिद्रियोंको अमा कहते हैं, उन्हें आपके निमित्तसे धनका लाभ होता है, इसलिए भी आप अमलाभ कहलाते हैं । अथवा लक्ष्मीसे रहित निर्ग्रन्थ मुनियोंको अमा कहते हैं । उन मुनियोंको जो अपने संघमें लेते हैं, ऐसे गणधर-देवोंको अमल कहते हैं । उन गणधरदेवोंसे आप सर्व ओरसे 'भाति' अर्थात् शोभित होते हैं, इसलिए भी आप अमलाभ कहलाते हैं (८) । आप उत् अर्थात् ऊर्ध्वलोकमें भव्यजीवोंको धरते हैं–स्थापित करते हैं, इसलिए आप उद्धर कहलाते हैं । अथवा आप उत् अर्थात् उत्कृष्ट हर हैं, पापोंके हरण करनेवाले हैं । अथवा उत्कृष्ट समवसरण-धराको धारण करते हैं । अथवा उत्कृष्ट वेगसे एक समयमें सात राजु लोकको उल्लंघन करके मोक्षमें प्राप्त होते हैं, इसलिए भी उद्धर कहलाते हैं (९) । अग्निके समान ऊर्ध्वगमनस्वभावी हैं, अथवा कर्मरूप काननके दहनके लिए आप अग्निके समान हैं, अतः अग्नि कहलाते हैं (१०) । यम अर्थात् यावज्जीवनरूप व्रतोंको सम्यक् प्रकार धारण करनेसे साधु-जन आपको संयम कहते हैं (११) । परम कल्याणरूप होनेसे आप शिव कहलाते हैं । अथवा आप शिवको करनेवाले हैं और स्वयं शिव अर्थात् मोक्षस्वरूप हैं, शरीरसे युक्त होने पर भी जीवन्मुक्त हैं, इसलिए भी योगीजन आपको शिव कहते हैं (१२) । इन्द्रादिक देव भक्ति-भारसे नम्रीभूत होकर आपके लिए कमल-पुष्पके समान हाथोंकी अंजलि बांधे रहते हैं, इसलिए आप पुष्पांजलि कहलाते हैं । अथवा बारह योजन प्रमाण समवसरणभूमिमें विविध कल्पवृक्षोंके पुष्पोंकी वर्षा होनेसे भी हर

समीचीनो भवो जन्म यस्य । शंभव इति पाठे शं सुखं भवति यस्मादिति शंभवः, संपूर्वेर्विभ्य संज्ञायां अच् । अभि समन्तात् नन्दयति निजरूपाद्यतिशयेन प्राणिनामानन्दमुत्पादयतीति । शोभना लोकालोकप्रकाशिका मतिः केवलज्ञानलक्षणोपलक्षिता बुद्धिर्यस्य । पद्मवत् रक्तकमलवत् प्रभा वर्णो यस्य । सुष्ठु शोभने पार्श्वे वामदक्षिणशरीरप्रदेशौ यस्य ॥८८॥

एक व्यक्तिके हस्तमें पुष्पोंकी अंजुलि भरी होती है, इसलिए भी आपको लोग पुष्पाञ्जलि कहते हैं (१३)। शिव अर्थात् श्रेयस्कर द्वादश सभारूप गण या संघके पाये जानेसे मुनिजन आपको शिवगण कहते हैं। अथवा शिवको ही आप साररूपसे गिनते हैं और अन्य सर्व वस्तुओंको असार गिनते हैं, इसलिए भी आप शिवगण कहलाते हैं (१४)। आप उत्कृष्ट परीषहोंके सहन करनेवाले हैं, इसलिए उत्साह कहलाते हैं। अथवा उत्कृष्ट सा अर्थात् मोक्षलक्ष्मीका हनन नहीं करते, प्रत्युत सेवकोंको मोक्षलक्ष्मी प्रदान करते हैं, इसलिए भी आपका उत्साह यह नाम सार्थक है (१५)। जो विश्वको जाने, उसे ज्ञान कहते हैं। ज्ञान ही आपकी संज्ञा अर्थात् नाम है, अतएव आप ज्ञानसंज्ञक कहलाते हैं। अथवा 'ज्ञ' अर्थात् ज्ञानियोंको आप जीवन देते हैं, अर्थात् ज्ञानियोंके आप ही प्राण हैं, इस अपेक्षासे भी आपका उक्त नाम सार्थक है (१६)। आप परम अर्थात् सर्वोत्कृष्ट लक्ष्मीके ईश्वर हैं, इसलिए परमेश्वर कहलाते हैं। अथवा 'प' अर्थात् परित्राण करनेवाली, जीवोंके नरकादिगतियोंमें पतनसे रक्षा करनेवाली रमाके आप स्वामी हैं। अथवा 'परं' अर्थात् निश्चय रूपसे आप 'अ' अर्थात् अरहन्त पदको प्राप्त ईश्वर हैं, इसलिए भी योगिजन आपको परमेश्वर कहते हैं (१७)। आप विमल अर्थात् कर्ममल-रहित ईश हैं, अतः विमलेश कहलाते हैं। अथवा 'वि' अर्थात् अघाति कर्मरूप विविध 'म' यानी मलका लेशमात्र पाये जानेसे भी विमलेश यह नाम सार्थक है (१८)। यशको धारण करनेसे आप यशोधर कहलाते हैं (१९)। घातिया कर्मोंको जड़मूलसे कृश करनेके कारण आपको योगिजन कृष्ण कहते हैं (२०)। केवलज्ञानरूप ही आपकी मति है, अतः आप ज्ञानमति कहलाते हैं (२१)। कर्ममलसे रहित शुद्ध मतिको धारण करनेसे साधुजन आपको शुद्धमति कहते हैं (२२)। अभ्युदय और निःश्रेयसरूप श्रीसे आप भद्र अर्थात् मनोहर हैं, इसलिए श्रीभद्र कहलाते हैं (२३)। आपके राग-द्वेषादि सब विकारभाव शान्त हो चुके हैं, इसलिए योगिजन आपको शान्त कहते हैं (२४)। अहिंसालक्षण वृष अर्थात् धर्मसे आप 'भाति' कहिए शोभित हैं, अतः वृषभ नामसे आप पुकारे जाते हैं (२५)। काम-क्रोधादि किसी भी शत्रुके द्वारा नहीं जीते जा सकनेसे आप अजित कहलाते हैं (२६)। आपका भव अर्थात् जन्म सं कहिए समीचीन है, संसारका हितकारक है। अथवा 'शंभव' ऐसा पाठ मानने पर शं अर्थात् सुखको भव कहिए उत्पन्न करनेवाले हैं, जगत्को सुखके दाता हैं और स्वयं शान्तमूर्त्ति हैं, इसलिए योगिजन आपको संभव या शंभव नामसे पुकारते हैं (२७)। अभि अर्थात् सर्वप्रकारसे आप जीवोंको आनन्दके देनेवाले हैं, उनके हर्षको बढ़ानेवाले हैं, इसलिए सर्व जगत् आपको 'अभिनन्दन' कहकर अभिनन्दित करता है। अथवा अभी अर्थात् भयसे रहित निर्भय और शान्तिमय प्रदेश आपके समवसरणमें पाये जाते हैं, इसलिए भी आप अभिनन्दन कहलाते हैं (२८)। शोभन और लोकालोककी प्रकाशक मतिके धारण करनेसे आप सुमति नामको सार्थक करते हैं (२९)। पद्म अर्थात् रक्त वर्णके कमलके समान आपके शरीरकी प्रभा है, इससे लोग आपको पद्मप्रभ कहते हैं। अथवा आपके पद् अर्थात् चरणोंमें मा कहिए लक्ष्मी निवास करती है, और उससे आप अत्यन्त प्रभायुक्त हैं, इसलिए भी आपका पद्मप्रभ नाम सार्थक है। अथवा पद्म नामक निधिसे और देव-मनुष्यादिके समूहसे आप प्रकृष्ट शोभायुक्त हैं, इसलिए भी आप पद्मप्रभ कहलाते हैं। अथवा आपके विहारकालमें देवगण आपके चरण-कमलोंके नीचे सुवर्ण कमलोंकी रचना करते हैं, और उनकी प्रभासे आप अत्यन्त शोभित होते हैं, इसलिए भी आप पद्मप्रभ कहलाते हैं (३०)। आपके शरीरके दोनों पार्श्व भाग अत्यन्त सुन्दर हैं, इसलिए आपको साधुजन सुपार्श्व कहते हैं (३१)।

चन्द्रप्रभः पुष्पदन्तः शीतलः श्रेयआह्वयः । वासुपूज्यश्च विमलोऽनन्तजिद्धर्म इत्यपि ॥८९॥
शान्तिः कुन्थुररो मल्लिः सुव्रतो नमिरप्यतः । नेमिः पार्श्वो वर्धमानो महावीरः सुवीरकः ॥९०॥

चन्द्रादपि प्रकृष्टा कोटिचन्द्रसमाना भा प्रभा यस्य । पुष्पवत् कुन्दकुसुमवत् उज्ज्वला दन्ता यस्य । वा भगवान् छद्मस्थावस्थायां यस्मिन् पर्वततटे तपोध्याननिमित्तं तिष्ठति तत्र वनस्पतयः तरवः सर्वर्तुपुष्पाणि फलानि च दधति तेन पुष्पदन्तः । शीतो मन्दो लोकगतिर्यस्य । वा शीतं लाति सहते छद्मस्थावस्थायां शीतलः, तदुपलक्षणं उष्णस्य वर्षाणां च त्रिकालयोगवानित्यर्थः । अथवा शीतलः शान्तमूर्त्तिः अक्रूर इत्यर्थः । वा संसारतापनिवारकशीतलवचनरचनायोगाद्भगवान् शीतल उच्यते । वा शी आशीर्वादः तलः स्वभावो यस्य । अतिशयेन प्रशस्यः श्रेयान् । वासुः शक्रः, तस्य पूज्यः । वा वेन वरुणेन पवनेन, वा इन्द्रादीनां वृन्देन वा वेन गन्धेन, वा आ समन्तात् सुष्ठु अतिशयेन पूज्यः । विगतो विनष्टो मलः कर्ममल-कलंको यस्य । अनन्तं संसारं जितवान् । संसारसमुद्रे निमज्जन्तं जन्तुमुद्धृत्य इन्द्रनरेन्द्र-मुनीन्द्रवंदिते पदे धरतीति । अर्त्ति हु सु धृक्षिणी पदभायास्तुभ्यो मः ॥८६॥ शाम्यतीति सर्वकर्मक्षयं करोतीति शान्तिः । तिकतौ च संज्ञायामाशिषि, संज्ञायां पुल्लिंगे तिक् प्रत्ययः । कुंथति समीचीनं तपःक्लेशं करोतीति कुन्थुः । ऋगतौ धातुः भ्वादौ वर्तते, तत्र अरति गच्छति केवलज्ञानेन लोकालोकं जानातीति अरः, सर्वे गत्यर्था धातवो ज्ञानार्था

अर्थ—हे जगत्-श्रेयस्कर, आप चन्द्रप्रभ हैं, पुष्पदन्त हैं, शीतल हैं, श्रेयान् हैं, वासुपूज्य हैं, विमल हैं, अनन्तजित् हैं, धर्म हैं, शान्ति हैं, कुन्थु हैं, अर हैं, मल्लि हैं, सुव्रत हैं, नमि हैं, नेमि हैं, पार्श्व हैं, वर्धमान हैं, महावीर हैं, सुवीर हैं ॥८९–९०॥

व्याख्या—हे भगवन्, आप चन्द्रमासे भी अधिक प्रकृष्ट अर्थात् कोटि चन्द्रकी आभाके धारक हैं, अतः चन्द्रप्रभ कहलाते हैं (३२)। कुन्द पुष्पके समान उज्ज्वल दन्त होनेसे लोग आपको पुष्पदन्त कहते हैं। अथवा आप छद्मस्थ-अवस्थामें जिस पर्वतपर ध्यान करते थे, उसके सभी वृक्ष फल-फूलोंसे युक्त हो जाते थे, इसलिए भी आप पुष्पदन्त कहलाते हैं (३३)। मन्द गमन करनेसे लोग आपको शीतल कहते हैं। अथवा शीत और उपलक्षणसे उष्ण तथा वर्षाकी बाधाओंको छद्मस्थ-अवस्थामें आपने बड़ी शान्तिसे सहन किया है। अथवा आप अत्यन्त शान्त-मूर्ति हैं। अथवा 'शी' शब्द आशीर्वादका वाचक है और 'तल' शब्द स्वभावका वाचक है। आपका स्वभाव सबको आशीर्वाद देनेका है, इसलिए भी आप शीतल कहलाते हैं (३४)। अत्यन्त प्रशंसाके योग्य होनेसे आप श्रेयान् कहलाते हैं (३५)। वासु अर्थात् इन्द्रके द्वारा पूज्य होनेसे आप वासुपूज्य कहे जाते हैं। अथवा 'व' अर्थात् वरुण, सुगन्धित पवन और इन्द्रादिकोंके वृन्दसे आप अतिशय करके पूजित हैं, इसलिए भी आप वासुपूज्य कहलाते हैं। अथवा 'वा' यह स्त्रीलिंग शब्द 'ॐ ह्रीं श्रीवासुपूज्याय नमः' इस मंत्रका भी वाचक है। आप इस मंत्रके द्वारा योगियोंसे अतिशय करके पूज्य हैं, इसलिए भी ज्ञानी पुरुषोंने आपको वासुपूज्य नामसे पुकारा है (३६)। कर्मरूप मलसे रहित होनेके कारण आप विमल कहलाते हैं। अथवा विशिष्ट मा अर्थात् लक्ष्मीवाले इन्द्रादिकोंको आप अपने प्रभावसे लाकर चरणोंमें झुकाते हैं। अथवा लक्ष्मीसे रहित निर्ग्रन्थ मुनियोंको अपने संघमें लेते हैं। अथवा जन्मकालसे ही आप मल-मूत्रसे रहित होते हैं, इसलिए भी आप विमल कहलाते हैं (३७)। आपने अनन्त संसारको जीता है, अथवा केवलज्ञानसे अनन्त अलोकाकाशके पारको प्राप्त किया है, अथवा अनन्त अर्थात् विष्णु और शेषनागको जीता है, इसलिए आप अनन्तजित् कहलाते हैं (३८)। संसार-समुद्रमें डूबनेवाले प्राणियोंका उद्धार कर आप उन्हें उत्तम सुखमें धरते हैं, अतः धर्म नामसे पुकारे जाते हैं (३९)। सर्व कर्मोंका शमन अर्थात् क्षय करनेसे आप शान्ति कहलाते हैं (४०)। तपश्चरणके क्लेशको शान्ति-पूर्वक सहन करनेसे आप कुन्थु कहलाते हैं (४१)। 'ऋ' धातु गमनार्थक है। आप एक समयमें लोकान्त तक गमन करते हैं, इसलिए अर कहलाते हैं। अथवा सभी गमनार्थ धातुएं ज्ञानार्थक होती

सन्मतिश्चाकथि महतिमहावीर इत्यथ । महापद्मः सूरदेवः सुप्रभश्च स्वयंप्रभ. ॥६१॥

इति वचनात् । मल मल्ल वा इत्ययं धातुर्धारणे वर्तते, तेन मल्लति धारयति भव्यजीवान् मोक्षपदे स्थापयतीति मल्लः । शोभनानि व्रतानि यस्य । नम्यते इन्द्र-चन्द्र-मुनीन्द्रैर्नमिः । सर्वधातुभ्य इः । नयति स्वधर्मं नेमिः, नी-दलिभ्यां मिः । निजभक्तस्य पार्श्वे अदृश्यरूपेण तिष्ठतीति पार्श्वः, यत्र कुत्र प्रदेशे स्मृतः सन् स्वामी समीपवर्त्त्येव वर्तते । वर्धते ज्ञानेन वैराग्येन च लक्ष्म्या द्विविधया वर्धमानः । वा अव समन्तात् ऋद्धः परमातिशयं प्राप्तो मानो ज्ञानं पूजा वा यस्य स तथोक्तः । अकप्यो-(अवाप्या-) रल्लोपः । महान् वीर सुभटः महावीरः, मोहमल्लविनाशत्वात् । सुष्ठु शोभनो वीरः ॥६०॥

सती समीचीना शाश्वती वा मतिर्बुद्धिः केवलज्ञानं यस्य । मस्य मलस्य पापस्य हतिर्हननं विध्वंसनं समूलकाषं कषणं महतिः । महतौ कर्ममलकलंकसुभटनिर्घाटने महान् वीरो महासुभटः, अनेकसहस्रलक्षभटकोटीभटानां विघटनपटुः महतिमहावीरः । महती पद्मा लक्ष्मीः सर्वलोकावकाशदायिनी समवशरणाविभूतिर्यस्य । अथवा महान्ति पद्मानि योजनैकप्रमाणसहस्रपत्रकमलानि सपादद्विशतसंख्यानि यस्य । सूराणां मारभटानां

हैं, आप केवलज्ञानके द्वारा लोक और अलोकको जानते हैं, इसलिए भी अर कहलाते हैं । अथवा मोक्षार्थी जनोंके द्वारा आप अर्यते अर्थात् गम्य हैं, प्राप्त किये जाते हैं या जाने जाते हैं, इसलिए भी अर कहलाते हैं । अथवा जीवोंका संसार-वास छुड़ानेके लिए आप अर अर्थात् अति शीघ्रता करनेवाले हैं । अथवा धर्मरूप रथकी प्रवृत्तिके कारण चक्रके अर-स्वरूप हैं, इसलिए भी अर यह नाम आपका सार्थक है (४२) । मल्ल धातु धारणार्थक है, आप भव्य जीवोंको मोक्षपदमें धारण अर्थात् स्थापन करते हैं और स्वयं भक्ति-भारावनत देवेन्द्रोंके द्वारा निज शिरपर धारण किये जाते हैं, इस लिए मल्लि यह नाम आपका सार्थक है । अथवा मल्लि नाम मोगरेके फूलका भी है, उसकी सुगन्धके समान उत्तम सुगन्धको धारण करनेसे भी आप मल्लि कहलाते हैं (४३) । अहिंसादि सुन्दर व्रतोंको धारण करनेसे आप सुव्रत कहलाते हैं (४४) । इन्द्र, धरणेन्द्रादिके द्वारा आप नित्य नमस्कृत हैं अतः नमि कहलाते हैं (४५) । आप भव्य जीवोंको स्व-धर्म पर ले जाते हैं, अतः नेमि कहलाते हैं (४६) । निज भक्तके पार्श्व अर्थात् समीपमें आप अदृश्य-रूपसे रहते हैं, इसलिए पार्श्व कहलाते हैं । अथवा पार्श्वनाम वक्र-उपायका है । आप कुटिल काम, क्रोधादिके उपाय-स्वरूप हैं, इसलिए भी पार्श्वनाम आपका सार्थक है (४७) । आप ज्ञान, वैराग्य और अनन्त चतुष्टयरूप लक्ष्मीसे सदा बढ़ते रहते हैं, इसलिए वर्धमान कहलाते हैं । अथवा आपका मान अर्थात् ज्ञान और सन्मान परम अतिशयको प्राप्त है, इसलिए भी वर्धमान कहलाते हैं (४८) । मोहरूप महान् मल्लके नाश करनेसे आप महान् वीर हैं, अतः महावीर कहलाते हैं। अथवा महा विशिष्ट ई अर्थात् निःश्रेयसरूप लक्ष्मीको धारण करने और प्रदान करनेके कारण आप महावीर कहलाते हैं (४९) । आप सर्व श्रेष्ठ हैं, इसलिए वीर कहलाते हैं । अथवा निज भक्तोंको विशिष्ट लक्ष्मी देते हैं, इसलिए भी वीर कहलाते हैं (५०) ।

अर्थ—हे जगत्-हितंकर, आप सन्मति हैं, महतिमहावीर हैं, महापद्म हैं, सूरदेव हैं, सुप्रभ हैं और स्वयंप्रभ हैं ॥६१॥

व्याख्या—समीचीन और शाश्वत मतिके धारण करनेसे आप सन्मति कहलाते हैं (५१)। 'म' अर्थात् पापमलके हति कहिये हनन करनेवाले महान् वीर होनेसे महतिमहावीर इस नामसे पुकारे जाते हैं । अथवा कोटि सुभटोंको भी विघटन करनेमें आप समर्थ हैं, इसलिए भी महतिमहावीर कहलाते हैं (५२) । सर्व लोकको अवकाश देनेवाली वहिरंग समवसरणलक्ष्मीरूप महापद्माके धारण करनेसे और लोकालोकव्यापिनी केवलज्ञानस्वरूपा अन्तरंग महापद्माके धारण करनेसे आप महापद्म कहलाते हैं । अथवा एक योजन प्रमाण महान् आकारवाले और सहस्र दलवाले दो सौ पच्चीस पद्म अर्थात् कमल आपके विहार कालमें देवगण रचते हैं, उनके सम्बन्धसे आप महापद्म

सर्वायुधो जयदेवो भवेदुदयदेवकः । प्रभादेव उदंकश्च प्रश्नकीर्त्तिर्जयाभिधः ॥६२॥
पूर्णबुद्धिर्निष्कषायो विज्ञेयो विमलप्रभः । बहलो निर्मलश्चित्रगुप्तः समाधिगुप्तकः ॥६३॥

सूराणां वा देव सूरदेवः परमाराध्यः । शूरदेव इति वा पाठे शूराणामिन्द्रियजये सुभटानां देवः परमाराध्यः स्वामी शूरदेवः । शोभना चन्द्रार्ककोटिसमा नेत्राणां च प्रिया प्रभा द्युतिमंडलं यस्य । स्वयं आत्मना प्रभा तेजो महिमा वा यस्य । वा स्वयमात्मना प्रकर्षेण भाति शोभते। उपसर्गे त्वातो डः ॥६१॥

सर्वाणि ध्यानाध्ययन-संयम-तपांसि आयुधानि कर्मशत्रुविध्वंसकानि शस्त्राणि यस्य । जयेनोपलक्षितो देवः । चय उपचयश्चयोपचयश्चेति त्रिविध उदयः, तत्र जन्मान्तरसंचितं निदानदोषरहितं विशिष्टं तीर्थंकर नामोच्चगोत्रादिलक्षणं पुण्यबंधनं चयः, स्वर्गादागत्य पुनरपि प्रजापालनादिपुण्योपार्जनमुपचय, पुनर्निर्वाण-गमनं चयोपचयः । तेन त्रिविधेनापि उदयेनोपलक्षितो देव उदयदेवः । प्रभा चन्द्रार्ककोटितेजस्तयोपलक्षितो देवः सर्वज्ञवीतरागः । उत्कृष्टोऽङ्को विरुदं कामशत्रुरिति उदंकः, मुक्तिकान्तापतिरिति मोहारिविजयीति । प्रश्ने गणधरदेवाद्यनुयोगे सति कीर्तिः संशब्दनं ध्वनिः प्रवृत्तिर्यस्य । जयति मोहाराति-(मभिभवति) शत्रून् जयतीति ॥६२॥ पूर्णा संपूर्णा लोकालोकसर्वतत्त्वप्रकाशिका केवलज्ञान-दर्शनलक्षणा बुद्धिर्यस्य । निर्गताः

कहलाते हैं । अथवा असंख्य देवी-देवताओंका समुदाय आपके साथ रहता है, इसलिए भी आप महापद्म कहलाते हैं (५३) । आप सूरवीरोंके देव हैं, परम आराध्य हैं, इसलिए सूरदेव कहलाते हैं । शूरदेव ऐसा पाठ मानने पर शूर अर्थात् इन्द्रिय-विजयी वीर पुरुषोंके आप देव अर्थात् स्वामी हैं परमे जितेन्द्रिय हैं, इसलिए शूरदेव यह नाम भी सार्थक है । अथवा 'सू' से सोम और 'र' से सूर्य, अग्नि और कामका ग्रहण करना चाहिए, आप इन सबके देव हैं । अथवा अतिशय मंत्र-महिमासे युक्त हैं, इसलिए भी आपका सूरदेव यह नाम सार्थक है (५४) । कोटि सूर्य और चन्द्र की प्रभाको लज्जित करनेवाली सुन्दर प्रभासे युक्त हैं, अतः साधुजन आपको सुप्रभ कहते हैं (५५) । स्वयं अर्थात् अपने आप ही आप प्रकृष्टरूपसे शोभित हैं और महा प्रभाको धारण करते हैं, इस-लिए आप स्वयंप्रभ कहलाते हैं । अथवा लोकोंका उपकार करनेसे आप स्वयं ही प्रभ अर्थात् उत्कृष्ट हैं, दूसरा कोई आपसे उत्कृष्ट नहीं है इसलिए भी साधुजन आपको स्वयंप्रभ कहते हैं (५६) ।

अर्थ—हे स्वामिन्, आप सर्वायुध हैं, जयदेव हैं, उदयदेव हैं, प्रभादेव हैं, उदंक हैं, प्रश्न-कीर्त्ति हैं, जय हैं, पूर्णबुद्धि हैं, निष्कषाय हैं, विमलप्रभ हैं, बहल हैं, निर्मल हैं, चित्रगुप्त हैं और समाधिगुप्त हैं ॥६२-६३॥

व्याख्या—हे भगवन्, यद्यपि आप सर्व प्रकारके बाह्य आयुधोंसे रहित हैं, तथापि कर्म-शत्रुओंके विध्वंस करनेवाले ध्यान, अध्ययन, संयम और तपरूप सर्व अन्तरंग आयुधोंसे सुसज्जित हैं, इसलिए योगिजन आपको सर्वायुध कहते हैं (५७) । आप सदा जयशील हैं, इसलिए जयदेव कहलाते हैं (५८) । उदय तीन प्रकारका होता है, चय, उपचय और चयोपचय । पूर्वोपार्जित तीर्थंकरप्रकृतिरूप विशिष्ट पुण्यके संचयको चय कहते हैं । वर्तमान भवमें प्रजापालनरूप पुण्यके उपार्जनको उपचय कहते हैं और निर्वाण गमनको चयोपचय कहते हैं । आप इन तीनों प्रकारके उदयसे संयुक्त हैं, इसलिए उदयदेव इस नामको सार्थक करते हैं । अथवा आप सदा उदयशील देव हैं, कभी भी आपके प्रभावका क्षय नहीं होता है, इसलिए भी आप उदयदेव कहलाते हैं (५९) । आप कोटि चन्द्र-सूर्यकी प्रभासे युक्त हैं, इसलिए प्रभादेव कहलाते हैं । अथवा आप लोकालोकको प्रकाशित करनेवाली केवलज्ञानरूप प्रकृष्ट प्रभाको धारण करते हैं, इसलिए भी योगिजन आपको प्रभादेव कहते हैं (६०) । आपने जगद्विजयी कामदेवको भी जीता है, इसप्रकारकी उत्कृष्ट अंक अर्थात् विरुदावलीको धारण करनेसे आप उदंक कहलाते हैं । अथवा अंक नाम पाप या अपराधका भी है आप सर्व प्रकारके पापोंको नष्ट कर चुके हैं और सर्व अपराधोंसे रहित हैं, इसलिए भी उदंक

पुरुदेवोऽथ सुविधिः प्रज्ञापारमितोऽव्ययः । पुराणपुरुषो धर्मसारथिः शिवकीर्त्तनः ॥९५॥
विश्वकर्माऽक्षरोऽच्छद्मा विश्वभूर्विश्वनायकः । दिगम्बरो निरातंको निरारेको भवान्तकः ॥९६॥
दृढव्रतो नयोत्तुंगो निःकलंकोऽकलाधरः । सर्वक्लेशापहोऽक्षय्यः क्षान्तः श्रीवृक्षलक्षणः ॥९७॥
इति निर्वाणशतम् ।

यस्याग्रे वा स कंदर्पः, भगवदग्रे यः पुमान् ज्ञानादेर्दर्पं करोति स कुत्सित इत्यर्थः । जयस्य सर्वदिग्विजयस्य नाथः स्वामी । सर्वस्मिन् धर्मक्षेत्रे आर्यखंडे धर्मतीर्थप्रवर्त्तक इत्यर्थः । विमलः कर्ममलकलंकरहितो व्रतशीलातिचार-रहितो वा श्रिया बाह्याभ्यन्तरलक्ष्म्योपलक्षितो विमलः श्रीविमलः । दिव्योऽमानुषो वादो ध्वनिर्यस्य सः । वा दिवि भवाः दिव्याश्चतुर्णिकायदेवास्तेषां वा वेदनं संसारसागरपतनादुःखं आ समन्ताद् द्यति खण्डयति निवारय-तीति । अथवा दिव्यं वं मंत्रं ददाति पंचत्रिंशदक्षरमंत्रोपदेशक इत्यर्थः । न विद्यते अन्तो विनाशो यस्य स अनंतोऽविनश्वरः, स चासौ वीरः सुभटः कर्मशत्रुविनाशकः अनन्तवीरः ॥९४॥

पुरुर्महान् इन्द्रादीनामाराध्यो देवः पुरुदेवः । शोभनो विधिर्विधाता सृष्टिकर्त्ता, वा शोभनो निरति-चारो विधिश्चारित्रं यस्य, वा शोभनो विधिः कालो यस्य, वा शोभनो विधिर्दैवं पुण्यं यस्य । प्रज्ञाया बुद्धि-विशेषस्य पारं पर्यंतं इतः प्राप्तः । न व्ययो विनाशो यस्य द्रव्यार्थिकनयेन । पुराणश्चिरंतनः पुरुष आत्मा

व्याख्या—किसी अन्य गुरुकी अपेक्षाके विना ही आप स्वयमेव वैराग्य और बोधिको प्राप्त होते हैं तथा लोकालोकके स्वरूपको जानते हैं, इसलिए स्वयम्भू कहलाते हैं (७१)। क अर्थात् सुखकी अधिकताके कारण आप कन्दर्प कहलाते हैं। अथवा आपके मतमें दर्पको कुत्सित माना गया है। अथवा आपने धर्मोपार्जनके लिए कन्दोंके सेवनका निषेध किया है, इसलिए भी आप कन्दर्प कह-लाते हैं (७२)। आप सर्वदिग्विजयके नाथ हैं, अर्थात् समस्त आर्यावर्त्तमें आपके धर्मचक्रकी अप्रति-हतगतिरूपसे प्रवृत्ति रहती है, इसलिए आप जयनाथ कहलाते हैं। अथवा जय अर्थात् संसार-दुःखोंके विनाशके लिए योगिजन आपसे याचना करते हैं। अथवा धर्मोपदेशके समय भव्यजीव 'जय नाथ, जय नाथ' इस प्रकारके नारे लगाते रहते हैं, इसलिए भी आप जयनाथ कहलाते हैं (७३)। आप बाह्य और आभ्यन्तर लक्ष्मीसे युक्त होकरके भी विमल अर्थात् कर्ममलसे रहित हैं अतः श्रीविमल नामको सार्थक करते हैं (७४)। आपका वाद अर्थात् वचन दिव्य है, कोई भी उसका युक्ति या आगमसे खंडन नहीं कर सकता है, इसलिए आप दिव्यवाद कहलाते हैं। अथवा आप दिव्यवाद अर्थात् पैंतीस अक्षररूप मंत्रके उपदेशक हैं। अथवा देवोंकी मानसिक वेदनाके आप हरण करने-वाले हैं, इसलिए भी आप दिव्यवाद कहलाते हैं (७५)। आप अन्त अर्थात् विनाशसे रहित वीर हैं, अर्थात् कर्म शत्रुओंके विनाशक हैं। अथवा अनन्त केवलज्ञानरूप विशिष्ट लक्ष्मीके धारक हैं और प्रलय होने पर भी सदा वर्तमान रूपसे ही स्थित रहते हैं, इसलिए अनन्तवीर कहलाते हैं (७६)।

अर्थ—हे जिनेश, आप पुरुदेव हैं, सुविधि हैं, प्रज्ञापारमित हैं, अव्यय हैं, पुराणपुरुष हैं, धर्मसारथि हैं, शिवकीर्त्तन हैं, विश्वकर्मा हैं, अक्षर हैं, अछद्मा हैं, विश्वभू हैं, विश्वनायक हैं, दिगम्बर हैं, निरातंक हैं, निरारेक हैं, भवान्तक हैं, दृढव्रत हैं, नयोत्तुंग हैं, निष्कलंक हैं, अकला-धर हैं, सर्वक्लेशापह हैं, अक्षय्य हैं, क्षान्त हैं और श्रीवृक्षलक्षण हैं ॥९५-९७॥

व्याख्या—हे भगवन्, आप पुरु अर्थात् महान् देव हैं, इन्द्रादिकोंके द्वारा आराध्य हैं तथा असंख्य देवी-देवताओंके द्वारा सेवित हैं, इसलिए पुरुदेव कहलाते हैं (७७)। आप सुन्दर विधि अर्थात् विधाता हैं, सृष्टिका विधान करनेवाले हैं, तथा निरतिचार सुन्दर विधि अर्थात् चारित्रके धारक हैं, इसलिए सुविधि कहलाते हैं (७८)। प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि-विशेषके पारको प्राप्त हैं, और प्रज्ञाके पारको प्राप्त महापंडितोंके द्वारा मित अर्थात् प्रमाणित हैं, तथा प्रत्यक्ष-परोक्षप्रमाण-चतुर गणधर-देवादिकके द्वारा सम्मानित हैं, इसलिए प्रज्ञापारमित कहलाते हैं (७९)। आपके शुद्ध आत्म-

पुरुदेवोऽथ सुविधिः प्रज्ञापारमितोऽव्ययः । पुराणपुरुषो धर्मसारथिः शिवकीर्त्तनः ॥६५॥
विश्वकर्माऽक्षरोऽच्छद्मा विश्वभूर्विश्वनायकः । दिगम्बरो निरातंको निरारेको भवान्तकः ॥६६॥
दृढव्रतो नयोत्तुंगो निःकलंकोऽकलाधरः । सर्वक्लेशापहोऽक्षय्यः क्षान्तः श्रीवृक्षलक्षणः ॥६७॥
इति निर्वाणशतम् ।

यस्याग्रे वा स कंदर्पः, भगवदग्रे यः पुमान् शनादेर्दर्पं करोति स कुत्सित इत्यर्थः । जयस्य सर्वदिग्विजयस्य नाथः स्वामी । सर्वस्मिन् धर्मक्षेत्रे आर्यखंडे धर्मतीर्थप्रवर्त्तक इत्यर्थः । विमलः कर्ममलकलंकरहितो व्रतशीलातिचार-रहितो वा श्रिया बाह्याभ्यन्तरलक्ष्म्योपलक्षितो विमलः श्रीविमलः । दिव्योऽमानुषो वादो ध्वनिर्यस्य सः । वा दिवि भवाः दिव्याश्चतुर्णिकायदेवास्तेषां वा वेदनां संसारसागरपतनादुःखं आ समन्तात् द्यति खण्डयति निवारय-तीति । अथवा दिव्यं यं मंत्रं ददाति पंचत्रिंशदक्षरमंत्रोपदेशक इत्यर्थः । न विद्यते अन्तो विनाशो यस्य स अनन्तोऽविनश्वरः, स चासौ वीरः सुभटः कर्मशत्रुविनाशकः अनन्तवीरः ॥६४॥

पुरुर्महान् इन्द्रादीनामाराध्यो देवः पुरुदेवः । शोभनो विधिर्विधाता सृष्टिकर्त्ता, वा शोभनो निरति-चारो विधिश्चारित्रं यस्य, वा शोभनो विधिः कालो यस्य, वा शोभनो विधिर्दैवं पुण्यं यस्य । प्रज्ञाया बुद्धि-विशेषस्य पारं पर्यंतं इतः प्राप्तः । न व्ययो विनाशो यस्य द्रव्यार्थिकनयेन । पुराणश्चिरंतनःपुरुष आत्मा

व्याख्या—किसी अन्य गुरुकी अपेक्षाके विना ही आप स्वयमेव वैराग्य और बोधिको प्राप्त होते हैं तथा लोकालोकके स्वरूपको जानते हैं, इसलिए स्वयम्भू कहलाते हैं (७१)। क अर्थात् सुखकी अधिकताके कारण आप कन्दर्प कहलाते हैं । अथवा आपके मतमें दर्पको कुत्सित माना गया है । अथवा आपने धर्मोपार्जनके लिए कन्दोंके सेवनका निषेध किया है, इसलिए भी आप कन्दर्प कह-लाते हैं (७२) । आप सर्वदिग्विजयके नाथ हैं, अर्थात् समस्त आर्यावर्त्तमें आपके धर्मचक्रकी अप्रति-हतगतिरूपसे प्रवृत्ति रहती है, इसलिए आप जयनाथ कहलाते हैं । अथवा जय अर्थात् संसार-दुःखोंके विनाशके लिए योगिजन आपसे याचना करते हैं । अथवा धर्मोपदेशके समय भव्यजीव 'जय नाथ, जय नाथ' इस प्रकारके नारे लगाते रहते हैं, इसलिए भी आप जयनाथ कहलाते हैं (७३) । आप बाह्य और आभ्यन्तर लक्ष्मीसे युक्त होकरके भी विमल अर्थात् कर्ममलसे रहित हैं अतः श्रीविमल नामको सार्थक करते हैं (७४) । आपका वाद अर्थात् वचन दिव्य है, कोई भी उसका युक्ति या आगमसे खंडन नहीं कर सकता है, इसलिए आप दिव्यवाद कहलाते हैं । अथवा आप दिव्यवाद अर्थात् पैंतीस अक्षररूप मंत्रके उपदेशक हैं । अथवा देवोंकी मानसिक वेदनाके आप हरण करने-वाले हैं, इसलिए भी आप दिव्यवाद कहलाते हैं (७५) । आप अनन्त अर्थात् विनाशसे रहित वीर हैं, अर्थात् कर्म शत्रुओंके विनाशक हैं । अथवा अनन्त केवलज्ञानरूप विशिष्ट लक्ष्मीके धारक हैं और प्रलय होने पर भी सदा वर्तमान रूपसे ही स्थित रहते हैं, इसलिए अनन्तवीर कहलाते हैं (७६) ।

अर्थ—हे जिनेश, आप पुरुदेव हैं, सुविधि हैं, प्रज्ञापारमित हैं, अव्यय हैं, पुराणपुरुष हैं, धर्मसारथि हैं, शिवकीर्त्तन हैं, विश्वकर्मा हैं, अक्षर हैं, अछद्मा हैं, विश्वभू हैं, विश्वनायक हैं, दिगम्बर हैं, निरातंक हैं, निरारेक हैं, भवान्तक हैं, दृढ़व्रत हैं, नयोत्तुंग हैं, निष्कलंक हैं, अकला-धर हैं, सर्वक्लेशापह हैं, अक्षय्य हैं, क्षान्त हैं और श्रीवृक्षलक्षण हैं ॥६५-६७॥

व्याख्या—हे भगवन्, आप पुरु अर्थात् महान् देव हैं; इन्द्रादिकोंके द्वारा आराध्य हैं तथा असंख्य देवी-देवताओंके द्वारा सेवित हैं, इसलिए पुरुदेव कहलाते हैं (७७) । आप सुन्दर विधि अर्थात् विधाता हैं, सृष्टिका विधान करनेवाले हैं, तथा निरतिचार सुन्दर विधि अर्थात् चारित्रके धारक हैं, इसलिए सुविधि कहलाते हैं (७८) । प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि-विशेषके पारको प्राप्त हैं, और प्रज्ञाके पारको प्राप्त महापंडितोंके द्वारा मित अर्थात् प्रमाणित हैं, तथा प्रत्यक्ष-परोक्षप्रमाणों-चतुर गणधर-देवादिकके द्वारा सम्मानित हैं, इसलिए प्रज्ञापारमित कहलाते हैं (७९) । आपके शुद्ध आत्म-

यस्येति । वा पुराणेषु त्रिषष्टिलक्षणेषु प्रसिद्धः पुरुषः । वा पुराणे अनादिकालीने पुरुणि महति स्थाने शेते तिष्ठति । धर्मस्याहिंसालक्षणस्य सारथिः प्रवर्त्तकः । शिवं श्रेयस्करं शिवं परमकल्याणमिति वचनात् । शिवं परमकल्याणदायकं तीर्थकरनामगोत्रकारकं कीर्त्तनं स्तुतिर्यस्य ॥६५॥ विश्वं कृत्स्नं कष्टमेव कर्म यस्य मते । विश्वेषु देवविशेषेषु त्रयोदशसंख्येषु कर्म सेवा यस्य । वा विश्वस्मिन् जगति कर्म लोकजीवनकरं क्रिया यस्य स विश्वकर्मा । कर्म अत्र असि-मषि-कृष्यादिकं राज्यावस्थायां ज्ञातव्यं । न क्षरति स्वभावात्, न प्रच्यवते आत्मन्येकलोलीभावत्वात् अक्षरः । अक्षरं मोक्षः, तत्स्वरूपत्वात्, क्षीणकर्मत्वादक्षरः । न विद्यते छद्म घातिकर्म यस्येति, वा न विद्यते छद्म शाठ्यं यस्येति । वा न विद्यते छद्मनी ज्ञान-दर्शनावरणद्वयं यस्य । विश्वस्मिन् भवति विद्यते अस्त्येव केवलज्ञानापेक्षया । विश्वस्य त्रैलोक्यस्य नायकः स्वामी । दिशो अम्बराणि वस्त्राणि

स्वरूपका कभी भी व्यय अर्थात् विनाश न होनेसे आप अव्यय कहलाते हैं (८०)। आपका पुरुष अर्थात् आत्मा पुराण है, चिरन्तन या अनादिकालीन है, इसलिए आप पुराणपुरुष हैं। अथवा आप पुराणोंमें अर्थात् तिरेसठ शलाका-पुरुषोंमें प्रधान हैं, अथवा पुराण अर्थात् महान् स्थान पर विराजमान हैं, अथवा पुरु अर्थात् परमौदारिक शरीरमें मुक्ति जाने तक 'अनिति' कहिये जीवित रहते हैं, अर्थात् शरीरमें रहते हुए भी जीवन्मुक्त हैं, इसलिए आप पुराणपुरुष कहलाते हैं (८१)। अहिंसा-लक्षण धर्मके आप सारथि अर्थात् चलानेवाले हैं, इसलिए योगिजन आपको धर्मसारथि कहते हैं (८२)। आपका कीर्त्तन (स्तवन) शिव अर्थात् परम कल्याणरूप है, इसलिए आप शिवकीर्त्तन कहलाते हैं। अथवा आपके नामका कीर्त्तन शिव अर्थात् मोक्षका करनेवाला है। अथवा शिव अर्थात् रुद्रके द्वारा भी आपका कीर्त्तन अर्थात् गुणगान किया जाता है। अथवा दीक्षाके अवसरमें आप 'नमः सिद्धेभ्यः' कहकर शिव अर्थात् सिद्ध भगवानका कीर्त्तन करते हैं, इसलिए भी आप शिवकीर्त्तन कहलाते हैं (८३)। आपके मतमें कर्म विश्वरूप है, अर्थात् कष्ट देनेवाला ही है, इसलिए आप विश्वकर्मा कहलाते हैं। अथवा विश्व अर्थात् त्रयोदश संख्यावाले देवविशेषोंमें आपकी सेवारूप कर्म प्रधान है। अथवा विश्व अर्थात् जगत्‌में लोक-जीवनकारी असि, मषि, कृषि आदि कर्मोंका आपने राज्य-अवस्थामें उपदेश देकर प्रजाका पालन किया है इसलिए भी आप विश्वकर्मा कहलाते हैं (८४)। क्षर नाम विनाशका है। आपके स्वभाव-का कभी विनाश नहीं होता है, या आप अपने स्वभावसे कभी भी च्युत नहीं होते हैं, इसलिए आपको योगिजन अक्षर कहते हैं। अक्षर नाम आत्मा, ज्ञान और मोक्षका भी है। आपका आत्मा केवलज्ञानरूप या मोक्षस्वरूप है, इसलिए भी आपको अक्षर कहते हैं। अथवा आप 'अर्हं' इस एक अक्षरस्वरूप हैं, या परम ब्रह्मरूप हैं, परम धर्मस्वरूप हैं, तपोमूर्त्ति हैं और आकाश-के समान निर्लेप और अमूर्त्तिक हैं, इसलिए भी अक्षर कहलाते हैं। अथवा अक्ष अर्थात् केवल-ज्ञानरूप ज्योतिको आप अपने भक्तोंके लिए 'राति' कहिये देते हैं। अथवा अक्ष अर्थात् इन्द्रिय और मनको आप 'राति' कहिये अपने वशमें करते हैं। अथवा अक्ष नाम व्यवहारका भी है। आप निश्चयनयको आश्रय करके भी लोकमें दान-पूजादिरूप व्यवहार धर्मकी प्रवृत्ति चलाते हैं। अथवा अक्ष नाम द्यूत-क्रीडामें काम आनेवाले पासोंका भी है, आप उनके लिए र अर्थात् अग्निके समान हैं, अर्थात् द्यूतादिव्यसनोंके दाहक हैं, इस प्रकार विभिन्न अर्थोंकी विवक्षासे आपका अक्षर यह नाम सार्थक है। (८५)। छद्म नाम छल-कपटका है, आपमें उसका सर्वथा अभाव है, इसलिए आप अछद्मा हैं। अथवा छद्म नाम अल्पज्ञताका भी है, आप अल्पज्ञतासे रहित हैं, सर्वज्ञ हैं। अथवा छद्म शब्द घातिया कर्मोंका भी वाचक है, आप उनसे रहित हैं, इसलिए भी अछद्मा कहलाते हैं (८६)। आप विश्वके भू अर्थात् स्वामी हैं, विश्वकी वृद्धि अर्थात् सुख-समृद्धिके बढ़ानेवाले हैं, केवलज्ञानकी अपेक्षा विश्वको व्याप्त करनेवाले हैं, और ध्यानके द्वारा ही

यस्य। सद्यःप्राणहरो व्याधिरातंक उच्यते, निर्गतो विनष्ट आतंको रागो यस्य। निर्गता आरेका तत्त्वविषये शंका सन्देहो यस्य। भवस्य संसारस्य अन्तको विनाशको भक्तानां भवान्तकः ॥९६॥ दृढं निश्चलं व्रतं दीक्षा यस्य, प्रतिज्ञा वा यस्य। नया नैगमादयस्तैरुत्तुंग उन्नतः। निर्गतः कलंकः अपवादो यस्य। कलां कलनं धरतीति कलाधरः, न कलाधरः अकलाधरः, न केनापि कलयितुं शक्य इत्यर्थः। वा अकं दुःखं लाति ददाति अकलः, संसारः तं न धरति न स्वीकरोति अकलाधरः, अकलः संसारो रोऽधरो नीचो यस्य, वा न कलां शरीरं धरति अकलाधरः, चरमशरीर इत्यर्थः। सर्वान् शारीरमानसागंतून् क्लेशान् दुःखानि अपहन्ति। न क्षयितुं शक्यः। क्षमते स्म क्षान्तः, सर्वपरीषहादीन् सोढवानित्यर्थः। श्रीवृक्षोऽशोकवृक्षो लक्षणं यस्य ॥९७॥

॥ इति निर्वाणशतम् ॥

जगत्के प्रत्यक्ष होते हैं, इसलिए आप विश्वभू कहलाते हैं (८७)। आप विश्वके नायक हैं, विश्वको स्वधर्म पर चलाते हैं, और मिथ्यादृष्टियोंको कभी दिखाई नहीं देते हैं, अर्थात् उन्हें आपके आत्मस्वरूपका कभी साक्षात्कार नहीं होता, इसलिए आप विश्वनायक कहलाते हैं (८८)। दिक् अर्थात् दिशाएँ ही आपके अम्बर हैं, अर्थात् आप वस्त्रोंको धारण नहीं करते हैं, किन्तु सदा नग्न ही रहते हैं, इसलिए दिगम्बर कहलाते हैं (८९)। शीघ्र प्राण-हरण करनेवाली व्याधिको आतंक कहते। आप सर्व प्रकारके आतंकोंसे रहित हैं, इसलिए निरातंक कहलाते हैं (९०)। आप आरेका अर्थात् तत्व-विषयक शंकासे रहित हैं, प्रत्युत दृढ़ निश्चयी हैं, इसलिए योगिजन आपको निरारेक कहते हैं (९१)। भव अर्थात् संसारका आप अन्त करनेवाले हैं, इसलिए भवान्तक कहलाते हैं (९२)। आप दृढ़ व्रती हैं, अपनी प्रतिज्ञा पर अटल हैं, इसलिए दृढव्रत कहलाते हैं (९३)। आप वस्तु स्वरूपके प्रतिपादक विभिन्न नयोंके द्वारा उत्तुंग अर्थात् हैं और एकान्तवादी नयोंके प्रतिपादनसे सर्वथा रहित हैं, इसलिए नयोत्तुङ्ग कहलाते हैं (९४)। आप सर्व प्रकारके कलंक अर्थात् अपवादोंसे रहित हैं, इसलिए निष्कलंक कहलाते हैं। जिस प्रकार नारायण, इन्द्र, चन्द्र आदि विभिन्न स्त्रियोंके साथ व्यभिचार करनेसे वदनाम हुए हैं, उस प्रकारके सर्व अपवादोंसे आप सर्वथा रहित हैं (९५)। आप छद्मस्थोंके द्वारा आकलन नहीं किये जाते, अर्थात् जाने नहीं जाते, इसलिए अकलाधर कहलाते हैं। अथवा अक अर्थात् दुःखको जो लावे-देवे, उसे अकल या संसार कहते हैं। आप उस संसारको धारण नहीं करते हैं, इसलिए भी अकलाधर कहलाते हैं। अथवा कला अर्थात् शरीरको या चन्द्रकलाको नहीं धारण करनेके कारण भी आप अकलाधर कहलाते हैं (९६)। शारीरिक, मानसिक आदि सर्व प्रकारके क्लेशोंके अपहनन अर्थात् नाश करनेसे आप सर्वक्लेशापह कहलाते हैं अथवा अपने सर्व भक्तोंके क्लेशोंको दूर करनेके कारण भी आपका यह नाम सार्थक है (९७)। आप अजेयसे भी अजेय शक्तिके द्वारा क्षयको प्राप्त नहीं हो सकते, इसलिए अक्षय्य हैं (९८)। बड़े-बड़े परीषह और उपसर्गोंको आपने अत्यन्त शान्ति और क्षमाभावके साथ सहन किया है, इसलिए आप क्षान्त कहलाते हैं (९९)। श्रीवृक्ष अर्थात् अशोकतरु आपका लक्षण अर्थात् चिन्ह है, क्योंकि समवसरणमें अशोक वृक्षके नीचे आप विराजमान रहते हैं और उसे दूरसे ही देखकर भव्यजीव आपको जान लेते हैं, इसलिए आपको श्रीवृक्षलक्षण कहा जाता है (१००)।

इस प्रकार निर्वाणशतक समाप्त हुआ।

(८) अथ ब्रह्मशतम्

ब्रह्मा चतुर्मुखो धाता विधाता कमलासनः । अब्जभूरात्मभूः स्रष्टा सुरज्येष्ठः प्रजापतिः ॥९८॥
हिरण्यगर्भो वेदज्ञो वेदांगो वेदपारगः । अजो मनुः शतानन्दो हंसयानस्त्रयीमयः ॥९९॥
विष्णुस्त्रिविक्रमः शौरिः श्रीपतिः पुरुषोत्तमः । वैकुण्ठः पुंडरीकाक्षो हृषीकेशो हरिः स्वभूः ॥१००॥

वृहि बृहि वृद्धौ । बृंहंति वृद्धिं गच्छन्ति केवलज्ञानादयो गुणा यस्मिन् स ब्रह्मा । बृहेः नमन्नच्च ह्रालूर्वः इति सूत्रेण मन् प्रत्ययः । चत्वारि मुखानि यस्य स चतुर्मुखः, घातिसंघातघातने सति भगवतस्तादृशपरमौदारिकशरीरनैर्मल्यं भवति यथा प्रतिदिशं मुखं सन्मुखं दृश्यते, अयमतिशयः स्वामिनो भवति । दधाति चतुर्गतिषु पतंतं जीवमुद्धृत्य मोक्षपदे स्थापयतीति । विशेषेण दधाति स्वर्ग-मोक्षयोः स्थापयति प्रतिपालयति वा । पद्मासने स्थित्वा सदा धर्मोपदेशं करोति भगवान् तेन कमलासनः स उच्यते । वा योजनैकप्रमाण-सहस्रदलकनककमलं आसनं उपवेशनस्थानं विहरतो भगवतो यस्य । अब्जैःकमलैरुपलक्षिता भूमिर्यस्य । वा मातुरुदरे अष्टदलं कमलं निजशक्त्या निधाय तत्कर्णिकायां स्वामी नव मासान् स्थित्वा वृद्धिंगतः । योनिम-

---

अर्थ—हे परब्रह्म, आप ब्रह्मा हैं, चतुर्मुख हैं, धाता हैं, विधाता हैं, कमलासन हैं, अब्जभू हैं, आत्मभू हैं, स्रष्टा हैं, सुरज्येष्ठ हैं, प्रजापति हैं, हिरण्यगर्भ हैं, वेदज्ञ हैं, वेदांग हैं, वेदपारग हैं, अज हैं, मनु हैं, शतानन्द हैं, हंसयान हैं, त्रयीमय हैं, विष्णु हैं, त्रिविक्रम हैं, शौरि हैं, श्रीपति हैं, पुरुषोत्तम हैं, वैकुण्ठ हैं, पुंडरीकाक्ष हैं, हृषीकेश, हरि हैं और स्वभू हैं* ॥९८-१००॥

व्याख्या—हे परमेश्वर, आपमें केवलज्ञानादि गुण निरन्तर वृद्धिको प्राप्त होते रहते हैं, इसलिए आप ब्रह्मा कहलाते हैं (१) । केवलज्ञान होनेपर समवसरणमें आपके चार मुख दिखाई देते हैं, इसलिए आप चतुर्मुख कहलाते हैं । अथवा चार अनुयोगरूप मुखोंके द्वारा आप समस्त वस्तुतत्त्वका प्रतिपादन करते हैं, इसलिए भी आप चतुर्मुख कहलाते हैं । अथवा चार पुरुषार्थ-रूप मुखोंके द्वारा पदार्थोंका प्रतिपादन करते हैं । अथवा प्रत्यक्ष, परोक्ष, आगम और अनुमान ये चार प्रमाण ही आपके मुख हैं । अथवा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, और तप इन चार मुखोंके द्वारा आप कर्मोंका क्षय करते हैं । इस प्रकार विभिन्न विवक्षाओंसे आपको योगिजन चतुर्मुख कहते हैं (२) । चतुर्गतियोंमें गिरते हुए जीवोंका उद्धार कर आप उन्हें मोक्षपदमें स्थापित करते हैं, इसलिए धाता कहलाते हैं (३) । सूक्ष्म-बादर सभी प्रकारके जीवोंकी आप विशेषरूपसे रक्षा करते हैं, उन्हें विशिष्ट सुखमें स्थापित करते हैं, इसलिए विधाता कहलाते हैं (४) । आप समवसरणमें कमल पर अन्तरीक्ष पद्मासनसे विराजमान रहकर सदा धर्मोपदेश देते हैं, इसलिए लोक आपको कमलासन कहते हैं । अथवा विहारके समय देवगण आपके चरणोंके नीचे सुवर्ण-कमलोंकी रचना करते हैं, इसलिए भी आप कमलासन कहलाते हैं । अथवा दीक्षाके समय आप कमला अर्थात् राज्यलक्ष्मी को 'अस्यति' कहिए त्याग करते हैं, अतः कमलासन कहलाते हैं । अथवा आपके आसनके समीप कमल अर्थात् मृग बैठते हैं, तपश्चरणके समय मृग-सिंहादि परस्पर-विरोधी जीव भी अपना वैर भूलकर आपसमें स्नेह करते हुए शान्त और स्नेह भावसे बैठते हैं, इसलिए भी कमलासन कहलाते हैं । अथवा 'क' अर्थात् आत्माके अष्टकर्मरूप मलका आप निर्मूल विनाश करते हैं, इसलिए भी कमलासन यह नाम आपका सार्थक है (५) । जिस स्थान पर आपका जन्म होता है, वह सदा कमलोंसे संयुक्त रहता है, इसलिए आप अब्जभू, पद्मभू आदि नामोंसे पुकारे जाते हैं । अथवा माताके उदरमें ही भगवान् पुण्यातिशयसे उत्पन्न हुए नाभिकमल पर नौ मास तक विराजमान रहकर वृद्धिको प्राप्त होते हैं और योनिको नहीं स्पर्श करके ही जन्म

* यद्यपि ब्रह्मासे लेकर त्रयीमय तकके नाम ब्रह्माके और उससे आगेके नाम विष्णुके हैं, तथापि ग्रन्थकारने अपनी विद्वत्तासे स्वमतके अनुसार अर्थ करके उन्हें जिनभगवान् पर घटित किया है ।

स्पृष्ट्वा संजातस्तेनाब्जभूरुच्यते। आत्मा निजशुद्धबुद्धैकस्वभावश्चिच्चमत्कारैकलक्षणपरमब्रह्मैकस्वरूपष्टंकोत्कीर्णस्फटिकमणिमतल्लिकाबिम्बसदृशो भूर्निवासस्थानं यस्य। सृजति करोति-निंद्यमानः पापिष्ठैर्नारक-तिर्यग्गती उत्पादयति, मध्यस्थैर्न स्तूयते न निंद्यते तेषां मानवगतिं करोति, यैः स्तूयते पूज्यते आराध्यते तान् स्वर्गं नयति, यैर्ध्यायते तान् मुक्तान् करोति। सुराणां देवानां मध्ये ज्येष्ठो वृद्धो महान् श्रेष्ठो वा। प्रजानां त्रिभुवनस्थित-लोकानां पतिः ॥६८॥ हिरण्येन सुवर्णेनोपलक्षितो गर्भो यस्य स तथोक्तः। भगवति गर्भस्थिते नवमासान् रत्न-कनकवृष्टिर्मातुर्गृहांगणे भवति, तेन हिरण्यगर्भः। वेदेन श्रुतज्ञानेन मतिश्रुतावधिभिस्त्रिभिर्ज्ञानैर्विश्वं-वेदितव्यं जानाति। स्वमते तु वेदो ज्ञानं तन्मयमंगं आत्मा यस्य। वा वेदस्य केवलज्ञानस्य प्राप्तौ भव्यप्राणिनां अंगं उपायो यस्मादसौ। वेदस्य ज्ञानस्य पारं गच्छतीति। न जायते नोत्पद्यते संसारे इत्यजः। मन्यते जानाति तत्त्वमिति, उप्रत्ययः। शतमानन्दानां यस्य स शतानन्दः अनन्तसुख इत्यर्थः। वा शतानामसंख्याताना-मानन्दो यस्मादसौ शतानन्दः सर्वप्राणिसुखदायक इत्यर्थः। हंसे परमात्मनि यानं गमनं यस्य। त्रयाणां

लेते हैं, इसलिए भी अब्जभू कहलाते हैं (६)। शुद्ध-बुद्धैकस्वभावरूप आत्मा ही आपकी निवास-भूमि है, इसलिए आप आत्मभू कहलाते हैं। अथवा आप अपने आत्माके द्वारा ज्ञानरूपसे सारे चराचर जगत्को व्याप्त करते हैं, जानते हैं, इसलिए भी आत्मभू कहलाते हैं (७)। आप संसारमें सुखका सर्जन करते हैं, इसलिए स्रष्टा कहलाते हैं। यद्यपि आप वीतरागी और सबके हितैषी हैं, तथापि आपका ऐसा अचिन्त्य माहात्म्य है कि आपकी निन्दा करनेवाले नरक-तिर्यंचादि कुगतियोंमें दुःख पाते हैं और आपकी पूजा-स्तुति करनेवाले स्वर्गादिकमें सुख पाते हैं (८)। सुर अर्थात् देव-ताओंमें आप ज्येष्ठ या प्रधान हैं। अथवा देवोंके ज्या अर्थात् माताके समान हितैषी हैं। अथवा सुरोंको अपनी जन्मभूमि स्वर्गलोकसे भी आपका सामीप्य अधिक इष्ट है, यही कारण है कि वे स्वर्गलोकसे आकर आपकी सेवा करते हैं, इसलिए आप सुरज्येष्ठ कहलाते हैं (९)। तीनों लोकोंमें स्थित प्रजाके आप पति हैं इसलिए प्रजापति कहलाते हैं (१०)। आपके गर्भमें रहते समय सुवर्ण-वृष्टि होती है, इसलिए लोक आपको हिरण्यगर्भ कहते हैं (११)। वेदितव्य अर्थात् जानने योग्य सर्व वस्तुओंके जान लेनेसे आप वेदज्ञ कहलाते हैं। अथवा स्त्री, पुरुष, नपुंसक वेदरूप सर्व जगत्को जाननेसे कारण भी आप वेदज्ञ कहलाते हैं। अथवा पराई वेदनाको कष्टको जाननेसे भी आप वेदज्ञ कहलाते हैं। अथवा जिसके द्वारा आत्मा शरीरसे भिन्न जाना जाता है, उस भेदज्ञानको वेद कहते हैं, उसके ज्ञाता होनेसे योगिजन आपको वेदज्ञ कहते हैं (१२)। आपका अंग अर्थात् आत्मा वेदरूप है—ज्ञानस्वरूप है, इसलिए आप वेदांग कहलाते हैं। अथवा केवलज्ञानरूप वेदकी प्राप्ति होनेपर भव्यप्राणियोंकी रक्षाका अंगभूत उपाय आपसे प्रगट होता है, इसलिए लोग आपको वेदांग कहते हैं (१३)। आप वेद अर्थात् ज्ञानके पारको प्राप्त हुए हैं, इसलिए वेदपारग कहलाते हैं। अथवा द्वादशांग श्रुतज्ञानको वेद कहते हैं, उसकी रक्षा करने वाले मुनियोंको वेदप कहते हैं। वेदपोंके 'र' अर्थात् कामविकारको या शंकाको निराकरण करनेके कारण भी लोग आपको वेदपारग कहते हैं (१४)। आगे संसारमें जन्म न लेनेके कारण आपको योगिजन अज कहते हैं (१५)। वस्तुतत्त्वके मनन करनेके कारण आप मनु कहलाते हैं (१६)। आपके आनन्दोंका शत अर्थात् सैकड़ा पाया जाता है, अतः आप शतानन्द कहलाते हैं। यहां शत शब्द अनन्तके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, तदनुसार आप अनन्त सुखके स्वामी हैं। अथवा शत अर्थात् असंख्य प्राणियोंको आपके निमित्तसे आनन्द प्राप्त होता है, इसलिए भी आप शतानन्द कहलाते हैं (१७)। हंस अर्थात् परमात्मस्वरूपमें आपका यान कहिए गमन होता है, इसलिए आप हंसयान कहलाते हैं। अथवा हंस के समान मंद-मंद गमन करनेसे भी हंसयान कहलाते हैं अथवा हंस अर्थात् सूर्यके समान आपका भी गमन स्वभावतः अनीहित या इच्छा-रहित होता है, इसलिए भी आप हंसयान कहलाते हैं (१८)। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रके समाहारको त्रयी कहते हैं।

विश्वंभरोऽसुरध्वंसी माधवो बलिबन्धनः । अधोक्षजो मधुद्वेषी केशवो विष्टरश्रवाः ॥१०१॥
श्रीवत्सलाञ्छनः श्रीमानच्युतो नरकान्तकः । विष्वक्सेनश्चक्रपाणिः पद्मनाभो जनार्दनः ॥१०२॥
श्रीकण्ठः शंकरः शम्भुः कपाली वृषकेतनः । मृत्युंजयो विरूपाक्षो वामदेवस्त्रिलोचनः ॥१०३॥

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणां समाहारस्त्रयी, तस्या निर्वृत्तः ॥१९॥ वेवेष्टि केवलज्ञानेन विश्वं व्याप्नोतीति । त्रयो विक्रमाः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां शक्तिलक्षणा यस्य । वा त्रिषु लोकेषु विशिष्टः क्रमः परिपाटी यस्य । शूरस्य सुतस्य चरित्रस्य अपत्यं । श्रीणां अभ्युदय-निःश्रेयसलक्षणलक्ष्मीनां पतिः । पुरुषेषु त्रिषष्टिलक्षणेषु उत्तमः । विकुंठा दिक्कुमारीणां प्रश्नानुत्तरदाने विलक्षणा तीर्थकृन्माता, तस्या अपत्यं पुमान् । पुंडरीकवत् कमलवत् अक्षिणी लोचने यस्य । वा पुंडरीकः प्रधानभूतः अक्षः आत्मा यस्य । हृषीकाणामिन्द्रियाणामीशो वशिता हृषीकेशः, जितेन्द्रिय इत्यर्थः । हरति पापं हरिः, हः सर्वधातुभ्यः । स्वेन आत्मना भवति वेदितव्यं वेत्ति ॥१००॥

विश्वं त्रैलोक्यं बिभर्ति धारयति, न नरकादौ पतितुं ददाति । असुरो मोहो मुनिभिरुच्यते, तं ध्वंसते इत्येवंशीलः । वा असून् प्राणिनां प्राणान् राति गृह्णाति असुरो यमः, तं ध्वंसते नाशयति असुरध्वंसी, यमस्य यम इत्यर्थः । मायाः लक्ष्म्याः समवसरण-केवलज्ञानादिकायाः धवो भर्ता माधवः, राज्यकाले राज्यलक्ष्म्या

आप इस त्रयीसे निर्वृत्त हैं, अर्थात् इन तीनों मय हैं, अतः त्रयीमय कहलाते हैं (१९) । केवलज्ञानके द्वारा आपने सारे विश्वको व्याप्त किया है, इसलिए विष्णु कहलाते हैं (२०) । रत्नत्रयरूप तीन विक्रम अर्थात् शक्तिरूप सम्पदाएं आपको प्राप्त हैं, अतः आप त्रिविक्रम कहलाते हैं । अथवा तीनों लोकोंमें आपका विशिष्ट क्रम है अर्थात् सर्वोच्च स्थान है, इसलिए भी त्रिविक्रम कहलाते हैं (२१) । सूर-वीर क्षत्रियोंकी सन्तति होनेसे आप सौरि कहलाते हैं (२२) । अभ्युदय-निःश्रेयसरूप श्रीके पति होनेसे आप श्रीपति कहलाते हैं (२३) । तिरेसठ शलाका पुरुषोंमें उत्तम होनेसे आपको पुरुषोत्तम कहते हैं (२४) । आपकी माता दिक्कुमारियोंके गूढ़ प्रश्नोंका उत्तर देनेमें विकुंठा अर्थात् विचक्षण होती है । आप उनके अपत्य अर्थात् पुत्र हैं, इसलिए वैकुंठ कहलाते हैं (२५) । पुंडरीक अर्थात् कमलके समान सुन्दर आपके अक्ष अर्थात् नेत्र हैं, इसलिए आप पुंडरीकाक्ष कहलाते हैं । अथवा आपका अक्ष अर्थात् आत्मा पुंडरीक कहिए प्रधानभूत है, श्रेष्ठ है (२६) । हृषीक अर्थात् इन्द्रियोंको वशमें करनेके कारण आप हृषीकेश कहलाते हैं (२७) । पापोंके हरण करनेसे हरि कहलाते हैं (२८) । स्वयं ही जानने योग्य वस्तु-तत्त्वको जाननेके कारण स्वभू कहलाते हैं (२९) ।

अर्थ—हे विश्वेश, आप विश्वम्भर हैं,[1] असुरध्वंसी हैं, माधव हैं, बलिबन्धन हैं, अधोक्षज हैं, मधुद्वेषी हैं, केशव हैं, विष्टरश्रव हैं, श्रीवत्सलांछन हैं, श्रीमान् हैं, अच्युत हैं, नरकान्तक हैं, विष्वक्सेन हैं, चक्रपाणि हैं, पद्मनाभ हैं, जनार्दन हैं, श्रीकण्ठ हैं, शंकर हैं, शम्भु हैं, कपाली हैं, वृषकेतन हैं, मृत्युंजय हैं, विरूपाक्ष हैं, वामदेव हैं और त्रिलोचन हैं ॥१०१-१०३॥

व्याख्या—हे विश्वके ईश, आप विश्वका भरण-पोषण करते हैं, उसे नरकादि गतियोंके दुःखोंसे बचाते हैं, इसलिए लोक आपको विश्वम्भर कहते हैं (३०) । मोहरूप असुरका आपने विध्वंस किया है, इसलिए जगत् आपको असुरध्वंसी कहता है । अथवा असु अर्थात् प्राणोंको जो 'राति' कहिए ग्रहण करे, ऐसे यमको असुर कहते हैं । आपने उस यमराजका भी नाश किया है, उसपर विजय पाई है, अतः आप यमके भी यम हैं, इस अपेक्षासे भी असुरध्वंसी यह आपका नाम सार्थक है (३१) । मा अर्थात् समवसरण और केवलज्ञानादिरूप बहिरंग-अन्तरंग लक्ष्मीके

---

[1] विश्वम्भरसे लेकर श्रीकण्ठ तक विष्णुके नाम हैं और शंकरसे लेकर आगे हर तकके नाम महादेवके हैं, पर ग्रन्थकारने अर्थके चातुर्यसे इन्हें वीतराग भगवान् पर ही घटाकर यह ध्वनित किया है कि आप ही सच्चे ब्रह्मा, विष्णु और महेश हैं, अन्य नहीं ।

वा भवः स्वामी । बलिः कर्मबन्धनं जीवस्य यस्य मते, वा बलमस्यास्तीति बलिः, बलवत्तरं त्रैलोक्यक्षोभकरण-कारणं बन्धनं तीर्थंकरनामोच्चैर्गोत्रद्वयं यस्य, वा बलिर्भागधेयकरस्तस्य बन्धनं षष्ठांश निर्धारणं यस्मात् राज्यावसरे स बलिबन्धनः । अधोक्षाणां जितेन्द्रियाणां दिगम्बरगुरूणां जायते ,ध्यानेन प्रत्यक्षीभवति, डो संज्ञायामपि डप्रत्ययः । अक्षजं ज्ञानं अधो यस्य स अधोक्षजः, केवलज्ञानं सर्वेषां ज्ञानानामुपरि वर्त्तते इत्यर्थः । मधुशब्देन मद्यं सारघं च द्वयमुच्यते, तद्द्वयमपि द्वेष्टि दूषितं कथयति. महद् पापमूलं ब्रूते इत्येवंशीलः । प्रशस्ता अलिकुलनीलवर्णा केशा मस्तके विद्यन्ते यस्य, केशाद्वोऽन्यतरस्यां इत्यनेन सूत्रेण अस्त्यर्थे व प्रत्ययः । विष्टर इव श्रवसी कर्णौ यस्य स तथोक्तः । सर्वधातुभ्योऽसुन् । वा विस्तरे सकलश्रुतज्ञाने श्रवसी कर्णौ, आकर्णितवती यस्य ॥१०१॥ श्रीवत्सनामा वक्षसि लांछनामावर्त्तो यस्य । श्रीर्बहिरंगा समवशरणलक्षणा अन्तरंगा केवलज्ञानादिका विद्यते यस्य । न च्यवते स्म स्वरूपाद्च्युतः, परमात्मनिष्ठ इत्यर्थः । सप्तनरकभूमिषु पतितुं न ददाति तेन नरकस्य अन्तको विनाशकः, स्वर्ग-मोक्षप्रदायक इत्यर्थः । विष्वक् समन्तात् सेना

धव अर्थात् भर्त्ता या स्वामी होनेसे योगिजन आपको माधव कहते हैं। अथवा राज्यावस्थामें आप राजलक्ष्मीके स्वामी थे। अथवा मा शब्दसे प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाणका ग्रहण करना चाहिए। आप इन दोनों प्रमाणोंके धव अर्थात् प्रणेता हैं, उनके प्रयोगमें अति विचक्षण हैं, इसलिए भी माधव कहलाते हैं (३२)। बलि अर्थात् कर्मको आपने बन्धन बतलाया है, अतः आप बलिबन्धन कहलाते हैं। अथवा बलवान्को बली कहते हैं। आपने त्रैलोक्यको क्षोभित करनेवाले ऐसे बली तीर्थंकर नामकर्म और विशिष्ट जातिके उच्चगोत्रकर्मका पूर्वभवमें बन्धन किया है इसलिए भी आपका बलिबन्धन नाम सार्थक है। अथवा राजा अपनी प्रजासे जो कर लेता है, उसे भी बलि कहते हैं। आपने आयके छठे भागरूपसे उसका बन्धन अर्थात् निर्धारण राज्यावस्थामें किया था, इसलिए भी आप बलिबन्धन कहलाते हैं (३३)। अक्ष अर्थात् इन्द्रियोंको जिन्होंने विजय कर अधः कहिए नीचे डाला है, ऐसे जितेन्द्रिय साधुओंको अधोक्ष कहते हैं। आप ऐसे जितेन्द्रियोंके 'जायते' कहिए ध्यानसे प्रत्यक्ष होते हैं, इसलिए अधोक्षज कहलाते हैं। अथवा अतीन्द्रिय केवलज्ञानको प्राप्त कर आपने अक्षज अर्थात् इन्द्रियज्ञानका अधःपात किया है, इसलिए भी आपका अधोक्षज यह नाम सार्थक है (३४)। मधु शब्द मद्य और शहद दोनोंका वाचक है, आप उस मधुके द्वेषी हैं अर्थात् मद्य और मधुके सेवनको आपने पापका मूल कारण बतलाया है, इसलिए आप मधुद्वेषी कहलाते हैं (३५)। आपके मस्तकके केश अत्यन्त स्निग्ध और नीलवर्ण हैं, इसलिए आप केशव कहलाते हैं। (तीर्थंकर भगवान्के केश कभी भी श्वेत नहीं होते और मस्तकके सिवाय अन्यत्र उनके बाल नहीं होते।) अथवा क नाम आत्माका है, आत्मस्वरूपकी प्राप्तिमें जो ईश अर्थात् समर्थ होते हैं, ऐसे महामुनियोंको केश कहते हैं। उनका व अर्थात् वास आपके ही चरणोंके पास है, इसलिए भी आप केशव कहलाते हैं (३६)। आपके विष्टर अर्थात् पीठके समान विस्तीर्ण श्रवस् कहिए कर्ण हैं, इसलिए आप विष्टरश्रवा कहलाते हैं। अथवा विष्टर अर्थात् विस्तीर्ण श्रवस् कहिए अंगबाह्य और अंगप्रविष्टरूप श्रुतज्ञान ही आपके श्रोत्र हैं, इसलिए भी आप विष्टरश्रवा कहलाते हैं (३७)। आपके वक्षःस्थल पर श्रीवत्स नामका लांछन अर्थात् रोमावर्त है, इसलिए आप श्रीवत्सलांछन कहलाते हैं। अथवा श्रीवत्स नाम लक्ष्मीके पुत्र कामदेवका भी है। आपने अपने सौन्दर्यसे उसे भी लांछित या तिरस्कृत किया है। अथवा श्रीवत्सल अर्थात् लक्ष्मीके स्नेही लोगोंका संसार-वास आंछन कहिए विस्तीर्ण होता जाता है, ऐसा प्रतिपादन करनेके कारण आप श्रीवत्सलांछन कहलाते हैं (३८)। आपके अन्तरंग अनन्त चतुष्टयरूप और बहिरंग समवसरणरूप श्रीके पाये जानेसे आप श्रीमान् कहलाते हैं (३९)। आप अपने स्वरूपसे कभी भी च्युत नहीं होते, इसलिए अच्युत कहलाते हैं (४०)। नरकोंके अन्तक अर्थात् विनाशक होनेसे आप

द्वादशविधो गणो यस्य । चक्रं लक्षणं पाणौ यस्य स तथोक्तः । पद्मवत् कमलपुष्पवत् नाभिर्यस्य स पद्मनाभः । जनानामन्तर्गतानां वा गणार्दनामदन्तवा इत्यधिकारे संज्ञायां नाभिः । अन् प्रत्ययः । जनान् जनपदलोकान् अर्दति (अर्दति) संबोधनार्थं गच्छति, वा जनास्त्रिभुवनस्थितभव्यलोका अर्दना मोक्षयाचका यस्य । अथवा जनान् अर्दयति मोक्षं गमयति जनार्दनः । नन्द्यादेर्युः, इनंतस्य युप्रत्ययः ॥१०२॥ श्रीर्मुक्तिलक्ष्मीः कण्ठे आलिंगनपरा यस्य । शं परमानन्दलक्षणं सुखं करोति । शं परमानन्दलक्षणं सुखं भवत्यस्मात् । कान् आत्मनः सर्वजन्तून् पालयतीति । वृषो अहिंसालक्षणो धर्मः केतनं ध्वजा यस्य । मृत्युं अन्तकं जयतीति । विरूपं रूपरहितं-मूर्तत्वभावं अक्षि केवलज्ञानलक्षणं लोकालोकप्रकाशकं लोचनं यस्य । वामो मनोहरो देवः । त्रयाणां स्वर्ग-मर्त्य-पातालस्थितानां भव्यजीवानां लोचनप्रायः नेत्रस्थानीयः त्रिलोचनः ॥१०३॥*

नरकान्तक कहलाते हैं। क्योंकि जीवोंको सदाचरणके द्वारा उन्हें नरकोंमें गिरनेसे बचाते हैं (४१)। आपके विष्वक् अर्थात् चारों ओर द्वादश सभाओंके जीव ही सेनारूपसे समवसरणमें या विहारकालमें साथ रहते हैं, इसलिए आप विष्वक्सेन कहलाते हैं। अथवा विष्वक् अर्थात् तीनों लोकोंमें जो सेना यानी लक्ष्मी विद्यमान है, उसके आप इन कहिए स्वामी हैं, इसलिए भी विष्वक्सेन यह नाम आपका सार्थक है (४२)। आपके पाणि अर्थात् हाथमें चक्रका चिन्ह है, इसलिए योगिजन आपको चक्रपाणि कहते हैं। अथवा सेनारूप चक्रको जो पालते हैं ऐसे मंडलेश्वर, अर्धचक्री और चक्रवर्ती राजाओंको चक्र कहते हैं। उनकी आप अणि अर्थात् सीमास्वरूप हैं, धर्मचक्रके प्रवर्तन करनेसे सर्वशिरोमणि हैं, इसलिए भी आप चक्रपाणि कहलाते हैं। अथवा चक्र अर्थात् सुरेन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र, मुनीन्द्रादिकों को भी आप 'अणिति' कहिए उपदेश देते हैं, इस अपेक्षासे भी आपका चक्रपाणि यह नाम सार्थक है (४३)। पद्म अर्थात् कमल पुष्पके समान आपकी नाभि है, इसलिए आप पद्मनाभ कहलाते हैं (४४)। जन अर्थात् जनपदवासी लोगोंको 'अर्दति' कहिए संबोधनके लिए जाते हैं, इसलिए आप जनार्दन कहलाते हैं। अथवा त्रिभुवनके भव्यजन दीन होकर आपसे मोक्षमार्गकी अर्दना अर्थात् याचना करते हैं इसलिए भी जनार्दन यह नाम सार्थक है (४५)। श्री अर्थात् मुक्तिरूपी लक्ष्मी आपके कंठका आलिंगन करनेके लिए उद्यत है, इसलिए आप श्रीकण्ठ कहलाते हैं (४६)। शं अर्थात् परमानन्दस्वरूप सुखके करनेसे आप शंकर कहलाते हैं (४७)। शम् अर्थात् सुख भव्य जीवोंको आपसे प्राप्त होता है, इसलिए आप शम्भु कहलाते हैं (४८)। 'क' अर्थात् जीवोंको पालन करनेके कारण आप कपाली कहलाते हैं। अथवा 'क' अर्थात् आत्माकी जो 'पान्ति' कहिए रक्षा करते हैं, ऐसे मुनियोंको 'कप' कहते हैं। उन्हें आप लाति कहिए रत्नत्रयके द्वारा विभूषित करते हैं इससे कपाली कहलाते हैं (४९)। वृष अर्थात् अहिंसालक्षण धर्म ही आपकी केतन कहिए ध्वजा है, इसलिए आप वृषकेतन कहलाते हैं (५०)। मृत्युको आपने जीत लिया है, अतः आप मृत्युंजय कहलाते हैं (५१)। आपका विरूप अर्थात् रूप-रहित अमूर्त्तिक एवं इन्द्रिय-अगोचर केवलज्ञानरूप अक्ष कहिए नेत्र होनेसे योगिजन आपको विरूपाक्ष कहते हैं। अथवा विशिष्ट रूपशाली एवं त्रिभुवनके चित्तको हरण करनेवाले आपके विशाल नेत्र हैं, इसलिए भी आप विरूपाक्ष कहलाते हैं। अथवा विरूप अर्थात् रूपादि-रहित अमूर्त्तिक एवं केवलज्ञान-गम्य आपका अक्ष अर्थात् आत्मा है, इसलिए भी आपको विरूपाक्ष कहते हैं (५२)। आप वाम अर्थात् मनोहर देव हैं, अति सुन्दराकार हैं, इसलिए वामदेव कहलाते हैं। अथवा वाम अर्थात् कामके शत्रु महादेवके भी आप परमाराध्य देव हैं, इसलिए वामदेव कहलाते हैं। अथवा वाम अर्थात् सुन्दर सौधर्मेन्द्रादि देव आपकी सेवामें सदा उपस्थित रहते हैं, इसलिए भी आप वामदेव कहलाते हैं।

---

*इस स्थानपर 'मुनिश्रीविनयचन्द्रेण कर्मक्षयार्थं लिखितम्' इतना और अ प्रतिमें लिखा हुआ है।

उमापतिः पशुपतिः स्मरारिस्त्रिपुरान्तकः । अर्धनारीश्वरो रुद्रो भवो भर्गः सदाशिवः ॥१०४॥
जगत्कर्ताऽन्धकारातिरनादिनिधनो हरः । महासेनस्तारकजिद् गणनाथो विनायकः ॥१०५॥
विरोचनो वियद्रत्नं द्वादशात्मा विभावसुः । द्विजाराध्यो बृहद्भानुश्चित्रभानुस्तनूनपात् ॥१०६॥

उमायाः कान्तेः कीर्त्तेश्च पतिः स्वामी । पशूनां सुर-नर-तिरश्चां पतिः स्वामी । स्मरस्य कन्दर्पस्य अरिः शत्रुः । तिसृणां पुरां जन्म-जरा-मरणलक्षणनगराणां अन्तको विनाशकः । अर्धं न विद्यन्ते अरयः शत्रवो यस्य सोऽर्धनारिः, घातिसंघातघातनः, स चासावीश्वरः स्वामी । कर्मणां रौद्रमूर्त्तित्वात् रुद्रः, रोदिति आनन्दाश्रूणि मुंचति आत्मदर्शने सति । रक् प्रत्ययः । भवत्यस्माद्विश्वमिति । भ्रजि-भृजी भर्जने इत्ययं धातुः

अथवा 'वा' अर्थात् वन्दनामें 'म' कहिए सूर्य, चन्द्र, रुद्र आदि आपके सदा विद्यमान रहते हैं, अतएव आपको वामदेव कहते हैं । अथवा वामा अर्थात् इन्द्राणी, देवियाँ और राजपत्नियाँ आदि सुन्दर स्त्रियोंके आप परम आराध्यदेव हैं, इसलिए भी वामदेव कहलाते हैं (५३) । तीनों लोकोंके लोचनरूप होनेसे आप त्रिलोचन कहलाते हैं । अथवा जन्मकालसे ही आप मति, श्रुत, अवधिज्ञानरूप तीन नेत्रोंके धारक थे, इसलिए भी लोग आपको त्रिलोचन कहते हैं । अथवा तीनों लोकोंमें आपके केवलज्ञान और केवलदर्शनरूप दो लोचन ही वस्तुरूपके दर्शक हैं, अन्य नहीं, इसलिए भी आप त्रिलोचन कहलाते हैं । अथवा मन, वचन, काय इन तीनों योगोंका आपने लोचन अर्थात् मुण्डन किया है, उन्हें अपने वशमें किया है, इसलिए आप त्रिलोचन कहलाते हैं । अथवा त्रिकरण-शुद्ध होकर आपने अपने केशोंका लुंचन किया है इसलिए भी त्रिलोचन कहलाते हैं । अथवा सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप तीन रत्नोंको जो लेते हैं ऐसे महामुनियोंको त्रिल कहते हैं । उनका ओचन अर्थात् समुदाय आपके पाया जाता है, इसलिए भी आप त्रिलोचन कहलाते हैं (५४) ।

अर्थ—हे रमेश, आप उमापति हैं, पशुपति हैं, स्मरारि हैं, त्रिपुरान्तक हैं, अर्धनारीश्वर हैं, रुद्र हैं, भव हैं, भर्ग हैं, सदाशिव हैं, जगत्कर्त्ता हैं, अन्धकाराति हैं, अनादिनिधन हैं, हर हैं, महासेन[1] हैं, तारकाजित् हैं, गणनाथ हैं, विनायक हैं, विरोचन[2] हैं, वियद्रत्न हैं, द्वादशात्मा हैं, विभावसु हैं, द्विजाराध्य हैं, बृहद्भानु हैं और तनूनपात् हैं ॥१०४-१०६॥

व्याख्या—हे लक्ष्मीके आगार, आप कान्ति और कीर्त्तिके पति हैं, इसलिए उमेश, उमापति आदि नामोंसे पुकारे जाते हैं (५५) । जो कर्म-बन्धनोंसे बंधे हैं, ऐसे संसारी जीवोंको पशु कहते हैं, उनके आप छुड़ाने वाले हैं, इसलिए पशुपति कहलाते हैं (५६) । स्मर अर्थात् कामदेवके आप अरि हैं, इसलिए स्मरारि कहलाते हैं (५७) । जन्म, जरा और मरणरूप तीन पुरोंके आप अन्त करनेवाले हैं, इसलिए त्रिपुरान्तक कहलाते हैं । अथवा मोक्ष जानेके समय औदारिक, तैजस और कार्मण इन तीन शरीररूप पुरोंका अन्त करनेके कारण भी आप त्रिपुरान्तक कहलाते हैं । अथवा त्रिपुर अर्थात् त्रैलोक्यके अन्तमें आपका 'क' कहिए आत्मा निवास करता है, इसलिए भी आप त्रिपुरान्तक कहलाते हैं (५८) । अघाति-कर्मरूप आधे शत्रु आपके नहीं पाये जाते, इस प्रकारके ईश्वर होनेसे आप अर्धनारीश्वर कहलाते हैं (५९) । कर्मोंके भस्म करनेके लिए आप रौद्रमूर्त्ति हैं, इसलिए रुद्र कहलाते हैं । अथवा आत्म-दर्शन होनेपर आप 'रुदिति' कहिए आनन्दके अश्रु छोड़ते हैं, इसलिए भी आप रुद्र कहलाते हैं (६०) । आपसे विश्व उत्पन्न होता है, इसलिए आप भव कहलाते हैं । यद्यपि आप जगत्को बनाते नहीं है, पर ऐसा ही आपका माहात्म्य है कि जो आपकी निन्दा करते हैं, वे नरक-निगोदादि दुर्गतियोंको प्राप्त होते हैं । जो आपकी स्तुति-प्रशंसा करते हैं, वे स्वर्गको और आपका ध्यान करनेवाले मोक्षको प्राप्त होते हैं । इस अपेक्षा विश्व आपसे उत्पन्न हुआ कहलाता है (६१) । आपने ध्यानके द्वारा काम-क्रोधादिको भस्म किया है, इसलिए भर्ग कहलाते हैं । अथवा केवलज्ञानादि गुणों-

१ यहां से विनायक तकके नाम गणेशके हैं । २ यहां से आगे के नाम अग्निके हैं ।

भौवादिकः, आत्मनेपदी । भृज्यन्तेऽनेन कामक्रोधादयो ध्यानाग्नौ पच्यन्ते भस्मीक्रियन्ते, अकर्तरि च कारके संज्ञायां घञ् प्रत्ययः । सदा सर्वकालं शिवं परमकल्याणं अनन्तं सुखं वा यस्य ॥१०४॥ जगतां कर्ता स्थितिविधायकः मर्यादाकारकः । वा जगतः कं सुखं इयर्त्ति गच्छति जानातीति । अंधश्चक्षुर्रहितः सम्यक्त्वविघातकः, कः कायः स्वरूपं यस्य स अन्धकः, मोहकर्म तस्य अरातिः शत्रुः, मूलादुन्मूलकः । न विद्येते आदि-निधने उत्पत्ति-मरणे यस्य स तथोक्तः । अनन्तभवोपार्जितानि अघानि पापानि जीवानां हरति निराकरोतीति । महती द्वादशगणलक्षणा सेना यस्य । राज्यावस्थायां वा महती चतुःसागरतटनिवासिनी सेना चमूर्यस्य । तारयन्ति संसारसमुद्रस्य पारं नयन्ति भव्यजीवान् तारकाः, गणधरदेवानगारकेवलिमुख्योपाध्यायसर्वसाधवः, तान् जितवान्, सर्वेषामप्युपरि बभूव, तेन

को धारण करनेसे भी आपका भर्गनाम सार्थक है। अथवा भव्यजीवोंका पोषण करनेसे भी भर्ग कहलाते हैं (६२)। आपके सदा ही शिव अर्थात् परम कल्याण पाया जाता है, इसलिए आप सदाशिव कहलाते हैं। अथवा जो रात्रि-दिनका भेद न करके सदा ही भोजन-पान करते हैं, उन्हें सदाशि कहते हैं। आपके मतानुसार उन्हें सदा 'व' अर्थात् संसार-समुद्रमें डूबना पड़ेगा, इससे भी सदाशिव कहलाते हैं (६३)। आप जगत्के कर्ता अर्थात् स्थिति या मर्यादाके विधाता हैं, इसलिए जगत्कर्त्ता कहलाते हैं। अथवा जगत्को 'क' अर्थात् सुख प्राप्त कराते हैं, इसलिए भी जगत्कर्त्ता कहलाते हैं (६४)। जगत् को अन्धा करनेवाले मोहकर्मको अन्धक कहते हैं, उसके आप अराति अर्थात् शत्रु हैं, इसलिए अन्धकाराति कहलाते हैं। अथवा गाढ़ अन्धकार-पूर्ण नरक-स्थानको अन्धक कहते हैं, आप जीवोंको नरकोंमें गिरने नहीं देते, अतः नरकोंके शत्रु हैं, इसलिए भी अन्धकाराति कहलाते हैं। अथवा अन्धकार पूर्ण काराकूप गृहमेंसे निकाल कर आप जीवोंको मोक्षमें रखते हैं, इसलिए भी अन्धकाराति कहलाते हैं (६५)। आदि नाम उत्पत्तिका है और निधन नाम मरणका है। आप जन्म और मरणसे रहित हैं इसलिए अनादिनिधन कहलाते हैं (६६)। अनन्त-भवोपार्जित पापोंके हरण करनेसे आप हर कहलाते हैं। अथवा 'ह' अर्थात् हर्षको 'राति' कहिए उत्पन्न करते हैं, इसलिए हर कहलाते हैं। अथवा 'ह' अर्थात् हिंसाके लिए आप 'र' कहिए अग्निस्वरूप हैं, क्योंकि हिंसाका सर्वथा निषेध करते हैं, इसलिए भी हर कहलाते हैं (६७)। आपके राज्यावस्थामें द्वादशगण-लक्षण महा सेना थी, इसलिए आप महासेन कहलाते हैं। अथवा मह अर्थात् पूजाकी अतिशोभा को महासा कहते हैं। आप उस पूजातिशयके इन अर्थात् स्वामी हैं, इसलिए भी महासेन कहलाते हैं। अथवा मा नाम लक्ष्मी और सरस्वती का भी है। आप दोनोंके ही महा स्वामी हैं, अतः महासेन कहलाते हैं अथवा समवसरणमें स्थित महान् सिंहासनको महासा कहते हैं। उसके ऊपर स्थित आप इन अर्थात् सूर्यके समान प्रतिभासित होते हैं, इसलिए भी आप महासेन कहे जाते हैं (६८)। जो भव्य जीवोंको संसार-समुद्रसे तारते हैं, ऐसे गणधरदेवादिको तारक कहते हैं। आपने अपने दिव्य उपदेशके द्वारा उन्हें जीत लिया है, इसलिए आप तारकजित् कहलाते हैं। अथवा तार अर्थात् उच्च शब्द करनेवाले मेघोंको तारक कहते हैं। आपने अपने गम्भीर नाद-रवसे उन्हें जीत लिया है, इसलिए भी आप तारकजित् कहलाते हैं। संस्कृतमें ड, ल और र में भेद नहीं होता, इस नियमके अनुसार संसारको ताड़ना देनेवाला मोहकर्म ताड़क कहलाता है। आपने उसे जीत लिया है, इसलिए भी आप ताड़कजित् या तारकजित् कहलाते हैं। अथवा श्मसानमें ताली बजाकर नाचनेवाले रुद्रको तालक कहते हैं। आपने उसे भी जीत लिया है, इसलिए तालकजित् या तारकजित् कहलाते हैं। अथवा मोक्ष-पुरके किवाड़ोंपर तालेका काम करनेवाले अन्तराय कर्मको तालक कहते हैं आपने उस अन्तराय कर्मको भी जीत लिया, इसलिए आप तालकजित् कहलाते हैं (६९)। गण अर्थात् द्वादश भेदरूप संघके आप नाथ हैं, अतः गणनाथ कहलाते हैं। अथवा नाथ धातुका ऐश्वर्य और आशीर्वाद देना भी अर्थ है। आप गणको ऐश्वर्य भी प्रदान करते हैं और

तारकजिदुच्यते । गणस्य द्वादशभेदसंघस्य नाथः । विशिष्टानां गणीन्द्र-सुरेन्द्र-नागेन्द्र-विद्याधर-चारणादीनां नायकः ॥१०५॥ विशिष्टं रोचनं क्षायिकसम्यक्त्वं यस्य । वियतः आकाशाद् रत्नं रत्नवृष्टिर्यस्य यस्माद्वा दातुर्भवेद् वियद्रत्नम् । अथवा वियतः आकाशस्य रत्नं अन्तरीक्षचारित्वात् । द्वादशानां गणानामात्मा जीवप्रायः । अथवा द्वादश अंगानि आत्मा स्वभावो यस्य । वा द्वादश अनुप्रेक्षा आत्मनि छद्मस्थावस्थायां यस्य । कर्मेन्धनदहनकारित्वात् विभावसुः अग्निरूपः ।। द्विजानां मुनीनामाराध्यः । बृहतः अलोकस्यापि अपर्यन्तकस्यापि व्यापिनो भानवः केवलज्ञानकिरणा यस्य । चित्रा विचित्रास्त्रैलोक्यलोकचित्तचमत्कारकारिणो विश्वप्रकाशकत्वात्

आशीर्वाद भी देते हैं, इसलिए भी गणनाथ कहलाते हैं (७०) । आप गणीन्द्र, सुरेन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र, विद्याधरादि विशिष्ट पुरुषोंके नायक हैं और स्वयं विगत-नायक हैं अर्थात् आपका कोई दूसरा स्वामी नहीं हैं, आप ही त्रैलोक्यके एकमात्र स्वामी हैं, इसलिए विनायक कहलाते हैं (७१)। आप विशिष्ट रोचन अर्थात् क्षायिकसम्यक्त्वके धारक हैं, अतः योगिजन आपको विरोचन कहते हैं । अथवा रोचन शब्द लोचन और दीप्तिका भी वाचक है । आप विशिष्ट दीप्तिके और केवलज्ञानरूप नेत्रके धारक हैं, इसलिए भी आप विरोचन कहलाते हैं । अथवा आभरणके विना ही आप विशेष शोभित होते हैं । अथवा रोचन अर्थात् संसारसे प्रीति आपकी विनष्ट हो चुकी है, इत्यादि विभिन्न निरुक्तियोंकी अपेक्षा से भी विरोचन नामको सार्थक करते हैं (७२) । आकाशमें अन्तरीक्ष गमन करनेसे आप वियद्रत्न अर्थात् आकाशके रत्न कहलाते हैं । अथवा आपके कल्याणकोंमें आकाशसे रत्नोंकी वर्षा होती है, इसलिए भी लोग आपको वियद्रत्न कहते हैं । अथवा निर्वाण-लाभ करनेपर लोकाकाशके अन्तमें स्थित तनुवातवलयके आप रत्न होंगे अर्थात् वहां विराजमान होंगे, इस अपेक्षासे भी आप वियद्रत्न नामको सार्थक करते हैं (७३) । आप द्वादश गणोंके आत्मा हैं, अर्थात् जीवन-हेतुक प्राणस्वरूप हैं, इसलिए द्वादशात्मा कहलाते हैं । अथवा श्रुतज्ञानके द्वादश अंगरूप ही आपका आत्मा है, इसलिए भी आप द्वादशात्मा कहलाते हैं । श्रुतज्ञान और केवलज्ञानमें केवल प्रत्यक्ष-परोक्षकृत भेद माना गया है, किन्तु सर्व पदार्थोंको विषय करनेकी अपेक्षा दोनों समान हैं (७४) । विभावसु शब्द अग्नि, सूर्य, चन्द्र, रुद्र आदि अनेक अर्थोंका वाचक है । आप अग्निके समान कर्मोंको भस्म करते हैं, सूर्यके समान मोहरूप अन्धकारको दूर करते हैं, चन्द्रके समान संसारके दुःख-सन्तप्त प्राणियोंको अमृतकी वर्षा करते हैं और रुद्रके समान कर्मोंकी सृष्टिका प्रलय करते हैं, इसलिए उक्त सभी अर्थोंकी अपेक्षा आप विभावसु नामको सार्थक करते हैं । अथवा विभा अर्थात् केवलज्ञानरूप विशिष्ट तेज ही आपका वसु अर्थात् धन है, इसलिए भी आप विभावसु कहलाते हैं । अथवा आपके सान्निध्यमें विश्वा, वसु आदि देवगण प्रभा-विहीन हो जाते हैं । अथवा जो विशिष्ट भा अर्थात् तेज-पुञ्जकी रक्षा करे, उसे विभावा कहते हैं आपको सू अर्थात् प्रसव करनेवाली माता ऐसी ही विभावा हैं, अतः आप विभावसु कहलाते हैं । अथवा राग-द्वेषादि विभाव परिणामोंके आप विनाशक हैं, इस अपेक्षा भी आप विभावसु कहलाते हैं (७५) । मातासे जन्म लेनेके पश्चात् जो सम्यग्दर्शनको धारण करते हैं, व्रत और चारित्रको पालन करते हैं, ऐसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंको द्विज कहते हैं, व्रती पुरुष भी द्विज कहलाते हैं । आप ऐसे द्विजोंके आराध्य हैं, इसलिए द्विजाराध्य कहलाते हैं । अथवा माताके उदरसे जन्म लेनेके पश्चात् अंडेमें से भी जन्म लेनेके कारण पक्षियों को द्विज कहते हैं । पक्षी तक भी अपनी वाणीसे आपका गुण-गान करके आपकी आराधना करते हैं, इसलिए भी आप द्विजाराध्य कहलाते हैं । अथवा द्विज नाम दांतोंका भी है । योगिजन ध्यानके समय दांतोंके ऊपर दांतोंको करके एकाग्र हो आपकी आराधना करते हैं, इसलिए भी द्विजाराध्य हैं (७६) । जाननेकी अपेक्षा अलोकाकाशके पर्यन्त भाग तक आपके केवलज्ञानरूप सूर्यकी भानु अर्थात् किरणें फैलती हैं, ऐसी बृहद् अर्थात् विशाल किरणोंको धारण करनेसे आप बृहद्भानु कहलाते हैं । अथवा आपका

द्विजराजः सुधाशोचिरौषधीशः कलानिधिः । नक्षत्रनाथः शुभ्रांशुः सोमः कुमुदबान्धवः ॥१०७॥
लेखर्षभोऽनिलः पुण्यजनः पुण्यजनेश्वरः । धर्मराजो भोगिराजः प्रचेता भूमिनन्दनः ॥१०८॥
सिंहिकातनयश्छायानन्दनो बृहतांपतिः । पूर्वदेवोपदेष्टा च द्विजराजसमुद्भवः ॥१०९॥

॥ इति ब्रह्मशतम् ॥

भानवः केवलज्ञानकिरणा यस्य । तनूं कायं न पातयति छद्मस्थावस्थायां नियतव्रतानुपवासान् कृत्वापि लोकानां मार्गदर्शनार्थं पारणां करोति । अथवा भगवान् मुक्तिंगतो यदा भविष्यति तदा तनोः परमौदारिकचरमशरीरात् किंचिदूनशरीराकारं सिद्धपर्यायाकारं भव्यजीवान् प्रतिपातयति ज्ञापयतीति ॥१०६॥

द्विजानां विप्र-क्षत्रिय-वैश्यानां राजा स्वामी । सुधावत् अमृतवत् लोचनं सौख्यदायकं शोची रोचिर्यस्य । औषधीनां जन्म-जरा-मरणनिवारणभेषजानां सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपसामधीशः स्वामी औषधीशः,

पुण्यरूप भानु अति महान् हैं, इसलिए बृहद्भानु कहलाते हैं। अथवा आपका केवलज्ञानरूप महान् सूर्य लोक और अलोकको जानता है, इसलिए आप बृहद्भानु कहलाते हैं। अथवा बृहद्भानु नाम अग्निका भी है। आप अग्निके समान पाप-पुञ्जको जलाने वाले हैं, इसलिए योगिजन आपको बृहद्भानु कहते हैं (७७)। आपके केवलज्ञानरूप सूर्यकी किरणें चित्र-विचित्र हैं, अर्थात् त्रैलोक्यके चित्तमें चमत्कार उत्पन्न करनेवाली हैं, क्योंकि वे विश्वकी प्रकाशक हैं, अतः आपको साधुजन चित्रभानु कहते हैं। अथवा आपका पुण्यरूप सूर्य संसारको चित्र अर्थात् आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला है, इसलिए भी आप चित्रभानु कहलाते हैं। अथवा आपको देखकर भानु भी आश्चर्यसे चकित रह जाता है, क्योंकि आप कोटि भानुसे भी अधिक प्रभाको धारण करते हैं (७८)। कैवल्य प्राप्तिके पूर्व तक शरीर का पात आपको अभीष्ट नहीं है, यही कारण है कि आप अतुलबलशाली होने पर भी दीक्षा ग्रहण करनेके पश्चात् शरीरकी स्थिति रखने और लोगोंको साधु-मार्ग दिखानेके लिए पारणा करते हैं। अथवा आप मुक्तिगमनके पश्चात् परमौदारिक चरम शरीरसे किंचिदून शरीराकारवाली सिद्धपर्यायको भव्यजीवोंके लिए प्रतिपादन करते हैं, इसलिए आप तनूनपात् कहलाते हैं (७९)।

अर्थ—हे जिनेश्वर, आप द्विजराज[1] हैं, सुधाशोचि हैं, औषधीश हैं, कलानिधि हैं, नक्षत्रनाथ हैं, शुभ्रांशु हैं, सोम हैं, कुमुदबान्धव हैं, लेखर्षभ हैं, अनिल हैं, पुण्यजन हैं, पुण्यजनेश्वर हैं, धर्मराज हैं, भोगिराज हैं, प्रचेता हैं, भूमिनन्दन हैं, सिंहिकातनय हैं, छायानन्दन हैं, बृहतांपति हैं, पूर्वदेवोपदेष्टा हैं और द्विजराजसमुद्भव हैं ॥१०७–१०९॥

व्याख्या—हे जिनेश, आप द्विजों अर्थात् व्रतियोंके राजा हैं, इसलिए द्विजराज कहलाते हैं। अथवा संसारमें केवल दो बार ही जन्म लेनेवाले विजयादि अनुत्तरविमानवासी अहमिन्द्रोंके आप राजा हैं। अथवा जरा अर्थात् वृद्धावस्था वलित और पलितके भेदसे दो प्रकारकी होती है। शरीरमें झुर्रियाँ पड़नेको वलित और केशोंके श्वेत होनेको पलित कहते हैं। आप इन दोनों ही प्रकारकी जराओंसे रहित हैं, अर्थात् जीवन-पर्यन्त आपकी युवावस्था बनी रहती है। अथवा स्त्री और पुरुष इन दोके संयोग होने पर उत्पन्न होनेवाले कामको भी द्विज कहते हैं। उसे जो 'राति' कहिए ग्रहण करते हैं, अर्थात् उसके वशमें हो जाते हैं, ऐसे हरि, हर, ब्रह्माको द्विजर कहते हैं। उनके मतका आप 'अजति' कहिये निराकरण करते हैं, अतएव द्विजराज कहलाते हैं (८०)। आपके ज्ञानकी शोचि अर्थात् किरणें सुधाके समान संसारको सुखदायक हैं, अतः आप सुधाशोचि कहलाते हैं (८१)। संसारमें रोगोंके निवारण करनेवाली जितनी भी औषधियाँ हैं, उनसे जन्म, जरा और मरणरूप रोग दूर नहीं होता, आप उनके भी निवारण करनेवाली रत्नत्रयरूप औषधिके प्रणेता हैं, अतः औषधीश, औषधीश्वर आदि नामोंसे पुकारे जाते हैं। अथवा उप अर्थात्

१ यहांसे लेकर कुमुदबान्धव तकके नाम चन्द्रमाके हैं।

जन्म-जरा-मरणनिवारक इत्यर्थः । कलानां द्वासप्ततिसंख्यानां लोके प्रसिद्धानां निधिः निधानभूतः । नक्षत्राणां अश्वनीत्यादीनां नाथः स्वामी । शुभ्रा उज्ज्वलाः कर्ममलकलंकरहिताः अंशवः केवलज्ञानकिरणा यस्य । सूते उत्पादयति अमृतं मोक्षं सोमः, सूयते मेरुमस्तके अभिषिच्यते वा सोमः । अर्त्तिहुसुधृक्षिणीपदभाया-स्तुभ्यो मः । कुमुदानां भव्यकैरवाणां बान्धवः उपकारकारकः मोक्षप्रापकः । अथवा कुत्सिते अश्वमेधादिहिंसा-कर्मणि मुद् हर्षो येषां ते कुमुदः, तेषामबान्धवः तन्मतोच्छेदकः ॥१०७॥ लेखेषु देवेषु ऋषभः श्रेष्ठः । न विद्यते इला भूमिर्यस्य स अनिलः, त्यक्तराज्यत्वात् , ऊर्ध्वान्तरिक्षचारित्वाद्वा, तनुवातवलये निराधारः स्थास्य-तीति वा । पुण्याः पवित्राः पापरहिताः जनाः सेवकाः यस्य, पुण्यजननो वा पुण्यजनः । अन्तर्गर्भितार्थमिदं

शरीरके दाह या मारणकी बुद्धिको औषधी कहते हैं। जैसे मृत पतिके साथ चितामें जलना, सती होना, नदी-समुद्रादिमें गिरकर मरना, फाँसी आदि लगाकर मरना, इत्यादि उपायोंसे आत्मघात करना । इस प्रकारके आत्मघातको आपने महापाप कहकर 'श्यति' कहिए निराकरण किया है, इसलिए भी आप औषधीश नामको चरितार्थ करते हैं। अथवा तपश्चरणादिके द्वारा कर्मोंके जलानेकी बुद्धिको भी औषधी कहते हैं। उसके द्वारा ही 'शं' कहिए सच्चा सुख प्राप्त होता है, इस प्रकारके उपदेशको देनेके कारण भी आप औषधीश नामको सार्थक करते हैं (८२)। आप लोक-प्रसिद्ध बहत्तर कलाओंके निधि अर्थात् भंडार हैं, अतः कलानिधि कहलाते हैं। अथवा 'क' अर्थात् आत्मस्वरूपको जो लावे, प्राप्त करावे; ऐसी बारह भावनाओंको 'कला' कहते हैं। आप उनके निधि अर्थात् अक्षयस्थान हैं, इसलिए भी कलानिधि कहलाते हैं (८३)। अश्विनी, भरणी इत्यादि नक्षत्रोंके आप नाथ हैं, इसलिए नक्षत्रनाथ कहलाते हैं। अथवा नक्षत्र अर्थात् अन्यायको आपने नाथ कहिए संतापका कारण कहा है। अथवा नक्ष नाम गति अर्थात् ज्ञानका है, उसका जो त्राण करते हैं, उन्हें नक्षत्र अर्थात् ज्ञानी कहते हैं। उनके आप नाथ है, अतः आप नक्षत्रनाथ कहलाते हैं (८४)। आपके केवलज्ञानरूप सूर्यकी अंशु अर्थात् किरणें अत्यन्त शुभ्र या उज्ज्वल हैं, क्योंकि वे कर्ममल-कलंकसे रहित हैं, इसलिए आप शुभ्रांशु कहलाते हैं। अथवा लोकालोकके प्रकाशक शुभ्र अंशु अर्थात् निर्मल आत्मप्रदेशोंको आप धारण करते हैं, इसलिए शुभ्रांशु कहलाते हैं। अथवा अंशु नाम शिष्योंका भी है, आपके विविध ज्ञान और ऋद्धियोंके धारक अनेक निर्मल तपस्वी शिष्य विद्यमान हैं, अतः आप शुभ्रांशु नामको सार्थक करते हैं (८५)। आप 'सूते' कहिए अमृत और मोक्षको उत्पन्न करते हैं, इसलिए सोम कहलाते हैं। अथवा 'सूयते' अर्थात् मेरुमस्तक पर देवोंके द्वारा अभिषिक्त होते हैं, इसलिए भी सोम कहलाते हैं। अथवा 'सा' नाम सरस्वती और लक्ष्मीका है, आप इन दोनोंसे उमा अर्थात् युक्त है। अथवा उमा नाम कान्तिका भी है, आप उमाके साथ शोभाको प्राप्त होते हैं, इसलिए भी सोम कहलाते हैं (८६)। कुमुद अर्थात् भव्यजीवरूप कमलोंके आप बान्धव हैं, उपकारक हैं, उन्हें मोक्षमें पहुँचाते हैं, इसलिए आप कुमुदबान्धव कहलाते हैं। अथवा 'कु' अर्थात् पृथ्वीपर जो मोदको प्राप्त होते हैं, ऐसे इन्द्र, नरेन्द्र, धरणेन्द्रादिको कुमुद कहते हैं। उनके आप बान्धव हैं। अथवा अश्वमेधादि हिंसा कर्मवाले कुत्सित कार्योंमें जिन्हें हर्ष हो, ऐसे पापी याज्ञिकोंको कुमुद कहते हैं। आप उनके अबान्धव हैं, क्योंकि उनके मतका आप उच्छेद करते हैं (८७)। लेख नाम देवोंका है। आप उनमें ऋषभ अर्थात् सर्वश्रेष्ठ हैं, इसलिए लेखर्षभ कहलाते हैं (८८)। इला अर्थात् पृथ्वी जिसके पास न हो, उसे अनिल कहते हैं। आपने सर्व राज्यलक्ष्मी, पृथिवी आदिका परित्याग कर दिया है, इसलिए आप भी अनिल कहलाते हैं। अथवा आप गगन-विहारी हैं, पृथ्वीके आधारसे रहित हैं (८९)। पुण्य अर्थात् पवित्र या पापसे रहित जन (मनुष्य) आपके सेवक हैं, इसलिए आप पुण्यजन कहलाते हैं। अथवा भक्तोंको या संसारको पुण्यके जनक

नाम, पुण्यं जनयतीति पुण्यजनक इति भावः। पुण्यजनानां पुण्यवत्पुरुषाणामीश्वरः। धर्मस्य अहिंसालक्षणस्य चारित्रस्य रत्नत्रयस्य उत्तमक्षमादेश्च राजा स्वामी। भोगिनां नागेन्द्रादिदेवानां राजा। अथवा भोगिनां दशांग-भोगयुक्तानां चक्रवर्तिनां राजा। प्रकृष्टं सर्वेषां दुःखदारिद्रनाशनपरं चेतो मनो यस्य। भूमीनां अधोमध्योर्ध्व-लक्षणत्रैलोक्यलोकान् नन्दयति समृद्धिदानेन वर्धयतीति ॥१०८॥ त्रिजगज्जयनशीला सिंहिका तीर्थंकरजननी, तस्यास्तनयः पुत्रः। राहुवत् पापकर्मसु क्रूरचित्तत्वाद्वा सिंहिकातनयः। छायां शोभां नन्दयति वर्धयतीति। अथवा छायायां अशोकतरुच्छायायां त्रैलोक्यलोकं सेवायां मिलितं नन्दयति, आनंदितं शोकरहितं च करोति। बृहतां सुरेन्द्र-नरेन्द्र-मुनीन्द्राणां पतिः। पूर्वदेवानामसुरादीनामुपदेष्टा संक्लेशपरिणामनिषेधकः। द्विजानां राज्ञां च समुत् सहर्षः भवो जन्म यस्य ॥१०९॥

॥ इति ब्रह्मशतम् ॥

अर्थात् उत्पादक हैं, इसलिए भी पुण्यजन कहलाते हैं (९०)। आप पुण्यवान् जनोंके ईश्वर हैं, अतः पुण्यजनेश्वर हैं (९१)। आप अहिंसा-लक्षण धर्मके, रत्नत्रयके या उत्तम क्षमादिरूप दश धर्मोंके राजा हैं, इसलिए आप धर्मराज कहलाते हैं। अथवा धर्मार्थ अर्थात् पशुहोमके लिए जो 'र' कहिए अग्निको सदा अपने घरमें रखते हैं, ऐसे ब्राह्मणोंको धर्मर कहते हैं। उनका आप 'अजति' कहिए निराकरण करते हैं, इसलिए लोग आपको धर्मराज कहते हैं (९२)। भोगी अर्थात् नागकुमारोंके आप राजा हैं। अथवा दशांग भोग भोगनेवाले चक्रवर्तियोंके आप राजा हैं, इसलिए आपको भोगिराज कहते हैं (९३)। आप सर्व प्राणियोंके दुःख-दारिद्र-नाशक प्रकृष्ट चित्तके धारक हैं, अतः प्रचेता कहलाते हैं। अथवा आपके मनका व्यापार प्रगत अर्थात् प्रणष्ट हो चुका है, यानी आप मनके सर्व संकल्प-विकल्पोंसे रहित हैं, इसलिए भी प्रचेता कहलाते हैं (९४)। तीनों लोकोंकी भूमियोंको अर्थात् उनपर रहनेवाले प्राणियोंको आप आनन्द पहुँचाते हैं, इसलिए भूमिनन्दन कहलाते हैं (९५)। सिंहके समान पराक्रमशालिनी और त्रिजगज्जयन-शीला आपकी माताको लोग सिंहिका कहते हैं, उसके आप पराक्रमी बलशाली तनय अर्थात् पुत्र है, इसलिए सिंहिकातनय कहलाते हैं। अथवा सिंहिकातनय राहुका भी नाम है। पापकर्म करनेवाले लोगोंके लिए आप राहुके समान क्रूर हैं (९६)। आप छाया अर्थात् शोभाको 'नन्दयति' कहिए बढ़ाते हैं, इसलिए छायानन्दन कहलाते हैं। आपके शुभागमनसे संसार सुख-सम्पन्न हो जाता है। अथवा आपकी वन्दनाके लिए आये हुए भव्यप्राणी अशोकवृक्षकी छायामें आकर आनन्दित हो जाते हैं और अपना-अपना शोक भूल जाते हैं, इसलिए भी आप छायानन्दन कहलाते हैं। अथवा छाया शब्द शोभा, कान्ति, सूर्यभार्या आदि अनेक अर्थोंका वाचक है, आप उन सबके आनन्द-वर्धक हैं (९७)। बृहतां अर्थात् सुरेन्द्र, नरेन्द्र, मुनीन्द्रादिके आप पति हैं, इसलिए बृहतांपति या बृहस्पति कहलाते हैं (९८)। पूर्वदेव अर्थात् असुरादि राक्षसोंके आप उपदेष्टा हैं, उनके अशुभ और संक्लेश-प्रचुर-कर्मोंका निषेध करते हैं, इसलिए पूर्वदेवोपदेष्टा कहलाते हैं। अथवा चतुर्दश पूर्वधारी गणधर देवोंके भी आप उपदेष्टा हैं (९९)। द्विज और राजाओंको आपके जन्मसे समुद् अर्थात् हर्ष उत्पन्न होता है, इसलिए आप द्विजराजसमुद्भव कहलाते हैं। अथवा द्विज अर्थात् मुनियोंमें जो 'राजते' कहिए शोभित होते हैं, ऐसे रत्नत्रयको द्विजराज कहते हैं। रत्नत्रयधारियोंमें ही आपके शुद्ध आत्मस्वरूपका जन्म होता है, इसलिए भी द्विजराजसमुद्भव कहलाते हैं (१००)।

इस प्रकार अष्टम ब्रह्मशतक समाप्त हुआ।

—❀—

(९) अथ बुद्धशतम्

बुद्धो दशबलः शाक्यः षडभिज्ञस्तथागतः। समन्तभद्रः सुगतः श्रीधनो भूतकोटिदिक् ॥११०॥
सिद्धार्थो मारजिच्छास्ता क्षणिकैकसुलक्षणः। बोधिसत्त्वो निर्विकल्पदर्शनोऽद्वयवाद्यपि ॥१११॥
महाकृपालुर्नैरात्म्यवादी संतानशासकः। सामान्यलक्षणचणः पंचस्कन्धमयात्मदृक् ॥११२॥
भूतार्थभावनासिद्धः चतुर्भूमिकशासनः। चतुरार्यसत्यवक्ता निराश्रयचिदन्वयः ॥११३॥

बुद्धिः केवलज्ञानलक्षणा विद्यते यस्य। अथवा बुध्यते जानाति सर्वमिति। उत्तमक्षमामार्दवार्जव-सत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि दशलक्षणानि धर्माणां इत्युक्तानां दशानां बलं सामर्थ्यं यस्य। अथवा दो दया-बोधश्च, ताभ्यां सबलः समर्थो दशबलः, श्लेषत्वात् स-शयोर्न भेदः। स्वमते शक्नोति शकः तीर्थकृत्पिता, शकस्यापत्यं पुमान्। अथवा अक अग कुटिलायां गतौ भ्वादौ परस्मैपदी। अकनं आकः केवलज्ञानम्, शं सुखं अनन्तसौख्यम्; शं च आकश्च शाकौ, तयोर्नियुक्तः शाक्यः। यदुगवादितः। षट् जीवपुद्गलधर्माधर्मकालाकाशान् षड्द्रव्यसंज्ञान् पदार्थान् अभि समन्तात् जानातीति। तथेति सत्यभूतं गतं ज्ञानं यस्य। समन्तात् सर्वत्र भद्रं कल्याणं यस्य। अथवा समन्तं सम्पूर्णस्वभावं भद्रं शुभं यस्य। शोभनं गतं गमनं यस्य। अथवा सुष्ठु शोभनं गतं केवलज्ञानं यस्य। अथवा सुगा सुगमना अग्रेऽग्रे

अर्थ—हे बोधिनिधान, आप बुद्ध हैं, दशबल हैं, शाक्य हैं, षडभिज्ञ हैं, तथागत हैं, समन्तभद्र हैं, सुगत हैं, श्रीघन हैं, भूतकोटिदिक् हैं, सिद्धार्थ हैं, मारजित् हैं, शास्ता हैं, क्षणिकैकसुलक्षण हैं, बोधिसत्त्व हैं, निर्विकल्पदर्शन हैं, अद्वयवादी हैं, महाकृपालु हैं, नैरात्म्यवादी हैं, संतानशासक हैं, सामान्यलक्षणचण हैं, पंचस्कन्धमयात्मदृक् हैं, भूतार्थभावनासिद्ध हैं, चतुर्भूमिकशासन हैं, चतुरार्यसत्यवक्ता हैं, निराश्रयचित् हैं और अन्वय हैं ॥११०–११३॥

व्याख्या—यद्यपि बुद्ध आदि नाम बौद्धधर्मके प्रणेता बुद्धके हैं, तथापि ग्रन्थकारने अपने पांडित्यसे स्वमतके अनुसार अर्थ करके उन्हें जिनेन्द्र भगवान् पर घटित किया है। हे बोधिके निधान, आप केवलज्ञानरूप बुद्धिके धारण करनेवाले हैं, इसलिए बुद्ध कहलाते हैं। अथवा सर्व जगत्को जानते हैं, इसलिए भी बुद्ध कहलाते हैं (१)। आपके क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि दश धर्म बल अर्थात् सामर्थ्यरूप हैं, इसलिए आप दशबल कहलाते हैं। अथवा 'द' शब्द दया और बोधका वाचक है, इन दोनोंके द्वारा आप सबल अर्थात् सामर्थ्यवान् हैं, इसलिए भी योगिजन आपको दशबल कहते हैं। श्लेषार्थकी अपेक्षा स और श में भेद नहीं होता। बौद्धमतमें बुद्धके दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान, शान्ति, सामर्थ्य, उपाय, प्रणिधान और ज्ञान ये दश बल माने गये हैं (२)। जो सर्व शक्तिवाले कार्योंके करनेमें समर्थ हो, उसे शक कहते हैं, इस निरुक्तिके अनुसार तीर्थंकरोंके पिता शक कहे जाते हैं। आप उनके पुत्र हैं, इसलिए शाक्य कहलाते हैं। अथवा 'श' अर्थात् सुख और अक यानी ज्ञानको धारण करनेसे भी आप शाक्य कहलाते हैं। बौद्धमतमें बुद्धको शक राजाका पुत्र माना जाता है (३)। जीवादि छह द्रव्योंको उनके अनन्त गुण और पर्यायोंके साथ भलीभांति जाननेसे आप षडभिज्ञ कहलाते हैं। बुद्धके दिव्यचक्षु, दिव्यश्रोत्र, पूर्वभवस्मरण, परचित्तज्ञान, आस्रवक्षय और ऋद्धि ये छह अभिज्ञा पाई जाती है, इसलिए उन्हें षडभिज्ञ कहते हैं (४)। आपने वस्तुस्वरूपको तथा कहिए यथार्थ गत अर्थात् जान लिया है, इसलिए आप तथागत कहलाते हैं (५)। आप 'समन्तात्' अर्थात् सब ओरसे भद्र हैं, जगत्के कल्याण कर्त्ता हैं, अथवा आपका स्वभाव अत्यन्त भद्र है, इसलिए आप समन्तभद्र कहलाते हैं (६)। सुन्दर गत अर्थात् गमन करनेसे अथवा सुन्दर गत अर्थात् केवलज्ञान धारण करनेसे आप सुगत कहलाते हैं। अथवा सुगा अर्थात् सुन्दर और आगे गमन करने वाली 'ता' कहिए लक्ष्मी आपके पाई जाती है इसलिए भी आप सुगत कहलाते हैं (७)। श्री अर्थात् रत्न-सुवर्णादिरूप लक्ष्मीको वर्षानेके लिए

गामिनी ता लक्ष्मीर्यस्य । श्रिया लक्ष्म्या घनो मेघः, कनकवर्षित्वात् । वा श्रिया लक्ष्म्या केवलज्ञानादि-लक्षणया निर्वृतः । भूतानां प्राणिनां कोटीरनन्तजीवान् दिशति कथयति मुक्तिगतेष्वपि अनन्तजीवेषु संसारे अनन्तानन्तजीवाः सन्तीति, न कदाचिदपि जीवराशिक्षयो भवतीति शिक्षयति भूतकोटिदिक् ॥११०॥ सिद्धाः प्राप्तिमागता अर्था धर्मार्थकाममोक्षाश्चत्वारो यस्य । मारं कंदर्पदर्पं जितवान् । शास्ति विनेयचायान् धर्मं शिक्षयति । सर्वे उर्वीपर्वततर्वादयः पदार्था एकस्मिन् क्षणे एकस्मिन् समये उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य त्रयेण युक्ताः क्षणिका ईदृशं वचनं एकमद्वितीयं शोभनं लक्षणं सर्वज्ञत्वलाञ्छनं यस्य स तथोक्तः । रत्नत्रयपरिप्राप्तिर्बोधिः, बोधेः सत्त्वं विद्यमानत्वं अस्तित्वं सत्त्वरूपतया सर्वेषु प्राणिषु शक्तिरूपतया विद्यते यस्य मते स बोधिसत्त्वः । निर्विकल्पं अविशेषं सत्तावलोकनमात्रं दर्शनं यस्य स तथोक्तः । अथवा निर्विकल्पानि विचाररहितानि दर्शनानि अपरमतानि यस्य स तथोक्तः । निश्चयनयमाश्रित्य आत्मा च कर्म च एतद्द्वयं न द्वयं वदतीत्ये-वमवश्यं अद्वयवादी ॥१११॥ कृपा विद्यते यस्य स कृपालुः, महांश्चासौ कृपालुः महाकृपालुः; तद्धित

आप घनके समान हैं, क्योंकि आपके स्वर्गावतारके पूर्वसे ही भूतल पर रत्न-सुवर्णकी वर्षा होने लगती है। इसलिए श्रीघन कहलाते हैं। अथवा केवलज्ञानरूप लक्ष्मीसे आप घनीभूत अर्थात् निर्वृत हैं, अखण्ड ज्ञानके पिण्ड हैं (८)। भूत अर्थात् प्राणियोंकी 'कोटि' कहिए अनन्त संख्याका उपदेश देनेके कारण आप भूतकोटिदिक् कहलाते हैं। आपके मतानुसार प्राणियोंकी संख्या अनन्त है, निरन्तर मोक्षमें जाने पर भी उनका कभी अन्त नहीं आता। अथवा प्राणियोंके कोटि-कोटि पूर्व और उत्तर भवोंको आप जानते हैं और उनका उपदेश देते हैं। अथवा प्राणियोंको जो मिथ्या उपदेश के द्वारा 'कोटियन्ति' कहिए आकुल-व्याकुल करते हैं, ऐसे जिमिनि, कपिल, कणाद आदिको भी आप सन्मार्गका उपदेश देते हैं, अतः भूतकोटिदिक् कहलाते हैं। अथवा जीवोंके कोटि अर्थात् ज्ञानादि गुणोंके अतिशय वृद्धिका उपदेश देते हैं। अथवा अनन्त प्राणियोंके आप विश्राम-स्थान-भूत हैं, उनके आश्रयदाता हैं, इसलिए भी आपका यह नाम सार्थक है (९)। आपको अर्थ अर्थात् चारों पुरुषार्थ सिद्ध हो चुके हैं, अतः आप सिद्धार्थ हैं। अथवा सिद्ध अवस्थाको प्राप्त करना ही आपका अर्थ कहिए प्रयोजन है। अथवा जीव, अजीव आदि नव पदार्थ आपके द्वारा प्रसिद्धिको प्राप्त हुए हैं, इसलिए आप सिद्धार्थ कहलाते हैं। अथवा मोक्षका कारणभूत अर्थ कहिए रत्नत्रय आपके सिद्ध हुआ है, इसलिए भी आपका यह नाम सार्थक है (१०)। मार अर्थात् काम-विकारके जीत लेनेसे आप मारजित् कहलाते हैं। अथवा मा अर्थात् लक्ष्मी जिनके समीप रहती है, ऐसे इन्द्र, धरणेन्द्र, नरेन्द्रादिको मार कहते हैं, उन्हें आपने अपने दिव्य उपदेशके द्वारा जीत लिया है। बुद्धने स्कन्धमार, क्लेशमार, मृत्युमार और देवपुत्रमार इन चार मारोंको जीता था, इसलिए उन्हें मारजित् कहा जाता है (११)। सत्यधर्मका उपदेश देनेके कारण आप शास्ता कहलाते हैं (१२)। सभी पदार्थ क्षणिक हैं, अर्थात् प्रतिसमय उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप हैं, एकरूप स्थायी नहीं हैं; इस प्रकारका एक अर्थात् अद्वितीय सुन्दर सर्वज्ञताका प्रतिपादक लक्षण आपके पाया जाता है, अतः आप क्षणिकैकसुलक्षण कहलाते हैं (१३)। रत्नत्रयकी प्राप्तिको बोधि कहते हैं। इस बोधिका सत्त्व अर्थात् शक्तिरूपसे अस्तित्व सर्व प्राणियोंमें पाया है, इस प्रकारका उपदेश देनेके कारण आप बोधि-सत्त्व कहलाते हैं। अथवा बोधिरूप सत्त्व अर्थात् बल आपके पाया जाता है (१४)। आपने दर्शन को सत्तामात्रका ग्राहक और निर्विकल्प अर्थात् विकल्पशून्य प्रतिपादन किया है, अतः आप निर्वि-कल्पदर्शन कहलाते हैं। अथवा आपने मतान्तररूप अन्य दर्शनोंको निर्विकल्प अर्थात् विचार-शून्य प्रतिपादन किया है, क्योंकि उनका कथन प्रमाणसे बाधित है (१५)। एक-अनेक, नित्य-अनित्य, सत्-असत् आदि द्वैतोंको द्वय कहते हैं, आपने इन सबको अप्रामाणिक कहा है, अतः आप अद्वयवादी कहलाते हैं। अथवा निश्चयनयके अभिप्रायसे आत्मा और कर्मरूप द्वैत नहीं है ऐसा आपने कथन

आलुः। स्वमते नीरस्य जलस्य अप्कायिकस्य भावो नैरं नीरसमूहः, तदुपलक्षणं पंचस्थावराणाम्। तत्र आत्मा शक्तिरूपतया केवलज्ञानादिस्वभावो नैरात्मा, नैरात्मनो भावः नैरात्म्यम्, तद्वदतीति नैरात्म्यवादी, अतएव महाकृपालुरिति पूर्वमुक्तम्। अनादिसन्तानवान् जीवस्तत्सन्तानं शास्तीति सन्तानशासकः। शुद्ध-निश्चयनयमाश्रित्य सर्वे जीवाः शुद्धबुद्धैकस्वभावा इति वचनात् सर्वेषां जीवानां सामान्यलक्षणं तत्र चणो विचक्षणः, सामान्यलक्षणचणः। शुद्धाशुद्धनयमाश्रित्य पंचस्कन्धमयं पंचज्ञानमयमात्मानं पश्यतीति पंचस्कन्धमयात्मदृक् ॥११२॥ भूतार्थभावनया कृत्वा स्वामी सिद्धो घातिसंघातघातनो बभूव, केवलज्ञानं प्राप्तवा-नित्यर्थः। स्वमते तु चतुर्भूमिकं नरकतिर्यग्मनुष्यदेवगतिलक्षणं शासनं शिक्षणमुपदेशो यस्य। चतुराः मतिश्रुतावधि-मनःपर्ययज्ञानचतुष्टये प्रवीणाश्चतुराः श्रीमद्गणधरदेवाः। अर्यन्ते सेव्यन्ते गुणैर्गुणवद्भिर्वा आर्याः, चतुराश्च ते आर्याश्च चतुरार्याः, तेषां आर्यभूमिभवमनुष्यादीनां वा सत्यस्य वक्ता चतुरार्यसत्य-वक्ता। निर्गतो निर्नष्ट आश्रयः स्थानं यस्याः सा निराश्रया; निराश्रया चित् चेतना यस्य। बुद्धस्य निराश्रयचित्, बौद्धमते किल चेतना निराश्रया भवति। स्वमते तु श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञस्तु निराश्रयचित् निराश्रया रागद्वेषमोहसमस्तसंकल्पविकल्पादिजालरहिता चित् चेतना शुक्लध्यानैकलोलीभाव आत्मा यस्य स निराश्रयचित्। अनु पृष्ठतो लग्नः अयः पुण्यं यस्य सोऽन्वयः ॥११३॥

किया है। इसलिए आपको अद्वयवादी कहते हैं (१६)। कृपा नाम दयाका है। आप महान् दयालु हैं, क्योंकि सूक्ष्म जीवों तककी रक्षा करनेका उपदेश देते हैं; अतः महाकृपालु कहलाते हैं (१७)। नीर नाम जलका है, नीरके समुदायको नैर कहते हैं। जलमें भी आत्मा है इस प्रकारका उपदेश देने से आप नैरात्म्यवादी कहलाते हैं। यहां नैर पदके उपलक्षणसे पृथिवी आदि पांचों स्थावरोंका ग्रहण किया गया है। अन्य मतवालोंने पृथिवी, जल आदिमें आत्मा नहीं माना है, किन्तु आपने उन सबमें शक्तिरूपसे उसी प्रकारका आत्मा माना है, जैसा कि हम और आपमें है और वे भी उन्नति करके मनुष्यादि पर्यायको प्राप्त कर सकते हैं। बुद्धने आत्मा नामक कोई पदार्थ नहीं माना है और दिखाई देनेवाले प्रत्येक पदार्थको आत्मासे रहित कहा है, अतः उन्हें नैरात्म्यवादी कहते हैं (१८)। आपने जीवको अनादि-सन्तानवाला कहा है, इसलिए आप सन्तानशासक कहलाते हैं। बुद्धने आत्माको न मानकर सन्तान नामक एक भिन्न ही पदार्थका उपदेश दिया है (१९)। निश्चयनयकी अपेक्षा सभी जीव शुद्धबुद्धैक-स्वभाववाले हैं, ऐसा जीवमात्रका सामान्य लक्षण प्रतिपादन करनेमें आप चण अर्थात् विचक्षण हैं, इसलिए सामान्यलक्षणचण कहलाते हैं (२०)। शुद्धाशुद्धनयकी अपेक्षा सभी जीव पांच स्कन्ध अर्थात् ज्ञानमय हैं, ऐसा आपने प्रतिपादन किया है, अतः पंचस्कन्ध-मयात्मदृक् कहलाते हैं। बुद्धने रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार इन पांच स्कन्धमय आत्माको माना है (२१)। भूतार्थ अर्थात् सत्यार्थकी भावना करनेसे आप सिद्ध हुए हैं अतः भूतार्थभावना-सिद्ध कहलाते हैं। नास्तिक मतवाले पृथिव्यादि चार भूतोंकी भावना अर्थात् संयोगसे आत्माकी सिद्धि मानते हैं (२२)। आपके शासन अर्थात् मतमें संसारी जीवोंको नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगतिरूप चार भूमियोंमें विभक्त किया गया है, इसलिए आप चतुर्भूमिकशासन कहलाते हैं। अथवा आपने प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोगरूप चार भूमिका अर्थात् वस्तु-स्वरूप प्रतिपादन करनेवाले आधारोंका उपदेश दिया है। चार्वाकने पृथिवी आदि चार भूतोंसे युक्त सर्व जगत्को माना है (२३)। चार ज्ञानके धारक और आर्य अर्थात् सुयोग्य ऐसे गणधर देवोंको भी आप सत्यार्थका उपदेश देते हैं, अतः चतुरार्यसत्यवक्ता कहलाते हैं। बौद्धमतमें चार आर्यसत्य माने गये हैं, उनके वक्ता होनेसे बुद्धको उक्त नामसे पुकारा गया है (२४)। आपकी चित् अर्थात् चेतना राग, द्वेष, मोहादि सर्व विकल्प-जालोंसे रहित हैं, अतः आप निराश्रयचित् कहलाते हैं। बुद्धने चेतनाका कोई आश्रय नहीं माना है (२५)। आप अन्वय अर्थात् सन्तानरूपसे

योगो वैशेषिकस्तुच्छाभावभित्षट्पदार्थदृक् । नैयायिकः षोडशार्थवादी पंचार्थवर्णकः ॥११४॥
ज्ञानान्तराध्यक्षबोधः समवायवशार्थभित् । भुक्तैकसाध्यकर्मान्तो निर्विशेषगुणामृतः ॥११५॥
सांख्यः समीक्ष्यः कपिलः पंचविंशतितत्त्ववित् । व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानी ज्ञानचैतन्यभेददृक् ॥११६॥
अस्वसंविदितज्ञानवादी सत्कार्यवादसात् । त्रिःप्रमाणोऽक्षप्रमाणः स्याद्वाहंकारिकाक्षदिक् ॥११७॥
क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषो नरो ना चेतनः पुमान् । अकर्त्ता निर्गुणोऽमूर्त्तो भोक्ता सर्वगतोऽक्रियः ॥११८॥

योगो नैयायिकः, भगवांस्तु ध्यानयोगात् योगः । इन्द्रियजं ज्ञानं सामान्यं, अतीन्द्रियं ज्ञानं विशेषः । विशेषण केवलज्ञानेन सह दीव्यति संस्कृतः तयति चरति वा वैशेषिकः । तुच्छः गुणतुच्छत्वं अभावश्च आत्मनाशः तुच्छाभावौ तौ भिनत्ति उत्थापयति उच्छेदयति । जीव-पुद्गल-धर्माधर्मकालाकाशनामानः षट् पदार्थाः, तान् पश्यति जानाति च, द्रव्य-गुण-पर्यायतया सम्यग् वेत्तीति । न्याये स्याद्वादे नियुक्तो नैयायिकः । दर्शनविशु-द्ध्यादिषोडशकारणानि षोडशार्थाः, तान् वदतीत्येवंशीलः । पंच च ते अर्थाः पंचार्थाः । ते के ? कुंद-

---

अनादि-निधन हैं, इसलिए अन्वय कहलाते हैं। अथवा आपके अनु अर्थात् पीठके पीछे 'अय' कहिए पुण्यका संचय लगा हुआ है, अर्थात् आप महान् पुण्यशाली हैं, इसलिए भी आप अन्वय कहलाते हैं (२६)।

अर्थ—हे वीतराग, आप योग हैं, वैशेषिक हैं, तुच्छाभावभित् हैं, षट्पदार्थदृक् हैं, नैयायिक हैं, षोडशार्थवादी हैं, पंचार्थवर्णक हैं, ज्ञानान्तराध्यक्षबोध हैं, समवायवशार्थभित् हैं, भुक्तैक-साध्यकर्मान्त हैं, निर्विशेषगुणामृत हैं, सांख्य हैं, समीक्ष्य हैं, कपिल हैं, पंचविंशतितत्त्ववित् हैं, व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानी हैं, ज्ञानचैतन्यभेददृक् हैं, अस्वसंविद्ज्ञानवादी हैं, सत्कार्यवादसात् हैं, त्रिःप्रमाण हैं, अक्षप्रमाण हैं, स्याद्वाहंकारिकाक्षदिक् हैं, क्षेत्रज्ञ हैं, आत्मा हैं, पुरुष हैं, नर हैं, ना हैं, चेतन हैं, पुमान् हैं, अकर्त्ता हैं, निर्गुण हैं, अमूर्त हैं, भोक्ता हैं, सर्वगत हैं, और अक्रिय हैं ॥११४–११८॥

व्याख्या—उपर्युक्त नाम क्रमशः योग, नैयायिक, वैशेषिक और सांख्यके हैं, किन्तु ग्रन्थ-कारने विशिष्ट अर्थ करके उन्हें जिनेन्द्रका पर्यायवाचक सिद्ध किया है। हे भगवन् आपके ध्यानरूप योग पाया जाता है, अतः आप योग हैं (२७)। इन्द्रियज ज्ञानको सामान्य और अतीन्द्रिय ज्ञानको विशेष कहते हैं। आप अतीन्द्रिय केवलज्ञानके धारी हैं, अतः वैशेषिक कहलाते हैं (२८)। वैशेषिकोंने अभावको भावान्तर स्वभावी न मानकर तुच्छ अर्थात् शून्यरूप माना है, परन्तु आपने उसका खंडन करके उसे भावान्तरस्वभावी अर्थात् अन्य पदार्थके सद्भावस्वरूप सिद्ध किया है, अतः आप तुच्छाभावभित् कहलाते हैं (२९)। वैशेषिकोंने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय नामक छह पदार्थोंको भावात्मक माना है, पर आपने उनका सबल युक्तियोंसे खंडन कर जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, इन छह पदार्थोंका उपदेश दिया है, अतः आप षट्पदार्थदृक् कहलाते हैं (३०)। जिसके द्वारा पदार्थ ठीक-ठीक जाने जाते हैं, उसे न्याय कहते हैं। आप स्याद्वादरूप न्यायके प्रयोक्ता हैं, अतः नैयायिक कहलाते हैं (३१)। नैयायिक मतवाले प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान इन सोलह पदार्थोंको माननेके कारण षोडशार्थवादी कह-लाते हैं। परन्तु आपने बताया कि दूसरोंको छल, जाति आदिके द्वारा वचनजालमें फंसाकर जीतनेका नाम न्याय नहीं है, और न संशय, छल वितण्डा जाति आदिके पदार्थपना ही बनता है। इसके विप-रीत आपने दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नता, शीलव्रतानतिचार, अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, अभीक्ष्णसंवेग, शक्तितस्त्याग, शक्तितस्तप, साधुसमाधि, वैयावृत्यकरण, अर्हद्भक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, आवश्यकापरिहाणि, मार्गप्रभावना और प्रवचनवत्सलत्व ये तीर्थंकरप्रकृतिके उपार्जनके

चंद्र-हिमपटल-मौक्तिकमालादयः, पंचार्थैः समानो वर्णः पंचार्थवर्णः, कः कायो यस्य तीर्थंकरपरमदेवसमुदायस्य स पंचार्थवर्णकः। अथवा पंचानां जीव-पुद्गल-धर्माधर्माकाशानां पंचास्तिकायानां वर्णकः प्रतिपादकः ॥११४॥ ज्ञानान्तरेषु मति-श्रुतावधि-मनःपर्ययेषु अध्यक्षः प्रत्यक्षीभूतः बोधः केवलज्ञानं यस्य। समवायवशा ये अर्थास्तन्नुपदृश्वत् मिलितास्तान् भिनत्ति पृथक्तया जानाति यः स समवायवशार्थभित्। भुक्तेन अनुभवनेन एकेन अद्वितीयेन साध्यः कर्मणामन्तः स्वभावो यस्य स तथोक्तः। निर्विशेषाः विशेषरहितास्तीर्थंकरपरमदेवानां अनगारकेवल्यादीनां च घातिसंघातने सति गुणाः अनन्तज्ञानानन्तदर्शनानन्तवीर्यानन्तसुखादयो यस्य मते स निर्विशेषगुणामृतः ॥११५॥ संख्यानं संख्या, तस्यां नियुक्तः। सम्यक् ईक्षितुं द्रष्टुं योग्यः। कपिरिव कपिः मनोमर्कटः, कपिं लाति विषय-कषायेषु गच्छन्तं लाति आत्मनि स्थापयति निश्चलीकरोति यो भगवान् तीर्थंकरपरमदेवः स कपिल उच्यते। पंचविंशतितत्त्वानां भावनानां स्वरूपं वेत्तीति। व्यक्ताः लोचनादीनां गोचराः संसारिणो जीवाः, अव्यक्ताः केवलज्ञानस्य गम्याः सिद्धपरमेष्ठिनः, व्यक्ताश्च अव्यक्ताश्च व्यक्ताव्यक्ताः, ते च ते ज्ञाः जीवाः व्यक्ताव्यक्तज्ञाः, तेषां विशिष्टं ज्ञानं शक्तितया व्यक्तितया केवलज्ञानं विद्यते यस्य मते स

करानेके कारण प्रयोजनभूत सोलह पदार्थोंका उपदेश दिया है अतः आप ही सच्चे षोडशार्थवादी हैं (३२)। आपने पंच अस्तिकायरूप अर्थोंका वर्णन किया है, अतः आप पंचार्थवर्णक कहलाते (३३)। ज्ञानान्तरोंमें अर्थात् मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्ययज्ञानोंमें आपका केवलज्ञानरूप बोध अध्यक्ष है, प्रधान है, अतः आप ज्ञानान्तराध्यक्षबोध कहलाते हैं (३४)। समवाय अर्थात् अपृथक् आश्रयके वश रहनेवाले जो पदार्थ हैं, उन्हें आप पृथक्-पृथक् रूपसे जानते हैं, इसलिए समवायवशार्थभित् कहलाते हैं (३५)। किये हुए कर्मोंका अन्त अर्थात् विनाश एकमात्र फलको भोगनेके द्वारा ही साध्य है, इसप्रकारका उपदेश देनेके कारण आप भुक्तैकसाध्यकर्मान्त कहलाते हैं (३६)। आर्हन्त्यपद प्राप्त करने पर तीर्थंकरदेव या सामान्यकेवली आदि सभी निर्विशेष-गुणामृतवाले हो जाते हैं, अर्थात् उनके अनन्तज्ञानादि गुणोंमें कोई भेद नहीं रहता, सभी समानरूपसे आत्मिक-गुणामृतका पान करते हैं और अजर-अमर हो जाते हैं; इसलिए आप निर्विशेषगुणामृत कहलाते हैं (३७)। संख्या अर्थात् गणना किये जाने पर—ईश्वरके अन्वेषण किये जाने पर आदिमें, मध्यमें या अन्तमें आप ही प्राप्त होते हैं; आपके अतिरिक्त अन्य कोई परमेश्वरकी गिनतीमें नहीं आता, अतः आपको लोग सांख्य कहते हैं (३८)। आप सम्यक् अर्थात् अच्छी तरह ईक्ष्य कहिए देखनेके योग्य हैं, अतः समीक्ष्य कहलाते हैं। अथवा समी कहिए समभाववाले योगियोंके द्वारा ही आप ईक्ष्य हैं, दृश्य हैं, अन्यके अगोचर हैं, अतएव समीक्ष्य कहे जाते हैं (३९)। कपि अर्थात् बन्दरके समान चञ्चल मनको जो लावे, अर्थात् वशमें करे, आत्मामें स्थापित करे, उसे कपिल कहते हैं। अथवा 'क' अर्थात् परमब्रह्मको भी जो लावे, उसे कपिल कहते हैं। आपने अपने ध्यानके बलसे परमब्रह्मस्वरूपको प्राप्त किया है और जीवात्मासे परमात्मा बने हैं, अतः कपिल कहलाते हैं (४०)। अहिंसादि पांचों व्रतोंकी पच्चीस भावनाओंके तत्त्व अर्थात् रहस्यको जाननेके कारण अथवा आस्रवके कारणभूत सम्यक्त्वक्रिया आदि पच्चीस क्रियाओंके स्वरूपको हेयोपादेयरूपसे जाननेके कारण आप पंचविंशतितत्त्ववित् कहलाते हैं। सांख्यलोग प्रकृति, महान्, अहंकार आदि पच्चीस तत्त्वोंको मानते हैं और उन्हें जाननेके कारण कपिलको पंचविंशतितत्त्ववित् कहते हैं (४१)। व्यक्तज्ञ अर्थात् इन्द्रियोंके गोचर ऐसे संसारी जीव और अव्यक्तज्ञ अर्थात् इन्द्रियोंके अगोचर ऐसे सिद्धजीव, इन दोनोंके अन्तरको आप भली भांतिसे जाननेवाले हैं, इसलिए आप व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानी कहलाते हैं। सांख्यमतमें प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले चौबीस तत्त्वोंमेंसे कुछको व्यक्त और कुछको अव्यक्त माना गया है और आत्मा या पुरुषको ज्ञाता माना गया है। कपिल उन सबके विवेक या भेदको जानता है, इसलिए उसे व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानी कहते हैं

व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानी। सर्वे जीवाः शुद्धबुद्धैकस्वभावा इत्यभिप्रायवानित्यर्थः । चेतना त्रिविधा-ज्ञानचेतना, कर्मचेतना, कर्मफलचेतना चेति। तत्र केवलिनां ज्ञानचेतना, त्रसानां कर्मचेतना, कर्मफलचेतना चेति द्वे स्थावराणां कर्मफलचेतन्यै (नैव)। चेतनाया भावः चैतन्यं ज्ञानस्य चैतन्यस्य (च) भेदं पश्यतीति ॥ ११६ ॥ निर्विकल्पसमाधौ स्थित आत्मा राग-द्वेष-मोहादिसंकल्प-विकल्परहितत्वात् न स्वः संविदितो येन ज्ञानेन तत् अस्वसंविदितज्ञानं, ईदृशं ज्ञानं वदतीत्येवंशीलः। संगच्छते सत् समीचीनं कार्यं संवर-निर्जरादिलक्षणकार्यं कर्त्तव्यं करणीयं कृत्यं सत्कार्यं तस्य वादः शास्त्रं सत्कार्यवादः। असत्कार्यवादः सन् भगवान् सत्कार्यवादो भवति सत्कार्यवादसात्, अभिव्याप्तौ संपद्यतौ भातिर्वा इत्यनेन सूत्रेण सात्प्रत्ययः ज्ञातव्यम्। सादन्तमव्ययम्। त्रीणि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि प्रमाणं मोक्षमार्गतयाऽभ्युपगतं यस्य। अथवा त्रिषु लोकेषु इन्द्र-धरणेन्द्र-मुनीन्द्रादीनां प्रमाणतयाऽभ्युपगतः। वा तिस्रः प्रमाः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि अनिति जीवयति त्रिप्रमाणः। अक्षः आत्मा प्रमाणं यस्य। स्याद्वा इत्यस्य शब्दस्य अहंकारो वादः स्याद्वाहंकारः। स्याद्वाहंकारे नियुक्तः स्याद्वाहंकारिकः अक्ष आत्मा स्याद्वाहंकारिकाक्षः, ईदृशमक्षमात्मानं दिशति उपदेशयति स्याद्वाहंकारिकाक्षदिक्, स्याच्छब्दपूर्वकवादविधायीत्यर्थः ॥११७॥ क्षियन्ति अधिवसंति तदिति क्षेत्रम्, सर्वधातुभ्यष्ट्रन्। क्षेत्रं अधोमध्योर्ध्वलोकलक्षणं त्रैलोक्यं अलोकाकाशं च जानाति क्षेत्रज्ञः। अत सातत्यगमने, अतति सततं गच्छति लोकालोकस्वरूपं जानातीति आत्मा। सर्वधातुभ्यो मन्। पुरुणि महति इन्द्रादीनां पूजिते पदे शेते तिष्ठतीति।

(४२)। ज्ञानके पांच भेद हैं और चेतनाके ज्ञानचेतना, कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतना ये तीन भेद हैं। केवली भगवान्के ज्ञानचेतना ही होती है। स्थावर जीवोंके कर्मफलचेतना ही होती है और त्रसजीवोंके कर्मचेतना और कर्मफलचेतना ये दोनों होती हैं। आप ज्ञान और चैतन्य अर्थात् चेतनाके भेदोंके या उनके पारस्परिक सम्बन्धके यथार्थ दर्शी हैं, अतः ज्ञानचैतन्यभेददृक् कहलाते हैं (४३)। निर्विकल्प समाधिमें स्थित आत्मा अपने आपको भी नहीं जानता, अर्थात् उस समय वह स्व-परके सर्व विकल्पोंसे रहित हो जाता है, इस प्रकारका कथन करनेसे आप अस्वसंविदितज्ञानवादी कहलाते हैं। सांख्य लोगोंके मतानुसार कोई भी ज्ञान अपने आपको नहीं जानता है, इसलिए वे अस्वसंविदितज्ञानवादी कहे जाते हैं (४४)। सत्कार्य अर्थात् समीचीन संवर, निर्जरा आदि उत्तम कार्य करनेका उपदेश देनेके कारण आप सत्कार्यवादसात् कहलाते हैं (४५)। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीन रत्न ही मोक्षमार्गमें प्रमाणरूपसे स्वीकार करनेके कारण आप त्रिप्रमाण कहलाते हैं। अथवा तीनों लोकोंमें इन्द्र, धरणेन्द्र और मुनीन्द्रोंके द्वारा आप ही प्रमाणरूप माने गये हैं। अथवा रत्नत्रयरूप तीन प्रमाओंको आप जीवित रखते हैं, इसलिए भी त्रिप्रमाण नामसे पुकारे जाते हैं। सांख्य प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द इन तीन प्रमाणोंको माननेके कारण त्रिप्रमाण कहलाता है (४६)। आपने अक्ष अर्थात् शुद्ध आत्माको प्रमाण माना है, अतः लोग आपको अक्षप्रमाण कहलाते हैं। किन्तु सांख्यलोग अक्ष अर्थात् इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले प्रत्यक्षज्ञानको प्रमाण माननेके कारण उक्त नामसे पुकारे जाते हैं (४७)। 'स्याद्वा' अर्थात् किसी अपेक्षासे ऐसा भी है, इस प्रकारके अहंकार कहिए वाद या कथन करनेको स्याद्वाहंकार कहते हैं। आपने प्रत्येक आत्माको इस स्याद्वादके प्रयोग करनेका उपदेश दिया है, इसलिए स्याद्वाहंकारिकाक्षदिक् कहलाते हैं (४८)। आप लोक और अलोकरूप क्षेत्रको जानते हैं, अतः क्षेत्रज्ञ कहलाते हैं। अथवा आत्माके शरीरमें निवास करनेके कारण आत्माको भी क्षेत्र कहते हैं। कोई आत्माको 'श्यामाकतन्दुल' अर्थात् समाके चावल बराबर मानता है, कोई अंगुष्ठप्रमाण कहता है और कोई जगद्व्यापी मानता है। आपने इन विभिन्न मान्यताओंका निराकरण करके उसे शरीर-प्रमाण ही सिद्ध किया है, अतः आत्माको क्षेत्ररूप शरीर-प्रमाण जाननेके कारण आप क्षेत्रज्ञ कहलाते हैं (४९)। आप 'अतति' कहिए लोकालोकके स्वरूपको जानते हैं, अतः आत्मा कहलाते हैं (५०)। पुरु अर्थात् इन्द्रादिसे पूजित पदमें शयन करते हैं, इसलिए पुरुष कहलाते हैं (५१)। नय अर्थात् न्यायके

दृष्टा तटस्थः कूटस्थो ज्ञाता निर्बन्धनोऽभवः । बहिर्विकारो निर्मोक्षः प्रधानं बहुधानकं ॥११९॥
प्रकृतिः ख्यातिरारूढप्रकृतिः प्रकृतिप्रियः । प्रधानभोज्योऽप्रकृतिर्विरम्यो विकृतिः कृती ॥१२०॥
मीमांसकोऽस्तसर्वज्ञः श्रुतिपूतः सदोत्सवः । परोक्षज्ञानवादीष्टपावकः सिद्धकर्मकः ॥१२१॥

नृणाति नयं करोति नरः । नृ नये, अचूपचादिभ्यश्च । अथवा न राति न किमपि गृह्णातीति नरः । डोऽसंज्ञायाम पि, परमनिर्ग्रन्थ इत्यर्थः । नयतीति समर्थतया भव्यजीवं मोक्षमिति ना, नयतेर्डिच्च इति तृन् प्रत्ययः । चेतयति लोकस्वरूपं जानाति शापयतीति वा, नंद्यादेर्युः । पुनाति पुनीते वा पवित्रयति आत्मानं निजानुगं त्रिभुवनस्थितभव्यजनसमूहं पुमान् । पूञो ह्रस्वश्च म्ञिर्मनसश्च, स पुमान् । पातीति पुमानिति केचित् । न करोति पापमिति । अथवा अं शिवं परमकल्याणं करोतीति । अथवा अस्य परमब्रह्मणः कर्त्ता, संसारिणं जीवं मोचयित्वा सिद्धपर्यायस्य कारक इत्यर्थः । निश्चिताः केवलज्ञानादयो गुणाः यस्य । अथवा निर्गता गुणाः राग-द्वेष-मोह क्रोधादयोऽशुद्धगुणाः यस्मादिति । मूर्च्छा मोह-समुच्छाययोः, मूर्च्छ्यते स्म मूर्त्तः, मूर्त्तः मोहं प्राप्तः, न मूर्त्तो न मोहं प्राप्तः अमूर्त्तः । अथवा अमूर्त्तः मूर्त्तिरहितः सिद्धपर्यायं प्राप्तः । भुंक्ते परमानन्दसुखमिति । सर्वं परिपूर्णं गतं केवलज्ञानं यस्य । अथवा ज्ञानापेक्षया, न तु प्रदेशापेक्षया, सर्वस्मिन् लोकेऽलोके च गतः प्राप्तः । भगवान् खलु प्रमादरहितस्तेन प्रतिक्रमणादिक्रियारहितत्वादक्रियः ॥११८॥

करनेसे आप नर कहलाते हैं । अथवा नहीं कुछ भी ग्रहण करनेके कारण अर्थात् परम निर्ग्रन्थ होनेसे भी आप नर कहलाते हैं । अथवा अर अर्थात् कामविकारके न पाये जानेसे आपको नर कहते हैं । अथवा 'र' अर्थात् रमणी नहीं पाई जानेसे भी आपका नर नाम सार्थक है (५२)। आप भव्यजीवोंको 'नयति' कहिए मोक्षमार्ग पर ले जाते हैं, इसलिए ना कहलाते हैं (५३)। 'चेतति' कहिए लोकालोकके स्वरूपको जाननेके कारण आप चेतन कहलाते हैं (५४)। अपने आपको और अनुगामी जनोंको पवित्र करनेसे आप पुमान् कहलाते हैं (५५)। पापको नहीं करनेसे अकर्त्ता कहलाते हैं । अथवा 'अ' अर्थात् परमकल्याणके आप कर्त्ता हैं । अथवा 'अ' कहिए संसारी आत्माके परमब्रह्मस्वरूपको आप करनेवाले हैं, क्योंकि उन्हें संसारसे छुड़ाकर सिद्ध बनाते हैं (५६)। राग, द्वेषादि वैभाविक गुणोंके निकल जानेसे आप निर्गुण कहलाते हैं। अथवा केवलज्ञानादि स्वभाविकगुण आपमें निश्चितरूपसे पाये जाते हैं, इसलिए भी आप निर्गुण संज्ञाको सार्थक करते हैं अथवा 'निर्' अर्थात् निम्नवर्गके प्राणियोंको भी आप अपने समान अनन्त गुणी बना लेते हैं, इसलिए भी निर्गुण कहलाते हैं (५७)। मूर्च्छा या मोहको जो प्राप्त हो, उसे मूर्त्त कहते हैं, आप मोह-रहित हैं, अतः अमूर्त्त कहलाते हैं । अथवा रूपादि गुणवाले और निश्चित आकार-प्रकार वाले शरीरको मूर्त्ति कहते हैं । आप ऐसी मूर्त्तिसे रहित हैं, क्योंकि सिद्धपर्यायको प्राप्त हो चुके हैं, इसलिए भी अमूर्त्त कहलाते हैं । अथवा मूर्त्तिका नाम प्रतिनमस्कारका भी है, आप नमस्कारके बदलेमें किसीको नमस्कार नहीं करते हैं । अथवा कठिनताको भी मूर्त्ति कहते हैं, आप कठिनता या कर्कशतासे सर्वथा रहित हैं, उत्तममार्दवगुणके धारक हैं (५८)। परम आनन्दरूप सुखको भोगनेके कारण आप भोक्ता कहलाते हैं (५९)। सबको जाननेसे अथवा लोकपूरण-समुद्घातकी अपेक्षा सर्वव्यापक होनेसे आप सर्वगत कहलाते हैं (६०)। मन, वचन, कायकी क्रियासे रहित होनेके कारण आप अक्रिय कहलाते हैं । अथवा आप प्रमत्तदशामें होनेवाले पापोंकी शुद्धिके लिए किये जानेवाले प्रतिक्रमण आदि क्रियाओंसे रहित हैं, क्योंकि सदा अप्रमत्त या जागरूक हैं (६१)।

अर्थ—हे विश्वदर्शिन्, आप दृष्टा हैं, तटस्थ हैं, कूटस्थ हैं, ज्ञाता हैं, निर्बन्धन हैं, अभव हैं, बहिर्विकार हैं, निर्मोक्ष हैं, प्रधान हैं, बहुधानक हैं, प्रकृति हैं, ख्याति हैं, आरूढप्रकृति हैं, प्रकृतिप्रिय हैं, प्रधानभोज्य हैं, अप्रकृति हैं, विरम्य हैं, विकृति हैं, कृती हैं, मीमांसक हैं, अस्तसर्वज्ञ हैं, श्रुतिपूत हैं, सदोत्सव हैं, परोक्षज्ञानवादी हैं, इष्टपावक हैं, और सिद्धकर्मक हैं ॥११९-१२१॥

केवलदर्शनेन सर्वं लोकालोकं पश्यतीत्येवंशीलः। तटे संसारपर्यन्ते मोक्षनिकटे तिष्ठतीति तटस्थः। नाम्नि स्थश्च कप्रत्ययः। कूटस्थः अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावत्वात्, त्रैलोक्यशिखराग्रे स्थित इत्यर्थः। तदपि भाविनयापेक्षया ज्ञातव्यम्। जानातीत्येवंशीलः। निर्गतानि बन्धनानि मोह-ज्ञानावरण-दर्शनावरणान्तरायकर्माणि यस्य। न विद्यते भवः संसारो यस्य। बहिर्बाह्ये विकारो विकृतिर्यस्य स बहिर्विकारः, अनग्नत्वरहितो नग्न इत्यर्थः। वस्त्रादिकस्वीकारो विकारस्तस्माद्रहितः। निश्चितो नियमेन मोक्षो यस्येति निर्मोक्षः, तद्भव एव मोक्षं यास्यतीति नियमोऽस्ति भगवतो निर्मोक्षस्तेनोच्यते। डुधाञ् डुभृञ् धारण-पोषणयोरिति तावद्धातुर्वर्तते। प्रधीयते एकाग्रतया आत्मनि धार्यते इति प्रधानं परमशुक्लध्यानं, तद्योगाद्भगवानपि प्रधानमित्यविशिष्टलिंगतयोच्यते। बहु प्रचुरं निर्जरा तयोपलक्षितं धानकं पूर्वोक्तलक्षणं परमशुक्लध्यानं बहुधानकम्, तद्योगाद् भगवानपि बहुधानकम् ॥११६॥

कृतिः करणं कर्तव्यं तीर्थप्रवर्त्तनम्, प्रकृष्टा त्रैलोक्यलोकहितकारिणी कृतिस्तीर्थप्रवर्त्तनं यस्य स प्रकृतिः। ख्यानं प्रकृष्टं कथनं यथावत्तत्त्वस्वरूपनिरूपणं ख्यातिः, तद्योगाद् भगवानपि ख्यातिरित्यविशिष्टलिंगमिदं नाम, सकलतत्त्वस्वरूपप्रकथक इत्यर्थः। (आ स-) मन्ताद् रूढा त्रिभुवनप्रसिद्धा प्रकृतिस्तीर्थंकरनामकर्म यस्येति। प्रकृत्या स्वभावेन प्रियः सर्वजगद्वल्लभः। अथवा प्रकृतीनां लोकानां प्रियः प्रकृतिप्रियः सर्वलोकप्रिय इत्यर्थः।

व्याख्या—आप केवलदर्शनके द्वारा सर्व लोकालोकको देखते हैं, अतः द्रष्टा हैं (६२)। संसारके तट पर स्थित हैं, अतः तटस्थ कहलाते हैं। अथवा परम उपेक्षारूप माध्यस्थ्यभावको धारण करनेसे भी तटस्थ कहलाते हैं (६३)। जन्म और मरणसे रहित होकर सदा कूट (ठूँठ) के समान स्थिर एक स्वभावसे अवस्थित रहते हैं, अतः कूटस्थ कहलाते हैं (६४)। केवलज्ञानके द्वारा सर्व जगत्को जानते हैं, अतः ज्ञाता कहलाते हैं (६५)। ज्ञानावरणादि घातिया कर्मोंके बन्धन आपसे निकल गये हैं, अतः निर्बन्धन कहलाते हैं (६६)। भव अर्थात् संसारके अभाव हो जानेसे आप अभव कहलाते हैं (६७)। आपने अपने सर्व विकारोंको बाहिर कर दिया है अतः बहिर्विकार कहलाते हैं। अथवा वस्त्रादिकोंके स्वीकारको विकार कहते हैं, आप उससे रहित हैं अर्थात नग्न-दिगम्बर हैं। अथवा आत्मस्वरूपको विरूप करनेवाला यह शरीर विकार कहलाता है, आपने उसे अपनी आत्मासे बाहिर कर दिया है। अथवा अणिमा, महिमा आदि ऋद्धियोंके द्वारा नाना प्रकारकी विक्रिया करनेको विकार कहते हैं, आप किसी भी ऋद्धिका उपयोग नहीं करते, अर्थात् उनकी विक्रियासे रहित हैं, अतः बहिर्विकार कहलाते हैं (६८)। आपके मोक्षकी प्राप्ति नियमसे उसी भवमें निश्चित है, अतः निर्मोक्ष नामको सार्थक करते हैं (६९)। जिसके द्वारा प्रकृष्टरूपसे एकाग्र होकर आत्माको धारण किया जाय, ऐसे परम शुक्लध्यानको प्रधान कहते हैं। उसके सम्बन्धसे आपभी प्रधान कहलाते हैं। सांख्यमतमें प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले चौबीस तत्त्वोंके समुदायको प्रधान कहते हैं (७०)। बहु अर्थात् प्रचुर परिमाणमें जिसके द्वारा कर्मोंकी निर्जरा हो, ऐसे परम शुक्लध्यानको बहुधानक कहते हैं, उसके संयोगसे आप भी बहुधानक कहलाते हैं। अथवा बहुधा अर्थात् बहुत प्रकारके आनक कहिए पटह या दुन्दुभि आदि बाजे जिसमें पाये जाते हैं ऐसे आपके समवसरणको बहुधानक कहते हैं, उसके योगसे आपभी बहुधानक कहलाते हैं। समवसरणमें साढ़े बारह करोड़ जातिके बाजे बजते रहते हैं (७१)। आपकी तीर्थ-प्रवर्तनरूप कृति प्रकृष्ट है अर्थात् त्रैलोक्यके लिए हितकारी है, अतः आपको प्रकृति कहते हैं। सांख्य लोग सतोगुण, रजोगुण और तमोगुणकी साम्यावस्थाको प्रकृति कहते हैं (७२)। तत्त्वके यथावत् स्वरूप-निरूपणको करनेसे आप ख्याति नामसे प्रख्यात हैं। सांख्यमतमें ख्यातिनाम मुक्तिका है (७३)। आपकी तीर्थंकर नामक प्रकृति त्रिभुवनमें आरूढ अर्थात् प्रसिद्ध है, अतः आप आरूढप्रकृति कहलाते हैं (७४)। आप प्रकृति अर्थात् स्वभावसे ही सर्व जगतके प्रिय हैं। अथवा प्रकृति

प्रकृष्टं धानं सावधानं आत्मन एकाग्रचिन्तनं अध्यात्मरसः, तद्भोज्यं आस्वाद्यं यस्य स प्रधानभोज्यः। दुष्ट प्रकृतीनां त्रिषष्टेः कृतक्षयत्वात् शेषाः अघातिप्रकृतयः सत्योऽपि असमर्थत्वात्तासां सत्त्वमपि असत्त्वं दग्धरज्जु रूपतया निर्बलत्वं अकिंचित्करत्वं यतः, तेन भगवानप्रकृतिः। सर्वेषां प्रभुत्वाद्वा अप्रकृतिः। विशिष्टानामिन्द्र-धरणेन्द्र-नरेन्द्र-मुनीन्द्रादीनां विशेषेण रम्योऽतिमनोहरो विरम्यः अतिशयरूप-सौभाग्यप्रकृतित्वात्। अथवा विगतं विनष्टं आत्मस्वरूपत्वादन्यन्मनोहरं वस्तु इष्टस्त्रग्वनिताचन्दनादिकं यस्य स विरम्यः, आत्मस्वरूपं विना भगवतोऽन्यद्वस्तु रम्यं मनोहरं न वर्त्तत इत्यर्थः। विशिष्टा कृतिः कर्तव्यता यस्येति। अथवा विगता विनष्टा कृतिः कर्म यस्येति। कृतं पुण्यं विद्यते यस्य स कृती, निदानदोषरहितविशिष्टपुण्यप्रकृतिरित्यर्थः ॥१२०॥

मान पूजायां इति तावदयं धातुः, मीमांसते मीमांसकः, स्वसमय-परसमयतत्त्वानि मीमांसते विचारय-तीति। सर्वे च ते ज्ञः सर्वज्ञाः सर्वविद्वान्सः, जिमिनि-कपिल-कणचर चार्वाक-शाक्यादयः, अस्ताः प्रत्युक्ताः सर्वज्ञाः येन सोऽस्तसर्वज्ञः। श्रुतिशब्देन सर्वज्ञवीतरागध्वनिः, तया पूतः पवित्रः, सर्वोऽपि पूर्वं सर्वज्ञश्रुत्या तीर्थंकरनामगोत्रं बध्वा पवित्रो भूत्वा सर्वज्ञः संजातस्तेन श्रुतिपूत उच्यते। सदा सर्वकालं उत्सवो महो महार्चा

अर्थात् लोकोंके प्रिय हैं, सर्व-लोक-वल्लभ हैं, इसलिए भी प्रकृतिप्रिय कहलाते हैं (७५)। अत्यन्त सावधान होकर आत्माका जो एकाग्र मनसे चिन्तवन किया जाता है और उससे जो अध्यात्मरस उत्पन्न होता है, उसे प्रधान कहते हैं। वह अध्यात्मरस ही आपका भोज्य अर्थात् भक्ष्य है। अन्य पदार्थ नहीं, क्योंकि आप कवलाहारसे रहित हैं, अतः प्रधानभोज्य कहलाते हैं (७६)। आपने कर्मोंकी मुख्य मानी जानेवाली तिरेसठ प्रकृतियोंका क्षय कर दिया है, अतः अघातिया कर्मोंकी अवशिष्ट पचासी प्रकृतियों का सत्त्व भी असत्त्वके समान है, अकिंचित्कर है, अतः आप अप्रकृति अर्थात् प्रकृति-रहित कहलाते हैं। अथवा आपका दूसरा कोई प्रकृति अर्थात् प्रभु नहीं है, किन्तु आप ही सबके प्रभु हैं (७७)। इन्द्र, धरणेन्द्र, नरेन्द्र आदि समस्त रम्य पुरुषोंसे भी आप विशिष्ट रम्य हैं, अति सुन्दर हैं, अतः विरम्य कहलाते हैं। अथवा आत्मस्वरूपके अतिरिक्त आपको कोई दूसरी वस्तु रम्य प्रतीत नहीं होती, इसलिए भी विरम्य कहलाते हैं (७८)। विशिष्ट कृति अर्थात् कर्त्तव्यके करनेसे आप विकृति कहलाते हैं। अथवा कृति अर्थात् कर्म आपके विगत हो चुके हैं, करनेयोग्य सर्व कार्योंको आप कर चुके हैं, कृतकृत्य हैं कृतार्थ हैं, इसलिए भी विकृति कहलाते हैं (७९)। आपके निदानादि दोष-रहित विशिष्ट कृत अर्थात् पुण्य पाया जाता है, इसलिए आप कृती कहलाते हैं। अथवा हरि, हर और हिरण्यगर्भादिमें नहीं पाई जानेवाली इन्द्रादिकृत पूजाके योग्य आप ही हैं। अथवा अनन्तचतुष्टयसे विराजमान महान् विद्वान् होनेसे भी आप कृती कहलाते हैं (८०)। आप स्वसमय और परसमयमें प्रतिपादित समस्त तत्त्वोंकी मीमांसा अर्थात् समीक्षा कर उनकी हेय-उपादेयताका निर्णय करते हैं, इसलिए मीमांसक कहलाते हैं (८१)। अपने आपको सर्वज्ञ-माननेवाले जिमिनि, कपिल, कणाद, चार्वाक, शाक्य आदि सभी प्रवादियोंको आपने अपने स्याद्वादके द्वारा अस्त अर्थात् परास्त कर दिया है, इसलिए आप अस्तसर्वज्ञ कहलाते हैं (८२)। सर्वज्ञ वीतरागकी दिव्यध्वनिको श्रुति कहते हैं। आपने अपनी दिव्यध्वनिरूप श्रुतिके द्वारा सर्व जगत्को पूत अर्थात् पवित्र किया है, अतएव आप श्रुतिपूत कहलाते हैं। अथवा आपकी दिव्यध्वनि-को सुनकर भव्यप्राणी तीर्थंकर नामगोत्रको बांधकर पवित्र होते हैं। अथवा श्रुतिनाम वायुका भी है, वह आपके पृष्ठगामी होनेसे पवित्र हो गया है, और यही कारण है कि वह प्राणियोंके बड़े बड़े रोगोंको भी क्षणभर में उड़ा देता है, इसलिए भी आप श्रुतिपूत कहलाते हैं (८३)। आपका सदा ही उत्सव अर्थात् महापूजन होता रहता है, इसलिए आप सदोत्सव कहलाते हैं। अथवा सर्वकाल उत्कृष्ट सव अर्थात् अध्ययन-अध्यापनरूप या कर्म-क्षपणरूप यज्ञ होते रहने से भी आप सदोत्सव नामको सार्थक करते हैं (८४)। अक्ष अर्थात् इन्द्रियों से परे जो अतीन्द्रिय केवलज्ञान है, वही

चार्वाको भौतिकः ज्ञानो भूताभिव्यक्तचेतनः । प्रत्यक्षैकप्रमाणोऽस्तपरलोको गुरुश्रुतिः ॥१२२॥
पुरन्दरविद्धकर्णो वेदान्ती संविदद्वयी । शब्दाद्वैती स्फोटवादी पाखण्डघ्नो नयौघयुक् ॥१२३॥

इति बुद्धशतम् ॥ ६ ॥

यस्य । अथवा सदा सर्वकालं उत्कृष्टः सवो यशो यस्य । अक्षाणामिन्द्रियाणां परं परोक्षं केवलज्ञानं तदात्मनः वदतीत्येवंशीलः । इष्टाः अभीष्टाः पावकाः पवित्रकारकाः गणधरदेवादयो यस्य । सिद्धं समाप्तिं गतं परिपूर्णं जातं कर्म क्रिया चारित्रं यथाख्यातलक्षणं यस्येति सिद्धकर्मा, यथाख्यातचारित्रसंयुक्त इत्यर्थः । सिद्ध-कर्मा कः आत्मा यस्येति सिद्धकर्मकः, यथाख्यातचारित्रसंयुक्तात्मस्वरूप इत्यर्थः ॥१२१॥

अक अग कुटिलायां गतौ इति तावद्धातुः भ्वादिगणे घटादिमध्ये परस्मै भापः । आकः अकनं आकः, कुटिला अकुटिला च गतिरुच्यते । यावन्तो गत्यर्था धातवस्तावन्तो ज्ञानार्था इति वचनादाकः केवल-ज्ञानम्, चार्विति विशेषणत्वात् चारुः मनोहरस्त्रिभुवनस्थितभव्यजीवचित्तानन्दकारकः आकः केवलज्ञानं यस्येति चार्वाकः । स्वमते भूतिर्विभूतिरैश्वर्यमिति वचनात् समवशरणोपलक्षिता लक्ष्मीरष्टौ प्रातिहार्याणि चतुस्त्रिंशदतिशयादिकं देवेन्द्रादिसेवा च भूतिरुच्यते । भूत्या चरति विहारं करोति भौतिकं समवशरणादिलक्ष्मी-विराजितं ज्ञानं केवलज्ञानं यस्येति । अथवा भूतेभ्यो जीवेभ्य उत्पन्नं (भौतिकं) ज्ञानं यस्य मते स (भौतिं-) क ज्ञानः, इत्यनेन पृथिव्यादिभूतसंयोगे ज्ञानं भवतीति निरस्तम् । स्वमते भूतेषु जीवेषु अभिव्यक्ता प्रकटीकृता चेतना ज्ञानं येनेति । स्वमते प्रत्यक्षं केवलज्ञानमेव एकमद्वितीयं न परोक्षप्रमाणम् , अश्रुतादिकत्वात् केवलिनः

आत्माका स्वभाविकगुण है, अन्य इन्द्रिय-जनित ज्ञान नहीं; इस प्रकारके उपदेश देनेके कारण आप परोक्षज्ञानवादी कहलाते हैं (८५) । जगत्को पवित्र करनेवाले गणधर देवरूप पावक अर्थात् पावन पुरुष आपको इष्ट हैं, क्योंकि उनके द्वारा ही आपका पवित्र उपदेश संसारके कोने-कोनेमें पहुँचता है, अतः आप इष्टपावक कहलाते हैं । अथवा पावक अर्थात् पवित्र करनेवाले पुरुषोंमें आप ही सर्व जगत् को इष्ट अर्थात् अभीष्ट हैं, इसलिए भी आप इष्टपावक कहलाते हैं (८६) । कर्म अर्थात् यथाख्यातचारित्रकी प्राप्तिरूप कर्त्तव्यको आपने सिद्ध कर लिया है, इसलिए आपको सिद्धकर्मक कहते हैं । अथवा सीझने या पकानेको भी सिद्ध कहते हैं । आपने अपनी ध्यानाग्निके द्वारा कर्मोंको पका डाला है उन्हें निर्जराके योग्य कर दिया है, इसलिए भी आप उक्त नामको सार्थक करते हैं (८७) ।

अर्थ—हे चारुवाक्, आप चार्वाक् हैं, भौतिकज्ञान हैं, भूताभिव्यक्तचेतन हैं, प्रत्यक्षैक-प्रमाण हैं, अस्तपरलोक हैं, गुरुश्रुति हैं, पुरन्दरविद्धकर्ण हैं, वेदान्ती हैं, संविदद्वयी हैं, शब्दाद्वैती हैं, स्फोटवादी हैं, पाखंडघ्न हैं, और नयौघयुक् हैं ॥१२२-१२३॥

व्याख्या—विश्वको जाननेवाला आपका आक अर्थात् केवलज्ञान चारु है—सर्वजगत्के पाप-मलको धोनेवाला और भव्यजीवोंको आनन्द करनेवाला है, इसलिए आप चार्वाक कहलाते हैं । नास्तिक मतवाले चर्वाक ऋषिके शिष्यको चार्वाक कहते हैं (८८) । आपका केवलज्ञान भौतिक अर्थात् समवसरणादि लक्ष्मीसे संयुक्त है, ऐश्वर्य-सम्पन्न है, अतः आप भौतिकज्ञान कहलाते हैं । अथवा ज्ञानकी उत्पत्ति भूत अर्थात् प्राणियोंसे ही होती है, इस प्रकारका कथन करनेसे आप उक्त नामसे पुकारे जाते हैं । नास्तिक मतवाले ज्ञानको पृथिव्यादि चार भूतोंसे उत्पन्न हुआ मानते हैं (८९) । भूतोंमें अर्थात् जीवोंमें ही चेतना अभिव्यक्त होती है, अन्य अचेतन या जड़ पदार्थोंमें नहीं, ऐसा प्रतिपादन करनेसे आप भूताभिव्यक्तचेतन कहलाते हैं । नास्तिक मतवाले भूत-चतुष्टयके संयोगसे चेतनाकी उत्पत्ति मानते हैं, उनकी इस मान्यताका आपने खंडन किया है (९०) । केवलज्ञानरूप एक प्रत्यक्ष ज्ञान ही प्रमाण है, क्योंकि वह क्षायिक, अतीन्द्रिय और निरावरण है, अन्य परोक्ष ज्ञान नहीं, ऐसा प्रतिपादन करनेसे आप प्रत्यक्षैकप्रमाण नामसे पुकारे जाते हैं । नास्तिक लोग एक प्रत्यक्ष ज्ञानको ही प्रमाण मानते हैं (९१) । पर अर्थात्

स प्रत्यक्षैकप्रमाणः । स्वमते अस्ताः निराकृतास्तत्तन्मतखंडनेन चूर्णीकृत्वा अधः पातिताः परे लोका जिमिनि-कपिल-कणचर-चार्वाक-शाक्याद्यो जैनमतबहिर्भूताः अनार्हताः येनेति । अथवा भगवान् मुक्तिं विना मोक्ष-मन्तरेणान्यां गतिं न गच्छतीति अस्तपरलोकः । गुर्वी केवलज्ञानसमाना श्रुतिः शास्त्रं यस्येति ॥१२२॥ पुरन्दरेण विद्धौ वज्रसूचिकया कर्णौ यस्य स पुरन्दरविद्धकर्णः । भगवान् खलु छिद्रसहितकर्ण एव जायते, परं जन्माभिषेकावसरे कौलिकपटलेनेव त्वचा अचेतनया मुद्रितकर्णच्छिद्रो भवति । शक्रस्तु वज्रसूचीं करे कृत्वा तत्पटलं दूरीकरोति, तेन पुरन्दरविद्धकर्णः कथ्यते । स्वमते वेदस्य मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानलक्षण-ज्ञानस्य अन्तः केवलज्ञानं वेदान्तः, वेदान्तो विद्यते यस्य स वेदान्ती केवलज्ञानवानित्यर्थः । संवित् समीचीनं ज्ञानं केवलज्ञानम्, तस्य न द्वितीयं ज्ञानं संविदद्वयम् । संविदद्वयं विद्यते यस्य स संविदद्वयी । स्वमते तु यावत्यो वाग्वर्गणाः विद्यन्ते शक्तिरूपतया तावत्यः शब्दहेतुत्वात् पुद्गलद्रव्यं स शब्द एव इति कारणात् भगवान् शब्दाद्वैतीत्युच्यते । स्वमते स्फुटति प्रकटीभवति केवलज्ञानं यस्मादिति स्फोटः, निजशुद्धबुद्धैकस्वभाव आत्मा तं वदति मोक्षहेतुतया प्रतिपादयतीति स्फोटवादी । पाखण्डान् हन्ति, शुद्धान् कर्तुं गच्छति पाखण्डघ्नः । अथवा पाखण्डाः खण्डितव्रतास्तान् हन्ति योग्यप्रायश्चित्तेन शोधनदण्डेन ताडयति कच्छ-महाकच्छादिकानिव वृषभनाथवत् । नयानामोघः समूहस्तं युनक्तीति ॥१२३॥

इति बुद्धशतम् ॥ ९ ॥

जैनेतर या अनार्हत कपिल, कणाद आदि परमतावलम्बी लोकोंको आपने अपने अनेकान्तवादरूप अमोघ अस्त्रसे परास्त कर दिया है, अतः आप अस्तपरलोक कहलाते हैं। नास्तिक मतवाले परलोक अर्थात् परभवको नहीं मानते हैं (९२)। आपने द्वादशांगरूप श्रुतिको केवलज्ञानके समान ही गुरु अर्थात् गौरवशाली या उपदेश दाता माना है, अतः आप गुरुश्रुति कहलाते हैं। अथवा गुरु अर्थात् गणधरदेव ही आपकी बीजाक्षररूप श्रुतिको धारण कर ग्रन्थ-रूपसे रचते हैं। अथवा आपकी दिव्यध्वनि रूप श्रुति गंभीर एवं गौरवशालिनी है। अथवा मिथ्यादृष्टियोंके लिए आपकी श्रुति गुरु अर्थात् भारी या दुष्प्राप्य है। नास्तिकमतमें गुरु अर्थात् बृहस्पतिको शास्त्रों-का प्रणेता माना गया है (९३)। पुरन्दर अर्थात् इन्द्रके द्वारा आपका कर्णवेधन नामका संस्कार होता है, इसलिए आप पुरन्दरविद्धकर्ण कहलाते हैं। भगवान्‌के कर्ण यद्यपि गर्भसे ही छिद्र-सहित होते हैं, परन्तु उनपर मकड़ीके जालेके समान सूक्ष्म आवरण रहता है, इन्द्र उसे वज्रसूचीके द्वारा दूर करता है। वस्तुतः भगवान्‌का शरीर अभेद्य होता है (९४)। वेद अर्थात् ज्ञानकी परिपूर्णताको वेदान्त कहते हैं। केवलज्ञान ही पूर्ण ज्ञान है और आप उसके धारक हैं, अतः वेदान्ती कहलाते हैं। अथवा स्त्री, पुरुष, नपुंसकरूप लिंगको भी वेद कहते हैं। आपने इन तीनों वेदोंका अन्त कर दिया है, अतः वेदान्ती कहलाते हैं (९५)। केवलज्ञान ही सम्+वित् अर्थात् समीचीन ज्ञान है, उसके अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा ज्ञान सम्यक् नहीं है, इस प्रकारके अद्वितीय केवलज्ञानके धारक होनेसे आप संविदद्वयी कहलाते हैं (९६)। सभी वचनवर्गणाएँ शब्दोंकी उत्पत्तिकी कारण हैं, अतः सर्व पुद्गलद्रव्य शक्तिरूपसे एकमात्र शब्दरूप है, ऐसा कथन करनेके कारण आप शब्दाद्वैती कहलाते हैं (९७)। जिसके द्वारा केवलज्ञान स्फुटित अर्थात् प्रकटित होता है, उस शुद्ध-बुद्ध आत्माको स्फोट कहते हैं, वही आत्माका स्वभाव है, ऐसा उपदेश देनेके कारण आप स्फोटवादी कहलाते हैं (९८)। पाखंड अर्थात् मिथ्यामतोंका घात करनेसे आप पाखंडघ्न कहलाते हैं (९९)। विभिन्न नयोंके समुदायको नयौघ कहते हैं। परस्पर निरपेक्ष नय मिथ्या हैं और सापेक्ष नय सत्य हैं, अतः नयोंकी प्रवृत्ति परस्पर-सापेक्ष ही करना चाहिए, इस प्रकारकी योजना करनेके कारण आप नयौघयुक् कहलाते हैं (१००)।

इस प्रकार नवम बुद्धशतक समाप्त हुआ।

(१०) अथ अन्तकृच्छतम्

अन्तकृत्पारकृत्तीरप्राप्तः पारेतमःस्थितः । त्रिदंडी दंडितारातिर्ज्ञानकर्मसमुच्चयी ॥१२४॥
संहृतध्वनिरुत्सन्नयोगः सुप्तार्णवोपमः । योगस्नेहापहा योगकिट्टिनिर्लेपनोद्यतः ॥१२५॥
स्थितस्थूलवपुर्योगो गीर्मनोयोगकार्श्यकः । सूक्ष्मवाक्चित्तयोगस्थः सूक्ष्मीकृतवपुःक्रियः ॥१२६॥

अन्तं संसारस्यावसानं कृतवान् । पारं संसारस्य प्रान्तं संसारसमुद्रस्य पारतटं कृतवान् । तीरं संसार-समुद्रस्य तटं प्राप्तः । तमसः पापस्य पारे पारेतमः, पारे तमसि पापरहितस्थाने अष्टापद-सम्मेद-चम्पापुरी-पावापुरी-ऊर्जयन्तादौ सिद्धक्षेत्रे स्थितः योगनिरोधार्थं गतः पारेतमःस्थितः । त्रयो दंडा मनोवाक्कायलक्षणा योगा विद्यन्ते यस्य स त्रिदंडी । दंडिता जीवन्तोऽपि मृतसदृशाः कृताः मोहप्रभुपातनात् असद्वेद्यादिशत्रवो येन स दंडितारातिः । दंडिताः स्ववशीकृताः अरातयः जिमिनि-कणचर-चार्वाक-शाक्यादयो मिथ्यावादिनो येन स तथोक्तः । ज्ञानं च केवलं आत्मज्ञानं कर्म च पापक्रियाया विरमणलक्षणोपलक्षिता क्रिया यथाख्यातचारित्रमित्यर्थः, ज्ञान-कर्मणी, तयोः समुच्चयः समूहः स विद्यते यस्य ॥१२४॥ संहृतः संकोचितो मोक्षगमनकालनिकटे सति ध्वनिर्वाणी येन स तथोक्तः । उत्सन्ना विनाशं प्राप्ताः मनोवचनकायानां योगा

अर्थ—हे अन्तकान्तक, आप अन्तकृत् हैं, पारकृत् हैं, तीरप्राप्त हैं, पारेतमःस्थित हैं, त्रिदंडी हैं, दंडिताराति हैं, ज्ञानकर्मसमुच्चयी हैं, संहृतध्वनि हैं, उत्सन्नयोग हैं, सुप्तार्णवोपम हैं, योगस्नेहापह हैं, योगकिट्टिनिर्लेपनोद्यत हैं, स्थितस्थूलवपुर्योग हैं, गीर्मनोयोगकार्श्यक हैं, सूक्ष्म-वाक्चित्तयोगस्थ हैं और सूक्ष्मीकृतवपुःक्रिय हैं ॥१२४-१२६॥

व्याख्या—हे भगवन्, आपने संसारका अन्त कर दिया, अतः अन्तकृत् कहलाते हैं। अथवा अन्त अर्थात् मरणका कृन्तन कहिए अभाव कर देनेसे भी अन्तकृत् कहलाते हैं। अथवा आप आत्माके स्वरूपके प्रकट करनेवाले हैं। अथवा आपने मोक्षको अपने समीप किया है। अथवा व्यवहारको छोड़कर निश्चयको करनेवाले हैं, इसलिए भी अन्तकृत कहलाते हैं (१)। संसारको पार कर लेनेसे पारकृत् कहलाते हैं (२)। संसार-समुद्रके तीरको प्राप्त कर लेनेसे तीर-प्राप्त कहलाते हैं (३)। तमके पार अर्थात् पाप-रहित स्थानमें स्थित होनेसे आप पारेतमःस्थित कहलाते हैं। भगवान् आर्हन्त्य-अवस्थाके अन्तमें योगनिरोध कर सिद्धपद प्राप्त करनेके लिए अष्टापद, सम्मेदशिखर, ऊर्जयन्त आदि सिद्धक्षेत्र पर अवस्थित हो जाते हैं। अथवा आप अज्ञानसे अत्यन्त दूर स्थित हैं, इसलिए भी पारेतमःस्थित कहलाते हैं (४)। मन, वचन, कायरूप तीनों योगोंका निरोध कर आपने उन्हें अच्छी तरह दंडित किया है, इसलिए त्रिदंडी कहलाते हैं। अथवा माया, मिथ्यात्व और निदान नामक तीन शल्योंको आपने जड़से उन्मूल कर दिया है, इसलिए भी त्रिदंडी कहलाते हैं (५)। अराति कहिए असातावेदनीयादि शत्रुओं-को आपने दंडित किया है अर्थात् जीवित रहते हुए भी उन्हें मृत-सदृश कर दिया है, क्योंकि मोहरूप कर्म-सम्राट्के क्षय कर देनेसे उनकी शक्ति सर्वथा क्षीण हो गई है, अतएव आप दंडिता-राति कहलाते हैं। अथवा जिमिनि, कणाद, चार्वाक आदि मिथ्यावादीरूप अरातियोंको आपने दंडित किया है; अपने वशमें किया है, इसलिए भी दंडिताराति कहलाते हैं (६)। आप ज्ञान और कर्म अर्थात् यथाख्यातचारित्रके समुच्चय हैं, पुञ्ज हैं, अतः ज्ञानकर्मसमुच्चयी कहलाते हैं। अथवा परमानन्दरूप मोदके साथ रहनेको समुत् कहते हैं, आप ज्ञान, चारित्र और सुखके चय अर्थात् पिंड हैं, इसलिए ज्ञान-कर्मसमुच्चयी कहलाते हैं (७)। मोक्षगमनका समय समीप आने पर आप अपनी दिव्यध्वनिको संहृत अर्थात् संकोचित कर लेते हैं, इसलिए संहृतध्वनि कहलाते हैं (८)। आत्म-प्रदेशोंमें चंचलता उत्पन्न करनेवाले योगको आपने उत्सन्न अर्थात् विनाशको

सूक्ष्मकायक्रियास्थायी सूक्ष्मवाक्चित्तयोगहा । एकदंडी च परमहंसः परमसंवरः ॥१२७॥
नैःकर्म्यसिद्धः परमनिर्जरः प्रज्वलत्प्रभः । मोघकर्मा त्रुटत्कर्मपाशः शैलेश्यलंकृतः ॥१२८॥
एकाकाररसास्वादी विश्वाकाररसाकुलः । अजीवन्नमृतोऽजाग्रदसुप्तः शून्यतामयः ॥१२९॥

आत्मप्रदेशपरिस्पन्दनहेतवो यस्येति । सुप्तः कल्लोलरहितो योऽसावर्णवः समुद्रः तस्य उपमा सादृश्यं यस्येति सुप्तार्णवोपमः मनोवाक्कायव्यापाररहित इत्यर्थः । योगिनां (योगानां) मनोवाकायव्यापाराणां स्नेहं प्रीतिमपहंतीति । अपात्क्लेशतमसोरित्यनेन हनोर्धातोर्डप्रत्ययः । योगानां मनोवाक्कायव्यापाराणां या कृता किट्टिश्चूर्णं मंडूरादिदलनवत्, तस्याः निर्लेपनं निजात्मप्रदेशेभ्यो दूरीकरणम्, तत्र उद्यतो यत्नपरः ॥१२५॥ स्थितस्तावद्गतिनिवृत्तिमागतः स्थूलवपुर्योगो बादरपरमौदारिककाययोगो यस्य स तथोक्तः । गीश्च वाक् च मनश्च चित्तं तयोर्योग आत्मप्रदेशस्पन्दहेतुः, तस्य कार्श्यकः कृशकारकः श्लक्ष्णविधायकः । पश्चाद्भगवान् सूक्ष्मवाग्मानसयोर्योगे तिष्ठति । असूक्ष्मा सूक्ष्मा कृता सूक्ष्मीकृता वपुषः क्रिया काययोगो येन स तथोक्तः ॥१२६॥

सूक्ष्मकायक्रियायां सूक्ष्मकाययोगे तिष्ठतीत्येवंशीलः सूक्ष्मकायक्रियास्थायी । पश्चाद्भगवान् कियत्कालपर्यन्तं सूक्ष्मकाययोगे तिष्ठति । वाक् च चित्तं च वाक्चित्ते, तयोर्योगो वाक्चित्तयोगः सूक्ष्मश्चासौवाक्चित्तयोगः सूक्ष्मवाक्चित्तयोगस्तं हन्ति विनाशयतीति । एको असहायो दंडः सूक्ष्मकाययोगः विद्यते यस्य स एकदंडी भगवान् उच्यते । कियत्कालं सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिनामपरमशुक्लध्याने स्वामी तिष्ठतीति एकदण्डी

प्राप्त कर दिया है, अतः आप उत्सन्नयोग कहलाते हैं। अथवा विश्वासघातीको भी योग कहते हैं, आपने विश्वासघातियोंको उच्छिन्न कर दिया है, इसलिए आप उत्सन्नयोगी कहलाते हैं (९) आप सुप्त समुद्रकी उपमाको धारण करते हैं इसलिए सुप्तार्णवोपम कहलाते हैं। जिस प्रकार सुप्त समुद्र कल्लोल-रहित शान्त एवं नीरव स्तब्ध रहता है, उसी प्रकार आप भी योगके अभावसे आत्मप्रदेशोंकी चंचलतासे सर्वथा रहित हैं (१०)। मन, वचन कायके व्यापाररूप योगके स्नेहको आपने दूर कर दिया है, इसलिए योगस्नेहापह कहलाते हैं (११)। आप योगोंकी कृष्टियोंके निर्लेपके लिए उद्यत हुए हैं, अर्थात् योग-सम्बन्धी जो सूक्ष्म रजःकण आत्मप्रदेशोंपर अवशिष्ट हैं उन्हें दूर करनेके लिए तत्पर हुए हैं, अतः योगिजन आपको योगकिट्टिनिर्लेपनोद्यत कहते हैं (१२)। स्थूल वपुर्योग अर्थात् बादरपरमौदारिककाययोगको आपने स्थित कहिए निवृत्त किया है, अतः आप स्थितस्थूलवपुर्योग कहलाते हैं। भगवान् योग-निरोधके समय सर्व-प्रथम बादरकाययोगका निरोध करते हैं (१३)। पुनः बादरवचनयोग और बादरमनोयोगको कृश करते हैं, अर्थात् उन्हें सूक्ष्मरूपसे परिणत करते हैं, इसलिए आप गीर्मनोयोगकार्श्यक कहलाते हैं (१४)। पश्चाद् सूक्ष्म वचनयोग और सूक्ष्ममनोयोगमें अवस्थित रहते हैं, इसलिए उन्हें सूक्ष्मवाकचित्तयोगस्थ कहते हैं (१५)। पुनः भगवान् वपुः क्रिया अर्थात् औदारिककाययोगको सूक्ष्म करते हैं, इसलिए उन्हें सूक्ष्मीकृतवपुःक्रिय कहते हैं (१६)।

अर्थ—हे शीलेश, आप सूक्ष्मकायक्रियास्थायी हैं, सूक्ष्मवाक्चित्तयोगहा हैं, एकदण्डी हैं, परमहंस हैं, परमसंवर हैं, नैःकर्म्यसिद्ध हैं, परमनिर्जर हैं, प्रज्वलत्प्रभ हैं, मोघकर्मा हैं, त्रुटत्कर्मपाश हैं, शैलेश्यलंकृत हैं, एकाकारसास्वादी हैं, विश्वाकारसाकुल हैं, अजीवन् हैं, अमृत हैं, अजागृत हैं, असुप्त हैं और शून्यतामय हैं ॥१२७–१२९॥

व्याख्या—औदारिककाययोगको सूक्ष्म करनेके अनन्तर कुछ काल तक आप सूक्ष्मकाययोगमें अवस्थित रहते हैं, इसलिए सूक्ष्मकायक्रियास्थायी कहलाते हैं (१७)। पुनः आप सूक्ष्म वचनयोग और सूक्ष्ममनोयोगका विनाश करते हैं, इसलिए सूक्ष्मवाक्चित्तयोगहा कहलाते हैं (१८)। तदनन्तर आपके केवल एक सूक्ष्मकाययोगरूप दण्ड विद्यमान रह जाता है, इसलिए आप एकदण्डी कहलाते हैं। जितने समय तक भगवान् सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक तृतीय शुक्लध्यानमें अवस्थित

प्रेयानयोगी चतुरशीतिलक्षगुणोऽगुणः । निःपीतानन्तपर्यायोऽविद्यासंस्कारनाशकः ॥१३०॥
वृद्धो निर्वचनीयोऽणुरणीयाननणुप्रियः । प्रेष्ठः स्थेयान् स्थिरोऽनिष्ठः श्रेष्ठो ज्येष्ठः सुनिष्ठितः ॥१३१॥
भूतार्थशूरो भूतार्थदूरः परमनिर्गुणः । व्यवहारसुपुप्तोऽतिजागरूकोऽतिसुस्थित. ॥१३२॥

कथ्यते, न तु काष्ठादिदण्डं करे करोति भगवान् । परम उत्कृष्टो हंस आत्मा यस्येति । परम उत्कृष्टः संवरो निर्जराहेतुर्यस्य ॥१२७॥ निर्गतानि कर्माणि ज्ञानावरणादीनि यस्येति निःकर्मा । निःकर्मणो भावः कर्म वा नैःकर्म्यम् । नैःकर्म्ये सिद्धः प्रसिद्धो नैःकर्म्यसिद्धः । परमते ये अश्वमेधादिकं हिंसायज्ञकर्म न कुर्वन्ति ते वेदान्तवादिन उपनिषदि पाठकाः नैःकर्म्यसिद्धा उच्यन्ते । परमा उत्कृष्टा असंख्येयगुणा कर्मणां निर्जरा यस्येति । प्रज्वलन्ती लोकालोकं प्रकाशयन्ती प्रभा केवलज्ञानतेजो यस्य स तथोक्तः । मोघानि निःफलानि कर्माणि असद्वेद्यादीनि यस्येति । त्रुटन्ति स्वयमेव छिद्यन्ते कर्माण्येव पाशा यस्येति त्रुटत्कर्मपाशः, उत्कृष्ट-निर्जरावानित्यर्थः । शीलानां अष्टादशसहस्रसंख्यानामीशः शीलेशः । शीलेशस्य भावः शैलेशी । यण् च स्त्रीनपुंसकाख्या । शैलेश्या शीलप्रभुत्वेन अलंकृतः शैलेश्यलंकृतः ॥१२८॥ एकश्चासावाकारः एकाकारः, एकं विशेषज्ञानं केवलज्ञानमित्यर्थः । एकाकार एव रसः परमानन्दामृतं तस्य आस्वादोऽनुभवनं यस्य स एकाकाररसास्वादः, निजशुद्धबुद्धैकस्वभावात्मज्ञानामृतरसानुभवनवानित्यर्थः । विश्वस्य लोकालोकस्य आकारो विशेषज्ञानं, स एव रसः अनन्तसौख्योत्पादनं; तत्र आकुलो व्यापृतः । आनप्राणवायुरहितत्वात् अजीवन् । न मृतः अमृतः, जीवंन्मुक्तत्वात् । न जागर्तीति अजाग्रत् योगनिद्रास्थितत्वात् । आत्मस्वरूपे सावधानत्वात् न मोहनिद्रां प्राप्तः । शून्यतया मनोवचनकायव्यापाररहितत्वात् ॥१२९॥

रहते हैं, उतने समय तक उनकी एकदण्डी संज्ञा रहती है (१९)। आप कर्म और आत्माका क्षीर-नीरके समान उत्कृष्ट विवेक करनेवाले हैं, अतः आपको परमहंस कहते हैं (२०)। आपके सर्व कर्मोंके आस्रवका सर्वथा निरोध हो गया है, अतः आप परमसंवर कहलाते हैं (२१)। आपने सर्व कर्मोंका अभाव कर सिद्धपद प्राप्त किया है, अतः आप नैःकर्म्यसिद्ध कहलाते हैं (२२)। आपके कर्मोंकी असंख्यातगुणश्रेणीरूप परम अर्थात् उत्कृष्ट निर्जरा पाई जाती है, इसलिए आप परमनिर्जर कहलाते हैं (२३)। आपके प्रज्वलत्प्रभावाला अर्थात् लोकालोकको प्रकाशित करनेवाला अतिशय प्रभावान् केवलज्ञानरूप तेज पाया जाता है, इसलिए आप प्रज्वलत्प्रभ कहलाते हैं (२४)। आपने विद्यमान अघातिया कर्मोंको मोघ अर्थात् निष्फल कर दिया है, इसलिए आपको मोघकर्मा कहते हैं (२५)। आपके कर्मोंके पाश अर्थात् बन्धन स्वयमेव ही प्रतिक्षण टूट रहे हैं, इसलिए आपको त्रुटत्कर्मपाश कहते हैं (२६)। शीलके अठारह हजार भेदोंको धारण करनेसे आप शैलेश्यलंकृत कहलाते हैं (२७)। आप एक आकाररूप अर्थात् निज शुद्धबुद्धैकस्वभावरूप ज्ञानामृतरसके आस्वादन करनेवाले हैं, अतः एकाकाररसास्वादी कहलाते हैं (२८)। विश्वाकार अर्थात् लोकालोकके आकार रूप जो विशिष्ट ज्ञानामृतरस है, उसके आस्वादनमें आप आकुल कहिए निरत हैं, अर्थात् निजानन्द रस लीन हैं अतएव आप विश्वाकाररसाकुल कहलाते हैं (२९)। आप जीवित रहते हुए भी श्वासोच्छ्वास नहीं लेते हैं अर्थात् आनापानवायुसे रहित हैं, इसलिए अजीवन् कहलाते हैं (३०)। आप मरणसे रहित हैं, अर्थात् जीवन्मुक्त हैं, अतः अमृत कहलाते हैं (३१)। आप योगनिद्रामें अवस्थित हैं अतः अजाग्रत कहलाते हैं (३२)। आप आत्मस्वरूपमें सावधान हैं, मोहनिद्रासे रहित हैं, अतः असुप्त कहलाते हैं (३३)। आप शून्यरूप हैं, अर्थात् मन, वचन, कायके व्यापारसे रहित हैं, अतएव शून्यतामय कहलाते हैं (३४)।

अर्थ—हे जागरूक, आप प्रेयान् हैं, अयोगी हैं, चतुरशीतिलक्षगुण हैं, सगुण हैं, निःपीता-नंतपर्याय हैं, अविद्यासंस्कारनाशक हैं, वृद्ध हैं, निर्वचनीय हैं, अणु हैं, अणीयान् हैं, अनणुप्रिय हैं, प्रेष्ठ हैं, स्थेयान् हैं, स्थिर हैं, निष्ठ हैं, श्रेष्ठ हैं, ज्येष्ठ हैं, सुनिष्ठित हैं, भूतार्थशूर हैं, भूतार्थदूर हैं, परमनिर्गुण हैं, व्यवहारसुषुप्त हैं, अतिजागरूक हैं और अतिसुस्थित हैं ॥१३०-१३२॥

अतिशयेन प्रियः (प्रेयान्) । न विद्यन्ते योगा मनोवाक्कायव्यापारा यस्येति । चतुरशीतिलक्षा गुणा यस्येति । न विद्यन्ते गुणा रागादयो यस्य सोऽगुणः । निःपीताः अविवक्षिताः केवलज्ञानमध्ये प्रवेशिताः अनन्ताः सर्वद्रव्याणां पर्याया येन स तथोक्तः । अविद्या अज्ञानं तस्याः संस्कार आसंसारमभ्यासोऽनुभवनं तस्य नाशकः मूलादुन्मूलकः, निर्मूलकापं कषकः ॥१३०॥ वर्धते स्म वृद्धः, केवलज्ञानेन लोकालोकं व्याप्नोति स्मेति समुद्घातापेक्षया लोकप्रमाणो वा वृद्धः । निर्वक्तुं निरुक्तिमानेतुं शक्यो निर्वचनीयः । अथवा निर्गतं वचनीयमपकीर्त्तिर्यस्य यस्माद्वा । 'अण रण वण भण मण कण क्वण ध्वन शब्दे', अणति शब्दं करोति अणुः । 'पद्यसिवसिहनिमनित्रपिहृंदिकंदिवंधिवहयाणिम्यश्च उप्रत्ययः' अणुरिति जातम् । अणोरप्यतिसूक्ष्मः अणीयान् । न अणवः, न अल्पो अनणवो महान्तः इन्द्र-मुनीन्द्र-चन्द्रादयः, तेषां प्रियः अतीवाभीष्टः । अतिशयेन इन्द्र-धरणेन्द्र-मुनीन्द्र-चन्द्रादीनां प्रियः प्रेष्ठः । अतिशयेन स्थिरः ।

व्याख्या—हे सर्व हितंकर, आप जगत्को अतिशय प्रिय हैं, अतः प्रेयान् कहलाते हैं (३५)। आप योग-रहित हैं, अतः अयोगी हैं (३६)। आपके चौरासी लाख उत्तर गुण पाये जाते हैं[1], अतः योगिजन आपको चतुरशीतिलक्षगुण नामसे पुकारते हैं (३७)। राग, द्वेष आदि वैभाविक गुणोंके अभावसे आपको अगुण कहते हैं (३८)। सर्व द्रव्योंकी अविवक्षित अनन्त पर्यायोंको आपने अच्छी तरह पी लिया है, अर्थात् केवलज्ञानके द्वारा जान लिया है, उन्हें आत्मसात् कर लिया है, अतः आपको निःपीतानन्तपर्याय कहते हैं (३९)। अविद्या अर्थात् अनादि-कालीन अज्ञानके संस्कारका आपने सर्वथा विनाश कर दिया है, अतः आपको अविद्यासंस्कारनाशक कहते हैं। अथवा आपने अविद्याको अपने विशिष्ट संस्कारोंसे नाश कर दिया है (४०)। आप सदा वृद्धिको प्राप्त होते रहते हैं, अथवा लोकपूरण-समुद्घातकी अपेक्षा सबसे बड़े हैं, अथवा केवल-ज्ञानकी अपेक्षा लोकालोकमें व्याप्त हैं, अतः वृद्ध कहलाते हैं (४१)। आप निरुक्तिके द्वारा वचनीय अर्थात् कहनेके योग्य हैं, अथवा वचनीय अर्थात् निन्दा-अपवादसे रहित हैं, अतः निर्वचनीय कहलाते हैं (४२) 'अणिति, शब्दं करोतीत्यणुः' अर्थात् जो शब्द करे उसे अणु कहते हैं। अर्हन्त अवस्थामें आपकी दिव्यध्वनि खिरती है, अतः आप भी अणु कहलाते हैं। अथवा पुद्गलके सबसे छोटे अविभागी अंशको अणु कहते हैं। वह अतिसूक्ष्म होनेसे इन्द्रियोंके अगोचर रहता है। आप योगियोंके भी अगम्य हैं, अतः अणुसदृश होनेसे अणु कहलाते हैं (४३)। आप अणुसे भी अत्यन्त सूक्ष्म हैं, इसलिए अणीयान् कहलाते हैं। अणु यद्यपि सूक्ष्म है, इन्द्रियोंके अगोचर है, तथापि वह मूर्त्त होनेसे अवधि-मनःपर्ययज्ञानियोंके दृष्टि-गोचर हो जाता है। पर आप अवधि-मनःपर्ययज्ञानी महायोगियोंके भी अगोचर हैं, क्योंकि अमूर्त्त हैं, अतः अतिसूक्ष्म होनेसे आपको अणीयान् कहते हैं (४४)। अणुता अर्थात् क्षुद्रतासे रहित महान् पुरुषोंको अनणु कहते हैं। आप इन्द्र, नागेन्द्र, मुनीन्द्रादि महापुरुषोंके प्रिय हैं, अभीष्ट वल्लभ हैं, अतः अनणुप्रिय कहलाते हैं। अथवा शरीर-स्थितिके लिए स्वभावतः आनेवाले नोआहारवर्गणाके परमाणु भी आपको अभीष्ट नहीं हैं, क्योंकि योगनिरोध करनेपर आप उन्हें भी ग्रहण नहीं करते हैं, इसलिए भी अनणुप्रिय कहलाते हैं (४५)। आप सर्व जगत्को अत्यन्त प्रिय हैं, अतः प्रेष्ठ कहलाते हैं (४६)। योग निरोध करने पर अर्थात् अयोगिकेवली गुणस्थानके प्राप्त हो जानेपर आप प्रदेश-परिस्पन्दसे रहित निश्चल रहते हैं, अतः एकरूपसे स्थिर रहनेके कारण आप स्थिर कहलाते हैं[2] (४७)। अत्यन्त स्थिरको स्थेयान् कहते हैं। आप सुमेरुके समान अचल हैं, अतः स्थेयान् कहलाते हैं (४८)। आप अपने ध्येयमें अत्यन्त दृढ़ता-पूर्वक स्थिर हैं अतः निष्ठ कहलाते हैं (४९)। अत्यन्त प्रशंसाके योग्य होनेसे आपको श्रेष्ठ कहते हैं (५०)। ज्ञानकी अपेक्षा अत्यन्त वृद्ध होनेसे आप ज्येष्ठ

१ विशेषके लिए प्रस्तावना देखिये। २ अर्थकी सुविधाके लिए स्थेयान्से पहले स्थिरको रखा है।

उदितोदितमाहात्म्यो निरुपाधिरकृत्रिमः । अमेयमहिमाऽत्यन्तशुद्धः सिद्धिस्वयंवरः ॥१३३॥
सिद्धानुजः सिद्धपुरीपान्थः सिद्धगणातिथिः । सिद्धसंगोन्मुखः सिद्धालिंग्यः सिद्धोपगूहकः ॥१३४॥
पुष्टोऽष्टादशसहस्रशीलाश्वः पुण्यशंबलः । वृत्ताग्र्युग्यः परमशुक्ललेश्योऽपचारकृत् ॥१३५॥

योगनिरोधे सति उद्भासनेन पद्मासनेन वा तिष्ठति निश्चलो भवतीति स्थिरः । अतिशयेन प्रशस्यः, अतिशयेन वृद्धः, प्रशस्यो वा ज्येष्ठः । सुष्ठु शोभनं यथा भवति तथा न्यतिशयेन स्थितः सुनिष्ठितः । ध्यति-स्यति-मास्था-न्यगुणे इत्वं । अथवा शोभना निष्ठा योगनिरोधः संजातो यस्येति सुनिष्ठितः । तारकितादिदर्शनात् संजातेऽर्थे इतच्प्रत्ययः ॥१३१॥ भूतार्थेन परमार्थेन सत्यार्थेन शूरो भूतार्थशूरः, पापकर्मसेनाविध्वंसनसमर्थत्वात् । अथवा भूतानां प्राणिनां अर्थे प्रयोजने स्वर्ग-मोक्षसाधने शूरः सुभटः । अथवा भूतः प्राप्तः अर्थः आत्म-पदार्थो येन स भूतार्थः, मुक्तार्थस्तत्र शूरः । अकातरः । भूतार्थ. सत्यार्थो दूरः केवलज्ञानं विना अगम्यत्वात् विप्रकृष्ट. । अथवा भूता अतीता ये अर्थाः पंचेन्द्रियविषयाः भुक्तमुक्तास्तेभ्यो दूरो विप्रकृष्टः सर्वेन्द्रियविषया-णामनिकट इत्यर्थः । निर्गताः गुणा राग-द्वेप-मोहादयोऽशुद्धगुणा यस्मादिति निर्गुणः, परम उत्कृष्टो निर्गुणः परमनिर्गुणः । व्यवहारे विहार-कर्मणि धर्मोपदेशादिके च सुष्ठु अतिशयेन गुप्तो निश्चिन्तः अव्यापृतः । जागर्तीत्येवंशीलः जागरूकः, आत्मस्वरूपे सदा सावधानः । अतिशयेन जागरूकः अतिजागरूकः । अतिशयेन सुस्थितः सुखीभूतः ॥१३२॥

उदितादप्युदितं परमप्रकर्षमागतं माहात्म्यं प्रभावो यस्य स तथोक्तः । निर्गता उपाधिर्धर्मचिन्ता

कहलाते हैं (५१) । आप अच्छी तरहसे आत्मामें स्थित हैं, अतः सुनिष्ठित कहलाते हैं (५२) । भूतार्थ अर्थात् परमार्थसे आप शूर-वीर हैं, क्योंकि कर्मोंकी सेनाका आपने विध्वंस किया है, इसलिए भूतार्थशूर कहलाते हैं । अथवा भूत अर्थात् प्राणियोंके अर्थ कहिए प्रयोजन या अभीष्टको पूर्ण करने में आप शूर हैं, सुभट हैं । अथवा भूतार्थ अर्थात् सत्यार्थमें आप शूर हैं । अथवा आत्मस्वरूपकी प्राप्तिरूप प्रयोजन आपका पूर्ण हो गया है, ऐसे शूर होनेसे भी आपको भूतार्थशूर कहते हैं (५३) । भूतकालमें भोगकर छोड़े हुए पंचेन्द्रियोंके विपयोंको भूतार्थ कहते हैं, आप उनसे दूर हैं, अर्थात् सर्वथा रहित हैं, अतः भूतार्थदूर कहलाते हैं । अथवा भूत कहिए प्राणियोंके प्रयोजनभूत अर्थोंसे आप अत्यन्त दूर हैं । अथवा भूत-पिशाचोंके समान संबोधित किये जाने पर भी जो प्रबोधको प्राप्त नहीं होते हैं, ऐसे अभव्य जीवोंको भूत कहते हैं उनके प्रयोजनभूत अर्थसे आप अत्यन्त दूर हैं, अर्थात् उन्हें सम्बोधनेमें असमर्थ हैं, इसलिए भी भूतार्थदूर कहलाते हैं । अथवा सत्यार्थका ज्ञान केवलज्ञानके विना दूर अर्थात् असम्भव है ऐसा आपने प्रतिपादन किया है (५४) । राग, द्वेप आदि वैभाविकगुणोंके अत्यन्त अभाव हो जानेसे आप परमनिर्गुण कहलाते हैं । अथवा 'परं+अनिर्गुण' ऐसी सन्धिके अनुसार यह भी अर्थ निकलता है कि आप निश्चयसे गुण-रहित नहीं हैं, किन्तु अनन्त गुणोंके पुञ्ज हैं (५५) । आप व्यवहार अर्थात् संसारके कार्योंमें अत्यन्त मौन धारण करते हैं, या उनसे रहित हैं, अतएव व्यवहारसुगुप्त कहलाते हैं (५६) । अपने आत्मस्वरूपमें आप सदा अतिशय करके जाग्रत अर्थात् सावधान रहते हैं, इसलिए अतिजागरूक कहलाते हैं (५७) । आप अपने आपमें अत्यन्त सुखसे स्थित हैं, अतः अतिसुस्थित कहलाते हैं (५८) ।

अर्थ—हे अचिन्त्यमाहात्म्य, आप उदितोदितमाहात्म्य हैं, निरुपाधि हैं, अकृत्रिम हैं, अमेय-महिमा हैं, अत्यन्तशुद्ध हैं, सिद्धिस्वयंवर हैं, सिद्धानुज हैं, सिद्धपुरीपान्थ हैं, सिद्धगणातिथि हैं, सिद्धसंगोन्मुख हैं, सिद्धालिंग्य हैं, सिद्धोपगूहक हैं, पुष्ट हैं, अष्टादशसहस्रशीलाश्व हैं, पुण्यशंबल हैं, वृत्ताग्र्युग्य हैं, परमशुक्ललेश्य हैं और अपचारकृत् हैं ॥१३३–१३५॥

व्याख्या—आपका माहात्म्य उत्तरोत्तर उदयशील है, परम प्रकर्षको प्राप्त है इसलिए आपको उदितोदितमाहात्म्य कहते हैं (५९) । आप सर्व परिग्रहरूप उपाधियोंसे रहित हैं, अतः

धर्मोपदेशविहारकर्मादिको यस्येति। अथवा निर्गत उप समीपात् आधिर्मानसी पीडा यस्येति निरुपाधिः, जन्म-जरा-मरण-व्याधित्रयरहितत्वात् निश्चिन्त इत्यर्थः। अथवा निश्चित उपाधिरात्मधर्मस्यात्मस्वरूपस्य चिन्ता परमशुक्लध्यानं यस्येति। अकरणेन अविधानेन धर्मोपदेशादेरकृत्रिमः। ड्डुनु बन्धात्त्रिमक्। महतो भावो महिमा। पृथ्वादिभ्य इमन्। वा अमेयोऽमर्यादीभूतो लोकालोकव्यापी महिमा केवलज्ञान-व्याप्तिर्यस्यासावमेयमहिमा। अत्यन्तमतिशयेन शुद्धः कर्ममलकलंकरहितः अत्यन्तशुद्धः, रागद्वेषमोहादिरहितो वा, द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्मरहितो वा, सन्निकटतरसिद्धपर्यायत्वात्। सिद्धेरात्मोपलब्धेः कन्यायाः स्वयंवरः परिणेता ॥१३३॥ सिद्धानां मुक्तात्मनामनुजो लघुभ्राता, पश्चाज्जातत्वात्। सिद्धानां मुक्तात्मनां पुरी नगरी मुक्तिः ईषत्प्राग्भारसंज्ञं पत्तनं, तस्याः पान्थः पथिकः। सिद्धानां मुक्तजीवानां गणः समूहः, अनन्तसिद्धसमुदायः सिद्धगणः, तस्य अतिथिः प्राघूर्णकः। सिद्धानां भवविच्युतानां संगो मेलस्तं प्रति उन्मुखो बद्धोत्कंठः। सिद्धैः कर्मविच्युतैः सत्पुरुषैः महापुरुषैरालिंगितुं योग्यः आश्लेषोचितः सिद्धालिंग्यः। सिद्धानां मुक्तिवल्लभानामुपगूहकः आलिंगनदायकः अंकपालीविधायकः ॥१३४॥ पुष्णाति स्म पुष्टः पूर्वसिद्धसमानज्ञानदर्शनसुखवीर्याद्यनन्तगुणैः सबलः। अश्नुवते क्षणेन अभीष्टस्थानं प्राप्नुवन्ति जातिशुद्धत्वात् स्वस्वामिनमभिमतस्थानं नयन्तीति अश्वाः, अष्टभिरधिका (दश) अष्टादश, अष्टादश च तानि सहस्राणि अष्टादशसहस्राणि। अष्टादशसहस्राणि च तानि शीलानि अष्टादशसहस्रशीलानि, तान्येव अश्वा वाजिनो यस्य सोऽष्टादशसहस्रशीलाश्वः। पुण्यं सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्रलक्षणं शंबलं पथ्योऽदनं यस्य स भवति पुण्यशंबलः। वृत्तं चारित्रं अग्रं मुख्यं युग्यं वाहनं यस्येति। कषायानुरंजिता योगवृत्तिर्लेश्योच्यते, जीवं हि कर्मणा लिम्पतीति लेश्या। कृत्यल्युटोऽन्यत्रापि चेति सूत्रेण कर्तरि घ्यण्, नामिनश्चोपधाया लघोरिति गुणः, पृषोदरादित्वात् पकारस्य शकारः, स्त्रियामादा। परमशुक्ला लेश्या यस्य स तथोक्तः। अपचरणम-

---

निरुपाधि कहलाते हैं। अथवा मानसिक पीड़ाको उपाधि कहते हैं, आप उससे सर्वथा रहित हैं। अथवा धर्मोपदेश, विहार आदि कार्योंको भी उपाधि कहते हैं। योग-निरोध कर लेने पर आप उनसे भी रहित हो जाते हैं। अथवा आत्मस्वरूपके चिन्तन करनेवाले परमशुक्लध्यानको उपाधि कहते हैं। वह आपके निश्चित है, इससे भी आप निरुपाधि नामको सार्थक करते हैं (६०)। आप अपने स्वाभाविक रूपको प्राप्त हैं, अतः अकृत्रिम कहलाते हैं। अथवा योगनिरोधके पश्चात् धर्मोपदेशादिको नहीं करनेसे भी आप अकृत्रिम कहलाते हैं (६१)। अमेय अर्थात् अमर्यादीभूत लोकालोकव्यापी महिमाके धारण करनेसे आप अमेयमहिमा कहलाते हैं (६२)। आप राग, द्वेष, मोहादिरूप भावमलसे, अष्टकर्मरूप द्रव्यमलसे और शरीररूप नोकर्ममलसे सर्वथा रहित हैं, अतः अत्यन्तशुद्ध कहलाते हैं (६३)। आत्मस्वरूपकी उपलब्धिरूप सिद्धिके आप स्वयंवर अर्थात् परिणेता हैं, अतः सिद्धिस्वयंवर नामसे प्रसिद्ध हैं (६४)। सिद्धोंके पश्चात् मुक्ति प्राप्त करनेसे आप सिद्धोंके लघुभ्राता हैं, अतः सिद्धानुज कहलाते हैं (६५)। ईषत्प्राग्भार नामक सिद्धपुरीके आप पथिक हैं, अतः सिद्धपुरीपान्थ कहलाते हैं (६६)। सिद्धसमुदायके आप अतिथि अर्थात् मेहमान या पाहुने हैं, अतः सिद्धगणातिथि कहलाते हैं (६७)। सिद्धोंके संगमके लिए आप उन्मुख अर्थात् उत्कण्ठित हैं, इसलिए सिद्धसंगोन्मुख कहलाते हैं (६८)। सिद्धोंके द्वारा आलिंगन या भेंट करनेके योग्य होनेसे आप सिद्धालिंग्य कहलाते हैं (६९)। सिद्धोंके उपगूहक अर्थात् आलिंगन-दायक या अंकपाली-विधायक होनेसे आप सिद्धोपगूहक कहलाते हैं (७०)। सिद्धोंके समान अनन्त ज्ञानादिगुणोंसे पुष्टिको प्राप्त होनेके कारण आप पुष्ट कहलाते हैं (७१)। अठारह हजार शीलके भेदरूप अश्वोंके स्वामी होनेसे आप अष्टादशसहस्रशीलाश्व कहलाते हैं। जिस प्रकार उत्तम अश्व मनुष्यको क्षणभरमें अभीष्ट स्थानपर पहुँचा देता है, उसी प्रकारसे आपको अपने अभीष्ट सिद्धिरूप शिवपुरीको पहुँचानेवाले शीलके अठारह हजार भेद प्राप्त हैं (७२)। आपके पुण्यरूप शंबल अर्थात् पाथेय या मार्गका भोजन पाया जाता है, अतः आप पुण्यशंबल कहलाते

क्षेपिष्ठोऽन्त्यक्षणसखा पंचलघ्वक्षरस्थितिः । द्वासप्ततिप्रकृत्यासी त्रयोदशकलिप्रणुत् ॥१२६॥
अवेदोऽयाजकोऽयज्योऽयाज्योऽनग्निपरिग्रहः । अनग्निहोत्री परमनिस्पृहोऽत्यन्तनिर्दयः ॥१२७॥
अशिष्योऽशासकोऽदीक्ष्योऽदीक्षकोऽदीक्षितोऽक्षयः । अगम्योऽगमकोऽरम्योऽरमको ज्ञाननिर्भरः ॥१२८॥

पचारो मारणं कर्मशत्रूणामेवापचारो घातिकर्मणां विध्वंसनमित्यर्थः । अपचारं घातिसंघातघातनं पूर्वमेव कृतवान् भगवानित्यर्थः । अथवा अपचारं मारणं कृंतति उच्छेदयतीति अपचारकृत् ॥१२५॥

अतिशयेन क्षिप्रः शीघ्रतरः क्षेपिष्ठः, एकेन क्षणेन त्रैलोक्यशिखरगामित्वात् । अन्त्यक्षणस्य सखा अन्त्यक्षणसखा, संसारस्य पश्चिमः समयः, तेन सह गामुको मित्रमित्यर्थः । अथवा अन्त्यक्षणस्य पंचमकल्याणस्य सखा मित्रम् । अथवा अन्त्यक्षणसख इति पाठे अन्त्यक्षणः सखा मित्रं यस्येति । पंच च तानि लघ्वक्षराणि च पंचलघ्वक्षराणि, अ इ उ ऋ ऌ इत्येवंरूपाणि, क च ट त प रूपाणि वा, क ख ग घ ङ इत्यादि रूपाणि वा । यावत्कालपंचलघ्वक्षराण्युच्चार्यन्ते तावत्कालपर्यन्तं चतुर्दशे गुणस्थाने अयोगिकेवल्यपरनाम्नि स्थितिर्यस्येति । पंचानामक्षराणां मध्ये यः पूर्वः समयः स समयो द्विचरमसमयः कथ्यते, उपान्त्यसमयश्चाभिधीयते । तस्मिन्नुपान्त्यसमये द्विसप्ततिप्रकृतीर्भगवान् क्षिपते द्विसप्ततिप्रकृतीरस्यति क्षिपते इत्येवंशीलः द्वासप्-

---

हैं (७३)। वृत्त अर्थात् सम्यक् चारित्र ही आपका मुख्य युग्य कहिए वाहन है, इसलिए आप वृत्ताग्रयुग्य कहलाते हैं (७४)। परमशुक्ल लेश्याके धारक होनेसे परमशुक्ललेश्य कहलाते हैं (७५)। आपने घातिया कर्मोंके अपचार अर्थात् मारणको किया है, इसलिए अपचारकृत् कहलाते हैं। जिस प्रकार शत्रु पर विजय पानेका इच्छुक कोई मनुष्य, मारण उच्चाटन, विप-प्रयोग आदिके द्वारा शत्रुका विनाश करता है, उसी प्रकार आपने भी ध्यान और मंत्र रूप विप-प्रयोगके द्वारा कर्मोंका मारण, उचाटन आदि किया है। अथवा आप अपचार अर्थात् मारणको 'कृन्तति' कहिए उच्छेदन करते हैं, अर्थात् हिंसा-विधान करनेवाले मतोंका निराकरण करते हैं, इसलिए भी अपचारकृत् कहलाते हैं (७६)।

अर्थ—हे क्षेमंकर, आप क्षेपिष्ठ हैं, अन्त्यक्षणसखा हैं, पंचलघ्वक्षरस्थिति हैं, द्वासप्ततिप्रकृत्यासी हैं, त्रयोदशकलिप्रणुत् हैं, अयाजक हैं, अयज्य हैं, अयाज्य हैं, अनग्निपरिग्रह हैं, अनग्निहोत्री हैं, परमनिःस्पृह हैं, अत्यन्तनिर्दय हैं, अशिष्य हैं, अशासक हैं, अदीक्ष्य हैं, अदीक्षक हैं, अदीक्षित हैं, अक्षय हैं, अगम्य हैं, अगमक हैं, अरम्य हैं, अरमक हैं और ज्ञाननिर्भर हैं ॥१२६-१२८॥

व्याख्या—हे जगत्कल्याणकर, आप अत्यन्त शीघ्रगामी हैं, एक क्षणमें त्रैलोक्यके शिखर पर जा विराजते हैं, अतः क्षेपिष्ठ कहलाते हैं (७७)। आपके संसारवासका जो अन्तिम क्षण है, उसके आप सखा हैं, क्योंकि उसके साथ ही निर्वाणको गमन करते हैं। सहगामीको ही मित्र कहते हैं, अतः आप अन्त्यक्षणसखा कहलाते हैं। अथवा क्षण शब्द कल्याण-वाचक भी है। अन्तिम निर्वाणकल्याणके आप मित्र हैं, क्योंकि वही आपको मुक्ति-लाभ कराता है। अथवा अन्तिम क्षण ही आपका सखा है, क्योंकि उसके द्वारा ही आप अजर-अमर बनते हैं (७८)। अयोगिकेवली नामक चौदहवें गुणस्थानमें आपकी स्थिति अ, इ, उ, ऋ, ऌ, इन पाँच ह्रस्व अक्षरोंके उच्चारण-काल-प्रमाण रहती है, इसलिए आपको पंचलघ्वक्षरस्थिति कहते हैं (७९)। आप चौदहवें गुणस्थानके उपान्त्य या द्विचरम समयमें अघातिया कर्मोंकी बहत्तर प्रकृतियोंका नाश करते हैं, इसलिए आपको द्वासप्ततिप्रकृत्यासी कहते हैं। वे बहत्तर प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं—औदारिकादि पाँच शरीर, पाँच बन्धन, पाँच संघात, छह संस्थान, छह संहनन, आठ स्पर्श, पाँच रस, दो गन्ध, पाँच वर्ण, तीन आंगोपांग, ये ५० प्रकृतियाँ, तथा देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, प्रशस्तविहायोगति, अप्रशस्तविहायोगति, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दुःस्वर, दुर्भग, निर्माण, अयशःकीर्त्ति, अनादेय, प्रत्येकशरीर, अपर्याप्त, अगुरुलघु, उच्छ्वास,

तिप्रकृत्यासी । त्रयोदश कलीन् त्रयोदशकर्मप्रकृतीः नुदति क्षिपते त्रयोदशकलिप्रणुत् ॥१३६॥ न विद्यते वेदः स्त्रीपुंनपुंसकत्वं यस्येति अवेदः, लिंगत्रयरहित इत्यर्थः । न याजयति, निजां पूजां कारयति, अतिनिःस्पृहत्वात् । यष्टुं शक्यो यज्यः, न यज्यः अयज्यः । शकिसहिपवर्गान्ताच्च यप्रत्ययः । शकिग्रहणात् शक्यार्थो ग्राह्यः स्वामिनोऽलक्ष्यस्वरूपत्वात् केनापि यष्टुं न शक्यते, तेन अयज्य इत्युच्यते । इज्यते याज्यः, न यष्टुं शक्यते अयाज्यः । ऋवर्णव्यंजनांताद् घ्यण् । कर्मसमिधां भस्मीकरणेन अग्नेर्गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्निनामत्रय-वैश्वानरस्य न परिग्रहः स्वीकारो यस्य सोऽनग्निपरिग्रहः । अग्निहोत्रो विप्रव्रतं यज्ञविशेषः, अग्निहोत्रो विद्यते यस्य सोऽग्निहोत्री ब्राह्मणविशेषः । न अग्निहोत्री, अग्निं विनापि कर्मेन्धनदहनकारित्वात् । परम उत्कृष्टो निस्पृहः परमनिःस्पृहः । अथवा परा उत्कृष्टा केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयलक्षणोपलक्षिता मा लक्ष्मीर्यस्य स भवति परमः । परमश्चासौ निःस्पृहः परमनिःस्पृहः । अतिगतो विनष्टोऽन्तो विनाशो यस्येति अत्यन्तः । निश्चिता सगुण-निर्गुणप्राणिवर्गरक्षणलक्षणा दया करुणा यस्येति निर्दयः । अथवा अतिशयेन अन्ते अन्तके यमे निर्दयो

उपघात, परघात कोई एक वेदनीय कर्म और नीच गोत्र । इन बहत्तर प्रकृतियोंको अयोगिकेवली भगवान् चौदहवें गुणस्थानके द्विचरम समयमें सत्तासे व्युच्छिन्न करते हैं (८०) । वे ही अन्तिम समयमें मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, पंचेन्द्रियजाति, त्रस, वादर, पर्याप्त, सुभग आदेय, यशः-कीर्त्ति, तीर्थंकरप्रकृति, मनुष्यायु, उच्चगोत्र और कोई एक वेदनीयकर्म, इन तेरह कलि अर्थात् कर्मप्रकृतियोंको 'नुदति' कहिए क्षेपण करते हैं, सत्त्वसे व्युच्छिन्न करते हैं, इसलिए चरमसमयवर्ती अयोगिकेवली भगवान्को त्रयोदशकलिप्रणुत् कहते हैं (८१) । आप तीनों वेदोंसे रहित हैं, अतः अवेद या अपगतवेदी कहलाते हैं । अथवा आपने ऋग्वेदादिको प्रमाण नहीं माना है, इसलिए भी अवेद कहलाते हैं । अथवा 'अ' शब्द शिव, केशव, वायु, ब्रह्मा, चन्द्रमा, अग्नि और सूर्यका वाचक है। 'व' शब्द वरुणका वाचक है । आप इन सबके 'इय' अर्थात् पापको 'द्यति' कहिए खंडित करते हैं, इसलिए भी अवेद नामको सार्थक करते हैं (८२) । अतिनिःस्पृह होनेसे आप भक्तोंके द्वारा अपनी पूजाको नहीं कराते हैं, अतः अयाजक कहलाते हैं । अथवा अय नाम गतिका है । वह तीर्थ प्रवर्त्तनरूप गति तेरहवें गुणस्थानमें होती है । पर अयोगिकेवली भगवान् तो व्युपरतक्रियानिवर्त्ति शुक्लध्यानवाले हैं, अतः उनके योगनिरोधके साथ ही विहार धर्मोपदेश आदि सर्व क्रियाएं बन्द हो जाती हैं, इसलिए भगवान् अयके अजक अर्थात् गतिके निरोधक होनेसे अयाजक कहलाते हैं (८३) । आपका स्वरूप अलक्ष्य है, अतः किसीके द्वारा भी नहीं पूजे जा सकते, इसलिए आपको अयज्य कहते हैं (८४) । आप अतीन्द्रिय अमूर्त्तस्वरूप हैं, इन्द्रियोंके अगोचर हैं, इसलिए किसीके द्वारा द्रव्यपूजाके योग्य नहीं है, अतएव आपको अयाज्य कहते हैं (८५) । अग्नि तीन प्रकारकी होती है—गार्हपत्य, आहवनीय और दाक्षिणाग्नि । आपके इन तीनों ही प्रकारकी अग्नियों का परिग्रह नहीं है, अतः अनग्निपरिग्रह कहलाते हैं । अथवा स्त्रीके ग्रहणको भी परिग्रह कहते हैं । आप अग्नि और स्त्री दोनोंसे रहित हैं, इसलिए भी अनग्निपरिग्रह कहलाते हैं (८६) । अग्निके द्वारा यज्ञ करनेवाले ब्राह्मणको अग्निहोत्री कहते हैं, आप विना ही अग्निके कर्मरूप समिधाको भस्म करनेवाले हैं, अतः अनग्निहोत्री कहलाते हैं (८७) । आप संसारकी सर्व वस्तुओंकी इच्छासे सर्वथा रहित हैं, अतः परमनिःस्पृह कहलाते हैं । अथवा पर अर्थात् उत्कृष्ट मा कहिए लक्ष्मीके धारकको परम कहते हैं । आप समवसरणरूप उत्कृष्ट लक्ष्मीके धारण करने पर भी उससे सर्वथा निःस्पृह हैं, इसलिए भी आपको परमनिःस्पृह कहते हैं (८८) । आप परम दयालु होकरके अत्यन्त निर्दय हैं, यह परस्पर विरोधी कथन भी आपमें संभवता हैः—जिसके सभी छोटे बड़े प्राणियों पर भी दया निश्चितरूपसे पाई जाती है, उसे निर्दय कहते हैं और अन्त रहितको अत्यन्त कहते हैं । इस प्रकार

महायोगीश्वरो द्रव्यसिद्धोऽदेहोऽपुनर्भवः । ज्ञानैकचिज्जीवघनः सिद्धो लोकाग्रगामुकः ॥१३९॥

इत्यन्ताष्टकम् । एकमेकत्र १००८ ।

निःकरुणः । अथवा अत्यन्ता अतिशयेन विनाशं प्राप्ताः निर्दयाः अक्षरम्लेच्छादयो यस्मादिति । अथवा अतिशयेन अन्ते मोक्षगमनकाले निश्चिता दया स्व-परजीवरक्षणलक्षणा यस्येति ॥१३७॥ न केनापि शिष्यते अशिष्यः । अथवा मोक्षगमनकाले मुनिशिष्यसहस्रादिगणनैः वेष्टितोऽपि परमनिःस्पृहत्वात् निरीहत्वाच्च अशिष्यः । न शास्ति न शिष्यान् धर्मं ब्रूते अशासकः, योगनिरोधत्वात् । न केनापि दीक्ष्यते अदीक्ष्यः, स्वयंबुद्धत्वात् । न कमपि दीक्षते व्रतं ग्राहयति, साधुचरितार्थत्वात् । न केनापि व्रतं ग्राहितः, स्वयमेव स्वस्य गुरुत्वात् । नास्ति क्षयो विनाशो यस्य । अथवा न अक्षाणि इन्द्रियाणि याति प्राप्नोति अक्षयः । आतोऽनुपसर्गात्कः । न गन्तुं शक्यः अगम्यः । शकिसहिपवर्गान्ताच्च यप्रत्ययः । अविज्ञेयस्वरूप इत्यर्थः । न कमपि गच्छतीत्यगमकः, निजशुद्धात्मस्वरूपे स्थित इत्यर्थः । आत्मस्वरूपं विना (न) किमपि रम्यं मनोहरं वस्तु यस्येति । आत्मस्वरूपमन्तरेण न क्वापि रमते । ज्ञानेन केवलज्ञानेन निर्भरः परिपूर्णः आकण्ठममृतभृत-सुवर्णघटवदित्यर्थः ॥१३८॥

इत्यन्तःकृच्छतम् ॥१०॥

यह अर्थ हुआ कि आप अनन्त दयाके भंडार हैं । अथवा अन्त अर्थात् यमराजके ऊपर आप अत्यन्त निर्दय हैं, अर्थात् उसके अन्तक या विनाशक हैं, इसलिए भी आपका यह नाम सार्थक है । अथवा हिंसा करनेवाले निर्दयी पुरुषोंके आप अतिशय अन्तको करनेवाले अर्थात् उनके विनाशक हैं, क्योंकि उनके मतका खंडन करते हैं । अथवा अन्तमें अर्थात् मोक्ष-गमनके समय आपमें निश्चित रूपसे परिपूर्ण दया पाई जाती है, इसलिए भी आपको अत्यन्तनिर्दय कहते हैं, (८९) । आप किसीके भी शिष्य नहीं हैं, क्योंकि स्वयं ही प्रबोधको प्राप्त हुए हैं, अतः आपको अशिष्य कहते हैं । अथवा निर्वाण-गमनके समय आप गणधरादि समस्त शिष्य-परिवारसे रहित हो जाते हैं, इसलिए भी आप अशिष्य कहलाते हैं (९०) । योगनिरोधके पश्चात् आप शासन नहीं करते हैं, अर्थात् शिष्योंको उपदेश नहीं देते हैं, अतः अशासक कहलाते हैं (९१) । आप किसीके द्वारा भी दीक्षाको ग्रहण नहीं करते, क्योंकि स्वयंबुद्ध हैं, अतः अदीक्ष्य कहलाते हैं (९२) । आप कृत-कृत्य हो जानेसे किसीको दीक्षा भी नहीं देते हैं, इसलिए अदीक्षक कहलाते हैं (९३) । आप किसीसे भी दीक्षित नहीं हैं, स्वयं ही अपने आपके गुरु हैं, अतः अदीक्षित नामको चरितार्थ करते हैं (९४) । आपके आत्मस्वरूपका कभी क्षय नहीं होता, अतः अक्षय कहलाते हैं । अथवा आपका ज्ञान अक्ष कहिए इन्द्रियोंकी सहायताको प्राप्त नहीं करता है (९५) । आप बड़े-बड़े योगियोंके भी गम्य नहीं है, वे भी आपका स्वरूप नहीं जान पाते हैं, इसलिए आपको अगम्य कहते हैं (९६) । आप किसीके भी पास नहीं जाते हैं, किन्तु सदा अपने आत्मस्वरूपमें स्थित रहते हैं, इसलिए अगमक कहलाते हैं (९७) । आपके आत्मस्वरूपके सिवाय अन्य कोई भी वस्तु रम्य नहीं है, अतः आपको अरम्य कहते हैं (९८) । आप अपने शुद्ध-बुद्ध आत्मस्वरूपको छोड़कर अन्यत्र कहीं भी रमण नहीं करते, किन्तु स्व-रत रहते हैं, अतएव अरमक कहलाते हैं (९९) । आप ज्ञानसे भली-भांति परिपूर्ण हैं अर्थात् भरे हुए हैं, इसलिए ज्ञाननिर्भर कहलाते हैं (१००) ।

इस प्रकार दशम अन्तकृत्-शतक समाप्त हुआ ।

अर्थ—हे भगवन्, आप महायोगीश्वर हैं, द्रव्यसिद्ध हैं, अदेह हैं, अपुनर्भव हैं, ज्ञानैकचित् हैं, जीवघन हैं सिद्ध हैं, और लोकाग्रगामुक हैं ॥१३९॥

इदमष्टोत्तरं नाम्नां सहस्रं भक्तितोऽर्हताम् । योऽनन्तानामधीतेऽसौ मुक्त्यन्तां भुक्तिमश्नुते ॥१४०॥
इदं लोकोत्तमं पुंसामिदं शरणमुल्बणम् । इदं मंगलमग्रीयमिदं परमपावनम् ॥१४१॥
इदमेव परमतीर्थमिदमेवेष्टसाधनम् । इदमेवाखिलक्लेशसंक्लेशक्षयकारणम् ॥१४२॥
एतेषामेकमप्यर्हन्नाम्नामुच्चारयन्नघैः । मुच्यते किं पुनः सर्वाण्यर्थज्ञस्तु जिनायते ॥१४३॥

महायोगिनां गणधरदेवानामीश्वरः स्वामी । द्रव्यरूपेण सिद्धो द्रव्यसिद्धः साक्षात्सिद्ध इत्यर्थः । न विद्यते देहः शरीरं यस्येति अदेहः, परमौदारिकतैजसकार्मणशरीरत्रयरहित इत्यर्थः । न पुनः संसारे भवतीति । अथवा न विद्यते पुनर्भवः संसारो यस्येति । अथवा न पुनः भवो रुद्रो उपलक्षणात् ब्रह्माविष्ण्वादिको देवः संसारेऽस्ति, अयमेव श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञ एव देव इत्यर्थः । ज्ञानमेव केवलज्ञानमेव एका अद्वितीया चित् चेतना यस्येति ज्ञानैकचित् । जीवेन आत्मना निर्वृतो निष्पन्नो जीवघनः जीवमय इत्यर्थः । सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः संजाता यस्येति । लोकस्य त्रैलोक्यस्य अग्रे शिखरे तनुवातवातवलये मुक्तिशिलाया उपरि मनागूनैकगव्यूतिप्रदेशे गच्छतीत्येवंशीलः ॥१३९॥

इत्यन्ताष्टकम् ।

(इदं) प्रत्यक्षीभूतं अनन्तानां अतीतानागतवर्त्तमानकालापेक्षया अनन्तसंख्यानां अर्हतां श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञानां अष्टोत्तरं अष्टाधिकं सहस्रं दशशतप्रमाणं यः पुमान् आसन्नभव्यजीवः भक्तितः परमधर्मानुरागेण विनयतः अधीते पठति असौ भव्यजीवः, मुक्तिरन्ते यस्याः सा मुक्त्यन्ता, तां भुक्तिं अभ्युदयलक्ष्मीभोगं अश्नुते भुंक्ते, संसारे उत्तमदेवोत्तममनुष्यपदस्य अभ्युदयसौख्यं भुक्त्वा मोक्षसौख्यं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥१४०॥ इदं प्रत्यक्षीभूतं श्रीजिननामस्तवनं लोकोत्तमं अर्हल्लोकोत्तम-सिद्धलोकोत्तम-साधुलोकोत्तम-केवलिप्रज्ञप्तधर्मलोकोत्तमवत् । पुंसां भव्यजीवानां इदं शरणं अर्हच्छरण-सिद्धशरण-साधुशरण-केवलिप्रशस्तधर्मशरणवत् । कथम्भूतम् ? उल्बणं उद्रिक्तम् । इदं प्रत्यक्षीभूतं जिनसहस्रनामस्तवनं मङ्गलं मं मलं पापं अनन्तभवोपार्जितमशुभं कर्म गालयतीति । अथवा मगं सुखं अभ्युदय-निःश्रेयसलक्षणं लाति ददातीति । अर्हन्मङ्गल-सिद्धमङ्गल-साधुमङ्गल-केवलिप्रशस्तधर्ममङ्गलवत् । कथम्भूतं मङ्गलम् ? अग्रीयं अग्राय त्रैलोक्यशिखराय मोक्षाय हितं अग्रीयं

व्याख्या—आप गणधरदेवादि महायोगियोंके भी ईश्वर हैं, अतः महायोगीश्वर हैं (१)। आप द्रव्यरूपसे साक्षात् सिद्ध हो चुके हैं, इसलिए द्रव्यसिद्ध कहलाते हैं (२) । आप शरीरसे रहित हैं, अतः अदेह कहलाते हैं (३) । अब आप संसारमें कभी भी जन्म नहीं लेंगे, लौटकर नही आवेंगे, इसलिए आपको अपुनर्भव कहते हैं (४) । आपकी केवलज्ञानमय ही चेतना है, इसलिए ज्ञानैकचित् कहलाते हैं (५) । आप जीवरूपसे घन हैं, अर्थात् अपने आप निष्पन्न जीवमय हैं, इसके अतिरिक्त आपमें अन्यका संश्लेष भी नहीं है (६) । आपने स्वात्मोपलब्धिरूप सिद्धिको प्राप्त कर लिया है, अतः सिद्ध कहलाते हैं (७) । लोकके अग्र भागपर गमनशील होनेसे आप लोकाग्रगामुक कहलाते हैं (८) ।

इस प्रकार अन्तिम अष्ट नामोंके समूहरूप अष्टक समाप्त हुआ । उपर्युक्त दश शतकोंके साथ इस अष्टकको जोड़ देनेपर आपके १००८ नाम पूर्ण हो जाते हैं ।

अर्थ—जो आसन्न भव्य पुरुष भक्तिसे कालत्रयकी अपेक्षा अनन्त संख्यावाले अर्हन्तोंके इन एक हजार आठ नामोंको पढ़ता है, वह मुक्ति है अन्तमें जिसके ऐसी भुक्ति अर्थात् अभ्युदयलक्ष्मीको प्राप्त करता है अर्थात् स्वर्गादिकके सुख भोगकर अन्तमें निर्वाण-लाभ करता है । आपके सहस्रनामोंके स्तवनरूप यह जिनसहस्रनाम लोकमें उत्तम है और पुरुषोंको परम शरण है । यह मुख्य मंगल है और परम पावन हैं । यही परम तीर्थ है, यही इष्टका साधन है और यही सर्व क्लेश और संक्लेशोंके क्षयका कारण है । अर्हन्तभगवान्के इन सहस्रनामोंमेंसे एक भी नामको उच्चारण करनेवाला मनुष्य

मुख्यं मङ्गलमित्यर्थः । इदं प्रत्यक्षीभूतं जिनसहस्रनामस्तवनं परम पावनं परमपवित्रं तीर्थंकरपरमदेवपुङ्गवौ मनुष्यमात्रस्यापि स्थापकमित्यर्थः ॥ १४१ ॥ इदमेव जिनसहस्रनामस्तवनमेव परं उत्कृष्टं संसारसमुद्रतरणोपायभूतम् । इदमेव मनोऽभीष्टवस्तुदायकं अखिलानां शारीर-मानसागंतुकानां क्लेशानां दुःखानां संक्लेशानामार्त्त-रौद्रध्यानानां क्षयकारणं विध्वंसविधायको हेतुरित्यर्थः ॥१४२॥ पूर्वोक्तानां अष्टाधिकसहस्रसंख्यानां श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञतीर्थंकरपरमदेवानां मध्ये एकमपि नाम उच्चारयन् जिह्वाग्रे कुर्वन् पुमान् अनन्तजन्मोपार्जितपापैर्मुच्यते परिह्रियते परित्यज्यते । किं पुनः सर्वाणि, यः सर्वाणि अर्हन्नामानि अष्टाधिकैकसहस्रसंख्यानि उच्चारयति पठति भक्तिपूर्वकं यः स पुमान् पापैर्मुच्यते इति । किं पुनरुच्यते सर्वाणि नामान्युच्चारयन् पुमान् भव्यजीवोऽनन्तभवोपार्जितमहापातकैरपि मुच्यते एवात्र सन्देहो न कर्त्तव्यः । अष्टाधिकसहस्रनाम्नां यो विद्वज्जनशिरोरत्नं अर्थं जानाति अर्थज्ञः, स पुमान् जिन इवाचरति जिनायते, उपमानादाचारे, आध्यंताच्चेति सूत्रद्वयेन क्याद्यायिप्रत्यय आत्मनेपदं च सिद्धम्* ॥१४३॥

॥ इति जिनसहस्रनामस्तवनं समाप्तम् ॥

पापोंसे मुक्त हो जाता है, फिर जो सर्व नामों उच्चारण करेगा, उसका तो कहना ही क्या है। आपके इस सहस्रनामकी अधिक क्या प्रशंसाकी जाय, जो पुरुष इनके अर्थको जानता है, वह जिन भगवानके समान आचरण करता है अर्थात् सम्यग्दृष्टि गुणी पुरुषोंके द्वारा महान् सन्मान को प्राप्त होता है ॥१४०-१४३॥

व्याख्या—ग्रन्थकार जिनसहस्रनामके अध्ययन करनेका फल बतलाते हुए कहते हैं कि जो निकट भव्यजीव अर्हन्त भगवानके इन सहस्रनामोंको भक्ति पूर्वक पढ़ता है, वह स्वर्गलोक और मनुष्यलोकके उत्तमोत्तम भोगोंको भोगकर अन्तमें मोक्ष सुखको प्राप्त होता है। जिस प्रकार लोकमें अर्हन्त मंगल-स्वरूप हैं, सिद्ध मंगल-स्वरूप हैं, साधु मंगल-स्वरूप हैं और केवली भगवानके द्वारा प्रणीत धर्म मंगल-स्वरूप हैं, उसी प्रकार यह जिनसहस्रनामरूप स्तवन भी मंगल-स्वरूप है। तथा जैसे अर्हन्त भगवान् लोकमें उत्तम हैं, सिद्ध भगवान् लोकमें उत्तम हैं, साधु लोकमें उत्तम हैं, और केवल-प्रणीत धर्म लोकमें उत्तम है, उसी प्रकार यह जिनसहस्रनाम-स्तवन भी लोकमें उत्तम है। तथा जैसे अर्हन्त भगवान् शरण हैं, सिद्ध भगवान शरण हैं, साधु शरण हैं और केवलि-प्रणीत धर्म शरण है, उसी प्रकार यह जिनसहस्रनामस्तवन भी जीवोंको शरणभूत है। जैसे सम्मेदाचल, गिरनार आदि तीर्थ पतित-पावन हैं, उसी प्रकार यह जिनसहस्रनाम स्तवन भी परम तीर्थ है, सर्व मनोवांछित पदार्थोंका देनेवाला है, सभी प्रकारके शारीरिक, मानसिक, आगन्तुक दुःख और संक्लेशोंका नाशक है। जो पुरुष जिनभगवानके एक भी नामका उच्चारण करता है, वह भी पापोंसे मुक्त हो जाता है फिर जो भक्ति-पूर्वक सम्पूर्ण नामोंका उच्चारण करेगा, वह तो नियमसे ही पापोंसे मुक्त होगा। इस जिनसहस्रनामकी अधिक क्या प्रशंसा की जाय, इसके अर्थका जानकार व्यक्ति तो जिन भगवानके समान सन्मानको प्राप्त करता है, इसलिए भव्यजीवोंको चाहिए कि वे प्रतिदिन इसका भक्तिपूर्वक पाठ करें।

इस प्रकार जिनसहस्रनामस्तवन समाप्त हुआ।

अ प्रतिके अन्तमें इस प्रकारकी पुष्पिका पाई जाती है:—

*इत्याशाधरसूरिकृतं जिनसहस्रनामस्तवनं समाप्तम् । मुनि श्रीविनयचन्द्रेण लिखितम् । श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे भ० श्री ५ सकलकीर्त्ति, तत्पट्टे भ० श्री ५ भुवनकीर्त्ति, तत्पट्टे भ० श्री ५ ज्ञानभूषण तद्भ्रातृ-स्थविराचार्यगौरः श्री ५ रत्नकीर्त्ति, तच्छिष्यमुनिश्री विनयचन्द्रपठनार्थं । ग्रन्थाग्र ११४५ शुभं भवतु ।……… ……………पंचाचारादि व्रततपोव्यापनयमनियमेत्यादिअनन्तपापदोषप्रायश्चित्त निः……समस्तकर्मक्षयविनाशननिःशुद्धचिद्रूपप्राप्तिनिमित्तवेप्रवरेण मुनिविनयचन्द्रेण भावना भाविता ।

—:०:—

जिनसहस्रनाम

[श्रुतसागरी टीका]



ध्यात्वा विद्यानन्दं समन्तभद्रं मुनीन्द्रमर्हन्तम् ।
श्रीमत्सहस्रनाम्नां विवरणमावच्मि संसिद्ध्यै ॥

अथ श्रीमदाशाधरसूरिर्गृहस्थाचार्यवर्यो जिनयज्ञादिसकलशास्त्रप्रवीणस्तर्क-व्याकरण-छंदोऽलंकार-साहित्य-सिद्धान्त-स्वसमय-परसमयागमनिपुणबुद्धिः, संसारपारावारपतनभयभीतो निर्ग्रन्थलक्षणमोक्षमार्ग-श्रद्धालुः प्रज्ञापुञ्ज इतिविरुदावलीविराजमानः, जिनसहस्रनामस्तवनं [1]चिकीर्षुः 'प्रभो भवाङ्गभोगेषु' इत्यादिस्वाभिप्रायसंसूचनपरः श्लोकमिममाह । श्रीविद्यानन्दसूरीणां शिष्याः श्रीश्रुतसागरनामानस्तु[2] [3]तद्विवरणं कुर्वन्तीति ।

प्रभो भवाङ्गभोगेषु निर्विण्णो दुःखभीरुकः ।
एष विज्ञापयामि त्वां शरण्यं करुणार्णवम् ॥ १ ॥

हे प्रभो[4], त्रिभुवनैकनाथ, यः कोऽपि तीर्थंकरपरमदेवस्तस्येदं सम्बोधनम् । एष प्रत्यक्षीभूतोऽहं[5] आशाधरमहाकविः त्वां भवन्तं[6] विज्ञापयामि, विज्ञप्तिं करोमि । कथम्भूतोऽहम् ? भवाङ्गभोगेषु संसार-शरीर-भोगेषु निर्विण्णो निर्वेदं प्राप्तः । उक्तञ्च—

भवतणुभोयविरत्तमणु जो अप्पा झाएइ ।
तासु गुरुक्की वेल्लडी संसारिणि तुट्टेइ ॥

कस्मात्कारणान्निर्विण्ण इत्याह—दुःखभीरुको यस्मात् इति[7] अध्याहारः, सोपस्काराणि वाक्यानि[8] भवन्तीति वचनात् । भवत्यस्माद्विश्वमिति भवः, अच्पचादिभ्यश्च । अंगति कुटिलं गच्छति रोगादिपीडितं रागादिविकृतं [9]चेत्यङ्गम् । अत्रापि[10] अच् । भुज्यन्ते रागद्वेषमोहाद्याविष्टैः पुरुषैः स्त्रीभिश्चेति भोगाः । अकर्त्तरि च कारके संज्ञायां घञ् । भवश्च अङ्गञ्च भोगाश्च भवाङ्गभोगाः, इतरेतरयोगो द्वन्द्वः । तेषु भवाङ्ग-भोगेषु । निर्विण्णः, निरपूर्वो विद विचारणे क्ते सति दाहस्य च उभयोरपि नत्वं; निर्विण्न इत्यर्थः । भयेन चलितं इति यावत् । उक्तञ्च ।

वेत्तेर्विदितं वितेर्विन्नं वित्तं विद्यते विन्नम् ।
वित्तं धने प्रतीते च विन्दतेर्विन्नमन्यत्र ॥

अन्यत्र लाभार्थे इतिवचनात् विद ज्ञाने अदादौ, विद विचारणे रुधादौ, विद सत्तायां दिवादौ, विद्लृ लाभे तुदादौ, चतुर्ष्वादिषु मध्ये विद विचारणे इत्यस्य निर्विण्ण इति प्रयोगो ज्ञातव्यः, अन्येषामघटनात् । दुःखाद्भीरुकः दुःखभीरुकः । भियो रुग्लुकौ च । कथम्भूतं त्वाम् शरण्यम् । शृणाति भयमनेनेति शरणम्, करणाधिकरणयोश्च युट् । शरणाय हितः शरण्यः, तं शरण्यम् । यद्गुगवादितः । अर्तिमथनसमर्थः इत्यर्थः । भूयः कथम्भूतं त्वाम् ? करुणार्णवम् । क्रियते स्वर्गगामिभिः प्राणिवर्गेषु इति करुणा, ऋ कृ तॄ वृञ् यमिदार्यर्जिभ्य उन् । अर्णो जलं विद्यते यस्य सोऽर्णवः । अर्णसः सलोपश्च, अस्त्यर्थे वप्रत्ययः, करुणायाः अर्णवः करुणार्णवः, तं करुणार्णवं दयासमुद्रमिति यावत् ।

---

१ ज संचिकीर्षुः । २ ज श्रुतसागरसूरि० । ३ स० प्रे०—सहस्रनामस्तवन विवरणं । ४ ज हे त्रिभु० । ५ ज इमा० । ६ स भगवन्तं । ७ ज इत्यध्याहारः । ८ स० प्रे० सूत्राणि । ६ ज चेति अंगं । १० ज अत्राप्यच् ।

सुखलालसया मोहाद् भ्राम्यन् बहिरितस्ततः ।
सुखैकहेतोर्नामापि तव न ज्ञातवान् पुरा ॥ २ ॥

सुखयति आत्मनः प्रीतिमुत्पादयतीति सुखम् । अचि इन् लोपः । भृशं पुनःपुनर्वा लसनं लालसा । मुह्यत्यनेनेति मोहो अज्ञानम् । अकर्तरि च कारके संज्ञायां घञ् । भ्राम्यतीति भ्राम्यन्, वर्तमाने शन्तृङान-शावप्रथमैकाधिकरणामन्त्रितयोः शन्तृ । दिवादेर्यन्, शमादीनां दीर्घो यनि । बहिस् इतस् ततस् इमान्य-व्ययानि । हे भगवन्, सुखलालसया सुखस्य शर्मणः सद्वेद्यस्य सातस्य लालसया अत्याकाङ्क्षया । मोहाद् अज्ञानात् मिथ्यात्वकर्मोदयाच्च भ्राम्यन् पर्यटन् सन् बहिः कुदेवादौ प्रार्थयमानः इतस्ततः यत्र तत्र, तव सर्वज्ञवीतरागस्य नामापि अभिधानमात्रमपि पुरा पूर्वकाले अनादिकाले न ज्ञातवान् अहम् । कथंभूतस्य तव ? सुखैकहेतोः सुखस्य परमानन्दलक्षणस्य एकोऽद्वितीयो हेतुः कारणं सुखैकहेतुस्तस्य सुखैकहेतोः ।

अद्य मोहग्रहावेशशैथिल्यात् किञ्चिदुन्मुखः ।
अनन्तगुणमाप्तेभ्यस्त्वां श्रुत्वा स्तोतुमुद्यतः ॥ ३ ॥

हे स्वामिन्, अद्य अस्मिन् भवे मोहग्रहावेशशैथिल्यात् । मोहो अज्ञानं मिथ्यात्वमोहो वा, स एव ग्रहः पिशाचः, अथिल्यकारित्वात् मोहग्रहः, तस्य आवेशः प्रवेशः अयथार्थप्रवर्तनम्, तस्य शैथिल्यं उपशमः क्षयोपशमो वा, तस्मात् मोहग्रहावेशशैथिल्यात् । कियत्, शैथिल्यात् किञ्चित् ईषत् मनाक् । उन्मुखः बद्धोत्कण्ठः । कियत् उन्मुखः ? किञ्चित्-अल्पमात्रम् । त्वां भवन्तं स्तोतुं स्तुतिविषयीकर्तुं अहमुद्यतः उद्यम-परः सञ्जातः । किं कृत्वा ? पूर्वं त्वां श्रुत्वा भवन्तमाकर्ण्य । कीदृशं श्रुत्वा ? अनन्तगुणं अनन्तकेवलज्ञानं अनन्तकेवलदर्शनं अनन्तसुखमनन्तवीर्यं इत्याद्यनन्तगुणसंयुक्तम् । केभ्यः श्रुत्वा ? आप्तेभ्यः उदयसेन-मदनकीर्ति-महावीरनामादिगुरुभ्य आचार्येभ्यः सकाशात् ।

भक्त्या प्रोत्साह्यमाणोऽपि दूरं शक्त्या तिरस्कृतः ।
त्वां नामाष्टसहस्रेण स्तुत्वाऽऽत्मानं पुनाम्यहम् ॥४॥

हे त्रिभुवनैकनाथ, अहं आशाधरमहाकविः त्वां भवन्तं स्तुत्वा स्तुतिं नीत्वा आत्मानं निजजीवस्वरूपं पुनामि पवित्रयामि, अनन्तभवोपार्जित[1]बहुलनिकाचितदुरितमुक्तो भवामि । केन कृत्वा ? स्तुत्वा नामाष्ट-सहस्रेण अष्टभिरधिकं सहस्रं अष्टसहस्रं नाम्नां अष्टसहस्रं नामाष्टसहस्रम्, तेन नामाष्टसहस्रेण । कथम्भूतोऽहम् ? भक्त्या परमधर्मानुरागेण प्रोत्साह्यमाणः प्रकृष्टमुद्यमं [2]प्राप्यमाणः, त्वं जिनवरस्तवनं कुर्विति[3] प्रेर्यमाणः । अपरः कथम्भूतोऽहम्, दूरं अतिशयेन शक्त्या सामर्थ्येन तिरस्कृतः, त्वं जिनस्तवनं मा कार्षीरिति निषिद्धः । अत्रायं भावार्थः—भक्तिरपि स्त्री, शक्तिरपि स्त्री । तयोर्मध्ये एका[4] स्त्री प्रेरयति, अपरा मां निषेधयति । कस्या वचनं करोमि ? यद्येकस्या एव वाक्यं करोमि तदा अन्यतरा कुप्यति मह्यं इति विचार्य द्वयोरपि वाक्यं विदधामीति स्तोकां स्तुतिं नामाष्टसहस्रमात्रीं स्तुतिं करोमि । एवं सति भक्तिः सुप्रसन्ना भविष्यति । अधिकां स्तुतिं न करोमीति शक्तिरपि सुप्रसन्ना भविष्यति । स्त्रीषु अकुहनेन भवितव्यमिति वचनात् । स्त्री हि कुपिता प्राणनाशं करोति । तथा चोक्तं—

क्रुद्धाः प्राणहरा[5] भवन्ति भुजगा दष्ट्वैव काले क्वचि-
त्तेषामौषधयश्च[6] सन्ति बहवः सद्यो विषव्युच्छिदः ।
हन्युः स्त्रीभुजगाः [7]परेह च मुहुः क्रुद्धाः प्रसन्नास्तथा,
तस्माद् दृष्टिविषाहिवत्परिहर त्वं तद्दृशं[8] मा स्म गाः ॥

[1] द भवोपार्जितानि बहुलकाचित० । ज भवोपार्जितनिकाचित । [2] द प्राप्यमान; । [3] द कुर्वीति । [4] द 'एका' इति पाठो नास्ति । [5] ज हरी । [6] द मौषधयश्च । [7] स पुरेह० । [8] द तद्दिशो ।

जिन-सर्वज्ञ-यज्ञार्ह-तीर्थकृन्नाथयोगिनाम् ।
णि-ब्रह्म-बुद्धान्तकृतां चाष्टोत्तरैः शतैः ॥ ५ ॥

हे सकलविमलकेवलज्ञान, अहं [1]अष्टोत्तरैः शतैः स्तुत्वा आत्मानं पुनामीति क्रियाकारकसम्बन्धः। केषां शतैरित्याह—**जिनसर्वज्ञयज्ञार्हतीर्थकृन्नाथयोगिनाम्**, जिननामशतेन सर्वज्ञनामशतेन यज्ञार्हनाम-शतेन तीर्थकृन्नामशतेन नाथनामशतेन योगिनामशतेन। समासस्तु जिनश्च सर्वज्ञश्च यज्ञार्हश्च तीर्थकृच्च नाथश्च योगी च जिनसर्वज्ञयज्ञार्हतीर्थकृन्नाथयोगिनस्तेषां जिनसर्वज्ञयज्ञार्हतीर्थकृन्नाथयोगिनाम्। इति षट् शतानि। तथा **निर्वाणब्रह्मबुद्धान्तकृतां** निर्वाणश्च ब्रह्मा च बुद्धश्च अन्तकृच्च निर्वाणब्रह्मबुद्धान्तकृतः, तेषां इति चत्वारि शतानि (५)। तद्यथा, तदेव निरूपयति—

जिनो जिनेन्द्रो जिनराट् जिनप्रष्ठो जिनोत्तमः।
जिनाधिपो जिनाधीशो जिनस्वामी जिनेश्वरः ॥ ६ ॥

अनेक विषमभवगहनव्यसनप्रापणहेतून् कर्मारातीन् जयति क्षयं नयतीति **जिनः**। इणजिकृषिभ्यो नक् (१)। एकदेशेन समस्तभावेन वा कर्मारातीन् जितवन्तो जिनाः, सम्यग्दृष्टयः श्रावकाः प्रमत्तसंयताः अप्रमत्ताः अपूर्वकरणाः अनिवृत्तिकरणाः सूक्ष्मसाम्परायाः उपशान्तकषायाः क्षीणकषायाश्च जिनशब्दे-नोच्यन्ते। तेषामिन्द्रः स्वामी जिनेन्द्रः। अथवा जिनश्चासाविन्द्रो **जिनेन्द्रः** (२)। **जिनराट्** जिनेषु अर्हत्सु राजते जिनराट्, क्विपा[2] सिद्धः (३)। **जिनपृष्ठः**-जिनेषु प्रष्ठः प्रधानं जिनप्रष्ठः (४)। **जिनोत्तमः**-जिनेषु उत्तमो जिनोत्तमः (५)। **जिनाधिपः**-जिनानामधिपः स्वामी जिनाधिपः (६)। **जिनाधीशः**-जिनानामधीशः स्वामी जिनाधीशः (७)। जिनानां स्वामी **जिनस्वामी** (८)। जिनानामीश्वरः स्वामी **जिनेश्वरः** (९)।

जिननाथो जिनपतिर्जिनराजो जिनाधिराट्।
जिनप्रभुर्जिनविभुर्जिनभर्त्ता जिनाधिभूः ॥ ७ ॥

जिनानां नाथः स्वामी **जिननाथः** (१०)। जिनानां पतिः स्वामी **जिनपतिः** (११)। जिनानां राजा स्वामी **जिनराजः** (१२)। जिनानामधिराट् स्वामी **जिनाधिराट्** (१३)। जिनानां प्रभुः स्वामी **जिनप्रभुः** (१४)। जिनानां विभुः स्वामी **जिनविभुः** (१५)। जिनानां भर्त्ता स्वामी **जिनभर्त्ता** (१६)। जिनानामधिभूः स्वामी **जिनाधिभूः** (१७)।

जिननेता जिनेशानो जिनेनो जिननायकः।
जिनेट् जिनपरिवृढो जिनदेवो जिनेशिता ॥ ८ ॥

जिनानां नेता स्वामी **जिननेता** (१८)। जिनानामीशानः स्वामी **जिनेशानः** (१९)। जिनानामिनः स्वामी **जिनेनः** (२०)। जिनानां नायकः स्वामी **जिननायकः** (२१)। जिनानामीट् स्वामी **जिनेट्** (२२)। जिनानां परिवृढः स्वामी **जिनपरिवृढः**। परिवृढ-दृढौ प्रभुबलवतोः (२३)। जिनानां देवः स्वामी **जिनदेवः** (२४)। जिनानामीशिता स्वामी **जिनेशिता** (२५)।

जिनाधिराजो जिनपो जिनेशी जिनशासिता।
जिनाधिनाथोऽपि जिनाधिपतिर्जिनपा :॥ ९ ॥

जिनानामधिराजः स्वामी **जिनाधिराजः** (२६)। जिनान् पातीति **जिनपः**। आतोऽनुपसर्गात्कः (२७)। जिनेषु ईष्टे ऐश्वर्यवान् भवति इत्येवंशीलो **जिनेशी** (२८)। जिनानां शासिता रक्षकः **जिन-शासिता** (२९)। जिनानामधिको नाथः **जिनाधिनाथः** (३०)। जिनानामधिपतिः स्वामी **जिनाधि-पतिः** (३१)। जिनानां पालकः स्वामी **जिनपालकः** (३२)।

---

१ द अहं अष्टं। २ ज क्रिया०।

जिनचन्द्रो जिनादित्यो जिनार्को जिनकुञ्जरः ।
जिनेन्दुर्जिनधौरेयो जिनधुर्यो जिनोत्तरः ॥ १० ॥

जिनानां चन्द्रः आह्लादको **जिनचन्द्रः** (३३) । जिनानामादित्यः प्रकाशको **जिनादित्यः** (३४) । जिनानामर्कः प्रकाशकः **जिनार्कः** (३५) । जिनानां कुंजरः प्रधानः **जिनकुञ्जरः** (३६) । जिनानामिन्दुश्चन्द्रः **जिनेन्दुः** (३७) । जिनानां धुरि नियुक्तो **जिनधौरेयः** (३८) । जिनानां धुरि नियुक्तो **जिनधुर्यः** (३९) । जिनेषु उत्तरः उत्कृष्टः **जिनोत्तरः** (४०) ।

जिनवर्यो जिनवरो जिनसिंहो जिनोद्वहः ।
जिनर्षभो जिनवृषो जिनरत्नं जिनोरसम् ॥ ११ ॥

जिनेषु वर्यो मुख्यो **जिनवर्यः** (४१) । जिनेषु वरः श्रेष्ठः **जिनवरः** (४२) । जिनानां जिनेषु वा सिंहः मुख्यः **जिनसिंहः** (४३) । जिना उद्वहाः पुत्राः यस्य स **जिनोद्वहः**[1], जिनानुद्वहति ऊर्ध्वं नयतीति वा **जिनोद्वहः** (४४) । जिनेषु ऋषभः[2] श्रेष्ठो[3] **जिनर्षभः** (४५) । जिनेषु वृषः श्रेष्ठः **जिनवृषः** (४६) । जिनेषु रत्नं उत्तमः **जिनरत्नम्** (४७) । जिनानामुरः प्रधानो **जिनोरसम्** । उरः प्रधानार्थं राजादौ (४८) ।

जिनेशो जिनशार्दूलो जिनाग्र्यं जिनपुंगवः ।
जिनहंसो जिनोत्तंसो जिननागो जिनाग्रणीः ॥ १२ ॥

जिनानामीशः स्वामी **जिनेशः** (४९) । जिनानां शार्दूलः प्रधानः **जिनशार्दूलः** (५०) । जिनानां अग्र्यं प्रधानं **जिनाग्र्यम्** (५१) । जिनानां पुङ्गवः प्रधानः **जिनपुङ्गवः** (५२) । जिनानां हंसो भास्करः **जिनहंसः** (५३) । जिनानामुत्तंसः मुकुटः **जिनोत्तंसः** (५४) । जिनानां नागः प्रधानः **जिननागः** (५५) । जिनानामग्रणीः प्रधानः **जिनाग्रणीः** (५६) ।

जिनप्रवेकश्च जिनग्रामणीर्जिनसत्तमः ।
जिनप्रवर्हः परमजिनो जिनपुरोगमः ॥ १३ ॥

जिनानां प्रवेकः प्रधानः **जिनप्रवेकः** (५७) । जिनानां ग्रामणीः प्रधानः **जिनग्रामणीः** । अथवा जिनग्रामान् सिद्धसमूहान् नयतीति **जिनग्रामणीः** (५८) । जिनानां सत्तमः श्रेष्ठः प्रधानः **जिनसत्तमः** (५९) । जिनेषु प्रवर्हो मुख्यः **जिनप्रवर्हः** (६०) । परया उत्कृष्टया मया लक्ष्म्या अभ्युदय-निःश्रेयसलक्षणोपलक्षितया वर्तत इति परमः । परमश्चासौ जिनः **परमजिनः** (६१) । जिनानां पुरोगमः प्रधानः अग्रेसरः **जिन-पुरोगमः** (६२) ।

जिनश्रेष्ठो जिनज्येष्ठो जिनमुख्यो जिनाग्रिमः ।
श्रीजिनश्चोत्तमजिनो जिनवृन्दारकोऽरिजित् ॥ १४ ॥

जिनानां श्रेष्ठः प्रशस्यः **जिनश्रेष्ठः** (६३) । जिनानां ज्येष्ठः अतिशयेन वृद्धः प्रशस्यो वा **जिनज्येष्ठः** (६४) । जिनेषु मुख्यः प्रधानः **जिनमुख्यः** (६५) । जिनानामग्रिमः प्रधानः **जिनाग्रिमः** (६६) । श्रिया अभ्युदय-निःश्रेयसलक्षणया लक्ष्म्या उपलक्षितो जिनः **श्रीजिनः** (६७) । उत्तमः उत्कृष्टो जिनः **उत्तमजिनः** (६८) । जिनानां वृन्दारकः श्रेष्ठः जिनवृन्दारकः । जिनानां वृन्दारको देवता वा **जिन-वृन्दारकः** (६९) । अरिं मोहं जितवान् **अरिजित्** (७०) ।

निर्विघ्नो विरजाः शुद्धो निस्तमस्को निरञ्जनः ।
घातिकर्मान्तकः कर्ममर्मावित्कर्महानघः ॥ १५ ॥

निर्गतो विनष्टो विघ्नोऽन्तरायो यस्येति **निर्विघ्नः** (७१) । विगतं विनष्टं रजो ज्ञान-दर्शनावरणद्वयं यस्येति **विरजाः** (७२) । **शुद्धः**—कर्ममलकलंकरहितः (७३) । निर्गतं तमो अज्ञानं यस्येति **निस्तमस्कः**

१ द स जिनानुद्वहः । २ द वृषभः । ३ ज ज्येष्ठो ।

(७४)। निर्गतं अञ्जनं यस्येति **निरञ्जनः**, द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्मरहितः (७५)। घातिकर्मणां मोहनीय-ज्ञानावरण-दर्शनावरणान्तरायाणां अन्तको विनाशकः **घातिकर्मान्तकः** (७६)। कर्मणां मर्म जीवनस्थानं विध्यतीति **कर्ममर्माविद्**। न हि वृति वृषि व्यधिरुचिसहितानिपु क्विवन्तेपु प्रादिकारकाणामेव दीर्घः (७७)। कर्म हन्तीति **कर्महा** (७८)। अविद्यमानमघं पापचतुष्टयं यस्येति **अनघः** (७९)।

> **वीतरागोऽक्षुदद्वेषो निर्मोहो निर्मदोऽगदः।**
> **वितृष्णो निर्ममोऽसंगो निर्भयो वीतविस्मयः ॥१६॥**

वीतो विनष्टो रागो यस्येति **वीतरागः**। अजेर्वी। (८०)। अविद्यमाना क्षुद् बुभुक्षा यस्येति **अक्षुत्** (८१)। अविद्यमानो द्वेषो यस्येति **अद्वेषः** (८२)। निर्गतो मोहो अज्ञानं यस्मादिति **निर्मोहः** (८३)। निर्गतो मदोऽहंकारोऽष्टप्रकारो यस्मादिति **निर्मदः** (८४)। अविद्यमानो गदो रोगो यस्येत्यगदः। इत्यनेन ये केवलिनां रोगं कवलाहारं च कथयन्ति ये प्रत्युक्ताः निराकृताः (८५)। विगता विशेषेण विनष्टा तृष्णा विषयाभिकांक्षा अभिलाषो यस्य स भवति **वितृष्णः**। विशिष्टा वा तृष्णा मोक्षाभिलाषो यस्येति वितृष्णः। वीनां पक्षिणां निस्तारणे तृष्णा यस्येति वितृष्णः। तदुपलक्षणं अन्येषामपि कर्मबद्धानां पशूनां संसारिणां निस्तारकेच्छु इत्यर्थः। तथा सति अपायविचयसंज्ञकं धर्मध्यानं भवति भगवत[1] इत्यर्थः (८६)। निर्गतं ममेति मनो यस्येति **निर्ममः**। निश्चिता मा प्रमाणं यस्येति निर्माः, प्रत्यक्षपरोक्षप्रमाणावानित्यर्थः। निर्माः सन् पदार्थान् माति मिनोति मिमीते वा निर्ममः। आतोऽनुपसर्गात्कः (८७)। अविद्यमानः संगः परिग्रहो यस्येति **असंगः**। न सम्यक् गम्यते ध्यानं विना प्राप्यते असंगः। डोऽसंज्ञायामपि (८८)। निर्गतं भयं यस्य, भव्यानां वा यस्मादिति **निर्भयः**। अथवा निश्चिता मा दीप्तिर्यत्र तत् निर्भं केवलाख्यं ज्योतिः, तद्याति गच्छति प्राप्नोति निर्भयः। आतोऽनुपसर्गात्कः (८९)।

> इहपरलोयत्ताणं अगुत्ति-भय-मरण-वेदना[2] कस्सं।
> सत्तविहं भयमेयं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेण[3] ॥

वीतविस्मयः—वीतो विनष्टो विस्मयोऽद्भुतरसोऽष्टविधो मदो वा यस्येति वीतविस्मयः।

> ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः।
> अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥

अथवा वीतो विनष्टो वेर्गरुडस्य स्मयो गर्वो यस्मादिति वीतविस्मयः। भगवान् विषं कर्मविषं च विनाशयति यस्मादिति भावः (९०)।

> **अस्वप्नो निःश्रमोऽजन्मा निस्स्वेदो निर्जरोऽमरः।**
> **अरत्यतीतो निश्चिन्तो निर्विषादस्त्रिषष्टिजित् ॥१७॥**

अस्वप्नः—अविद्यमानः स्वप्नो निद्रा यस्येति अस्वप्नः, अप्रमत्त इत्यर्थः। अथवा असून् प्राणिनां प्राणान् अपोऽत्तिं जीवनं नयतीति परमकारुणिकत्वात् अस्वप्नः, अन्यत्रापि च डप्रत्ययः (९१)। **निःश्रमः**—निर्गतः श्रमः खेदो यस्येति निःश्रमः, निश्चितः श्रमो बाह्याभ्यन्तरलक्षणं तपो यस्येति निःश्रमः (९२)। **अजन्मा** न विद्यते जन्म गर्भवासो यस्येति अजन्मा (९३)। **निस्स्वेदः**-शिशुत्वेऽपि स्वेदरहितो निःस्वेदः। अथवा निःस्वानां दरिद्राणां इं कामं वांछितं अभीष्टं धनादिकं ददातीति निःस्वेदः।

१ सिद्धान्तदृष्टया विचिन्त्यमेतत्कथनमस्ति २ द वेयणा। ३ ज 'इह च परश्च इहपरौ तौ लोकौ च इहपरलोकौ। अत्ताणं अत्राणं अपालनं, अगुत्ति-अगुप्तिः प्राकाराद्यभावः। मरणं च मृत्युश्च। वेयणा वेदना पीडा। आकस्मिकं घनादिगर्जो-द्भवं, भयशब्दःप्रत्येकमभिसम्बन्धनीयः १ इहलोकभय २ परलोकभयं ३ अत्राणभयं ४ अगुप्तिभयं ५ मरणभयं ६ वेदनाभयं ७ आकस्मिकभयमित्यादि' इति पाठोऽधिकः।

वत्ताणुट्ठाणे जणुवणदाणे पई पोसिउ तुहुं खत्तधरु ।
तुव चरणविहाणे केवलणाणे तुहुं परमप्पउ परमपरु ॥

इत्यभिधानात् (९४) । निर्जरः—निर्गता जरा यस्मादिति निर्जरः (९५) । अमरः—न म्रियते अमरः (९६) । अरत्यतीतः—अरतिरचित्तता अतीतो रहितः अरत्यतीतः (९७) । निश्चिन्तः—निर्गता चिन्ता यस्मादिति निश्चिन्तः (९८) । निर्विषाद्—निर्गतो विषादः पश्चात्तापो यस्मादिति निर्विषादः । अथवा निर्विषं पापविषरहितं परमानन्दामृतं अत्ति आस्वादयति निर्विषादः (९९) । त्रिषष्टिजित्—त्रिषष्टिं कर्मप्रकृतीनां जयतीति त्रिषष्टिजित् । कास्तास्त्रिषष्टिप्रकृतय इति चेदुच्यते—नरकायुः तिर्यगायुः देवायुः इत्यायुकर्मणः प्रकृतयस्तिस्रः । सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं सम्यग्मिथ्यात्वं चेति दर्शनमोहस्य कर्मणः प्रकृतयस्तिस्रः । अनन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभाश्चारित्रमोहस्य कर्मणः प्रकृतयश्चतस्रः । तथा अप्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभाश्चत्वारः । तथा प्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभाश्चत्वारः । तथा संज्वलनक्रोधमानमायालोभाश्चत्वारश्चेति षोडश कषायाः । तथा हास्यं रतिः अरतिः शोक-भयजुगुप्साः षट् । स्त्रीवेद-पुंवेद-नपुंसकवेदाश्चेति त्रयो वेदाः, एवमष्टाविंशतिप्रकृतयो मोहनीयस्य । नामकर्मणः प्रकृतयस्त्रयोदश । तथाहि—साधारण-आतप-एकेन्द्रियजाति-द्वीन्द्रियजाति-त्रीन्द्रियजाति-चतुरिन्द्रियजातिनरकगति-नरकगत्यानुपूर्वी-स्थावर-सूक्ष्म-तिर्यग्गतितिर्यग्गत्यानुपूर्व्यं उद्योत इति । मतिज्ञानावरणं श्रुतज्ञानावरणं अवधिज्ञानावरणं मनःपर्ययज्ञानावरणं केवलज्ञानावरणं इति पञ्च ज्ञानावरणप्रकृतयः । दर्शनावरणस्य नव । तथाहि—चक्षुर्दर्शनावरणं अचक्षुर्दर्शनावरणं अवधिदर्शनावरणं केवलदर्शनावरणं निद्रा निद्रानिद्रा प्रचला प्रचलाप्रचला स्त्यानगृद्धिः । एवं आवरण १४ । अन्तरायकर्मप्रकृतयः पंच-दानान्तरायः लाभान्तरायः भोगान्तरायः उपभोगान्तरायः वीर्यान्तरायः । ३ । २८ । १३ । १४ । ५ । एवं त्रिषष्टिजित् (१००) ।

॥ इति जिनशतकनाम प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥

—

अथ द्वितीयोऽध्यायः

सर्वज्ञः सर्ववित्सर्वदर्शी सर्वावलोकनः ।
अनन्तविक्रमोऽनन्तवीर्योऽनन्तसुखात्मकः ॥१८॥

अथेदानीं सर्वज्ञशतं व्याख्यास्यामः । सर्वज्ञः—सर्वं त्रिलोकं कालत्रयवर्तिद्रव्यपर्यायसहितं वस्तु अलोकं च जानातीति सर्वज्ञः (१) । सर्ववित्—सर्वं वेत्तीति सर्ववित् (२) । सर्वदर्शी—सर्वं द्रष्टुमवलोकयितुं शीलमस्य स सर्वदर्शी (३) । सर्वावलोकनः—सर्वस्मिन् अवलोकनं ज्ञानचक्षुर्यस्य स सर्वावलोकनः (४) । अनन्तविक्रमः—अनन्तोऽपर्यन्तो विक्रमः पराक्रमो यस्येत्यनन्तविक्रमः, केवलज्ञानेन सर्ववस्तुवेदकशक्तिरित्यर्थः । अथवा शरीरसामर्थ्येन नेत्रादिकान् अपि समुत्पाटनसमर्थ इत्यर्थः । तथा चोक्तम्—

करतलेन महीवलमुद्धरेज्जलनिधीनपि दिक्षु लघु क्षिपेत् ।
प्रचलयेद् गिरिराजमवज्ञया ननु जिनः कतमः परमोन्नतः ॥

अथवा अनन्ते अलोकाकाशे विक्रमो ज्ञानेन गमनं यस्येति अनन्तविक्रमः। अथवा अनन्तः शेषनागः श्रीविष्णुः आकाशस्थितसूर्याचन्द्रमसादयो विशेषेण क्रमयोर्नम्रीभूता यस्येति अनन्तविक्रमः। अथवा अनन्तो विशिष्टः क्रमश्चारित्रं अनुक्रमो वा यस्येति अनन्तविक्रमः (५)। **अनन्तवीर्यः**—अनन्तं वीर्यं शक्तिरस्येति अनन्तवीर्यः (६)। **अनन्तसुखात्मकः**—अनन्तं सुखमात्मनो यस्य सोऽनन्तसुखात्मकः। नद्यन्ताच्छेपाद्वा बहुव्रीहौ कः। अथवा अनन्तं सुखं निश्चयनयेन आत्मानं कायति कथयति यः सोऽनन्तसुखात्मकः। कै गै रै शब्दे। आतोऽनुपसर्गात्कः (७)।

अनन्तसौख्यो विश्वज्ञो विश्वदृश्वाऽखिलार्थदृक्।
न्यक्षदृग्विश्वतश्चक्षुर्विश्वचक्षुरशेषवित् ॥ १६ ॥

अनन्तसौख्यः—अनन्तं सौख्यं यस्येति अनन्तसौख्यः (८)। **विश्वज्ञः**—विश्वं जगत् जानातीति विश्वज्ञः। नाम्युपधाप्रीकृगृज्ञां कः (९)। **विश्वदृश्वा**—विश्वं दृष्टवान् विश्वदृश्वा। दृशेः [1]क्वनिप् अतीते (१०)। **अखिलार्थदृक्**—अखिलान् अर्थान् पश्यतीति अखिलार्थदृक्। सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य इति वचनात् (११)। **न्यक्षदृक्**—न्यक्षं सर्वं पश्यतीति न्यक्षदृक्। न्यक्षं इन्द्रियरहितं पश्यतीति वा न्यक्षदृक्। (१२)। उक्तञ्च काव्यपिशाचेन—

सव्वण्हु अणिंदिउ णाणमउ जो मयमूढु[2] ण पत्तियइ।
सो णिंदिउ पंचिंदिय णिरउ वइतरणिहिं पाणिउ पियइ॥

विश्वतश्चक्षुः—विश्वतो विश्वस्मिन् चक्षुः केवलदर्शनं यस्येति विश्वतश्चक्षुः। सार्वविभक्तिकं तस् इत्येके (१३)। **विश्वचक्षुः**—विश्वस्मिन् लोकालोके चक्षुः केवलज्ञान-दर्शनद्वयं यस्येति विश्वचक्षुः (१४)। **अशेषवित्**—अशेषं लोकालोकं वेत्तीति अशेषवित् (१५)।

आनन्दः परमानन्दः सदानन्दः सदोदयः।
नित्यानन्दो महानन्दः परानन्दः परोदयः॥ २० ॥

आनन्दः—आसमन्तात् नन्दति आनन्दः (१६)। **परमानन्दः**—परमः उत्कृष्टः आनन्दः सौख्यं यस्येति परमानन्दः (१७)। **सदानन्दः**—सदा सर्वकालं आनन्दः सुखं यस्य स सदानन्दः। अथवा सत्[3] समीचीनं आनन्दो यस्येति सदानन्दः (१८)। **सदोदयः**—सदा सर्वकालं उदयो अनस्तगमनं यस्येति। अथवा सदा सर्वकालं उत्कृष्टो अयः शुभावहो विधिर्यस्य स सदोदयः।

मतल्लिका मचर्चिका प्रकाण्डमुद्धतल्लजौ।
प्रशस्तवाचकान्यमून्ययः शुभावहो विधिः॥

इति अमरदत्तः (१९)। **नित्यानन्दः**—नित्यः शाश्वतः आनन्दः सौख्यं यस्येति नित्यानन्दः (२०)। **महानन्दः**—महान् आनन्दः सौख्यं यस्येति महानन्दः। अथवा महेन तच्चरणपूजया आनन्दो भव्यानां यस्मादिति महानन्दः (२१)। **परानन्दः**—पर उत्कृष्ट आनन्दो यस्येति परानन्दः। अथवा परेषां सर्वप्राणिनामानन्दो यस्मादिति परानन्दः (२२)। **परोदयः**—परः उत्कृष्ट उदयोऽभ्युदयो यस्येति परोदयः। अथवा परेषां भव्यानां उत्कृष्टः अयः पुण्यं विशिष्टं शुभं शुभायुर्नामगोत्रलक्षणं निदानादिरहितं तीर्थंकरनामगोत्रोपलक्षणोपलक्षितं पुण्यं यस्मादिति परोदयः (२३)।

परमोजः परंतेजः परंधाम परंमहः।
प्रत्यग्ज्योतिः परंज्योतिः परंब्रह्म परंरहः॥ २१ ॥

परमोजः—परं अतिशयवत् ओजः उत्साहरूपः परमोजः (२४)। **परंतेजः**—परं उत्कृष्टं तेजो भूरिभास्करप्रकाशस्वरूपः[4] परंतेजः (२५)। **परंधाम**—परमुत्कृष्टं धाम तेजःस्वरूपः परंधाम (२६)।

---

१ ज क्विनिप्। २ द मयमूढ। ३ ज सन्। ४ ज प्रकाशरूपः।

परंमहः—परमुत्कृष्टं महः तेजःस्वरूपः परंमहः (२७)। **प्रत्यग्ज्योतिः**—प्रत्यक् पाश्चात्यं ज्योतिः तेजःस्वरूपः प्रत्यग्ज्योतिः (२८)। **परंज्योतिः**—परमुत्कृष्टं ज्योतिः चक्षुःप्रायः परंज्योतिः,[1] लोकालोकलोचनत्वात् (२९)। **परंब्रह्म**—परमुत्कृष्टं ब्रह्म पञ्चमज्ञानस्वरूपः परंब्रह्म (३०)। **परंरहः**—परमुत्कृष्टं रहो गुह्यस्वरूपस्तत्त्वस्वरूपो वा परंरहः। तत्त्वे रते च गुह्ये च रह इत्यभिधीयते इति वचनात् (३१)।

प्रत्यगात्मा प्रबुद्धात्मा महात्मात्ममहोदयः।
परमात्मा प्रशान्तात्मा परात्मात्मनिकेतनः॥ २२॥

प्रत्यगात्मा—प्रत्यक् पाश्चात्यः आत्मा बुद्धिर्यस्य स प्रत्यगात्मा।

सूर्योऽग्नौ पवने चित्ते धृतौ[2] यत्नेऽसुमत्यपि।
बुद्धौ काये मताश्चात्मा स्वभावे परमात्मनि॥

इत्यभिधानात् (३२)। **प्रबुद्धात्मा**—प्रबुद्धः प्रकर्षेण केवलज्ञानसहितः आत्मा जीवो यस्य स प्रबुद्धात्मा (३३)। **महात्मा**—महान् केवलज्ञानेन लोकालोकव्यापकः आत्मा यस्य स महात्मा (३४)। **आत्ममहोदयः**—आत्मनो महानुदयो यस्य स आत्ममहोदयः, कदाचिदपि न ज्ञानरहित इत्यर्थः। अथवा महस्य पूजायां उदयस्तीर्थंकरनामोदयो यस्य स आत्ममहोदयः (३५)। **परमात्मा**—परमः उत्कृष्टः केवलज्ञानी आत्मा जीवो यस्य स परमात्मा (३६)। **प्रशान्तात्मा**—प्रशान्तो घातिकर्मक्षयवान् आत्मा यस्य स प्रशान्तात्मा (३७)। **परात्मा**—पर उत्कृष्टः केवलज्ञानोपेतत्वात् परात्मा। अथवा परे एकेन्द्रियादिपंचेन्द्रियपर्यन्ता प्राणिनः आत्मानो निश्चयनयेन निजसमाना यस्य स परात्मा। उक्तञ्च **योगीन्द्रदेवेन**—

जीवा जिणवर जो मुणइ जिणवर जीव मुणेइ।
सो समभावि परिट्ठियउ लहु णिव्वाणु लहेइ[3]॥

अत्र हेतुहेतुमद्भाव उक्तो भवतीति भावः (३८)। **आत्मनिकेतनः**—आत्मैव शरीरमेव निकेतनं गृहं यस्येति आत्मनिकेतनः, व्यवहारेणेत्यर्थः। निश्चयनयेन तु आत्मा जीवो निकेतनं गृहं यस्य स आत्मनिकेतनः (३९)। तथा चोक्तं **योगीन्द्रदेवैः**—

ते वंदउ सिरि सिद्धगण जे अप्पा णिवसंति।
लोयालोउ वि सयलु इहु[4] अच्छहिं विमलु णियंत[5]॥

व्यवहारनयेन तु—

एकस्तम्भं नवद्वारं पञ्च पञ्च [6]जनाश्रितम्।
अनेककक्षमेवेदं शरीरं योगिनां गृहम्॥

परमेष्ठी महिष्ठात्मा श्रेष्ठात्मा स्वात्मनिष्ठितः।
ब्रह्मनिष्ठो महानिष्ठो निरूढात्मा दृढात्मदृक्॥ २३॥

परमेष्ठी—परमे उत्कृष्टे इन्द्र-धरणेन्द्र-नरेन्द्र-गणीन्द्रादिवंदिते पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी (४०)। **महिष्ठात्मा** अतिशयेन महान् आत्मा यस्येति महिष्ठात्मा। अथवा महौ अष्टमभूमौ तिष्ठतीति महिष्ठः, महिष्ठः आत्मा यस्येति महिष्ठात्मा। उक्तञ्च—

---

१ द स लोक०। २ स प्रे० 'चित्ते तोये ते समुपस्यपि' इति पाठः।
३ द प्रतावीदृक् पाठः—जीवा जिनवर जो यः कोऽपि जीवान् जिनवरं जानाति मुणइ जिणवर जीव मुणेई। सो समभावि परिट्ठियउ लहु णिव्वाणु लहेइ॥ ४ ज इकु। ५ स नियंत। ६ ज वना०।

णेरइय[1]-भवणवासिय-माणुस-जोइसिय-कप्पवासी य ।
गेवेय-सव्वसिद्धी मोक्खमही अट्ठमी पुहई ॥

श्रेष्ठात्मा-अतिशयेन प्रशस्यः श्रेष्ठः । अथवा अतिशयेन वृद्धः लोकालोकव्यापी श्रेष्ठः, श्रेष्ठः आत्मा यस्येति श्रेष्ठात्मा, केवलज्ञानापेक्षया सर्वव्यापिजीवस्वरूप इत्यर्थः (४२) । **स्वात्मनिष्ठितः**—स्वात्मनि निजशुद्धबुद्धैकस्वरूपे न्यतिशयेन स्थितः स्वात्मनिष्ठितः (४३) । **निष्ठः**– ब्रह्मणि केवलज्ञाने न्यतिशयेन तिष्ठतीति ब्रह्मनिष्ठः (४४) । तथा चोक्तं—

आत्मनि मोक्षे ज्ञाने वृत्ते ताते च भरतराजस्य ।
ब्रह्मेति गीः प्रगीता न चापरो विद्यते ब्रह्मा[2] ॥

महानिष्ठः—महती निष्ठा स्थितिः क्रिया यथाख्यातचारित्रं यस्येति महानिष्ठः परमौदासीनतां प्राप्त इत्यर्थः । सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्परायथाख्यातमिति चारित्रं पञ्चविधम् (४५) । **निरूढात्मा**—न्यतिशयेन रूढस्त्रिभुवनप्रसिद्ध आत्मा यस्येति निरूढात्मा (४६) । **दृढात्मदृक्**– दृढात्मा निश्चलस्वरूपा अनन्तबलोपेता सत्तामात्रावलोकिनी दृक् दर्शनं यस्येति दृढात्मदृक् (४७) । उक्तं च नेमिचन्द्रेण भगवता सैद्धान्तचक्रवर्तिना—

दंसणपुव्वं णाणं छदुमत्थाणं[3] ण दोण्णि उवओगा ।
जुगवं जम्हा केवलिणाहे जुगवं तु ते दोण्णि ॥

तथा चोक्तं आशाधरेण—

सत्तालोचनमात्रमित्यपि निराकारं मतं[4] दर्शनं,
साकारं च विशेषगोचरमिति ज्ञानं प्रवादीच्छया ।
ते नेत्रे क्रमवर्तिनी सरजसां प्रादेशिके सर्वतः,
स्फूर्जन्ती[5] युगपत्पुनर्विरजसां युष्माकमंगातिगाः ॥

ननु अयमभिप्रायः सिद्धानां कथितः, अर्हतां कथं संगच्छते, इत्याह—सत्यं, अर्हत्सिद्धयोरन्तरं शरीरसहिताशरीरयोर्वर्तते; न तु अनन्तचतुष्टयेन ।

एकविद्यो महाविद्यो महाब्रह्मपदेश्वरः ।
पञ्चब्रह्ममयः सार्वः सर्वविद्येश्वरः स्वभूः ॥ २४ ॥

एकविद्यः—एका अद्वितीया केवलज्ञानलक्षणोपलक्षिता मतिश्रुतावधिमनःपर्ययरहिता विद्या यस्येति एकविद्यः । (४८) । उक्तञ्च पूज्यपादेन—

क्षायिकमेकमनन्तं त्रिकालसर्वार्थयुगपदवभासम् ।
सकलसुखधाम सततं वंदेऽहं केवलज्ञानम् ॥

महाविद्यः—महती केवलज्ञानलक्षणा विद्या यस्येति महाविद्यः (४९) । **महाब्रह्मपदेश्वरः**—ब्रह्मणः केवलज्ञानस्य पदं स्थानं ब्रह्मपदम् । महच्च तद् ब्रह्मपदं च महाब्रह्मपदं मोक्षः, तस्य ईश्वरः स्वामी महाब्रह्मपदेश्वरः । अथवा महाब्रह्माणो गणधरदेवादयः पदयोश्चरणयोर्लग्नाः महाब्रह्मपदाः, तेषामीश्वरः महाब्रह्मपदेश्वरः । अथवा महाब्रह्मपदं समवसरणं तस्येश्वरः महाब्रह्मपदेश्वरः (५०) । **पञ्चब्रह्ममयः**—पञ्चभिर्ब्रह्मभिर्मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानैर्निर्वृत्तो निष्पन्नः पञ्चब्रह्ममयः, ज्ञानचतुष्टयस्य केवलज्ञानान्तर्गर्भितत्वात् । अथवा पञ्चभिर्ब्रह्मभिः अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभिर्निर्वृत्तः पञ्चब्रह्ममयः, पञ्चपरमेष्ठिनां गुणैरुपेतत्वात्

---

१ द नारइय० स प्रे० णारक । २ स ब्रह्म । ३ द 'छद्मस्थकानां' इत्यधिकपाठः । ४ द 'कथितं' इत्यधिकः पाठः । ५ द स्फूर्यन्ती ।

(५१) । **सार्वः**—सर्वेभ्यः सद्दृष्टिमिथ्यादृष्टिभ्यः एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पंचेन्द्रिय-सूक्ष्म-बादर-पर्याप्तापर्याप्त-लब्ध्यपर्याप्तादिजीवानां हितः सार्वः, सर्वप्राणिवर्गहितो[1] पदेष्टशकत्वात् । अत्र शैषिको अण्[2] ज्ञातव्यः, रागाद्यर्थशेपत्वात् (५२) । **सर्वविद्येश्वरः**—सर्वा चासौ विद्या सर्वविद्या, सकलविमलकेवलज्ञानम्, तस्या ईश्वरः स्वामी सर्वविद्येश्वरः । अथवा सर्वा विद्या विद्यन्ते येषां ते सर्वविद्याः श्रुतकेवलि-गणधर-देवानगारकेवलिनः, तेषामीश्वरः सर्वविद्येश्वरः । अथवा सर्वासु विद्यासु स्वसमय-परसमय-सम्बन्धिनीषु विद्यासु लोकप्रसिद्धासु चतुर्दशसु ईश्वरः समर्थः सर्वविद्येश्वरः । कास्ताः सर्वविद्याः ? एकादशांगानि चतुर्दश पूर्वाणि चतुर्दश प्रकीर्णकानि च । कास्ताः परसमयचतुर्दशविद्या इति चेत्—

षडंगानि चतुर्वेदा मीमांसा न्यायविस्तरः ।
धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्या[3] श्चैताश्चतुर्दश ॥

शिक्षा कल्पो व्याकरणं ज्योतिषं छंदो निरुक्तं चेति षडंगानि । ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदश्चतुर्थकोऽथर्वणवेदश्चेति चत्वारो वेदाः । मीमांसा पूर्वमीमांसा उत्तरमीमांसा चेत्येकमीमांसा न्यायविस्तरः । नीतिशास्त्रं धर्मशास्त्रं अष्टादश स्मृतयः पुराणं च तदपि अष्टादशप्रकारं । तेषामन्तर्भेदा लोकतो ज्ञातव्याः । सर्वविद्येश्वर इत्यनेन सर्वज्ञनाम्नाऽल्पविद्यो रुद्रः सर्वज्ञो न भवतीति सूचितम् । उक्तञ्च—

सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा ।
तावुभौ यदि सर्वज्ञौ मतभेदाः कथं तयोः ॥ इति ॥

अलमतिविस्तरेण (५३) । **सुभूः**—शोभना समवसरणलक्षणा मोक्षलक्षणा ईषत्प्राग्भारनाम्नी भूः स्थानं यस्येति सुभूः (५४) ।

अनन्तधीरनन्तात्माऽनन्तशक्तिरनन्तदृक् ।
अनन्तानन्तधीशक्तिरनन्तचिदनन्तमुत् ॥२५॥

अनन्तधीः—केवलज्ञानलक्षणा धीर्बुद्धिर्यस्येति अनन्तधीः । अथवा अनन्तस्य शेषनागस्य धीश्चिन्तनं यस्मिन् सोऽनन्तधीः । अथवा अनन्ते मोक्षे धीर्यस्य, अथवा अनन्तेषु सिद्धेषु दीक्षावसरे धीर्यस्य सोऽनन्तधीः (५५) । **अनन्तात्मा**—अनन्तेन केवलज्ञानेनोपलक्षिता आत्मा यस्येति अनन्तात्मा । अथवा अनन्तो विनाशरहित आत्मा यस्येति अनन्तात्मा । अथवा अनन्तानन्ताः आत्मानो जीवा यस्य मते सोऽनन्तात्मा । अथ[4] मुक्तिं गच्छत्सु जीवेषु कदाचित्तदन्तो भविष्यतीति चेन्न, संसारान्निःसरत्स्वपि जीवेषु तेषामनन्तत्वात् । तदुक्तं—

जइया होहिसि पेच्छा जिणागमे अत्थि उत्तरं तइया ।
एकणिगोदसरीरे भागमणंतेण सिद्धिगया ॥

झल्लरीशंखादिशब्दवत् अपवरकादिनिर्गच्छद्वातवत् संसारिजीवानामन्तो न वर्तते सिद्धानामनन्तत्वेऽपीत्यर्थः । इत्यनेन ये वदन्ति मुक्तिं गतेषु जीवेषु संसारो रिक्तो भवति, तदनन्तरं परमेश्वरः कर्ममलकलंकं तेषां लगयते, पश्चात्ते संसारे पतन्ति, पुनरपि च मुक्तिमार्गश्चलतीति प्रत्युक्ता भवन्ति (५६) । **अनन्तशक्तिः**—अनन्ता शक्तिः सामर्थ्यं यस्येति अनन्तशक्तिः (५७) । **अनन्तदृक्**—अनन्ता दृक् केवलदर्शनं यस्येति अनन्तदृक् (५८) । **अनन्तानन्तधीशक्तिः**—अनन्तानन्ता धीः शक्तिर्विक्रमः प्रज्ञासामर्थ्यमष्टधा यस्येति अनन्तानन्तधीशक्तिः (५६) । उक्तञ्च—

शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा ।
स्मृत्यूहापोहनिर्णीतीः श्रोतुरष्टौ गुणान् विदुः[5] ॥

---

१ द वर्गदेयोप० । २ द अन् । ३ ज विद्या एता० । ४ द अथवा । ५ महापुराण पर्व १ श्लो० १४६ ।

अनन्तचित्—अनन्ता चित् केवलज्ञानं यस्येति अनन्तचित् (६०)। **अनन्तमुत्**—अनन्ता मुत् हर्षः सुखं यस्येति अनन्तमुत् (६१)।

सदाप्रकाशः सर्वार्थसाक्षात्कारी समग्रधीः।
कर्मसाक्षी जगच्चक्षुरलक्ष्यात्माऽचलस्थितिः॥ २६॥

सदाप्रकाशः—सदा सर्वकालं प्रकाशः केवलज्ञानं यस्येति सदाप्रकाशः। एकसमयेऽपि ज्ञानं न त्रुट्यति भगवत इत्यर्थः (६२)। **सर्वार्थसाक्षात्कारी**—सर्वान् अर्थान् द्रव्याणि पर्यायांश्च साक्षात्करोति प्रत्यक्षं जानाति पश्यति चेत्येवंशीलः सर्वार्थसाक्षात्कारी, सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य इति वचनात् (६३)। **समग्रधीः**—समग्रा परिपूर्णा ज्ञेयप्रमाणा धीः बुद्धिः केवलज्ञानं यस्येति समग्रधीः (६४)। **कर्मसाक्षी**—कर्मणां पुण्यपापानां साक्षी ज्ञायकः कर्मसाक्षी, अन्धकारेऽपि प्रविश्य पुण्यं पापं वा यः कश्चित्करोति तत्सर्वं भगवान् जानातीत्यर्थः (६५)। **जगच्चक्षुः**—जगतां त्रिभुवनस्थितप्राणिवर्गाणां चक्षुर्लोचनसमानः, तं विना सर्वेऽप्यन्धाः वर्तन्त इत्यर्थः (६६)। **अलक्ष्यात्मा**—अलक्ष्यः अविज्ञेयः आत्मा स्वरूपं यस्येति अलक्ष्यात्मा, छद्मस्थानां मुनीनामपि अदृश्य इत्यर्थः (६७)। **अचलस्थितिः**—अचला निश्चला स्थितिः स्थानं सीमा वा यस्येति अचलस्थितिः। आत्मनि एकलोलीभावो दृढचारित्र इत्यर्थः (६८)।

निराबाधोऽप्रतर्क्यात्मा धर्मचक्री विदांवरः।
भूतात्मा सहजज्योतिर्विश्वज्योतिरतीन्द्रियः॥ २७॥

निराबाधः—निर्गता आबाधा कष्ट यस्येति निराबाधः (६९)। **अप्रतर्क्यात्मा**—अप्रतर्क्यः अविज्ञेयः अविचार्यः अवक्तव्य आत्मा स्वभावः स्वरूपं यस्येति अप्रतर्क्यात्मा (७०)। **धर्मचक्री**—धर्मेणोपलक्षितं चक्रं धर्मचक्रम्। धर्मचक्रं विद्यते यस्य स धर्मचक्री। भगवान् पृथिवीस्थितभव्यजनसंबोधनार्थं यदा विहारं करोति तदा धर्मचक्रं स्वामिनः सेनायाः अग्रेऽग्रे निराधारं आकाशे चलति। उक्तञ्च धर्मचक्रलक्षणं **श्रीदेवनन्दिना**[1]—

स्फुरदरसहस्ररुचिरं विमलमहारत्नकिरणनिकरपरीतम्।
प्रहसितसहस्रकिरणद्युतिमंडलमग्रगामि धर्मसुचक्रम्॥

सर्वेषामभयदानदायकं भवति (७१)। **विदांवरः**—विदां विद्वज्जनानां मध्ये वरः श्रेष्ठः विदांवरः। क्वचिन्न लुप्यन्ते विभक्तयोऽभिधानात् (७२)। **भूतात्मा**—भूतः सत्यार्थः आत्मा यस्येति भूतात्मा। कोऽसौ आत्मशब्दस्य सत्यार्थ इति चेदुच्यते—अत सातत्यगमने इति तावद् धातुर्वर्तते। अतति सततं गच्छति लोकालोकस्वरूपं जानातीत्यात्मा। सर्वधातुभ्यो मन्[2]। सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था इत्यभिधानात्। तथा चोक्तं—

सत्तायां मंगले वृद्धौ निवासे व्याप्तिसंपदोः।
अभिप्राये च शक्तौ च प्रादुर्भावे गतौ च भूः॥

इति वचनात् भूतो लोकालोकस्य ज्ञानेन व्यापक आत्मा यस्येति भूतात्मा, न तु पृथिव्यप्तेजोवायुलक्षणचतुर्भूतमयश्चार्वाककथित आत्मा वर्तते (७३)। **सहजज्योतिः**—सहजं स्वाभाविकं ज्योतिः केवलज्ञानं यस्येति सहजज्योतिः (७४)। **विश्वज्योतिः**—विश्वस्मिन् लोके अलोके च ज्योतिः केवलज्ञान-केवलदर्शनलक्षणं ज्योतिर्लोचनं यस्येति विश्वज्योतिः। अथवा विश्वस्य लोकस्य ज्योतिश्चक्षुः विश्वज्योतिः लोकलोचनमित्यर्थः। ज्योतिश्चक्षुषि तारके इत्यभिधानात् (७५)। **अतीन्द्रियः**—अतिक्रान्तानि इन्द्रियाणि येनेति अतीन्द्रियः, इन्द्रियज्ञानरहित इत्यर्थः (७६)। उक्तञ्च—

१ ज 'स्वामिना भट्टारकेण' इत्यधिकः पाठः। २ द मन्।

सव्वण्हु अणिंदिउ णाणमउ जो मयमूढु न पत्तियइ ।
सो णिंदिउ पंचिंदिय णिरउ वइतरणिहिं पाणिउ पियइ ॥

केवली केवलालोको लोकालोकविलोकनः ।
विविक्तः केवलोऽव्यक्तः शरण्योऽचिन्त्यवैभवः ॥ २८ ॥

केवली—केवलं केवलज्ञानं विद्यते यस्येति केवली (७७)। **केवलालोकः**—केवलोऽसहायो मतिज्ञानादिनिरपेक्ष आलोकः केवलज्ञानोद्योतो यस्येति केवलालोकः (७८)। **लोकालोकविलोकनः**—लोकालोकयोर्विलोकनं अवलोकनं यस्येति लोकालोकविलोकनः (७९)। **विविक्तः**—विविच्यते स्म विविक्तः सर्वविषयेभ्यः पृथग्भूतः। विचिर्[1] पृथग्भावे (८०)। **केवलः**—केवलः असहायः। अथवा के आत्मनि बलं यस्येति केवल. (८१)। **अव्यक्तः**—इन्द्रियाणां मनसः अगम्यः अगोचरः केवलज्ञानेन गम्य इत्यर्थः (८२)। **शरण्यः**—शरणे साधुः शरण्यः, अर्तिमथनसमर्थ इत्यर्थः (८३)। **अचिन्त्यवैभवः**— अचिन्त्यं मनसः अगम्यं वैभवं विभुत्वं प्रभुत्वं यस्येति अचिन्त्यवैभवः (८४)।

विश्वभृद्विश्वरूपात्मा विश्वात्मा विश्वतोमुखः ।
विश्वव्यापी स्वयंज्योतिरचिन्त्यात्माऽमितप्रभः ॥ २९ ॥

विश्वभृत्—विश्वं बिभर्ति धरति पुष्णाति वा विश्वभृत् (८५)। **विश्वरूपात्मा**—विशंति प्रविशंति पर्यटन्ति प्राणिनोऽस्मिन्निति विश्वं त्रैलोक्यं तद्रूपस्तदाकार आत्मा लोकपूरणावसरे जीवो यस्येति विश्वरूपात्मा। अथवा विशंति जीवादयः पदार्था यस्मिन्निति विश्वं केवलज्ञानं विश्वरूपः केवलज्ञानस्वरूपः आत्मा यस्येति विश्वरूपात्मा। अशि लटि खटि विशिभ्यः क्वः (८६)। **विश्वात्मा**—यथा चक्षुषि स्थितं कज्जलं चक्षुरिति, प्रस्थप्रमितं धान्यं प्रस्थ इत्युपचर्यते तथा विश्वस्थितः प्राणिगणो विश्वशब्देनोच्यते, विश्वं[2] आत्मा निजसदृशो यस्येति विश्वात्मा (८७)। **विश्वतोमुखः**—विश्वतश्चतुर्दिक्षु मुखं वक्त्रं यस्येति विश्वतोमुखः, केवलज्ञानवन्तं स्वामिनं सर्वेऽपि जीवा निज-निजसन्मुखं भगवन्तं पश्यन्तीति भावः, तस्य तादृशनिर्मलत्वात्। अथवा विश्वतोमुखं खलु जल[3]मुच्यते तत्स्वभावत्वात्, अमितजन्मपातकप्रक्षालनत्वात्[4], विषयसुखतृष्णानिवारकत्वात् प्रसन्नभावत्वाच्च भगवानपि विश्वतोमुख उच्यते। अथवा विश्वं संसारं तस्यति निराकरोति मुखं यस्येति विश्वतोमुखः, भगवन्मुखदर्शनेन जीवः पुनर्भवे न संभवेदिति भावः। अथवा विश्वतः सर्वांगेषु मुखं यस्येति विश्वतोमुखः, सहस्रशीर्षः सहस्रपात् इत्यभिधानात् (८८)। **विश्वव्यापी**—विश्वं लोकालोकं केवलज्ञानेन व्याप्नोतीत्येवंशीलः विश्वव्यापी। अथवा लोकपूरणप्रस्तावे विश्वं जगत् आत्मप्रदेशैर्व्याप्नोतीत्येवंशीलः विश्वव्यापी (८९)। **स्वयंज्योतिः**—स्वयं आत्मा ज्योतिश्चक्षुर्यस्येति स्वयंज्योतिः, प्रकाशकत्वात् स्वयंसूर्य इत्यर्थः (९०)। **अचिन्त्यात्मा**—अचिन्त्यः अवाग्मनसगोचरः आत्मा स्वरूपं यस्येति अचिन्त्यात्मा, अचिन्त्यस्वरूपः (९१)। **अमितप्रभः**—अमिता प्रभा केवलज्ञानस्वरूपं तेजो यस्येति अमितप्रभः। अथवा अमिता प्रभा कोटिभास्कर-कोटिचन्द्रसमानं शरीरतेजो यस्येति अमितप्रभः (९२)।

महौदार्यो महाबोधिर्महालाभो महोदयः ।
महोपभोगः सुगतिर्महाभोगो महाबलः ॥ ३० ॥

महौदार्य—महत् औदार्यं दानशक्तिर्यस्येति महौदार्यः। भगवान् निर्ग्रन्थोऽपि सन् वांछितफलप्रदायक इत्यर्थः। उक्तञ्च—

निःकिंचनोऽपि जगते न कानि जिन दिशसि निकामं कामितानि ।
नैवात्र चित्रमथवा समस्ति वृष्टिः किमु खादिह नो चकास्ति ॥

---

१ द विचिर्। २ स 'विश्वं' इति पाठः। ३ द जन०। ४ द प्रक्षालत्वात्।

अथवा वैराग्यकाले सर्वत्यागीति भावः (९३)। महाबोधिः—महती बोधिर्वैराग्यं रत्नत्रयप्राप्तिर्वा यस्येति महाबोधिः (९४)। उक्तञ्च—

> रत्नत्रयपरिप्राप्तिर्बोधिः सोऽतीव दुर्लभा।
> लब्ध्वा कथं कथंचिच्चेत्कार्यो यत्नो महानिह॥

महालाभः—महान् लाभो नवकेवललब्धिलक्षणो यस्येति महालाभः। सम्यक्त्वं चारित्रं ज्ञानं दर्शनं दानं लाभो भोग उपभोगो वीर्यं चेति नवकेवललब्धयः (९५)। **महोदयः**—महान् तीर्थकरनामकर्मण उदयो विपाको यस्येति महोदयः। अथवा महान् उत्कृष्टः अयः शुभावहो विधिर्यस्येति महोदयः। अथवा महान् कदाचिदप्यस्तं न यास्यति उदयः कर्मक्षयोत्पन्नः केवलज्ञानस्योद्गमो यस्येति महोदयः। अथवा महस्तेजो दया सर्वप्राणिकरुणा यस्येति महोदयः। अथवा महसा केवलज्ञानेन युक्ता दया यस्येति महोदयः। उक्तञ्च—

> यस्य ज्ञान-दयासिन्धोरगाधस्यानघाः गुणाः।
> सेव्यतामक्षयो धीराः सश्रिये चामृताय च॥

ज्ञानेन दयया च मोक्षो भवतीति सूचितमत्र (९६)। **महोपभोगः**—महान् उपभोगश्छत्र-चामर-सिंहासनाशोकतरुप्रमुखो मुहुर्भोग्यं समवसरणादिलक्षणं वस्तु यस्येति महोपभोगः (९७)। **सुगतिः**—शोभना गतिः केवलज्ञानं यस्येति सुगतिः। अथवा शोभना गतिः पंचमीगतिर्यस्येति सुगतिः। अथवा शोभना गतिर्गगनगमनं यस्येति सुगतिः, छद्मस्थावस्थायां मन्दगमनो वा (९८)। तथा चोक्तं—

> गिरिभित्त्यवदानवतः श्रीमत इव दन्तिनः स्रवद्दानवतः।
> तव समवादानवतो गतमूर्जितमपगतप्रमादानवतः॥

महाभोगः—महान् भोगः गन्धोदकवृष्टि-पुष्पवृष्टि-शीत-मृदु-सुगंधपृषतो वातादिलक्षणो भोगः सकृद् भोग्यं वस्तु यस्येति महाभोगः। समयं समयं प्रत्यनन्यसाधारणशरीरस्थितिहेतुपुण्यपरमाणुलक्षणो नोकर्माभिधानो भोगो यस्येति महाभोगः। अथवा महान् आभोगो मनस्कारो लोकालोकव्यापकं केवलज्ञानं यस्येति महाभोगः। चित्ताभोगो मनस्कार इत्यभिधानात् (९९)। **महाबलः**—महत् बलं समस्तवस्तुपरिच्छेदकलक्षणं केवलज्ञानं यस्येति महाबलः। अथवा महत् बलं शरीरसामर्थ्यं निर्भयत्वं च यस्येति महाबलः (१००)। तथा चोक्तं **आशाधरेण**—

> नार्पत्यान्[1] विस्मयान्तर्हितपतनरुजो दत्तकम्पान् वितन्वन्,
> निःश्रेणीकृत्य भोगं[2] वलयितपृथुतन्मूलमाद्राहितांह्रिः।
> श्रीकुण्डद्रुगगृह्यावनितरुशिखराग्रोऽवतीर्णः स्वर्वर्ण-
> व्यासक्तं संगमस्य व्यधित विजयदो महावीरनाथः स वोऽव्यात्॥

अस्यायमर्थः—श्री वीरनाथः किल बालकुमारः बालक्रीडां काकपक्षधरैः राजकुमारैः समानवयोभिर्यदा तरुक्रीडां करोति, तस्मिन्नवसरे सौधर्मेन्द्रसभायां कथा बभूव—यद्देवानां मध्ये श्रीवीरनाथः शूरो वर्तते। तच्छ्रुत्वा संगमको नामदेवस्तत्परीक्षितुं कुंडपुरं प्राप्तः। तत्रोद्यानवने बहुभी राजकुमारैः सह क्रीडां कुर्वाणः श्रीवीरस्वामी संगमासुरेण दृष्टः। तस्मिन्नवसरे वृक्षमारुह्य श्रीवीरराजो[3] राजकुमारैः सह क्रीडां कुर्वन्नास्ते। संगमो नाम देवः सर्परूपं धृत्वा तरुमूलमारभ्य स्कन्धपर्यन्तं वेष्टयित्वा स्थितः। तं दृष्ट्वा सर्वेऽपि नृपकुमाराः विटपेभ्यो भयविह्वला धरण्यां पतिताः यत्र तत्र पलायिताश्च। श्रीवीरस्तु तं कालदारुणं सर्पं समारुह्य ललजिह्वाशतेन तेनाहिना मातुरुत्संगं गत इव क्रीडां चकार। संगमस्तु विजृम्भमाणप्रमोदाम्भोधिः स्वामिनः स्तुतिं चकार, त्वं महावीर इति स्वामिनो नाम कृत्वा स्वर्गं गतः। तदवदातमवतारयन्

१ द 'नृप पुत्रान्' इत्यधिकः पाठः। २ द 'सर्पशरीरं' इत्यधिकः पाठः। ३ द ज श्रीवीरो।

आशाधरः पद्यमिदं चकार—नार्पत्यानित्यादि । स्रग्धराछंदः । स जगत्प्रसिद्धः महावीरनाथः श्रीमहावीरस्वामी वो युष्मान् अव्यात् संरक्षतात् । स कः ? यः संगमस्य संगमनामदेवस्य स्वर्गाव्यासंगं व्यधित निजयशो व्यावर्णनपरायणं कृतवान् भगवान् । किं कुर्वन्, नार्पत्यान् राजपुत्रान् दत्तझम्पान् कृताधःपतनान् वितन्वन् कुर्वन् । कथम्भूतान् नार्पत्यान् ? विस्मयान्तर्हितपतनरुजः-विस्मयेन आश्चर्येण अन्तर्हिता विस्मृता पतनरुक् पतनवेदना येषां ते विस्मयान्तर्हितपतनरुजः, तान् तथोक्तान् । भगवान् कथम्भूतः आर्द्राहितांह्रिः आर्द्रतया सकरुणया आहितौ सर्पशरीरे आरोपितावंह्री पादौ येन स आर्द्राहितांह्रिः । अस्य सर्पकीटकशरीरे मच्चरणाचम्पनबाधा मा भूदित्यभिप्रायः । किं कृत्वा ? पूर्वं भोगं सर्पशरीरं निःश्रेणीकृत्य अधिरोहिणी कृत्वा विधाय । आरोहणं स्यात्सोपानं निःश्रेणिस्त्वधिरोहणी इत्यभिधानात् । कथंभूतं भोगं, वलयित-पृथुतन्मूलं वलयितं वेष्टितं पृथु महत् तन्मूलं येन भोगेन स वलयितपृथुतन्मूलस्तं तथोक्तम् । भगवान् कथम्भूतः अवतीर्णः ? तयोरध आगतः । कस्मादवतीर्णः ? श्रीकुंडद्रुगरह्यावनितरुशिखरात्, श्रीमान् लक्ष्मीविराजितो योऽसौ कुंडद्रुगः कुंडपुरं नामपत्तनं तस्य रह्या समीपवर्तिनी या अवनिभूमिः तस्यां योऽसौ तरुः आमलकी-वृक्षः, तस्य शिखरं अग्रं श्रीकुंडद्रुगरह्यावनितरुशिखरम्, तस्मात्तथोक्तात्, इति क्रियाकारकसम्बन्धः ।

सर्वज्ञवचनरचनाविचक्षणो लक्षणे प्रवीणतरः ।
श्रीविद्यानन्दिगुरोः शिष्यः श्रीश्रुतसागरो जयति ॥

इति सर्वज्ञशतनामा द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ।



अथ तृतीयोऽध्यायः ।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः[1] । अथेदानीं यज्ञार्हशतं विव्रियते[2] ।

यज्ञार्हो भगवानर्हन्महार्हो मघवार्चितः ।
भूतार्थयज्ञपुरुषो भूतार्थक्रतुपौरुषः ॥ ३१ ॥

यज्ञार्हः—यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु । जिनानां यजनं यज्ञः । याचि विचि प्रच्छि यजि स्वपि रक्षियतां नङ् । यज्ञं इन्द्र-धरणेन्द्र-नरेन्द्रादिकृतामर्हणां पूजामनन्यसंभाविनीमर्हतीति यज्ञार्हः । कर्मण्यण् (१) । भगवान्—भगो ज्ञानं परिपूर्णैश्वर्यं तपः श्रीः वैराग्यं मोक्षश्च विद्यते यस्य स भगवान् (२) । उक्तञ्च—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य ज्ञानस्य तपसः श्रियः ।
वैराग्यस्याथ मोक्षस्य षण्णां भग इति स्मृतः ॥

अर्हन्—इन्द्रादिकृतामनन्यसंभाविनीमर्हणामर्हतीति योग्यो भवतीति अर्हन् । वर्तमाने शन्तृङानशाव-प्रथमैकाधिकरणामंत्रितयोः इत्यनेन शन्तृप्रत्ययः । अथवा अकारशब्देन अरिर्लभ्यते, स एव मोहनीयः । समुदायेषु प्रवृत्ताः शब्दाः अवयवेष्वपि वर्तन्ते, इत्यभिधानात् । रकारेण रजो रहस्यं च लभ्यते । किं तत् रजः ? ज्ञानावरणं दर्शनावरणं च द्वयमेतत् रज उच्यते, रहस्यशब्देन अन्तरायकर्मोच्यते । मोहनीयं एतच्चतुष्टयं च घातिकर्मचतुष्टयं कथ्यते । तत् हत्वा अर्हणामर्हतीत्यर्हन् । तदुक्तं श्रीगौतमेन महर्षिणा—

मोहादिसर्वदोषारिघातकेभ्यः सदाहतरजोभ्यः ।
विरहितरहस्कृतेभ्यः पूजार्हेभ्यो नमोऽर्हद्भ्यः ॥

१ द ज प्रत्योः नास्त्ययं पाठः । २ ज आरभ्यते ।

तथा च चारित्रसारग्रन्थे चामुण्डेन राज्ञा नान्दीसूत्रस्य पूर्वार्धेऽयमेवार्थोऽवतारितः—

> अरिहनन-रजोहनन-रहस्यहरं पूजनार्हमर्हन्तम् ।
> सिद्धान् सिद्धाष्टगुणान् रत्नत्रयसाधकान् स्तुवे साधून् ॥

तथा चोक्तमुमास्वा ।—मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्[1] (३)। **महार्हः**—महस्य यज्ञस्य अर्हो योग्यः महार्हः। अथवा महमर्हतीति महार्हः। कर्मण्यण्। अथवा महाश्चासावर्हं महार्हः। अर्हः प्रशंसायामिति साधुः। (४)। **मघवार्चित**—मघवता मघोना वा शतक्रतुना शक्रेण इन्द्रेण इन्द्रस्य वाऽर्चितः पूजितः मघवार्चितः। अथवा मघं कैतवं कपटं वायन्ति शोषयन्ति ये ते मघवाः जैना[2] दिगम्बराः तैरर्चितः मघवार्चितः। श्वन् युवन् मघोनां च। सौ च मघवान् मघवा वा (५)। **भूतार्थयज्ञपुरुषः**—भूतार्थः सत्यार्थः यज्ञपुरुषः पूजार्हः पुरुषः भूतार्थयज्ञपुरुषः। भागवताः किल नारायणं यज्ञपुरुषं वदन्ति, तन्मिथ्यार्थं इत्यर्थः (६)। **भूतार्थक्रतुपूरुषः**—भूतार्थः सत्यार्थः क्रतुपूरुषः यज्ञपूरुषः भूतार्थक्रतुपूरुषः। अत्रापि स एवार्थः (७)।

> पूज्यो भट्टारकस्तत्रभवान न्महान्।
> महामहार्हस्तत्रायुस्ततो दीर्घायुरर्घ्यवाक् ॥ ३२ ॥

पूज्यः— पूजायां नियुक्तः पूज्यः (८)। **भट्टारकः**—भट्टान् पंडितानारयति[3] प्रेरयति स्याद्वादपरीक्षार्थमिति भट्टारकः (९)। **तत्रभवान्**—पूज्यः (१०)। **अत्रभवान्**—पूज्यः (११)। **महान्**—पूज्यः (१२)। **महामहार्हः**—महापूजायोग्यः (१३)। **तत्रायुः**—पूज्यः (१४)। **ततोदीर्घायुः**—पूज्यः (१५)। **अर्घ्यवाक्**— अर्घ्या पूज्या वाक् यस्य स अर्घ्यवाक् (१६)।

> आराध्यः परमाराध्यः पञ्चकल्याणपूजितः ।
> दृग्विशुद्धिगणोदग्रो वसुधार तास्पदः ॥ ३३ ॥

आराध्यः—पूज्यः (१७)। **परमाराध्यः**—परमैरिन्द्रादिभिराराध्यते परमाराध्यः। अथवा परमश्चासावाराध्यः (१८)। **पञ्चकल्याणपूजितः**—पञ्चसु कल्याणेषु गर्भावतार-जन्माभिषेक-निःक्रमण-ज्ञान-निर्वाणेषु पूजितः पञ्चकल्याणपूजितः। (१९)। **दृग्विशुद्धिगणोदग्रः**—दृशः सम्यक्त्वस्य विशुद्धिर्निरतीचारता यस्य गणस्य द्वादशभेदगणस्य स दृग्विशुद्धिः, दृग्विशुद्धिश्चासौ गणः दृग्विशुद्धिगणः, तस्मिन् उदग्रः उत्कर्षेण मुख्यः दृग्विशुद्धिगणोदग्रः। कोऽसौ दृग्विशुद्धिरिति चेदुच्यते—

> मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथाऽनायतनानि षट् ।
> अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः ॥

तत्र मूढत्रयम्—लोकमूढं देवतामूढं पाखंडिमूढं चेति मूढत्रयम्। तत्र लोकमूढम्—

> सूर्यार्घो ग्रहणस्नानं न्तौ द्रविणव्ययः ।
> सन्ध्यासेवाग्निसत्कारो देहगेहार्चनाविधिः ॥
> गोपृष्ठान्तनमस्कारस्तन्मूत्रस्य निषेवणम् ।
> रत्न-वाहन-भू-वृक्ष-शस्त्र-शैलादिसेवनम् ॥
> आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम् ।
> गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते ॥

१ तत्त्वार्थ० १०, १। २ द जैनदिगम्बराः। ३ ज 'पंडितान् गणधरादीन् आरयति' इति पाठः।

तत्र देवतामूढम्—

वरोपलिप्सयाऽऽशावान् रागद्वेषमलीमसाः ।
देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते ॥

तत्र पाखण्डिमूढम्—

सग्रन्थारम्भहिंसानां संसारावर्तवर्त्तिनाम् ।
पाखण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाखण्डिमोहनम् ॥

तत्राष्टौ मदाः—

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः ।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥

तत्र अनायतनानि षट्—

कुदेव-शास्त्र-शास्तॄणां तत्सेवकनृणां तथा ।
स्थानके गमनं पुंसामित्यनायतनानि षट् ॥

तत्र शंकादयोऽष्टौ दोषाः सप्तभयरहितत्वं जैनं दर्शनं सत्यमिति निःशंकितत्वम् (१) । इह-परलोक-भोगोपभोगकांक्षारहितत्वं निःकांक्षत्वम् (२) । शरीरादिकं पवित्रमिति मिथ्यासङ्कल्पनिरासो निर्विचिकित्सता (३) अनार्हततदष्टतत्त्वेषु मोहरहितत्वममूढदृष्टिता (४) । उत्तमक्षमादिभिरात्मनो धर्मवृद्धिकरणं चतुर्विध-संघदोषझम्पनं चोपबृंहणं उपगूहनापरनामधेयम् (५) । क्रोधमानमायालोभादिषु धर्मविध्वंसकारणेषु विद्यमानेष्वपि धर्मादप्रच्यवनं स्थितीकरणम् (६) । जिनशासनं सदानुरागित्वं वात्सल्यम् (७) । सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्रतपोभिरात्मप्रकाशनं जिनशासनोद्योतकरणं च प्रभावना (८) । एतेऽष्टौ सम्यक्त्वगुणाः । तद्विपरीता अष्टौ दोषाः । तथा चर्मजलघृततैलभूतनाशनमूलक-पद्मिनीकंद-पलाण्डु-तुम्बक-कलिंग-सूरण-कन्द-सर्वपुष्प-सन्धानकभक्षणवर्जनादिकं दृग्विशुद्धिरुच्यते । ते के द्वादश गणाः ?

निर्ग्रन्थकल्पवनिता-व्रतिका-भ-भौम-
नागस्त्रियो भवन-भौम-भ-कल्पदेवाः ।
कोष्ठस्थिता नृ-पशवोऽपि नमन्ति यस्य
तस्मै नमस्त्रिभुवनप्रभवे जिनाय ॥

इति वसन्ततिलकावृत्ते कथितो द्वादशविधगणः अर्हद्दक्षिणतो गण्यते । तथाहि—प्रथमकोष्ठे निर्ग्रन्था मुनयस्तिष्ठन्ति । द्वितीयकोष्ठे षोडशस्वर्गवनिता भवन्ति । तृतीयकोष्ठे व्रतिकाः पंचमगुणस्थान-वर्तिन्यो राजपत्न्यादयः क्षान्तयश्च तिष्ठन्ति । चतुर्थकोष्ठे ज्योतिषां सूर्यचन्द्रमसग्रहनक्षत्रताराणां स्त्रियो वसन्ति । पंचमे कोष्ठे व्यन्तराणामष्टविधानां देव्य आसते । षष्ठे कोष्ठे भवनवासिनां वासिताः सन्ति । सप्तमे कोष्ठे भवनवासिनो देवा जाग्रति । अष्टमे कोष्ठे अष्टविधा व्यन्तरसुराश्चकासति । नवमे कोष्ठे ज्योतिर्देवाः पंचधा वर्तन्ते । दशमे कोष्ठे कल्पजा देवा षोडशभेदा उपविशन्ति । एकादशे कोष्ठे नृपादयो मनुष्याः सन्तिष्ठन्ते । द्वादशे कोष्ठे सिंह-गजाश्व-हंस-मयूर-उन्दुरगर्दभादयोऽपि भवन्ति । ते सर्वेऽपि दृग्विशुद्धिसहिता भवन्तीति आगमाद् बोद्धव्यः ।

मिथ्यादृष्टिरभव्योऽसंज्ञी जीवोऽत्र विद्यते नैव ।
अज्ञानव्यवसायो यः संदिग्धो विपर्यस्तः ॥
अन्धाः पश्यन्ति रूपाणि श्रृण्वन्ति बधिराः श्रुतिम् ।
मूकाः स्पष्टं विभाषन्ते चंक्रम्यन्ते च पङ्गवः ॥

रुद्रस्य च गणः क्रूरो भवति । मिथ्यादृष्टिश्च मांसाहारी प्रमथनामा भवति, न तथा स्वामिनो गण इति भावः (२०)। **वसुधारार्चितास्पदः**—वसुधाराभी रत्न-सुवर्णादिधनवर्षणैरर्चितं पूजितमास्पदं मातुरङ्गणं यस्येति वसुधारार्चितास्पदः । धने वृद्धौषधे रत्ने स्वादौ च वसु कथ्यते इत्यभिधानात् (२१)।

सुस्वप्नदर्शी दिव्यौजाः शचीसेवितमातृकः ।
स्याद्रत्नगर्भः श्रीपूतगर्भो गर्भोत्सवोच्छ्रुतः ॥ ३४ ॥

सुस्वप्नदर्शी—सुष्ठु शोभनान् स्वप्नान् मातुर्दर्शयतीति सुस्वप्नदर्शी ।

गज-वृषभ-सिंह-कमलादामेन्दु-रवीति मीन-घटौ[1] च सरः ।
अब्ध्यासनं सुरसद्म च नागगृहं मणिगणो वह्निः ॥

गर्भागमनकाले मुखे गजराजप्रवेशश्च, इति सुस्वप्नदर्शी (२२)। **दिव्यौजाः**—दिव्यं अमानुषं ओजोऽवष्टम्भो दीप्तिः प्रकाशो बलं धातु तेजो वा यस्य स दिव्यौजाः (२३)।

धातु तेजो बलं दीप्तिरवष्टम्भश्च कथ्यते ।
ओजःशब्देन विद्वद्भिः प्रकाशः श्रुतसागरैः ॥

शचीसेवितमातृकः—शच्या शक्रस्य महादेव्या सेविता आराधिता माता अम्बिका यस्य स शचीसेवितमातृकः । 'नद्यृदन्ताच्छेषाद्वा बहुव्रीहौ कः (२४)। **रत्नगर्भः**—गर्भेषु उत्तमो गर्भः रत्नगर्भः, रत्नैरुपलक्षितो गर्भो वा यस्य स रत्नगर्भः; नवमासेषु रत्नवृष्टिसम्भवात् (२५)। **श्रीपूतगर्भः**—श्रीशब्देन श्री-ह्री-धृति-कीर्त्ति-बुद्धि-लक्ष्मी-शान्ति-पुष्टिप्रभृतयो दिक्कुमार्यो लभ्यन्ते । श्रीभिः पूतः पवित्रितो गर्भो मातुरुदरं यस्य स श्रीपूतगर्भः (२६)। **गर्भोत्सवोच्छ्रुतः**—गर्भस्य उत्सवो गर्भकल्याणं देवैः कृतं तेनोच्छ्रुतः उन्नतः गर्भोत्सवोच्छ्रुतः (२७)।

दिव्योपचारोपचितः पद्मभूर्निष्कलः स्वजः ।
सर्वीयजन्मा पुण्यांगो भास्वानुद्भूतदैवतः ॥ ३५ ॥

दिव्योपचारोपचितः—दिव्येन देवोपनीतेनोपचारेण पूजया उपचितः पुष्टिं प्राप्तः पुष्टिं नीतो वा दिव्योपचारोपचितः (२८)। **पद्मभूः**—पद्मैरुपलक्षिता भूर्मातुरंगणं[2] यस्येति पद्मभूः । अथवा मातुरुदरे स्वामिनो दिव्यशक्त्या कमलं भवति, तत्कर्णिकायां सिंहासनं भवति, तस्मिन् सिंहासने स्थितो गर्भरूपो भगवान् वृद्धिं याति, इति कारणात् पद्मभूर्भगवान् भण्यते, पद्माद् भवति पद्मभूः (२९)। उक्तञ्च **महापुराणे**—

कुशेशयं समं देवं सा दधानोदरे शयम् ।
कुशेशयं शयेवासीन्माननीया दिवौकसाम् ॥

निष्कलः—निर्गता कला कालो यस्येति निष्कलः । निश्चिता कला विज्ञानं वा यस्येति निष्कलः । उक्तञ्च—

षोडशोंऽशो विधोर्मूलं रैवृद्धिः कलनं तथा ।
शिल्पं विज्ञेया कला बुधजनैरिह ॥

अथवा निर्गतं कलं रेतो यस्येति निष्कलः, कामशत्रुत्वात् । अथवा निर्गतं कलमजीर्णं यस्येति निष्कलः, कवलाहाररहितत्वात् । उक्तञ्च—

अव्यक्तमधुरध्वाने कलं रेतस्यजीर्णके ।

१ ख प्रे० 'तिमि कुटौ' । २ ख मातुरगमनं । स मातुरगमनं ।

अथवा निष्कं हेम लाति आदत्ते रत्नवृष्टेरवसरे निष्कलः । अथवा निष्कं सुवर्णं लाति ददाति पश्चाश्चर्यावसरे दातुर्जनस्येति निष्कलः । अथवा निष्कं लाति राज्यावसरे वक्षोविभूषणं गृह्णाति सतरलं सहस्रसरहारं कण्ठे दधातीति निष्कलः (३०) । उक्तञ्च—

वक्षोविभूषणे साष्टशते हेम्नश्च हेम्नि च ।
तत्पले चैव दीनारे कर्षे निष्को निगद्यते ॥

स्वजः—स्वेन आत्मना जायते उत्पद्यते, स्वानुभूत्या प्रत्यक्षीभवतीति स्वजः । अथवा शोभनो रागद्वेषमोहादिरहितः अजो ब्रह्मा स्वजः । अन्यस्तु लोकोक्तलक्षणः अजः, स तु दुरजः । (३१) । तथा चोक्तं **भट्टाकलङ्केन**—

ह्यवश्यामुदपादि रागबहुलं चेतो यदीयं पुनः,
पात्री-दण्ड-कमण्डलुप्रभृतयो यस्याकृतार्थस्थितिम् ।
आविर्भावयितुं भवन्ति स कथं ब्रह्मा भवेन्मादृशां,
क्षुत्तृष्णाश्रमरागरोषरहितो ब्रह्मा कृतार्थोऽस्तु नः ॥

सर्वीयजन्मा—सर्वेभ्यो हितं सर्वीयम्, सर्वीयं जन्म यस्येति सर्वीयजन्मा । भगवज्जन्मसमये नारकाणामपि क्षणं सुखं भवति यस्मात्, तेन सर्वीयजन्मा (३२) । **पुण्याङ्गः**—पुण्यं पुण्योपार्जनहेतुभूतमङ्गं शरीरं यस्येति पुण्याङ्गः, मलमूत्ररहितशरीरत्वादिति । अथवा पुण्यानि पूर्वापर-विरोधरहितानि अङ्गानि आचाराङ्गादीनि द्वादश यस्येति पुण्याङ्गः । अथवा पुण्यानि पापरहितानि अङ्गानि हस्त्यश्वादीनि ऊर्ध्वगामीनि यस्येति पुण्याङ्गः (३३) । **भास्वान्**—भासो दीप्तयो विद्यन्ते यस्य स भास्वान्, चन्द्रार्ककोटेरपि अधिकतेजा इत्यर्थः (३४) । **उद्भूतदैवतः**—उद्भूतं उदयमागतमुत्कृष्टभूतं वा दैवतं पुण्यं यस्य स उद्भूतदैवतः । अथवा उद्भूतं अनन्तानन्तभवोपार्जितं दैवं कर्म तत्याति क्षयं नयतीति उद्भूतदैवतः । अथवा उत्कृष्टानां भूतानां प्राणिनां शक्रादीनां दैवतं देवः उद्भूतदैवतः (३५) ।

विश्वविज्ञातसंभूतिविश्वदेवागमाद्भुतः ।
शचीसृष्टप्रतिच्छन्दः सहस्राक्षदृगुत्सवः ॥ ३६ ॥

विश्वविज्ञातसंभूतिः—विश्वस्मिन् त्रिभुवने विज्ञाता संभूतिर्जन्म यस्येति विश्वविज्ञातसम्भूतिः । अथवा विश्वस्मिन् विज्ञाता विदिता विख्याता संभूतिः समीचीनमैश्वर्यं यस्येति विश्वविज्ञातसंभूतिः (३६) । **विश्वदेवागमाद्भुतः**—विश्वेषां भवनवासि-व्यन्तर-ज्योतिष्क-कल्पवासिनां देवानामागमनेन सर्वोपढौकनेन अद्भुतमाश्चर्यं यस्मात् लोकानां स विश्वदेवागमाद्भुतः । अथवा विश्वदेवानां आगमेन शास्त्रेण अद्भुतमाश्चर्यं यस्मादिति विश्वदेवागमाद्भुतः (३७) । **शचीसृष्टप्रतिच्छन्दः**—शच्या इन्द्राण्या सृष्टो विक्रियया कृतः प्रतिच्छन्दः प्रतिकायो मायामयबालको यस्य स शचीसृष्टप्रतिच्छन्दः (३८) । **सहस्राक्षदृगुत्सवः**—सहस्राक्षस्य इन्द्रस्य दृशां लोचनानां उत्सवः आनन्दो यस्मादिति सहस्राक्षदृगुत्सवः (३९) । तथा चोक्तं [समन्तभद्रस्वामिना]—

तव रूपस्य सौन्दर्यं दृष्ट्वा तृप्तिमनापिवान् ।
द्व्यक्षः शक्रः सहस्राक्षो बभूव बहुविस्मयः ॥

नृत्यदैरावतासीनः सर्वशक्रनमस्कृतः ।
हर्षाकुलामरखगश्चारणर्षिमतोत्सवः ॥ ३७ ॥

नृत्यदैरावतासीनः—नृत्यन् नर्तनं कुर्वन् योऽसावैरावतः, तस्मिन् आसीन उपविष्टः । ई तस्यास इति साधुः, नृत्यदैरावतासीनः (४०) । **सर्वशक्रनमस्कृतः**—सर्वैः द्वात्रिंशता शक्रैर्देवेन्द्रैर्नमस्कृतः प्रणाम-

माविषयीकृतः सर्वशक्रनमस्कृतः । दशभिर्भवनवासिभिः अष्टभिर्व्यन्तरशक्रैः चन्द्रेण रविणा च द्वादशभिः कल्पवासीन्द्रैर्नमस्कृत इत्यर्थः । के ते द्वादश कल्पवासीन्द्राः ? सौधर्मः ऐशानः सानत्कुमारः माहेन्द्रः ब्रह्मलोकेन्द्रः लान्तवेन्द्रः शुक्रेन्द्रः शतारेन्द्रः आनतेन्द्रः प्राणतेन्द्रः आरणेन्द्रः अच्युतेन्द्रश्चेति द्वादश (४१)। **हर्षाकुलामरखगः**—न म्रियन्ते आयुषा विना अमराः, खे गच्छन्तीति खगाः । अमराश्च खगाश्च अमरखगाः । हर्षेण जन्माभिषेकावलोकनार्थं आकुला अधीराः हर्षाकुलाः, हर्षाकुलाः आनन्देन उत्सुका विह्वलीभूता परमधर्मानुरागं प्राप्ताः अमरखगा यस्येति स हर्षाकुलामरखगः (४२)। **चारणर्षिमतोत्सवः**—चारणर्षीणां मतोऽभीष्टः उत्सवो जन्माभिषेककल्याणं यस्येति चारणर्षिमतोत्सवः । क्रियाविषया ऋद्धिर्द्विधा-चारणत्वमाकाशगामित्वं चेति । तत्र चारणत्वं तावदनेकविधं । तत्रेयमार्या—

> जंघाश्रेण्यग्निशिखाजलदलफलपुष्पबीजतन्तुगतैः ।
> चारणनाम्नः स्वैरं चरतश्च दिवि स्तुमो विक्रियर्द्धिगतान् ॥

तत्र जंघाचारणाः भूमेरुपरि आकाशे चतुरङ्गुलप्रमाणा जङ्घोत्क्षेप-निक्षेपशीघ्रकारणपटवः बहुयोजनशतगमनप्रवणाः जङ्घाचारणाः । श्रेणिं आलीं आलम्ब्य पूर्ववद्गच्छन्ति ते श्रेणिचारणाः एवमग्निज्वालामस्पृशन्तो गच्छन्ति अग्निशिखाचारणाः । एवं जलमस्पृश्य भूमाविव पादोद्धार-निक्षेप-कुशलाः जलचारणाः । अथवा वापी-तडाग-नद्यादिषु जलमुपादाय अप्कायिकजीवानविराधयन्तो गच्छन्ति ते जलचारणाः । एवं दलोपरि गच्छन्ति ते दलचारिणः । एवं फलानामुपरि गच्छन्ति ते फलचारणाः । एवं पुष्पाणामुपरि गच्छन्ति ते पुष्पचारणाः, तद्विराधनां न प्रकुर्वन्ति । एवं बीजाङ्कुरोपरि गच्छन्ति ते बीजचारणाः । एवं तन्तूनामुपरि गच्छन्ति ते तन्तुचारणाः । ते चारणा आकाशगामिनश्चारणाः कथ्यन्ते । पर्यंकासनस्था आकाशे गच्छन्ति, निषण्णा वा गच्छन्ति, कायोत्सर्गेण वा आकाशे गच्छन्ति, पादोद्धारनिक्षेपणेन वा आकाशे गच्छन्ति, पादोद्धारनिक्षेपणं विनापि ऊर्ध्वा एव उड्डीयन्ते ये ते आकाशगामिनश्चारणाः कथ्यन्ते । तेषां मतोत्सवः चारणर्षिमतोत्सवः (४३) ।

> **व्योम विष्णुपदारक्षा स्नानपीठायिताद्रिराट् ।**
> **तीर्थेशम्मन्यदुग्धाब्धिः स्नानाम्बुस्नातवासवः ॥ ३८ ॥**

व्योम—विशेषेण अवति रक्षति प्राणिवर्गानिति व्योम (४४) । **विष्णुपदारक्षा**—वेवेष्टि व्याप्नोति लोकमिति विष्णुः, प्राणिवर्गः । विषे किश्च इत्यनेन नुप्रत्ययः । विष्णोः प्राणिवर्गस्य पदानि चतुर्दशमार्गणास्थानानि गुणस्थानानि च तेषामासन्ताद् रक्षा विष्णुपदारक्षा, परमकारुणिकत्वात् स्वामिनः । उक्तञ्च—**गोमट्टसारग्रन्थे श्रीनेमिचन्द्रेण भगवता ।**

> गइ इंदियं च काये जोए वेए कसायणाणे य ।
> संजम दंसण लेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥

तथा चतुर्दशगुणस्थानगाथाद्वयं—

> मिच्छो सासण मिस्सो अविरयसम्मो य देसविरदो य ।
> विरदो पमत्त इयरो अपुव्व अणियट्टि सुहुमो य ॥
> उवसंत खीणमोहो सजोगकेवलिजिणो अजोगी य ।
> चोद्दस गुणठाणाणि य कमेण सिद्धा मुणेयव्वा ॥

व्योम विष्णुपदारक्षा इति नामद्वयं आविष्टलिङ्गं ज्ञातव्यम् (४५) । **स्नानपीठायिताद्रिराट्**—स्नानस्य जन्माभिषेकस्य पीठं चतुष्किका तदिवाचरति स्म स्नानपीठायितः अद्रिराट् मेरुपर्वतो यस्य स स्नान-

१ द सुत्तु ।

पीठायितादिराट् (४६)। **तीर्थेशम्मन्यदुग्धाब्धिः**—तीर्थानां जलाशयानामीशः स्वामी तीर्थेशः। तीर्थेशमात्मानं मन्यते तीर्थेशम्मन्यः, तीर्थेशम्मन्यो दुग्धाब्धिः क्षीरसागरो यस्य स तीर्थेशम्मन्यदुग्धाब्धिः (४७)। **स्नानाम्बुस्नातवासवः**—स्नानाम्बुना स्नानजलेन स्नातः प्रक्षालितशरीरो वासवो देवेन्द्रो यस्येति स्नानाम्बुस्नातवासवः। स्वामिनः स्नानजलेन सर्वेऽपि शक्राः स्नानं कुर्वन्ति (४८)।

गन्धाम्बुपूतत्रैलोक्यो वज्रसूचीशुचिश्रवाः।
कृतार्थितशचीहस्तः शक्रोद्घुष्टेष्टनामकः॥३९॥

गन्धाम्बुपूतत्रैलोक्यः-गन्धाम्बुना ऐशानेन्द्रावर्जितेन गन्धोदकेन पूतं पवित्रीभूतं त्रैलोक्यं यस्येति गन्धाम्बुपूतत्रैलोक्यः (४९)। **वज्रसूचीशुचिश्रवाः**—परमेश्वरस्य कर्णौ किल स्वभावेन सच्छिद्रौ भवतः। ऊर्णनाभपटलसदृशेन पटलेन झम्पितौ च भवतः। पश्चाद्देवेन्द्रो वज्रसूचीं गृहीत्वा तत्पटलं दूरीकरोति, कर्णच्छिद्रौ च प्रकटीभवतः, तत्र कुंडले आरोपयति। अयं आचार इति कर्णवेधं करोति। तत्प्रस्तावे इदं भगवतो नाम—यत् (वज्र-) सूच्या शुचिनी श्रवसी कर्णौ यस्येति वज्रसूचीशुचिश्रवाः (५०)। **कृतार्थितशचीहस्तः**-कृतार्थितौ सफलीकृतौ शच्या इन्द्रमहादेव्या हस्तौ येन स कृतार्थितशचीहस्तः। भगवतो जन्माभिषेकानन्तरं इन्द्राणि किल जलकणान् दूरीकरोति, वस्त्राभरणानि परिधापयति, विलेपनं[1] तिलकादिकं च विदधाति। तस्मिन्नवसरे शच्या करौ कृतार्थौ भवत इति कृतार्थितशचीहस्तः (५१)। **शक्रोद्घुष्टेष्टनामकः** शक्रेण उद्घुष्टमुच्चैरुच्चारितं इष्टं सर्वैर्मानितं नाम यस्येति शक्रोद्घुष्टेष्टनामकः (५२)।

शक्रारब्धानन्दनृत्यः शचीविस्मापिताम्बिकः।
इन्द्रनृत्यन्तपितृको रैदपूर्णमनोरथः॥४०॥

शक्रारब्धानन्दनृत्यः-शक्रेण सौधर्मेन्द्रेण आरब्धं मेरुमस्तके जिनेश्वराग्रे आनन्दनृत्यं भगवज्जन्माभिषेककरणोत्पन्नविशिष्ट-पुण्यसमुपार्जन-समुद्भूतहर्षनाटकं यस्येति शक्रारब्धानन्दनृत्यः (५३)। **शचीविस्मापिताम्बिकः**—शच्या इन्द्राण्या सौधर्मेन्द्रपत्न्या विस्मापिता स्वपुत्रवैभवदर्शनेनाश्चर्यं प्रापिता अम्बिका माता यस्येति शचीविस्मापिताम्बिकः। गोरप्रधानस्यान्तस्य स्त्रियामादादीनां चेति ह्रस्वः (५४)। **इन्द्रनृत्यन्तपितृकः**—नर्तनं नृतिः। स्त्रियां क्तिः। इन्द्रस्य नृतिः इन्द्रनृतिः। इन्द्रनृतिः अंते अग्रे पितुर्भर्तुर्यस्येति इन्द्रनृत्यन्तपितृकः। नद्यृकृदन्ताच्छेपाद्वा बहुव्रीहौ कः। मेरुमस्तके स्वाम्यग्रे स्वाम्यानयनानन्तरं पितुरग्रे च वारद्वयं सौधर्मेन्द्रो नृत्यं करोतीति नामद्वयेन सूचितमिति भावः (५५)। **रैदपूर्णमनोरथः**—रैदेन कुबेरयक्षेण सौधर्मेन्द्रादेशात् पूर्णाः परिपूरिताः समाप्तिं नीता भोगोपभोगपूरणेन मनोरथा दोहदा यस्येति रैदपूर्णमनोरथः (५६)।

आज्ञार्थीन्द्रकृतासेवो देवर्षीष्टशिवोद्यमः।
दीक्षाक्षणक्षुब्धजगद्भूर्भुवःस्वःपतीडितः॥४१॥

आज्ञार्थीन्द्रकृतासेवः—आज्ञा शिष्टिरादेश इति यावत्। आज्ञाया आदेशस्य अर्थी ग्राहकः आज्ञार्थी, स चासाविन्द्रश्च आज्ञार्थीन्द्रः। आज्ञार्थीन्द्रेण कृता विहिता आसमन्तात् सेवा पर्युपासनं यस्येति आज्ञार्थीन्द्रकृतासेवः (५७)। **देवर्षीष्टशिवोद्यम**—देवानां ऋषयो देवर्षयो लौकान्तिकाः। देवर्षीणां लौकान्तिकदेवानामिष्टो वल्लभः शिवोद्यमः शिवस्य मोक्षस्य उद्यमो यस्येति देवर्षीष्टशिवोद्यमः। उक्तञ्च—

चतुर्लक्षा सहस्राणि सप्त चैव शताष्टकम्।
विंशतिर्मिलिता एते लौकान्तिकसुराः स्मृताः॥

पञ्चमस्वर्गस्य अन्ते वसन्ति, अष्टसागरायुषो भवन्ति, दीक्षाकल्याणे तीर्थंकरसम्बोधनार्थमागच्छन्ति भूलोकम्। अन्येषु कल्याणेषु नागच्छन्ति। एकं मनुष्यजन्म गृहीत्वा मुक्तिं गच्छन्तीति लौकान्तिकदेवा भवन्तीति

[1] न विलेपयति।

ज्ञातव्यम् । (५८) । दीक्षाक्षणक्षुब्धजगत्—दीक्षाक्षणे निःक्रमणकल्याणे क्षुब्धं क्षोभं प्राप्तं जगत् त्रैलोक्यं यस्येति दीक्षाक्षणक्षुब्धजगत् (५९) । भूर्भुवःस्वःपतीडितः—भूर् पाताललोकः, भुवर् मध्यलोकः, स्वर् ऊर्ध्वलोकः । तेषां पतयः स्वामिनः भूर्भुवःस्वःपतयः, तैरीडितः स्तुतीनां कोटिभिः कथितः भूर्भुवःस्वःपतीडितः (६०) । वैदिकादिका एते शब्दाः रकारान्ताः अव्ययाः ज्ञातव्याः । उक्तञ्च[1] संहितायां गायत्रीमंत्रः—ॐ भूर्भुवःस्व स्तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहिधियो योनः प्रचोदयात् ।

कुबेरनिर्मितास्थानः श्रीयुग्योगीश्वरार्चितः ।
ब्रह्मेड्यो ब्रह्मविद् वेद्यो याज्यो यज्ञपतिः क्रतुः ॥ ४२ ॥

कुबेरनिर्मितास्थानः—कुबेरेण ऐलविलेन राजराजेन शक्रभाण्डागारिणा धनदयक्षेण निर्मितं सृष्टं आस्थानं समवसरणं यस्येति कुबेरनिर्मितास्थानः । उक्तञ्च—

मानस्तम्भाः सरांसि प्रविमलजलसत्खातिकापुष्पवाटी
प्राकारो नाट्यशाला द्वितयमुपवनं वेदिकान्तर्ध्वजाध्वा ।
साल:[2] कल्पद्रुमाणां सपरिवृत्तिवनं स्तूपहर्म्यावली च,
प्राकारः स्फाटिकोन्तर्नृ-सुर-मुनिसभापीठिकाग्रे स्वयम्भूः ॥

इति वृत्ते स्तूपाः पूर्वं गृहीता अपि हर्म्यावलीपश्चात् ज्ञातव्या इति विशेषः (६१) । श्रीयुक्—श्रियं नवनिधिलक्षणां द्वादशद्वारेषु दीनजनदानार्थं शोभार्थं वा युनक्तीति श्रीयुक् । अथवा श्रियं अभ्युदयनिःश्रेयसलक्षणोपलक्षितां लक्ष्मीं युनक्ति योजयति भक्तानामिति श्रीयुक् (६२) । योगीश्वरार्चितः—यम-नियमासन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधिलक्षणा अष्टौ योगा विद्यन्ते येषां ते योगिनः । योगिनां मुनीनां ईश्वरा गणधरदेवादयः, तैरर्चितः पूजितः योगीश्वरार्चितः । अथवा योगी चासौ ईश्वरश्च सयोगकेवली, स चासौ अर्चितः योगीश्वरार्चितः । अथवा योगो विद्यते स्त्रीसंयोगो विद्यते यस्य स चासौ ईश्वरो रुद्रः, तेनार्चितो योगीश्वरार्चितः । श्रीवर्धमानजिनः किल उज्जयिनीनगरस्य बाह्ये अतिमुक्तकनाम्नि-श्मशाने रात्रौ कायोत्सर्गेण स्थितः । तत्र पार्वतीसहितो रुद्र आगतः । स दुष्टस्वभावः परमेश्वरधैर्यपरीक्षार्थं सर्वरात्रौ उपसर्गं कुर्वन् स्थितः । विद्याबलेनानेकराक्षस-सिंह-शार्दूल-वेतालरूपाणि कृत्वा भीषितवान्, तथा दृषद्वृष्ट्यादिकं च कृतवान् । तं चालयितुमसमर्थः सन् उमया सह पादयोः पतित्वा नर्त्तनं विधाय महति महावीरसञ्ज्ञां कृत्वा वृषभारूढः पार्वत्या सह क्वापि गतः, इति योगीश्वरार्चितः (६३) । ब्रह्मेड्यः—ब्रह्मभिरहमिन्द्रैरीड्यः स्वस्थानस्थितैः स्तूयते ब्रह्मेड्यः । अथवा ब्रह्मनाम्ना मायाविना विद्याधरेण ईड्यः ब्रह्मेड्यः । अथवा ब्रह्मणा ज्ञानेन द्वादशाङ्गेन ईड्यो ब्रह्मेड्यः (६४) । ब्रह्मवित्—ब्रह्माणमात्मानं वेत्तीति ब्रह्मवित् (६५) । वेद्यः—वेदे ज्ञाने नियुक्तो वेद्यः । अथवा वेदितुं योग्यो वेद्यः (६६) । याज्यः—याज्यते याज्यः । स्वराध्यः (६७) । यज्ञपतिः—यज्ञस्य पतिः स्वामी यज्ञपतिः (६८) । यदाह संहितायाम्—

देवः सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय ।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूःकेत[3]-न्नः पुनातु वाचस्पतिर्वाच न्न स्वदतु ।

क्रतुः—क्रियते योगिभिर्ध्यानेन प्रकटो विधीयते क्रतुः (६९) ।

यज्ञांगममृतं यज्ञो हविः स्तुत्यः स्तुतीश्वरः ।
भावो महामहपतिर्महायज्ञोऽग्रयाजकः ॥ ४३ ॥

यज्ञाङ्गम्—यज्ञस्य अङ्गं अभ्युपायः, स्वामिनं विना पूज्यो जीवो न भवतीति यज्ञाङ्गम् । आविष्टलिङ्गं नामेदं (७०) । अमृतम्—मरणं मृतम्, न मृतं अमृतं मृत्युरहित इत्यर्थः । आविष्टलिङ्गमिदं नाम ।

१. द प्रतिमें 'उक्तञ्च संहितायां गायत्री मंत्रः' इतना लिखकर उसपर हरताल फिरा हुआ है और आगेका पाठ नहीं है । २ द शालः । ३ द केतं पूज्यकेतं । ज केतपूकेतन ।

अमृतं रसायनमं, जरामरणनिवारकत्वात्। संसार-शरीर-भोग-तृष्णानिवारकत्वात्, स्वभावेन निर्मलत्वाद्वा अमृतं जलम्। अनन्तसुखदायकत्वाद्वा अमृतं मोक्षः। अमृतं अयाचितं स्वभावेन लभ्यत्वात्। अमृतं यज्ञ-शेषं, यज्ञे कृतेऽनुभूयमानत्वात्। अमृतं आकाशरूपः, कर्ममलकलङ्कलेपरहितत्वात्, शाश्वतत्वाद्वा।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वदन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत.॥

इति वेदान्तवाक्युक्तत्वादाकाशरूपः परमानन्दरसस्वभावत्वात् अमृतं स्वादु। अथवा शरीरतेजोदाय-कत्वादमृतं घृतम्। तदुक्तमश्वमेधे—ब्राह्मौदनं पचति रेत एवद्धरो यदाज्यमुच्छिष्यते[1] तेन रसनामभ्यज्यादरो। तेजो वा आज्यं प्रजापत्योऽश्वः प्रजापतिमेव तेजसा समर्द्धयन्त्यपूतो वा एषो मेध्यो यदश्वः। अमृतं मनो-हरो वा, मनोव्यापारनिवारकत्वात् (७१)। तदुक्तं—

मोक्षे सुधायां पानीये यज्ञशेषेऽप्ययाचिते।
गोरसस्वादुनोर्जग्धावाकाशे घृतहृद्ययोः॥
रसायनेऽन्ने च स्वर्णे तथाऽमृतमुदीर्यते॥

यज्ञः—इज्यते पूज्यते यज्ञः। कृष्णोऽग्नावात्मनीष्टौ च यज्ञ इत्युच्यते बुधैः इति वचनादात्मस्वरूपः (७२)। हविः—हूयते निजात्मनि लक्षतया दीयते हविः (७३)। अर्चि-शुचि-हचि-हु-स्पृहि छादि-छर्दिभ्यः इस्। पादो द्वितीयः। सूत्रं ४४। स्तुत्यः—स्तोतुं योग्यः स्तुत्यः। वृञ् इजुपधाण्शासुस्तु गुहां क्यप्। (७४)। स्तुतीश्वरः—स्तुतेरीश्वरः स्तुतीश्वरः। स्तुतौ स्तुतिकरणे ईश्वरा इन्द्रादयो यस्य स स्तुतीश्वरः (७५)। भावः—समवसरणविभूतिमंडितत्वात् भावः। अथवा यः पुमान् विद्वान् भवति स भावः कथ्यते। अथवा स्वर्गमोक्षादिकारणभूतत्वात् भावः। अथवा शब्दानां प्रवृत्तिहेतुत्वाद्भावः। भगवन्तं विना शब्दः कुतः प्रवर्त्तते, अर्हद्वक्त्रप्रसूतं गणधररचितमित्यादिश्रुतस्तुतिसद्भावात्। अथवा निजशुद्धबुद्धकस्वभावत्वात् भावः। उक्तञ्च—

शब्दप्रवृत्तिहेतुश्चाभिप्रायो जन्म वस्तु च।
आत्मलीला क्रिया मूर्तिर्योनिश्चेष्टा बुधस्तथा॥
सत्ता स्वभावो जन्तुश्च शृंगारादेश्च कारणम्।
अर्थेषु पंचदशसु भावशब्दः प्रकीर्तितः॥

अथवा भां दीप्तिमवति रक्षति अवाप्नोति आलिंगति ददाति वा भावः (७६)। उक्तञ्च—

पालने च गतौ कान्तौ प्रीतौ तृप्तौ च याचने।
स्वाम्यर्थेऽवगमे दीप्त्यावर्द्द्धौ श्रवणेऽपि च॥
प्रवेशे च क्रियायां चालिंगने वृद्धिभावयोः।
हिंसायां च तथा दानेऽभिलाषे भाव इष्यते॥

महामहपति—महामहस्य महापूजायाः पतिः स्वामी महामहपतिः। अथवा महस्य यज्ञस्य पतिः महपतिः महांश्चासौ महपतिः महामहपतिः (७७)। **महायज्ञ**—महान् घातिकर्मसमिद्धोमलक्षणो यज्ञो अस्य स महायज्ञः। अथवा महान् इन्द्र-धरणेन्द्र-महामण्डलेश्वरादिभिः कृतत्वात् त्रिभुवनभव्यजनमेलापकसंजा-तत्वात्. क्षीरसागरजलधारास्वर्गसञ्जातचन्दनकाश्मीरजकृष्णागुरुगन्धद्रव्यमुक्ताफलाक्षतामृतपिण्डहविः[2] पाक-

[1] द मुच्छितं। [2] द हविः सुरभमं हविः। ज हविः पार्नकवेष इति पाठः।

नैवेद्यदिव्यरत्नप्रदीपकालागुरुसिताभ्रधूपकल्पतरुत्पन्नाम्रनालिकेरकदलीफलपनसादिफलमहार्घकुसुमप्रकरदर्भदूर्वा-सिद्धार्थनन्द्यावर्तस्वस्तिकछत्रचामरादर्शगीतनृत्यवादित्रादिसम्भूतो यशो यस्येति महायशः। न तु माहादि-सर्वप्राणिसंघातघातलक्षणो दुष्टदुर्दयद्विजादिलक्षणो यशः, महापापोत्पादकत्वात्। अथवा महान् केवलज्ञान-लक्षणो यशो यस्य स भवति महायशः। अथवा महान् पञ्चविधो यशो यस्य स महायशः (७८)। तथा चोक्तं—

> अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
> होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥

अग्रयाजकः—अग्रः श्रेष्ठोऽधिकः प्रथमो वा याजको यज्ञकर्ता अग्रयाजकः।

> अग्नीध्राद्या धनैर्वार्या ऋत्विजो याजकाश्च ते।

अग्नीध्र-पैतृ-प्रशास्तृ-ब्राह्मण्य-छन्दस्य-छायाकग्रावस्तु-ब्रह्मा-मैत्रो--वरुण--प्रति-प्रस्थातृ-प्रतिहन्तृ-नेष्टृ नेतृ-सुब्रह्मण्याः, इत्थं सदस्याः सप्तदश ऋत्विजः। यो यजमानेन यज्ञं कारयति स याजक उच्यते। अग्र-याजकः अग्रदेवपूजकः त्रैलोक्याग्रस्थितेषत्प्राग्भारनामशिलोपरि तनुवातस्थितसिद्धपरमेश्वराणां दीक्षावसरे नमः सिद्धेभ्यः इति नमस्कारकर्मकारक इत्यर्थः (७९)।

> **दयायागो जगत्पूज्यः पूजार्हो जगदर्चितः।**
> **देवाधिदेवः शक्रार्च्यो देवदेवो जगद्गुरुः॥ ४४॥**

दयायागः—दया सगुण-निर्गुणसर्वप्राणिवर्गाणां करुणां, यागः पूजा यस्य स दयायागः। मिथ्या-दृष्टयो ब्राह्मणाः कर्मचांडालाः ब्राह्मणादीनपि मारयित्वाऽग्निकुंण्डे जुह्वति, स यागो न भवति। किन्तु मह-द्यागो भवति (८०)। उक्तञ्च—ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रं तमसे तस्करं इत्यादि देवसवित्रध्याये कांड्यो द्वाविंशतिः। **जगत्पूज्यः**—जगतां त्रिभुवनस्थितभव्यजीवानां पूज्यो जगत्पूज्यः (८१)। **पूजार्हः**—पूजाया अष्टविधार्चनस्य अर्हो योग्यः पूजार्हः (८२)। **जगदर्चितः**—जगतां त्रैलोक्यस्थित-भव्यप्राणिनां अर्चितः पूजितो जगदर्चितः (८३)। **देवाधिदेवः**—देवानां इन्द्रादीनामधिको देवः देवाधिदेवः। उक्तञ्च—

> मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यतः।
> तेन नाथ परमासि देवता श्रेयसे जिन वृष प्रसीद नः॥

अथवा देवानामाधिर्मानसी पीडा देवाधिः। देवाधिं दीव्यति जिगीषुतया स्फेटयतीति देवाधिदेवः (८४)। **शक्रार्च्यः**—शक्नुवंतीति शक्राः द्वात्रिंशदिन्द्रास्तेषामर्च्यः पूज्यः शक्रार्च्यः (८५)। **देवदेवः**—देवानामिन्द्रादीनामाराध्यो देवः देवदेवः। अथवा देवानां राज्ञां देवो राजा देवदेवः राजाधिराज इत्यर्थः। अथवा देवानां मेघकुमाराणां परमाराध्यो देवदेवः (८६)। उक्तञ्च—

> आयात भो मेघकुमारदेवाः प्रभोर्विहारावसराप्तसेवा।
> गृहीत यज्ञांशमुदीर्णशंपा गंधोदकैः प्रोक्षत यज्ञभूमिम्॥

जगद्गुरुः—जगतां जगति स्थितप्राणिवर्गाणां गुरुः पिता धर्मोपदेशको वा महान् जगद्गुरुः (८७)।

> **संहूतदेवसंघार्च्यः पद्मयानो जयध्वजी।**
> **भामण्डली चतुःषष्टिचामरो देवदुन्दुभिः॥ ४५॥**

संहूतदेवसंघार्च्यः—संहूत इन्द्रादेशेनामंत्रितो योऽसौ देवसंघः चतुर्णिकायदेवसमूहः, तेन अर्च्यः पूज्यः संहूतदेवसंघार्च्यः (८८)। उक्तञ्च—

एतैतेऽविलम्बितं ज्योतिर्व्यन्तरदिवौकसाममृतभुजः ।
कुलिशभृदाज्ञापनया कुर्वन्त्यन्ये समन्ततो व्याह्वानम् ॥

पद्मयानः—पद्मेन यानं गमनं यस्य स पद्मयानः (८६) । उक्तञ्च—

वरपद्मरागकेसरमतुलसुखस्पर्शहेममयदलनिचयम् ।
पादन्यासे पद्मं सप्त पुरः पृष्ठतश्च सप्त भवन्ति ॥

जयध्वजी—जयध्वजाः विद्यन्ते यस्य स जयध्वजी (९०) । **भामण्डली**—भामण्डलं कोट्यर्कसमानतेजोमंडलं विद्यते यस्य स भामंडली (९१) । **चतुःषष्टिचामरः**— चतुरधिका षष्टिः चतुःषष्टिः । चतुःषष्टिश्चामराणि प्रकीर्णकानि यस्य स चतुःषष्टिचामरः (९२) । **देवदुन्दुभिः**—देवानां संबंधिन्यो दुन्दुभयः सार्धद्वादशकोटिपटहाः यस्येति देवदुन्दुभिः (९३) ।

वागस्पृष्टासनश्छत्रत्रयराट् पुष्पवृष्टिभाक् ।
दिव्याशोको मानमर्दी संगीतार्होऽष्टमंगलः ॥४६॥

वागस्पृष्टासनः—वाग्भिर्वाणीभिरस्पृष्टं आसनं उरःप्रभृतिस्थानं यस्य स वागस्पृष्टासनः । उक्तञ्च—

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कंठः शिरस्तथा ।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ॥
हकारं पंचमैर्युक्तमन्तस्थाभिश्च संयुतम् ।
उरस्यं तं विजानीयात्कण्ठ्यमाहुरसंयुतम् ॥

अवर्णकवर्गहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः । ऋवर्णटवर्गरषा मूर्धन्याः । वज्राकृतिवर्णो जिह्वामूलीयः । ⌣⌢ [1]इति जिह्वामूलीयः । लृवर्णतवर्गलसा दन्त्याः । नासिक्योऽनुस्वारः । उवर्णपवर्गउपध्मानीया ओष्ठ्याः । इवर्णचवर्गयशास्तालव्याः । ए ऐ कंठतालव्यौ । ओ औ कंठोष्ठ्यौ । वो दन्त्योष्ठ्यः । अवर्णः सर्वमुखस्थानश्च । इत्युक्तानि वर्णस्थानानि । भगवतः वाक् वर्णात्मकोऽपि शब्दो न स्पृशति । ये तु अक्षररहितं ध्वनिं भगवतः कथयन्ति, त अयुक्तिवादिनः; अक्षरात्मकशब्दं विना अर्थस्यानुपलम्भात् । तथा च ये देवकृतजिनध्वनिं ध्वनयन्ति तेऽपि अयुक्तिवादिनः; जिनगुणविलोपनत्वात् ।

अरहंतभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं ।
पणमामि भत्तिजुत्तो सुदणाणमहोवहिं सिरसा ॥

इति सिद्धान्तवचनविरुद्धत्वाच्च । तेन ज्ञायते अक्षरात्मक एव स्वामिनो ध्वनिर्भवति । स्वामिन एव च ध्वनिर्भवतीति निरक्षरी इत्यस्यार्थः—निर्गतान्यक्षराणि यस्यां सा निरक्षरी, न तु अक्षररहिता इत्यर्थः वागस्पृष्टासनः (९४) । **छत्रत्रयराट्**—छत्रत्रयेणोपर्युपरि धृतेन राजते छत्रत्रयराट् (९५) । **पुष्पवृष्टिभाक्**—द्वादशयोजनानि व्याप्य पुष्पवृष्टिर्भवति, तानि च पुष्पाणि उपरिमुखानि अधोवृन्तानि स्युः । ईदृग्विधां पुष्पवृष्टिं भजते योग्यतया गृह्णातीति पुष्पवृष्टिभाक् (९६) । **दिव्याशोकः**—दिव्योऽमानुषो महामंडपोपरि स्थितः योजनैकप्रमाणकटग्रो मणिमयोऽशोकोऽशोकवृक्षो यस्य स दिव्याशोकः (९७) **मानमर्दी**—मानस्तम्भचतुष्टयेन प्रत्येकं सरोवरचतुष्टयवेष्टितेन प्रत्येकं सालत्रितयपरिवृतेन प्रत्येकं षोडशसोपानयुक्तपीठेन प्रत्येकं पद्मासनस्थितजिनप्रतिमाचतुष्कयुक्तेन प्रत्येकं उपरितनभागे सरोवरसहितेन हैमयन्त्रेण तत्रकृतजलक्रीडेन प्रत्येक छत्रत्रयशोभितेन प्रत्येकं घंटाचामरादिविराजितेन मिथ्यावादिनां मानमहंकारं दूरादपि दर्शनमात्रेण मर्दयति शतखंडीकरोतीत्येवंशीलो मानमर्दी (९८) । **संगीतार्हः**—गीतनृत्यवादित्रविराजमाननाट्यशालागतदेवांगनानृत्ययोग्यः संगीतार्हः । यत्र

---

१ द ग्रुष्क इति ।

नाट्यशालायां रत्नस्तम्भसहस्रशोभितायां एका पि नटी नृत्यन्ती स्तम्भेषु प्रतिबिम्बिता रूपसहस्रं दर्शयति। यत्रैकापि स्फुटयति नटद्रूपकोटिं नटीनाम्, इति वचनात् संगीतार्हः (९९)। अष्टमंगलः—अष्टौ मंगलानि प्रतिप्रतोलि यस्येति अष्टमंगलः। उक्तञ्च—

> भृङ्गार-ताल-कलश-ध्वज-सुप्रतीक-श्वेतातपत्र-वरदर्पण-चामराणि।
> प्रत्येकमष्टशतकानि विभान्ति यस्य तस्मै नमस्त्रिभुवनप्रभवे जिनाय॥

सुप्रतीकशब्देन स्तम्भाधारः नानाविचित्रचित्रितः पूजाद्रव्यस्थापनायोग्यः कुम्भिकापरनामा समुच्यते। अन्यत्सुगमम् (१००)।

> अकलंक पूज्यपादाः विद्यानन्दाः समन्तभद्राद्याः।
> श्रुतसागरैश्च विनुता दिशन्तु सिद्धिं तृतीयशते[1]॥

इति यज्ञार्हशतनामा तृतीयोऽध्यायः समाप्तः।

अथ चतुर्थोऽध्यायः

> तीर्थकृत्तीर्थसृट् तीर्थकरस्तीर्थंकरः सुदृक्।
> तीर्थ ी तीर्थभर्ता तीर्थेशस्तीर्थनायकः॥ ४७॥

ॐ नमः। **तीर्थकृत्**—तीर्यते संसारसागरो येन तत्तीर्थं द्वादशांगं शास्त्रम्, तत्करोतीति तीर्थकृत्। रमि-काषि-कुषि[2]-यातृ-वचि-रिचि-सिचि-गृम्यस्थक्'। क्विप् धातोस्तोऽन्तः पानुबन्धे (१)। **तीर्थसृट्**—तीर्थं सृजतीति तीर्थसृट् (२)। **तीर्थकरः**—तीर्थं करोतीति तीर्थकरः (३)। **तीर्थंकरः**—तीर्थं करोतीति तीर्थंकरः। वर्णागमत्वात् मोऽन्तः (४)। **सुदृक्**—शोभना दृक् क्षायिकं सम्यक्त्वं यस्य स सुदृक्। शोभनलोचनो वा सुदृक् (५)। उक्तञ्च—

> नेमिर्विशालनयनो नयनोदितश्रीरश्रान्तबुद्धिविभवो विभवोऽथ भूयः।
> प्राप्तो महाजनगराजगराजि तत्र सूतेन चारु जगदे जगदेकनाथः॥

तीर्थकर्त्ता—तीर्थस्य कर्त्ता तीर्थकर्त्ता (६)। **तीर्थभर्त्ता**—तीर्थस्य भर्त्ता स्वामी तीर्थभर्त्ता। अथवा तीर्थं बिभर्तीत्येवंशीलः तीर्थभर्त्ता (७)। **तीर्थेशः**—तीर्थस्य ईशः स्वामी तीर्थेशः (८)। **तीर्थनायकः**—तीर्थस्य नायकः स्वामी तीर्थनायकः (९)।

> धर्मतीर्थकरस्तीर्थप्रणेता तीर्थकारकः।
> तीर्थप्रवर्त्तकस्तीर्थवेधास्तीर्थविधायकः॥ ४८॥

धर्मती र्थकरः—धर्मश्चारित्रं स एव तीर्थः, तं करोतीति धर्मतीर्थकरः (१०)। **तीर्थप्रणेता**—तीर्थं प्रणयतीति करोति तीर्थप्रणेता (११)। उक्तञ्च—

---

१ पद्यमिदं ज.प्रतौ नास्ति। २-द. कुषि। द प्रतौ नास्त्ययं पाठः।

सृजति करोति प्रणयति घटयति निर्मांति निर्मिमीते च ।
अनुतिष्ठति विदधाति च रचयति कल्पयति चेति२ करणार्थे ॥

तीर्थकारकः— तीर्थस्य कारकः तीर्थकारकः (१२) । **तीर्थप्रवर्त्तकः**— तीर्थस्य प्रवर्त्तकः तीर्थ-प्रवर्त्तकः (१३) । **तीर्थवेधाः**—तीर्थस्य वेधा कारकः तीर्थवेधाः (१४) । **तीर्थविधायकः**—तीर्थस्य विधायकः कारकः तीर्थविधायकः (१५) ।

सत्यतीर्थकरस्तीर्थसेव्यस्तैर्थिकतारकः ।
सत्यवाक्याधिपः सत्यशासनोऽप्रतिशासनः ॥ ४६ ॥

सत्यतीर्थकरः—सत्यतीर्थं करोतीति सत्यतीर्थकरः (१६) । **तीर्थसेव्यः**— तीर्थानां तीर्थभूत-पुरुषाणां सेव्यः सेवनीयः तीर्थसेव्यः (१७) । **तैर्थिकतारकः**—तीर्थं शास्त्रं नियुक्तास्तैर्थिकः । तीर्थं गुरुः, तस्मिन्नियुक्ता सेवापराः तैर्थिकाः । अथवा तीर्थं जिनपूजनम्; तत्र नियुक्तास्तैर्थिकाः । अथवा तीर्थं पुण्यक्षेत्रं गिरनारादि, तद्यात्राकारकाः तैर्थिकाः । अथवा तीर्थं पात्रं त्रिविधं तस्य दानादौ नियुक्तास्तैर्थिकाः, तेषां तारको मोक्षदायकस्तैर्थिकतारकः (१८) उक्तञ्च—

दर्शनं क्षीरजो योनिः पात्रं सत्री गुरुः श्रुतम् ।
पुण्यक्षेत्रावतारौ च ऋषिजुष्टजलं तथा ॥
उपायपज्ञौ विद्वान्सस्तीर्थमित्यूचिरे चिरम् ॥

सत्यवाक्याधिपः—त्यादि-स्यादिचयो वाक्यमुच्यते । क्रियासहितानि कारकाणि वाक्यं कथ्यते । सत्यानि सत्पुरुषयोग्यानि, तानि च तानि वाक्यानि सत्यवाक्यानि । सत्यवाक्यानामधिपः स्वामी सत्यवाक्या-धिपः । अथवा सत्यानि वाक्यानि येषां ते सत्यवाक्या ऋषयः । ऋषयः सत्यवचस इत्यभिधानात् । सत्य-वाक्यानामृषीणां दिगम्बरमुनीनामधिपः सत्यवाक्याधिपः । अथवा सत्यवाक्यानां सत्यवादिनां आधिं धर्म-चिन्तां पाति रक्षति सत्यवाक्याधिपः (१९) । **सत्यशासनः**—सत्यं शासनं शास्त्रं यस्य स सत्यशासनः । अथवा सत्यं श्यन्ति, असत्यं वदन्ति, पूर्वापरविरोधिशास्त्रं मन्वते ते सत्यशाः जिमिनि-कपिल-कणचर-चार्वाक शाक्याः, तान् अस्यति निराकरोति इति सत्यशासनः । कोऽसौ पूर्वापरविरोध इति चेत् पूर्वं ब्रुवन्ति-ब्राह्मणो न हन्तव्यः, सुरा न पेया । पश्चात् कथयन्ति-ब्रह्मणे ब्राह्मणमालमेत । इन्द्राय क्षत्रियं मरुद्भ्यो वैश्यं तमसे शूद्रमुत्तमसे तस्करं आत्मने क्लीबं कामाय पुंश्चलं, अतिकुष्टाय मागधं, गीताय सुतं, आदित्याय स्त्रियं गर्भिणीम् । तथा सौत्रामणी य एवंविधां सुरां पिवति न तेन सुरा पीता भवति । सुराश्च तिस्र एव श्रुतौ सम्मता-पैष्टी गौडी माधवी चेति । तथा ब्रह्मचारी सदाशुचिरित्येवमुक्त्वा पश्चात् गोसवे ब्राह्मणो गोसवे-नेष्ट्वा संवत्सरान्ते मातरमप्यभिलषति । उपेहि मातरमुपेहि स्वसारम् । तथा—

तिल-सर्षपमात्रं च मांसं खादन्ति ये द्विजाः ।
तिष्ठन्ति नरके तावद्यावच्चन्द्र-दिवाकराः ॥

एवमुक्त्वा—

महोक्षो वा महाजो वा श्रोत्रियाय विशस्यते ।
निवेद्यते तु दिव्याय स्रक्सुगन्धनिधिर्विधिः ॥

तथा—

गंगाद्वारे कुशावर्त्ते विल्वके नीलपर्वते ।
स्नात्वा कनखले तीर्थे संभवेन्न पुनर्भवे ॥

दुष्टमन्तर्गतं चित्तं तीर्थस्नानान्न शुद्धयति ।
शतशोऽपि जलैर्धौतं सुराभाण्डमिवाशुचि ॥

तथा न हिंस्यात्सर्वभूतानि उक्त्वा ।

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयम्भुवा ।
यज्ञो हि वृद्धयै सर्वेषां तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥

इत्यादि पूर्वापरविरोधवाक्यानि बोधव्यानि (२०) । **अप्रतिशासनः**—[1]अविद्यमानं प्रतिशासनं मिथ्यामतं यत्र सोऽप्रतिशासनः । अथवा अविद्यमानं प्रतिशं दुःखं आसने यस्य स अप्रतिशासनः । भगवान् खलु वृषभनाथः किंचिदूनपूर्वलक्षकालपर्यन्तं पद्मासन एवोपविष्टः धर्मोपदेशं दत्तवान्, तथापि दुःखं नान्वभूत्, अनन्तसुखानन्तवीर्यत्वात् (२१) ।

स्याद्वादी दिव्यगीर्दिव्यध्वनिरव्याहतार्थवाक् ।
पुण्यवागर्थ्यवागर्धवागधीयोक्तिरिद्धवाक् ॥५०॥

स्याद्वादी—स्याच्छब्दपूर्वं वदतीत्येवंशीलः स्याद्वादी । स्यादस्ति घटः, स्यान्नास्ति घटः, स्यादस्ति नास्ति घटः, स्यादवाच्यो घटः, स्यादस्ति वाऽवक्तव्यो घटः, स्यान्नास्ति वाऽवक्तव्यो घटः, स्यादस्ति नास्ति वाऽवक्तव्यो घटः, एवं पटादिष्वपि पर्यायेषु योज्यम् । तथा जीवादिपदार्थेष्वपि द्रव्येषु कार्येषु[2] तत्त्वेषु च योजनीयम् । स्याच्छब्दोऽयमव्ययः सर्वथैकान्तनिषेधको ज्ञातव्यः (२२) । उक्तञ्च—

सर्वथा नियमत्यागी यथादृष्टमपेक्षकः ।
स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषाम् ॥

दिव्यगीः—दिव्या अमानुषी गीर्वाणी यस्य स दिव्यगीः (२३) । **दिव्यध्वनिः**—दिव्यो अमानुषो ध्वनिः शब्दव्यापारो वचनरचना यस्येति दिव्यध्वनिः (२४) । **अव्याहतार्थवाक्**—अव्याहतार्था परस्पराविरुद्धार्था असंकुलार्था वाग्वाणी यस्येति अव्याहतार्थवाक् । उक्तञ्च—

व्याहतार्थवाग्लक्षणम्—

अजो मणिमुपाविध्यत्तमनंगुलिरावयेत् ।
तमग्रीवः प्रत्यमुञ्चत्तमजिह्वोऽभ्यनन्दयत् ॥

अथवा—आसमन्ताद् हननं आहतम्, अवीनां छागादीनां आहतस्य आहननस्य अर्थोऽभिधेयः प्रयोजनं वा यस्याः सा अव्याहतार्था । अविशब्दात् आहतशब्दाचोपरि अकारप्रश्लेषो ज्ञातव्यः । अव्याहतार्था छागादिप्राणिनामघातप्रयोजना वाग्यस्य स अव्याहतार्थवाक् (२५) । **पुण्यवाक्**—पुण्या पुण्योपार्जनहेतुभूता वाग्वाणी यस्य स पुण्यवाक् । अथवा पुण्या अस्थि-रोम-चर्मनिवारणत्वात् पवित्रा वाक् यस्य स पुण्यवाक् । इत्यनेन ये यतयोऽपि सन्तो रोमवस्त्रं परिदधति, चर्मजलं पिबन्ति, गजास्थिवलयादिकं च करे धारयन्ति ते प्रत्युक्ता भवन्ति (२६) । **अर्थ्यवाक्**—अर्थादनपेता अर्थ्या निरर्थकतारहिता वाग्वाणी यस्य स अर्थ्यवाक् । अथवा अर्थ्या गणधर-चक्रि-शक्रादिभिः प्रार्थनीया[2] वाग् यस्य स अर्थ्यवाक् । अथवा अर्थेषु जीवादिपदार्थेषु नियुक्ता परमतपदार्थोच्छेदिनी वाग्यस्य स अर्थ्यवाक् । अथवा अर्थिभ्यो याचकेभ्यो हिता बोधि-समाधिदायिनी वाग् यस्य स अर्थ्यवाक् । अथवा अर्थ्या हेतुवादिनी, न तु आज्ञामात्रा वाग् यस्य । अथवा अर्थ्या निवृत्तिकथिका अनेकप्रकारा धनदायिनी वा वाक् यस्य स अर्थ्यवाक् । उक्तञ्च—

वस्तु-द्रव्य-प्रकाराभिधेयेषु विषयेषु च ।
निवृत्तौ कृति हेतौ च[3] नवार्थेष्वर्थ उच्यते ॥

---

१ ज 'न विद्यते ।' २ ज कार्येषु । २ द स प्रार्थनी । ३ द स 'च अर्थे' इत्यधिक पाठः ।

अथवा अर्थो याचनीयः अर्थ्यः प्रार्थ्यः इति वाङ् नाम[1] यस्य स अर्थ्यवाक्, अयाचक इत्यर्थः (२७)। **अर्धमागधीयोक्तिः**—भगवद्भाषायां अर्धं मगधदेशभाषात्मकम्, अर्धं च सर्वभाषात्मकम्। कथमेवं देवोपनीतत्वं तदतिशयस्येति चेत्—मगधदेवसन्निधाने तथा परिणतया भाषया संस्कृतभाषया प्रवर्तन्ते मागधदेवातिशयवशात् मागधभाषया परस्परं भाषन्ते, प्रीतिंकरदेवातिशयवशात् परस्परं मित्रतया च प्रवर्त्तन्ते, इति कारणात्। अर्धमागधीया उक्तिर्भाषा यस्य स अर्धमागधीयोक्तिः (२८)। **इद्धवाक्**—इद्धा परमातिशयं प्राप्ता वाक् भाषा यस्य स इद्धवाक्। ईदृशी वाक्कस्यापि न भवतीति भावः (२९)।

अनेकान्तदिगेकान्तध्वान्तभिद् दुर्णयान्तकृत्।
सार्थवागप्रयत्नोक्तिः प्रतितीर्थमदघ्नवाक् ॥५१॥

अनेकान्तदिक्—अनेकान्तं स्याद्वादं अनेकस्वभावं वस्तु दिशति उपदिशति अनेकान्तदिक् (३०)। **एकान्तध्वान्तभित्**—एकान्तं यथा स्वरूपादिचतुष्टयेन सत्, तथा पररूपादिचतुष्टयेनापि सत्। एवं सत्येकान्तवादो भवति। स एव ध्वान्तं अन्धकारं वस्तुयथावत्स्वरूपप्रच्छादकत्वात् एकान्तध्वान्तम्। एकान्तध्वान्तं भिनत्ति नयवशात् शतखण्डीकरोतीति एकान्तध्वान्तभित् (३१)। **दुर्णयान्तकृत्**—दुर्णयाः पूर्वोक्तस्वरूपादि-पररूपादिचतुष्टयप्रकारेण सदेव असदेव नित्यमेव अनित्यमेव एकमेव अनेकमेवेत्यादि-दुष्टतया प्रवर्त्तन्ते ये नया एकदेशवस्तुग्राहिणो दुर्णयाः कथ्यन्ते। दुर्णयानामन्तकृद् विनाशकः दुर्णयान्तकृत् (३२)। **सार्थवाक्**—सार्था अर्थसहिता न निरर्थिका[2] वाक् यस्य स सार्थवाक्। अथवा सार्था प्रयोजनवती वाक् यस्य स सार्थवाक्। अथवा अर्थैर्जीवादिपदार्थैः सहिता वाक् यस्य स सार्थवाक्। अथवा सा लक्ष्मी-रभ्युदयनिःश्रेयसलक्षणा, तया सहितः अर्थवाक् यस्य स सार्थवाक्। भगवद्वाणीमनुश्रुत्य जीवाः स्वर्ग-मोक्षादिकार्यं साधयन्तीति कारणात् (३३)। **अप्रयत्नोक्तिः**—अप्रयत्ना अविवक्षापूर्विका भव्यजीवपुण्य-प्रेरिता वाक् यस्य स अप्रयत्नोक्तिः। तथा चोक्तं—

लोकालोकदृशः सदस्यसुकृतैरास्याद्यथार्थश्रुतं
निर्यातं ग्रथितं गणेश्वरवृषेणान्तर्मुहूर्त्तेन यत्।
आरातीयमुनिप्रवाहपतितं यत्पुस्तकेष्वर्पितं
तज्जैनेन्द्रमिहार्पयामि विधिना यष्टुं श्रुतं शाश्वतम् ॥

अथवा अप्रयत्ना अनायासकारिणी उक्तिर्यस्य स अप्रयत्नोक्तिः (३४)। **प्रतितीर्थमदघ्नवाक्**—प्रतितीर्थानां हरि-हर-हिरण्यगर्भमतानुसारिणां जिमिनि-कपिल-कणचर-चार्वाक-शाक्यानां वा मिथ्यादृष्टीनां मदघ्नी अहंकारनिराकारिणी वाक् वाणी यस्य स प्रतितीर्थमदघ्नवाक् (३५)।

स्यात्कारध्वजवागीहापेतवागचलौष्ठवाक्।
अपौरुषेयवाक्छास्ता रुद्धवाक् सप्तभंगवाक् ॥५२॥

स्यात्कारध्वजवाक्—स्यात्कारः स्याद्वादः, स एव ध्वजश्चिन्हं, अनेकान्तमतप्रसादमंडनत्वात् स्यात्कारध्वजा वाग् वाणी यस्य स स्यात्कारध्वजवाक् (३६)। **ईहापेतवाक्**—ईहापेता निराकांक्षा प्रत्युपकारानपेक्षिणी वाक् यस्य स ईहापेतवाक्। अथवा ईहा उद्यमस्तदपेता वाक् यस्य स ईहापेतवाक्, अहं लोकं सम्बोधयामीत्युद्यमरहितवाक्, स्वभावेन सम्बोधकत्वादित्यर्थः। (३७)। तथा चोक्तम्।

न क्वापि वाञ्छा ववृते च वाक्ते काले क्वचित्कोऽपि तथा नियोगः।
न पूरयाम्यम्बुधिमित्युदंशुः स्वयं हि शीतद्युतिरभ्युपैति ॥

---

१ द वाङ्मय। ज वाग्नाम। २ द निरर्था।

अचलौष्ठवाक्–अचलौ निश्चलौ ओष्ठौ अधरौ यस्यां सा अचलौष्ठा, अचलौष्ठा वाक् भाषा यस्य स अचलौष्ठवाक् (३८)। **अपौरुषेयवाक्छास्ता**–[1]अपौरुषेयीणामनादिभूतानां वाचां वाणीनां शास्ता गुरुः अपौरुषेयवाक्छास्ता। अथवा अपौरुषेयीणां दिव्यानां वाचां शास्ता अपौरुषेयवाक्छास्ता (३६)। **रुद्धवाक्**–रुद्धा मुखविकासरहिता वाक् यस्य स रुद्धवाक् (४०)। **सप्तभंगिवाक्**–सप्तानां भंगानां समाहारः सप्तभंगी। सप्तभंगीसहिता वाक् यस्य स सप्तभंगिवाक्। याकारौ स्त्रीकृतौ ह्रस्वौ क्वचित् इति वचनात् भंगीशब्दस्य ईकारस्य ह्रस्वः। के ते सप्तभंगाः? स्यादस्ति स्यान्नास्ति स्यादस्तिनास्ति स्यादवाच्यं स्यादस्ति चावक्तव्यं स्यान्नास्ति चावक्तव्यं स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यम्। एतेषां सप्तानां भंगानां विस्तरः **तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालंकारे** तथा **तत्त्वार्थराजवार्त्तिकालंकारे देवागमालंकारे अष्टसहस्त्र्यपरनाम्नि न्यायकुमुदचन्द्रोदये न्यायविनिश्चयालंकारे प्रमेयकमलमार्त्तण्डे प्रचण्डे** इत्यादौ ज्ञातव्यः। (४१)।

अवर्णगीः सर्वभाषामयगीर्व्यक्तवर्णगीः।
अमोघवागक्रमवागवाच्यानन्तवागवाक् ॥५३॥

अवर्णगीः–न विद्यन्ते वर्णा अक्षराणि गिरि भाषायां यस्य स अवर्णगीः। अथवा अवगतं ऋणं पुनः पुनरभ्यासो यस्यां सा अवर्णा, ईदृशी गीर्यस्य स अवर्णगीः। अभ्यासमन्तरेणापि भगवान् विद्वानित्यर्थः। उक्तञ्च **वाग्भटेन**–

अनध्ययनविद्वांसो निर्द्रव्यपरमेश्वराः।
अनलंकारसुभगाः पान्तु युष्मान् जिनेश्वराः ॥

अथवा अवर्णाः आकारादिलक्षणोपलक्षिता गिरो वाण्यो यस्य स अवर्णगीः[2]। दीक्षावसरे **नमः-सिद्धेभ्यः** इति उक्तवान् (४२)। **सर्वभाषामयगीः**–सर्वेषां देशानां भाषामयी गीर्वाणी यस्य स सर्वभाषामयगीः (५३)। **व्यक्तवर्णगीः**–व्यक्ता वर्णा अक्षराणि गिरि यस्य स व्यक्तवर्णगीः (४४)। **अमोघवाक्**–अमोघा सफला वाक् यस्य स अमोघवाक् (४५)। **अक्रमवाक्**–अक्रमा युगपद्वर्त्तिनी वाक् यस्य स अक्रमवाक् (४६)। **अवाच्यानन्तवाक्**–अवाच्या वक्तुमशक्या अनन्ता अनन्तार्थप्रकाशिनी वाक् यस्य स अवाच्यानन्तवाक् (४७)। **अवाक्**–न विद्यते वाक् यस्य स अवाक् (४८)।

अद्वैतगीः सूनृतगीः सत्यानुभयगीः सुगीः।
योजनव्यापिगी क्षीरगौरगीस्तीर्थकृत्वगीः ॥ ५४ ॥

अद्वैतगीः– अद्वैता एकान्तमयी गीर्वाणी यस्य स अद्वैतगीः। आत्मैकशासिका अद्वैता प्रोच्यते (४६)। **सूनृतगीः**–सूनृता सत्या गीर्यस्य स सूनृतगीः (५०)। **सत्यानुभयगीः**–सत्या सत्यार्था अनुभया असत्यरहिता सत्यासत्यरहिता च गीर्यस्य न सत्यानुभयगीः (५१)। **सुगीः**–सुष्ठु शोभना गीर्यस्य स सुगीः (४२)। **योजनव्यापिगीः**–योजनव्यापिनी गीर्यस्य स योजनव्यापिगीः (५३)। **क्षीरगौरगीः**–क्षीरवद् गोदुग्धवद् गौरा उज्ज्वला गीर्यस्य स क्षीरगौरगीः (५४)। **तीर्थकृत्वगीः**–तीर्थकृत्वा अमितजन्मपातकप्रक्षालिनी गीर्यस्य स तीर्थकृत्वगीः (५५)।

भव्यैकश्रव्यगुः सद्गुश्चित्रगुः परमार्थगुः।
प्रशान्तगुः प्राश्निकगुः सुगुर्नियतकालगुः ॥ ५५ ॥

भव्यैकश्रव्यगुः–भव्यैरेवैकैः केवलैः श्रव्या श्रोतुं योग्या गौर्वाणी यस्य स भव्यैकश्रव्यगुः। गोरप्रधानस्यान्तस्य स्त्रियामादीनां चेति ह्रस्वः। संध्यक्षराणामिदुतौ ह्रस्वादेशे (५६)। **सद्गुः**–सती समीचीना पूर्वापरविरोधरहिता शाश्वती वा गौर्वाणी यस्य स सद्गुः (५७)। **चित्रगुः**–चित्रा विचित्रा

१ स अपौरुषेयाणा०। २ स प्रे 'सिद्धाः गिरि वाण्यो यस्य स अवर्णगीः' इति पाठः।

नानाप्रकारा त्रिभुवनभव्यजनचित्तचमत्कारिणी गौर्वाणी यस्य स चित्रगुः (५८) । **परमार्थगुः**—परमार्था सत्यमयी गौर्यस्य स परमार्थगुः (५९) । **प्रशान्तगुः**—प्रशान्ता कर्मक्षयकारिणी रागद्वेषमोहादिरहिता गौर्यस्य स प्रशान्तगुः (६०) । **प्राश्निकगुः**—प्रश्ने भवा प्राश्निकी, प्राश्निकी गौर्यस्य स प्राश्निकगुः । प्रश्नं विना तीर्थकरो न ब्रूते यतः, ततएव कारणाद्वीरस्य गणधरं विना कियत्कालपर्यन्तं ध्वनिर्नाभूत् (६१) । **सुगुः**—सुष्ठु शोभना गौर्यस्य स सुगुः (६२) । **नियतकालगुः**—नियतो निश्चितः कालोऽवसरो यस्याः सा नियतकाला । नियतकाला गौर्यस्य स नियतकालगुः (६३) । तदुक्तं—

पुव्वण्हे मज्झण्हे अवरण्हे मज्झिमाए रत्तीए ।
छ-छग्घडिया णिग्गय दिव्वज्झुणी कहइ सिद्धं तं ॥

सुश्रुतिः सुश्रुतो याज्यश्रुतिः सुश्रुन्महाश्रुतिः ।
धर्मश्रुतिः श्रुतिपतिः श्रुत्युद्धर्त्ता ध्रुवश्रुतिः ॥ ५६ ॥

सुश्रुतिः—सुष्ठु शोभना श्रुतिर्यस्य स सुश्रुतिः, अबाधितवागित्यर्थः (६४) । **सुश्रुतः**—शोभनं श्रुतं शास्त्रं यस्य स सुश्रुतः, अबाधितार्थश्रुत इत्यर्थः । अथवा सुष्ठु अतिशयेन श्रुतो विख्यातस्त्रिभुवनजनप्रसिद्धः सुश्रुतः (६४) । **याज्यश्रुतिः**—याज्या पूज्या महापण्डितैर्मान्या श्रुतिर्यस्य स याज्यश्रुतिः (६५) । **सुश्रुत्**—सुष्ठु शोभनं यथा भवति तथा शृणोतीति सुश्रुत् (६७) । **महाश्रुतिः**—महती सर्वार्थप्रकाशिका श्रुतिर्यस्य स महाश्रुतिः (६८) । **धर्मश्रुतिः**— धर्मेण विशिष्टपुण्येन निदानरहितेन पुण्येनोपलक्षिता श्रुतिर्यस्य स धर्मश्रुतिः, तीर्थंकरनामकर्मप्रदायिनी भव्यानां श्रुतिर्यस्येति धर्मश्रुतिः (६९) । **श्रुतिपतिः**—श्रुतीनां शास्त्राणां पतिः स्वामी श्रुतिपतिः (७०) । **श्रुत्युद्धर्त्ता**—श्रुतेः श्रुतीनां वा उद्धर्ता उद्धारकारकः श्रुत्युद्धर्त्ता (७१) । **ध्रुवश्रुतिः**—ध्रुवा शाश्वती अनादिकालीना श्रुतिर्यस्य स ध्रुवश्रुतिः (७२) ।

निर्वाणमार्गदिग्मार्गदेशकः सर्वमार्गदिक् ।
सारस्वतपथस्तीर्थपरमोत्तमतीर्थकृत् ॥५७॥

निर्वाणमार्गदिक्—निर्वाणानां मुनीनां मार्गं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रलक्षणं मोक्षमार्गं दिशति उपदिशति यः स निर्वाणमार्गदिक् । अथवा निर्वाणस्य मोक्षस्य तत्फलभूतस्य सुखस्य वा मार्गं सूत्रं दिशतीति निर्वाणमार्गदिक् (७३) । **मार्गदेशकः**— मार्गस्य रत्नत्रयस्य देशकः उपदेशकः मार्गदेशकः (७४) । **सर्वमार्गदिक्**—सर्वं परिपूर्णं मार्गं सर्वेषां सद्दृष्टि-मिथ्यादृष्टीनां च मार्गं संसारस्य मोक्षस्य च मार्गं दिशतीति सर्वमार्गदिक् (७५) । **सारस्वतपथः**— सरस्वत्याः भारत्याः पन्थाः मार्गः सारस्वतपथः । अथवा सारस्य स्वतत्त्वस्य आत्मज्ञानस्य पन्थाः सारस्वतपथः (७६) । **तीर्थपरमोत्तमतीर्थकृत्**- तीर्थेषु समस्तसमयसिद्धान्तेषु परमोत्तमं परमप्रकृष्टं तीर्थं करोतीति तीर्थपरमोत्तमतीर्थकृत् । अथवा तीर्थपरमोत्तमेन जैनशास्त्रेण तीर्थं मिथ्यादृष्टीनां शास्त्रं कृन्तति छिनत्तीति शतखंडीकरोतीति तीर्थपरमोत्तमतीर्थकृत् (७७) ।

देष्टा वाग्मीश्वरो धर्मशासको धर्मदेशकः ।
वागीश्वरस्त्रयीनाथस्त्रिभंगीशो गिरां पतिः ॥५८॥

देष्टा—दिशति स्वामितया आदेशं ददातीति देष्टा (७८) । **वाग्मीश्वरः**—वाग्मिनो वाचोयुक्तिपटवस्तेषामीश्वरः वाग्मीश्वरः (७९) । **धर्मशासकः**—धर्मं चारित्रं रत्नत्रयं वा, जीवानां रक्षणं वा, वस्तुस्वभावो वा क्षमादिदशविधो वा धर्मः । तं शास्ति शिक्षयति धर्मशासकः (८०) । उक्तञ्च—

धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो ।
रयणत्तयं च धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो ॥

धर्मदेशकः—धर्मस्य देशकः कथकः धर्मदेशकः (८१) । **वागीश्वरः**—वाचां वाणीनामीश्वरो वागीश्वरः (८२) । **त्रयीनाथः**—त्रयी त्रैलोक्यं कालत्रयं च, तस्याः नाथः धर्मदेशकः त्रयीनाथः ।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणां वा समाहारस्त्रयी, तस्याः नाथः। ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वराणां वा नाथः त्रयीनाथः। ऋग्वेद-यजुर्वेद-सामवेदानां वा नाथः हेयतयोपदेशकः त्रयीनाथः (८३)। उक्तञ्च—

सर्वज्ञध्वनिजन्यमत्यतिशयोद्रिक्तश्रुतिः सूरिभिः,
साध्वाचारपुरस्सरं विरचितं यत्कालिकाद्यं च यत्।
सांख्यं शाक्यचचार्वाकयीगुरुवचश्चान्यच्च यल्लौकिकं,
सोऽयं भारतिभुक्तिमुक्तिफलदः सर्वोऽनुभावस्तव॥

त्रिभंगीशः—त्रयो भंगाः समाहृतास्त्रिभंगी। तस्या ईशस्त्रिभंगीशः। उक्तञ्च—

पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्वं त्रयात्मकम्॥

अथवा—सत्ता उदय उदीरणा इति त्रिभंगी शास्त्रे कथिता, तस्या ईशस्त्रिभंगीशः। उक्तञ्च—

संसारसंभवाणं जीवाणं जीवियाइं बहुवारं।
गयदोभागतिभेगं छप्पणछहहगितिसंगिदलं॥

६५६१ आयुष एते भागाः क्रियन्ते। द्वयोर्भागयोर्गतयोस्तृतीये भागस्य प्रथमसमये गतिं बध्नाति। यदि न बध्नाति तदा तृतीयभागस्य त्रयो भागाः क्रियन्ते। तत्रापि द्वयोर्भागयोर्गतयोस्तृतीये भागे प्रथमसमये गतिं बध्नाति। यदि तत्रापि प्रथमसमये न बध्नाति तदा तृतीयभागस्य त्रयो भागाः क्रियन्ते, द्वयोर्भागयोर्गतयोस्तृतीये भागे प्रथमसमये गतिं बध्नाति। यदि तत्रापि प्रथमसमये न बध्नाति, तदा तृतीयभागस्य त्रयो भागाः क्रियन्ते। एवं भागद्वये गते तृतीये भागे गतिं बध्नाति। एवं ६५६१।२१८७।७२९।२४३।८१।२७।९।३।१ एवं नववारान् भागाः क्रियन्ते। इति त्रिभंगीशः (८४)। **गिरांपतिः**—गिरां वाणीनां पतिः। गिरांपतिः। क्वचिन्न लुप्यन्तेऽभिधानात् (८५)।

सिद्धाज्ञः सिद्धवागाज्ञासिद्धः सिद्धैकशासनः।
जगत्प्रसिद्धसिद्धान्तः सिद्धमंत्रः सुसिद्धवाक्॥५६॥

सिद्धाज्ञः—सिद्धा आज्ञा वाग्यस्य स सिद्धाज्ञः (८६)। **सिद्धवाक्**—सिद्धा वाग् यस्य स सिद्धवाक् (८७)। **आज्ञासिद्धः**—आज्ञा वाक् सिद्धा यस्य स आज्ञासिद्धः (८८)। **सिद्धैकशासनः**—सिद्धं एकमद्वितीयं शासनं वाक् यस्य स सिद्धैकशासनः (८९)। **जगत्प्रसिद्धसिद्धान्त**—जगति संसारे प्रसिद्धो विख्यातः सिद्धान्तो वाग् यस्य स जगत्प्रसिद्धसिद्धान्तः (९०)। **सिद्धमंत्रः**—सिद्धो मंत्रो वेदो यस्य स सिद्धमंत्रः (९१)। **सुसिद्धवाक्**—सुष्ठु अतिशयेन सिद्धा वाक् यस्य स सुसिद्धवाक् (९२)।

शुचिश्रवा निरुक्तोक्तिस्तंत्रकृन्न्यायशास्त्रकृत्।
महिष्ठवाग्महानादः कवीन्द्रो दुन्दुभिस्वनः॥६०॥

शुचिश्रवाः—शुचिनी पवित्रे श्रवसी कर्णौ यस्य स शुचिश्रवाः (९३)। **निरुक्तोक्तिः**—निरुक्ता निश्चिता उक्तिर्वचनं यस्य स निरुक्तोक्तिः (९४)। **तन्त्रकृत्**—तंत्रं शास्त्रं करोतीति तन्त्रकृत् (९५)। **न्यायशास्त्रकृत्**—न्यायशास्त्रं अविरुद्धशास्त्रं कृतवान् न्यायशास्त्रकृत् (९६)। **महिष्ठवाक्**—महिष्ठा पूज्या वाक् यस्य स महिष्ठवाक् (९७)। **महानादः**—महान् नादो ध्वनिर्यस्य स महानादः (९८)। **कवीन्द्रः**—कवीनां गणधरदेवादीनामिन्द्रः स्वामी कवीन्द्रः (९९) **दुन्दुभिस्वनः**—दुन्दुभिर्जयपटहः, तद्वत्स्वनः शब्दो यस्य स दुन्दुभिस्वनः (१००)।

इति तीर्थकृच्छतनामा चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः।

—:०:—

अथ पञ्चमोऽध्यायः

नामसहस्रज्ञानं तीर्थंकृतामल्पकोऽभ्युपायोऽयम् ।
तीर्थंकरनामकृते श्रुतसागरसूरिभिः प्रविज्ञातः ॥
विद्यानन्द्यकलंकं समन्तभद्रं च गौतमं नत्वा ।
नाथशतं व्याक्रियते शृणुत श्रुतसागरैर्मुनिभिः ॥

नाथः पतिः परिवृढः स्वामी भर्त्ता विभुः प्रभुः ।
ईश्वरोऽधीश्वरोऽधीशोऽधीशानोऽधीशितेशिता ॥६१॥

नाथः—राज्यावस्थायां नाथते, षष्ठं भागधेयं याचते च नाथः । नाधृ नाथृ याचने इति धातोः प्रयोगात् अचा सिद्धम् । नाथ्येते स्वर्गमोक्षौ याच्येते भक्तैर्वा नाथः । अन्यत्रापि चेति कर्मणि अच् (१) । **पतिः**-पाति रक्षति संसारदुःखादिति पतिः । पाति प्राणिवर्गं विषय-कषायेभ्य आत्मानमिति वा पतिः । पातेर्डतिः औणादिकः प्रत्ययोऽयम् (२) । **परिवृढः**—परि समन्तात् वृंहति स्म वर्द्धति स्म वा परिवृढः स्वामी । परिवृढ-दृढौ प्रभु-बलवतोरिति क्ते निपातनात् नलोप इड्भावश्च निपातस्य फलम् । वृह वृहि-बृहि बृहि वृद्धौ इति प्रकृत्यन्तरेण वा वृहि बृहि वृद्धौ इत्यस्य वृह वृहि दृह दृहि बृह बृहि वृद्धाविति छान्दसा मन्यन्ते (३) । **स्वामी**—स्व आत्मा विद्यतेऽस्य[1] स स्वामी । स्वस्येति सुरात्वं चेति, इन् आत्वं च (४) । **भर्त्ता**—बिभर्त्ति धरति पुष्णाति वा जगद्भव्यजनं । उत्तमस्थाने धरति केवलज्ञानादिभिः गुणैः पुष्णातीति भर्त्ता (५) । **विभुः**—विभवति विशेषेण मंगलं करोति, वृद्धिं विदधाति, समवसरणसभायां प्रभुतया निवसति केवलज्ञानेन चराचरं जगद् व्याप्नोति, सम्पदं ददाति जगत्तारयामीति अभिप्रायं वैराग्यकाले करोति, तारयितुं शक्नोति, तारयितुं प्रादुर्भवति, एकेन समयेन लोकालोकं गच्छति जानातीति विभुः । तदुक्तं—

सत्तायां मंगले वृद्धौ निवासे व्याप्तिसम्पदोः ।
अभिप्राये च शक्तौ च प्रादुर्भावे गतौ च भूः ॥

भुवो डुर्विंशं प्रेषु चेति साधुः (६) । **प्रभुः**—प्रभवति समर्थो भवति, सर्वेषां स्वामित्वात् प्रभुः । (७) । **ईश्वरः**—ईष्टे समर्थो भवति, ऐश्वर्यवान् भवति ईश्वरः । कसि-पिसि-भासीशस्थाप्रमदां च शीलार्थे वरः । ईकारप्रश्लेषे ई लक्ष्मीरभ्युदय-निश्रेयसलक्षणा, तस्या ईश्वरः स्वामी ईश्वरः लक्ष्मीकान्त इत्यर्थः । घोपवल्योश्च कृति नेट् (८) । **अधीश्वरः**—अधिक ईश्वरः इन्द्रादीनामपि प्रभुः अधीश्वरः । अधियां अज्ञानिनां पशूनामपि सम्बोधने समर्थः अधीश्वरः (९) । **अधीशः**—अधिक ईशः स्वामी अधीशः । अधियां हरि-हर-हिरण्यगर्भादीनामीशः (१०) । **अधीशानः**—ईष्टे ईशानः अधिकः ईशानः अधीशानः । अथवा ये अधियो निर्विवेका लोका भवन्ति ते स्वामिनः ऐश्वर्यं दृष्ट्वा ईशानमिति मन्यते, मिथ्यामतित्वात् (११) । उक्तञ्च—

त्वामेव वीततमसं परवादिनोऽपि,
नूनं विभो हरि-हरादिधिया प्रपन्नाः ।
किं काचकामलिभिरीश सितोऽपि शंखो,
नो गृह्यते विविधवर्णविपर्ययेण ॥

अधीशिता—अधिकृतोऽधिको धा ईशिता स्वामी अधीशिता (१२) । **ईशिता**—ईष्टे ऐश्वर्यवान् भवतीत्येवंशीलः ईशिता (१३) ।

ईशोऽधिपतिरीशान इन इन्द्रोऽधिपोऽधिभूः ।
महेश्वरो महेशानो महेशः परमेशिता ॥६२॥

---

[1] द विद्याःतेस्य । स विद्या तस्य ।

ईशः—ईष्टे निग्रहानुग्रहसमर्थत्वात् ईशः (१४)। उक्तञ्च—

सुहृत्त्वयि श्रीसुभगत्वमश्नुते द्विषंस्त्वयि प्रत्ययवत्प्रलीयते।
भवानुदासीनतमस्तयोरपि प्रभो परं चित्रमिदं तवेहितम्॥

अधिपतिः—अधिकः पतिः स्वामी अधिपतिः (१५)। **ईशानः**—ईष्टे अहमिन्द्राणामपि स्वामी भवति ईशानः (१६)। **इनः**—एति योगिनां ध्यानवलेन हृदयकमलमागच्छति इनः। इण् जि-कृषिभ्यो[1] नक् (१७)। **इन्द्रः**—इंदति परमैश्वर्यं प्राप्नोति, शक्रादीनामप्याराध्यत्वाद् इन्द्रः। स्फायि-तंचि-वंचि-शकि-क्षिपि-क्षुद्रि-रुदि-मदि-मंदि-चंदि-उदीरिभ्यो रक् (१८)। **अधिपः**- अधिकं पाति सर्वजीवान् रक्षति अधिपः। उपसर्गे त्वातो डः। अथवा अधिकं पिवति केवलज्ञानेन लोकालोकं व्याप्नोति अधिपः (१९)। **अधिभूः**—अधिका त्रैलोक्यसम्बन्धिनी भूर्भूमिर्यस्य स अधिभूः, त्रिभुवनैकनाथ इत्यर्थः।

सत्तायां मंगले वृद्धौ निवासे व्याप्ति-संपदोः।
अभिप्राये च शक्तौ च प्रादुर्भावे गतौ च भूः॥

इति वचनात्। अधिकं मलं गालयति, मंगं सुखं वा ददाति अधिभूः, अभिकवृद्धियोगात् अनन्त-कालं मुक्तिनिवासात् केवलज्ञानेन लोकालोकव्यापनात् अधिकसंपत्प्रसंगात्, लोकालोकव्याप्त्यभिप्रायात्, अनन्तशक्तित्वात्, विरुद्धपर्यायेण प्रादुर्भावात्, एकेन समयेन त्रैलोक्याग्रगमनात् अधिभूः। उक्तञ्च—

तोयाभावे वेल्लि जिम थक्कइ यागु वलेवि।
मुक्कहं जसु पइ विंवियउ परमसहाउ भणेवि॥

अधिभूर्नायको नेता इति वचनात् त्रिभुवनैकनायक इत्यर्थः (२०)। **महेश्वरः**—महतामिन्द्रा-दीनामीश्वरः स्वामी महेश्वरः। अथवा महस्य पूजाया ईश्वरः स्वामी महेश्वर (२१)। **महेशानः**—महांश्चासावीशानो महेशानः। अथवा महतामीशानः, अथवा महस्य यज्ञस्य ईशानो महेशानः (२२)। **महेशः**—महांश्चासावीशः महेशः। अथवा महतामीशः महेशः। अथवा महस्य यागस्य ईशः महेशः (२३)। **परमेशिता**—परमः प्रकृष्टः ईशिता परमेशिता। अथवा परा उत्कृष्टा मा वहिरभ्यन्तरलक्षणा लक्ष्मीः परमा। परमाया ईशिता परमेशिता (२४)।

अधिदेवो महादेवो देवस्त्रिभुवनेश्वरः।
विश्वेशो विश्वभूतेशो विश्वेट् विश्वेश्वरोऽधिराट्॥ ६३॥

अधिदेवः—अधिकः शक्रादीनां देवः परमाराध्यः अधिदेवः (२५)। **महादेवः**—महान् इन्द्रा-दीनामाराध्यो देवो महादेवः। अथवा महादेवः क्षत्रियः, तस्य देवी महादेवीति कारणात् महादेवशब्देन क्षत्रिय एव क्षत्रियभार्या महादेवीति। (२६)। **देवः**—दीव्यति क्रीडति परमानन्दपदे देवः परमाराध्य इत्यर्थः (२७)। **त्रिभुवनेश्वरः**—त्रीणि भुवनानि समाहृतानि त्रिभुवनं स्वर्ग-मर्त्य-पाताललोकाः, तस्य त्रिभुवनस्य ईश्वरः त्रिभुवनेश्वरः (२८)। **विश्वेशः**—विश्वस्य त्रैलोक्यस्य ईशः स्वामी विश्वेशः (२९)। **विश्वभूतेशः**—विश्वेषां भूतानां प्राणिवर्गाणामीशः स्वामी विश्वभूतेशः। अथवा विश्वेषां भूतानां व्यन्तर-विशेषाणामीशः विश्वभूतेशः। अथवा विश्वभूस्त्रैलोक्यम्, तस्य ता लक्ष्मीस्तस्या ईशो विश्वभूतेशः (३०)। **विश्वेट्**—विश्वस्य त्रिभुवनस्य ईट् स्वामी विश्वेट् (३१)। **विश्वेश्वरः**—विश्वस्य भूर्भुवःस्वस्त्रयस्य ईश्वरः प्रभुः विश्वेश्वरः (३२)। **अधिराट्**—अधिकं राजते अधिराट्। अथवा अधि वशीकृता राजानो येन स अधिराट्। उक्तञ्च—अधि वशीकरणाधिष्ठानाध्ययनैश्वर्यस्मरणाधिकेषु। (३३)।

---

[1] द कृभ्यो।

लोकेश्वरो लोकपतिर्लोकनाथो जगत्पतिः ।
त्रैलोक्यनाथो लोकेशो जगन्नाथो जगत्प्रभुः ॥ ६१ ॥

लोकेश्वरः—लोकानां त्रिभुवनजनानामीश्वरः स्वामी लोकेश्वरः । अथवा लोकस्य सम्यग्दर्शनस्य ईश्वरः लोकेश्वरः । लोकृ लोचृ दर्शने इति धातोः प्रयोगात् (३४) । **लोकपतिः**— लोकस्य त्रिभुवनस्थित-प्राणिवर्गस्य पतिः स्वामी लोकपतिः (३५) । **लोकनाथः**—लोकस्य त्रिभुवनस्य नाथः स्वामी लोकनाथः । अथवा लोकैकर्तृभूतैर्भगवान् कर्मतापन्नं मोक्षं प्रति याच्यते । याचि नाथेत्यादीना द्विकर्मकर्तृत्वं याचिधातोः । नाथ्यते मोक्षं याच्यते इति लोकनाथः (३६) । **जगत्पतिः**—जगतां त्रिभुवनानां पतिः स्वामी जगत्पतिः (३७) । **त्रैलोक्यनाथ**—त्रैलोक्यस्य भुवनत्रयस्य नाथः स्वामी त्रैलोक्यनाथः (३८) । **लोकेशः**—लोकानां जगज्जनानामीशः स्वामी लोकेशः (३९) । **जगन्नाथः**— जगतां नाथो जगन्नाथः (४०) । **जगत्प्रभु**—जगतस्त्रैलोक्यस्य प्रभुः स्वामी जगत्प्रभुः (४१) ।

पिताः परः परतरो जेता जिष्णुरनीश्वरः ।
कर्त्ता प्रभूष्णुर्भ्राजिष्णुः प्रभविष्णुः स्वयंप्रभुः ॥ ६२ ॥

पिता—पाति रक्षति दुर्गतौ पतितुं न ददाति इति पिता । स्वस्त्रादयः स्वसृ-नप्तृ नेष्टृ-त्वष्टृ-क्षत्तृ होतृ-पोतृ-प्रशास्तृ-पितृ-दुहितृ-जामातृ-भ्रातरः, एते तृन्तृचप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते (४२) । **परः**—पिपर्त्ति पालयति पूरयति वा लोकान् निर्वाणपदे स्थापयति परः । अच् । सिद्धादपर परः (४३) । **परतर**—परस्मात् सिद्धात् उत्कृष्टः परः परतरः; सर्वेषां धर्मोपदेशेन गुरुत्वात् (४४) । **जेता**—जयति सर्वोत्कर्षेण प्रवर्तते इत्येवंशीलो जेता (४५) । **जिष्णुः**— जयति सर्वोत्कर्षेण प्रवर्तते इत्येवंशीलो जिष्णुः । जि-भुवोः ष्णुक् (४६) । **अनीश्वरः**—न विद्यते ईश्वरः एतस्मादपरः अनीश्वरः (४७) । **कर्त्ता**—अनन्तज्ञानं अनन्तदर्शनं अनन्तवीर्यं अनन्तसौख्यमात्मनः करोतीति कर्त्ता (४८) । उक्तञ्च—

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो ।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥

एवं सति—

अकर्त्ता निर्गुणः शुद्धो नित्यः सर्वगतोऽक्रियः ।
अमूर्त्तश्चेतनो भोक्ता पुमान् कपिलशासने ॥

इति न घटते । कथं न घटते ?

अकर्त्तापि पुमान् भोक्ता क्रियाशून्योऽप्युदासिता ।
नित्योऽपि जातसंसर्गः सर्वगोऽपि वियोगभाक् ॥
शुद्धोऽपि देहसंबद्धो निर्गुणोऽपि स मुच्यते ।
इत्यन्योन्यविरुद्धोक्तं न युक्तं कापिलं वचः ॥

प्रभूष्णुः—प्रभवति इन्द्र-धरणेन्द्र-नरेन्द्र-चन्द्र-गणीन्द्रादीनां प्रभुत्वं प्राप्नोतीत्येवंशीलः प्रभूष्णुः (४९)। **भ्राजिष्णु**—भ्राजृभ्रासृटुम्लासृ दीप्तौ इति धातोः प्रयोगात् भ्राजते चन्द्रार्ककोटिभ्योऽपि अधिकां दीप्तिं प्राप्नोतीत्येवंशीलः भ्राजिष्णुः । भ्राज्यलंकृञ् भू सहि रुचि वृति वृधि चरि प्रजनापत्रपेनामिष्णुच् (५०) । **प्रभविष्णुः**—प्रभवति अनन्तशक्तित्वात् समर्थो भवतीत्येवंशीलः प्रभविष्णुः (५१) । उक्तञ्च—

दानं प्रियवाक्सहितं ज्ञानमगर्वं क्षमान्वितं शौर्यम् ।
त्यागसहितं च वित्तं दुर्लभमेतच्चतुर्भद्रम् ॥

तथा चोक्तममोघवर्षेण राज्ञा—

किं शोच्यं कार्पण्यं सति विभवे किं प्रशस्यमौदार्यम् ।
तनुतरवित्तस्य तथा प्रभविष्णोर्यत्सहिष्णुत्वम् ॥

स्वयंप्रभु—स्वयमात्मना प्रभुः समर्थः, न तु केनापि कृतः स्वयंप्रभुः (५२)।

लोकजिद्विश्वजिद्विश्वविजेता विश्वजित्वरः ।
जगज्जेता जगज्जैत्रो जगज्जिष्णुर्जगज्जयी ॥६६॥

लोकजिद्—लोकं संसारं जितवान् लोकजित् (५३)। **विश्वजित्**—विश्वं त्रैलोक्यं जितवान् विश्वजित् (५४)। **विश्वविजेता**—विश्वं त्रैलोक्यं विनयते निजसेवकं करोतीत्येवंशीलो विश्वविजेता (५५)। **विश्वजित्वरः**—विशति आत्मप्रदेशेषु मिलति बन्धमायाति श्लेषं करोति इति विश्वं ज्ञानावरणाद्यष्टकर्मसमूहस्तं जयति क्षयं नयतीत्येवंशीलो विश्वजित्वरः। सृजीण्[1] नशां क्वरप्। धातोस्तोन्तः पानुबन्धे क्वरप् नदादौ पठ्यते विश्वजित्वरी जिनंख्यातिः (५६)। **जगज्जेता**—जगतां सर्वमिथ्यादृष्टीनां जेता जयनशीलः जगज्जेता (५७)। **जगज्जैत्रः**—जगंति जयतीत्येवंशीलः जगज्जेता। तृन्। जगज्जेतैव जगज्जैत्रः। स्वार्थे अण्। जगज्जेतुरयं वा जगज्जैत्र.। इदमर्थे अण्। क्षत्रियपुत्र इत्यर्थः (५८)। **जगज्जिष्णुः**—गच्छतीत्येवंशीलं जगत्। पंचमोपधाया धुटि चागुणे दीर्घः। यममनतनगमां क्वौ पंचमलोपः। आत् अत्। धातोस्तोऽन्तःपानुबन्धे। जगत् इति कोऽर्थः? मनः, तज्जयतीत्येवंशीलः जगज्जिष्णुः। जि-भुवोः ष्णुक्। राज्यावस्थापेक्षया सर्वरिपूणां जेता, समवसरणमंडितापेक्षया त्रैलोक्यजयनशीलः (५९)। **जगज्जयी**—जगज्जयतीत्येवंशील. जगज्जयी। जीणुद्दक्षिविश्रिपरिभूवमाभ्यमाव्यथां च। तच्छीलार्थे इन् प्रत्ययः (६०)।

अग्रणीर्ग्रामणीर्नेता भूर्भुवःस्वरधीश्वरः ।
धर्मनायक ऋद्धीशो भूतनाथश्च भूतभृत् ।।६७।।

अग्रणीः—अग्रं त्रैलोक्योपरि नयति अग्रणीः (६१)। उक्तञ्च—

प्रान्त-संघातयोर्भिक्षाप्रकारे प्रथमेऽधिके ।
पलस्य[2] परिमाणे वाऽऽलम्बनोपरिवाच्ययोः ।
पुरः श्रेष्ठे द्वयस्येव चिह्निरग्रं च कथ्यते ॥

ग्रामणीः—ग्रामं सिद्धसमूहं नयतीति ग्रामणीः (६२)। **नेता**—नयति स्वधर्ममित्येवंशीलो नेता (६३)। **भूर्भुव.स्वरधीश्वरः**- भूरधोलोकः, भुवर्मध्यलोकः, स्वरूर्ध्वलोकः, तेषामधीश्वरः स्वामी भूर्भुवःस्वरधीश्वरः (६४)। **धर्मनायक**—धर्मस्य अहिंसालक्षणस्य नायको नेता धर्मनायकः (६५)। **ऋद्धीश**—ऋद्धीनामीशः स्वामी ऋद्धीशः। उक्तञ्च—

बुद्धि तवो विय लद्धी विउवणलद्धी तहेव ओसहिया ।
रस बल अक्खीणा विय लद्धीओ सामिणो वंदे ॥

तथा पुधाशाधरेण महाकविनाऽष्टर्द्धयः प्रोक्ताः। तथाहि—

निर्वेदसौष्ठवतपद्मपुराणभेद-संविद्धिकस्वरसुदोऽद्भुतदिव्यशक्तीन् ।
बुद्ध्यौषधीबलतपोरसविक्रियर्द्धिक्षेत्रक्रियर्द्धिकलितान् स्तुमहे महर्षीन् ॥

तत्र बुद्धिऋद्धिः अष्टादशविधा—केवलज्ञानं १ अवधिज्ञानं २ मनःपर्ययज्ञानं ३ बीजबुद्धिः ४ कोष्ठबुद्धिः, ५ पदानुसारित्वं ६ संभिन्नश्रोतृत्वं ७ दूरास्वादनं ८ दूरस्पर्शनं ९ दूरदर्शनं १० दूराघ्राणं ११ दूरश्रवणं १२ दशपूर्वित्वं १३ चतुर्दशपूर्वित्वं १४ अष्टांगमहानिमित्तज्ञत्वं १५ प्रज्ञाश्रमणता १६ प्रत्येकबुद्धत्वं १७ वादित्वं ॥१८॥ चेति। तत्र द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-करण-क्रमव्यवधानाभावे युगपदेकस्मिन्नेव समये त्रिकालवर्तिसर्व-

१ ज णनुशी०। २ ज पलस्य।

द्रव्यगुणपर्यायपदार्थावभासकं केवलज्ञानम् ॥ १ ॥ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावैः प्रत्येकं विज्ञायमानैर्देशावधि-परमावधि-सर्वावधिभेदभिन्नं अवधिज्ञानावरणक्षयोपशमनिमित्तं रूपिद्रव्यविषयमवधिज्ञानम् ॥ २ ॥ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावैः प्रत्येकमवगम्यमानैः ऋजुमतिविपुलमतिभेदं मनःपर्ययज्ञानावरणक्षयोपशमकारणं रूपिद्रव्यानन्त-भागविषयं मनःपर्ययज्ञानम् ॥ ३ ॥ सुकृष्टसमर्थकृते क्षेत्रे सारवति कालादिसहायापेक्षं बीजमेकमुप्तं यथाऽनेक-बीजकोटिप्रदं भवति, तथा नोमनइन्द्रियश्रुतावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षे सति संख्येयशब्दस्य अनन्तार्थ-प्रतिबद्धस्य अनन्तलिंगैः सह एकबीजपदस्य ग्रहणादनेकार्थप्रतिपत्तिर्बीजबुद्धिः ॥ ४ ॥ कोष्ठागारिकस्थापिता-नामसंकीर्णानामविनष्टानां भूयसामन्यबीजानां यथा कोष्ठेऽवस्थानं, तथा परोपदेशादवधारितानामर्थग्रन्थ-बीजानां भूयसां अव्यतिकीर्णानां बुद्धावस्थानं कोष्ठबुद्धिः ॥ ५ ॥ पदानुसारित्वं त्रिधा—प्रतिसारि अनुसारि उभयसारि चेति । तत्र बीजपदादधःस्थितान्येव पदानि बीजपदस्थितलिंगेन जानाति प्रतिसारि । उपरिस्थिता-न्येव पदानि जानाति अनुसारि । उभयपार्श्वस्थितानि पदानि यदा नियमेन अनियमेन वा जानाति उभयसारि । एवमेकस्य पदस्यार्थं परत उपश्रुत्य आदावंते मध्ये वा अशेषग्रन्थार्थधारणं पदानुसारित्वम् ॥ ६ ॥ द्वादशयोजनायामे नवयोजनविस्तारे चक्रवर्तिस्कन्धावारे गज-वाजि-खरोष्ट्र-मनुष्यादीनामक्षरानक्षररूपाणां नानाविधकरंबितशब्दानां युगपदुत्पन्नानां तपोविशेषबललाभापादितसर्वजीवप्रदेशप्रकृष्टश्रोत्रेन्द्रियपरिणामा-त्सर्वेषा मेककाले ग्रहणं तत्प्रतिपादनसमर्थत्वं च संभिन्नश्रोतृत्वम् ॥ ७ ॥ तपःशक्तिविशेषाविर्भाविता-साधारणरसनेन्द्रियश्रुतावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमांगोपांगनामलाभापेक्षस्य अवधृतनवयोजनक्षेत्राद्बहिर्बहुयोजन - विप्रकृष्टक्षेत्रादायातस्य रसस्य आस्वादनसामर्थ्यं दूरास्वादनम् । अवधृतक्षेत्रं यत्कथितं तत्किम् ? पंचेन्द्रि-यसंज्ञिस्पर्शनं नव योजनम्, रसनं नवयोजनम्, घ्राणं नव योजनम्, अवलोकनं योजनानां त्रिषष्टि-अधिकद्विशतोपे-तसप्तचत्वारिंशत्सहस्रं ४७२६३ । श्रवणं योजनद्वादशकम् (१२) । इति अवधृतक्षेत्रम् । तथा पंचेन्द्रियासंज्ञिस्प-र्शनं धनुषां चतुःशताधिकं सहस्रषट्कम् । रसनं धनुषां द्वादशाधिकं पंचशतकम् । घ्राणं धनुषां चतुःशतानि । चक्षुः अष्टाधिकनवशतोपेतयोजनसहस्रपंचकम् । श्रोत्रं अष्टसहस्राणि धनुषाम् । चतुरिन्द्रियस्पर्शनं द्विशताधिका-नि द्विशतधनूंषि । घ्राणं शतद्वयं धनुषाम् । चक्षुः चतुःपंचाशदधिकनवशताग्रे योजनानां द्वे सहस्रे । त्रीन्द्रि-यस्पर्शनंषोडश शतानि धनुषाम् । रसनं अष्टाविंशतियुतं शतमेकं धनुषाम् । घ्राणं धनुःशतमेकम् । द्वीन्द्रियस्प-र्शनं अष्टशतानि धनुषाम् । रसनं चतुःषष्टिधनुषाम् । एकेन्द्रियस्पर्शनं धनुषां चतुःशतानि । उक्तञ्च—

सण्णिस्स बार सोदे तिण्हं नव जोयणाण चक्खुस्स ।
सत्तेदालसहस्सा वे सय तेसट्ठिमिदरे य ॥

इति संज्ञिपंचेन्द्रियविषयक्षेत्रगाथा । तथा एकेन्द्रियादीनां अवधृतक्षेत्रगाथा—

धणु वीसडदसय कदी जोयणछादालहीणतिसहस्सा ।
अट्ठसहस्स धणूणं विसया दुगुणा य जा असण्णि त्ति ॥

विंशतिकृतिः ४००, अष्टकृतिः ६४, दशकृतिः १०० । एवं कदिशब्देन कृतिः, कृतिशब्देन गुणाकारो लभ्यते । एवं स्पर्शनावधृतनवयोजनाद्बहिर्दूरस्पर्शनम् ॥ ८ ॥ एवं रसनावधृतनवयोजनाद्बहिर्दूरा-स्वादनम् ॥ ९ ॥ घ्राणावधृतनवयोजनाद्बहिर्दूरघ्राणम् ॥ १० ॥ एवं चक्षुरवधृतत्रिषष्ठ्यधिकद्विशतोपेत-सप्तचत्वारिंशत्सहस्रयोजनाद्बहिर्दूरं पश्यन्ति ॥ ११ ॥ । एवं श्रोत्रावधृतद्वादशयोजनाद्बहिर्दूरायातं शब्दं शृण्वन्ति ॥ १२ ॥ रोहिणीप्रज्ञप्तिप्रमुखपंचशतमहाविद्यादेवताभिः अनुगतांगुष्ठप्रसेनादिसप्तशतक्षुल्लकविद्यादेवताभि-स्त्रीन् वारानागताभिः प्रत्येकमात्मीयस्वरूपसामर्थ्याविष्करणकथनकुशलाभिर्वेगवतीभिरचलितचारित्रस्य दश-पूर्वदुस्तरश्रुतसागरोत्तरणं दशपूर्वित्वम् ॥ १३ ॥ श्रुतकेवलीनां चतुर्दशपूर्वित्वम् ॥ १४ ॥ अष्टौ महानिमित्तानि कथ्यन्ते—आन्तरिक्षं १ भौमं २ आंगं ३ स्वरः ४ व्यंजनं ५ लक्षणं ६ छिन्नं ७ स्वप्नश्चेति ८ अष्टमहा-निमित्तानि । तत्र सूर्यचन्द्रग्रहनक्षत्रतारका पंचविधज्योतिर्गणोदयास्तमयप्रभृतिभिरतीतानागतफलप्रविभागदर्शनं

आन्तरिक्षम् ॥१॥ भूमौ घन-शुषिर-स्निग्ध-रूक्षादिविभावनेन पूर्वादिदिक्सूत्रविन्यासेन च वृद्धि-हानि-जय-पराजयादिविज्ञानं भूम्यन्तर्गतकनकरूप्यप्रभृतिसंसूचनं भौमम् ॥ २ ॥ गजाश्वादितिरश्चां मानवानां च सत्त्वस्वभाव-वातादि-प्रकृति-रस-रुधिरादिसप्तधातु - शरीर - वर्ण-गन्ध-निम्नोन्नतांग - प्रत्यङ्गनिरीक्षणादिभिस्त्रिकालभाविसुख - दुःखादिविभावनं आङ्गम् ॥३॥ नर-नारी-खर-पिंगलोलक-वायस-शिवा-श्रृगालादीनां अक्षरानक्षरात्मकशुभाशुभशब्दश्रवणेन इष्टानिष्टफलाविर्भावः स्वरः ॥ ४ ॥ शिरो-मुख-ग्रीवादिषु तिलक-मसक-लांछनव्रणादि-वीक्षणेन त्रिकालहिताहितावेदनं व्यञ्जनम् ॥५॥ कर-चरणतल-वक्षःस्थलादिषु श्रीवृक्ष-स्वस्तिक-भृंगार-कलश-कुलिशादिलक्षणवीक्षणात् त्रैकालिकस्थान-मानैश्वर्यादिविशेषकं लक्षणम् ॥ ६ ॥ वस्त्र-शस्त्र-छत्रोपानदासन-शयनादिषु देव-मानव-राक्षसकृतविभागेषु शस्त्र-कंटक-मूषकादिकृतछेददर्शनात् कालत्रयविषयभागेन लाभालाभ-सुख-दुःखादिसंसूचनं छिन्नम् ॥७॥ वात पित्त-श्लेष्मदोषोदयरहितस्य पश्चिमरात्रिविभागेन चन्द्र-सूर्य-धरा-समुद्र-मुखप्रवेशनसकलमहीमंडलोपगूहनादिशुभस्वप्नदर्शनात् घृत-तैलाक्तात्मीयदेह-खर-करभारूढापाग्दिग्गमनाद्यशुभ-स्वप्नदर्शनात् आगामिजीवित-मरण-सुख-दुःखाद्याविर्भावकः स्वप्नः ॥८॥ स च द्विविधः—छिन्न-मालाविकल्पात् । गजेन्द्र-वृषभ-सिंहपोत-प्रभृतिरिछन्नः । पूर्वापरसम्बन्धानां भावानां दर्शनं माला । एतेषु महानिमित्तेषु कुशलत्वं अष्टांगमहानिमित्तज्ञता (१५) । अतिसूक्ष्मार्थतत्त्वविचारगहने चतुर्दशपूर्विण एव विषये अनुपयुक्ते अनधीतद्वादशांगचतुर्दशपूर्वस्य प्रकृष्टश्रुतावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमाविर्भूतासाधारणप्रज्ञाशक्तिलाभात् निःसंशयनिरूपणं प्रज्ञाश्रमणत्वम् । सा च प्रज्ञा चतुर्विधा—औत्पत्तिकी वैनयिकी कर्मजा पारिणामिकी चेति । तत्र जन्मान्तरविनयजनितसंस्कारसमुत्पन्ना औत्पत्तिकी ॥ १ ॥ विनयेन द्वादशांगानि पठतः समुत्पन्ना वैनायिकी ॥ २ ॥ दुश्चरतपश्चरणबलेन गुरूपदेशेन विना समुत्पन्ना कर्मजा ॥ ३ ॥ स्वकीय-स्वकीयजातिविशेषेण समुत्पन्ना पारिणामिकी चेति ॥ ४ ॥ (१६) । परोपदेशं विना स्वशक्तिविशेषादेव ज्ञान-संयमविधाने नैपुण्यं प्रत्येकबुद्धता (१७) । शक्रादिष्वपि प्रतिवन्दिषु सत्सु अप्रतिहतया[1] प्रतिभया निरुत्तराभिधानं पररन्ध्रापेक्षणं च वादित्वम् (१८) । इति बुद्धिऋद्धिरष्टादशविधा समाप्ता ।

[2]औषधर्द्धिरष्टविधा—असाध्यानामपि व्याधीनां सर्वेषां विनिवृत्तिहेतुः आमर्श १ क्ष्वेल २ जल्ल ३ मल ४ विट् ५ सर्वौषधिप्राप्त ६ आस्याविष ७ दृष्ट्यविष ८ भेदात् । हस्त-पादादिसंस्पर्शः आमर्शः सकलौषधित्वं प्राप्तो येषां ते आमर्शौषधिप्राप्ताः ॥ १ ॥ क्ष्वेलो निष्ठीवनं तदुपलक्षणं श्लेष्मलालाविट्सिंहाणकादीनां तदौषधित्वं प्राप्तो येषां ते क्ष्वेलौषधिप्राप्ताः ॥२॥ स्वेदालम्बनो रजोनिचयो जल्लः, स औषधिं प्राप्तो येषां ते जल्लौषधिप्राप्ताः ॥३॥ कर्णदन्तनासिकालोचनसमुद्भवो मलः औषधित्वं प्राप्तो येषां ते मलौषधिप्राप्ताः ॥४॥ विट् उच्चारः, शुक्रं मूत्रं च औषधिर्येषां ते विडौषधिप्राप्ताः ॥५॥ अंग-प्रत्यंग-नख-दंत-केशादिरवयवः, तत्संस्पर्शी वाय्वादिः सर्वौषधित्वं प्राप्तो येषां ते सर्वौषधिप्राप्ताः ॥ ६ ॥ उग्रविषसंपृक्तोऽप्याहारो येषामास्यगतो निर्विषो भवति ते आस्याविषाः । अथवा येषां वचःश्रवणान्महाविषपरीता अपि पुरुषा निर्विषीभवन्ति ते आस्याविषाः । अथवा आशीविषमविषं येषां ते आस्यविषाः ॥ ७ ॥ येषामालोकनमात्रादेवातितीव्रविष-दूषिता अपि विगतविषा भवन्ति ते दृष्ट्यविषाः । अथवा दृष्टिविषाणां विषं अविषं येषां ते दृष्ट्याविषाः ॥ ८ ॥ (२) बलालम्बना ऋद्धिस्त्रिविधा—मनोवाक्कायविषयभेदात् । तत्र मनोऽनिन्द्रिय-श्रुतावरण-वीर्यान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षे सति खेदं विना अन्तर्मुहूर्ते सकलश्रुतार्थचिन्तने अवदाताः मनोबलिनः ॥ १ ॥ जिह्वाश्रुतावरण-वीर्यान्तरायक्षयोपशमातिशये सत्यन्तर्मुहूर्ते सकलश्रुतोच्चारणसमर्थाः सततमुच्चैरुच्चारणे सत्यपि श्रमविरहिता अहीनकण्ठाश्च वाग्बलिनः ॥ २ ॥ वीर्यान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षादाविर्भूतासाधारणकाय-बलित्वात् मासिक-चातुर्मासिक-सांवत्सरिकादिप्रतिमायोगधारणेऽपि श्रमक्लेशविरहितास्त्रिभुवनमपि कनीयस्यां-गुल्योद्धृत्यान्यत्र स्थापयितुं समर्थाश्च कायबलिनः ॥ ३ ॥

तपोऽतिशयऋद्धिः सप्तविधा—उग्रतपः १ दीप्ततपः २ तप्ततपः ३ महातपः ४ घोरतपः ५ घोर-पराक्रमः ६ घोरगुणब्रह्मचारि ७ चेति । तत्रोग्रतपसो द्विभेदाः—उग्रोग्रतपसः अवस्थितोग्रतपसश्चेति ।

१ ज हततया । २ ज अथौष० ।

तत्र एकमुपवासं कृत्वा पारणं विधाय द्विदिनमुपोष्य तत्पारणान्तरं पुनरप्युपवासत्रयं कुर्वन्ति । एवमेकोत्तरवृद्धया यावज्जीवं त्रिगुप्तिगुप्ता सन्तो ये केचिदुपवसन्ति ते उग्रोग्रतपसः । दीक्षोपवासं कृत्वा पारणानन्तरमेकान्तरेण चरतां केनापि निमित्तेन षष्ठोपवासे जाते तेन विहरतामष्टमोपवाससंभवे तेनाचरतामेवं दशमद्वादशादिक्रमेण अधो न निवर्त्तमानाः यावज्जीवं येषां विहरणं तेऽवस्थितोग्रतपसः (१) । महोपवासकरणेऽपि प्रवर्धमानकायवाग्मानसबलाः विगन्धरहितवदनाः पद्मोत्पलादिसुरभिनिःश्वासाः प्रतिदिनप्रवर्धमानाप्रच्युतमहादीप्तिशरीराः दीप्ततपसः । (२) । तप्तायसकटाहपतितजलकणवदाशुशुष्काल्पाहारतया मलरुधिरादिभावपरिणामविरहिताभ्यवहरणास्तप्ततपसः (३) । अणिमादिजलचारणाद्यष्टगुणालंकृताः विस्फुरितकायप्रभाः द्विविधाक्षीणर्द्धियुक्ताः सर्वौषधिप्राप्ताः अमृतीकृतपाणिपात्रनिपतितसर्वाहाराः सर्वामरेन्द्रेभ्योऽनन्तबलाः, आशीविष-दृष्टिविषर्द्धिसमन्विताश्च तप्ततपसः, सकलविद्याधारिणो मति-श्रुतावधि-मनःपर्ययज्ञानावगतत्रिभुवनगतव्यापाराः महातपसः (४) । वात-पित्त-श्लेष्म-सन्निपातसमुद्भूतज्वर-कासाक्षि-कुक्षिशूल-कुष्ठप्रमेहादिविविधरोगसंतापितदेहा अप्यप्रच्युतानशनादितपसोऽनशने षण्मासोपवासाः, अवमोदर्ये एककवलाहाराः, वृत्तिपरिसंख्याने चतुर्गोचरगृहाः, रसपरित्यागे उष्णजलधौतोदनभोजिनः, विविक्तशयनासने भीमश्मशानाद्रिमस्तकगिरि-गुहा-दरी-कन्दर-शून्यग्रामादिषु प्रदुष्टयक्ष-राक्षस-पिशाचप्रनृत्तवेतालरूपविकारेषु परुषशिवारुतानुपरतसिंहव्याघ्रादिव्यालमृगभीषणेषु च घोरचौरादिप्रचरितेष्वभिरुचितावासाः, कायक्लेशे अतितीव्रशीतातपवर्षनिपातप्रदेशेषु अभ्रावकाशातपन-वृक्षमूलयोगग्राहिणः । एवमाभ्यन्तरतपोविशेषेष्वपि उत्कृष्टतपोऽनुष्ठायिनो घोरतपसः (५) । त एव गृहीततपोयोगवर्धनपरास्त्रिभुवनोपसंहरणमही-महाचल-ग्रसन-सकलसागरसलिलसंशोषण-जलाग्नि-शिला-शैलादिवर्षणसक्ता ये ते घोरपराक्रमाः (६) । चिरोषितास्खलितब्रह्मचर्यावासाः प्रकृष्टचारित्रमोहक्षयोपशमात् प्रणष्टदुःस्वप्नाः घोरगुणब्रह्मचारिणः । अथवा 'अघोरब्रह्मचारिण' इति पाठे अघोरं शान्तं ब्रह्म चारित्रं येषां ते अघोरगुणब्रह्मचारिणः, शान्ति-पुष्टिहेतुत्वात् । येषां तपोमाहात्म्येन डामरेति-मारि-दुर्भिक्ष-वैर-कलह-वध-बन्धन-रोगादिप्रशमनशक्तिः समुत्पद्यते ते अघोरगुणब्रह्मचारिणः (७) ।

रसर्द्धिप्राप्ताः षड्विधाः—आस्यविषाः १ दृष्टिविषाः २ क्षीरास्राविणः ३ मध्वास्राविणः ४ सर्पिरास्राविणः ५ अमृतास्राविणश्चेति ६ । प्रकृष्टतपोबलाः यतयो यं ब्रुवते म्रियस्वेति, स तत्क्षणादेव महाविषपरीतो म्रियते ते आस्यविषाः । आशीर्विषा इति केचित्, तत्राप्ययमेवार्थः—तथाऽऽशंसनादेव म्रियमाणत्वात् (१) । उत्कृष्टतपसो यतयः क्रुद्धा यमीक्षन्ते स तदैवोग्रविषपरीतो म्रियते ते दृष्टिविषाः (२) । विरसमप्यशनं येषां पाणिपुटे निक्षिप्तं क्षीररसगुणवीर्यपरिणामितां भजते, येषां वा वचांसि श्रोतॄणां क्षीरवत् क्षीणानां संतर्पकाणि भवन्ति[1] ते क्षीरास्राविणः (३) । येषां पाणिपुटे पतित आहारो नीरसोऽपि मधुररसवीर्यपरिणामितां भजते, येषां वा वचांसि श्रोतॄणां दुःखार्दितानामपि मधुरगुणं पुष्णंति ते मध्वास्राविणः (४) । येषां करपुटं प्राप्तं बलतक्रादिकमपि घृतपुष्टिं करोति, घृतं भवति; अथवा श्रोतारोऽस्माभिर्घृतमास्वादितं घृतवत्पुष्टिं तेषां करोति ते सर्पिरास्राविणः (५) येषां करपुटं प्राप्तं भोजनं यत्किंचिदपि अमृतं भवति, येषां वा वचनानि प्राणिनाममृतवदनुग्राहकाणि भवन्ति तेऽमृतास्राविणः (६) ।

विक्रियागोचरा ऋद्धिर्बहुविधा-अणिमा १ महिमा २ लघिमा ३ गरिमा ४ प्राप्तिः ५ प्राकाम्यं ६ ईशित्वं ७ वशित्वं ८ अप्रतिघातः ९ अन्तर्धानं १० कामरूपित्वं ११ इत्येवमादिः । तत्र अणुशरीरविकरणं अणिमा । बिसच्छिद्रमपि प्रविश्याऽऽसीत, उपविशेत्, तत्र चक्रवर्तिपरिवारविभूतिं सृजेत् (१) । मेरोरपि महत्तरशरीरविकरणं महिमा (२) । वायोरपि लघुतरशरीरता लघिमा (३) । वज्रादपि गुरुतरदेहता गरिमा (४) । भूमौ स्थित्वाऽङ्गुल्यग्रेण मेरुशिखर-दिवाकर दिस्पर्शनसामर्थ्यं प्राप्तिः (५) । अप्सु भूमाविव गमनं, भूमौ जल इवोन्मज्जन-निमज्जनकरणं प्राकाम्यम् । अनेकजातिक्रियागुणद्रव्यादीनां स्वांगाद्भिन्नमभिन्नं च निर्माणं प्राकाम्यम् । सैन्यादिरूपमिति केचित् (६) । त्रैलोक्यस्य प्रभुता ईशित्वम् (७) । सर्वजीववशीकरणलब्धिर्वशित्वम् (८) ।

[1] स प्रे० 'यथा प्राणिनां दुर्बलानां क्षीरं पुष्टिं नयति' इत्यधिकः पाठः ।

अद्रिमध्ये ऽपि यतीव गमनमप्रतिघातः (९)। अदृश्यरूपता अन्तर्धानम् (१०)। युगपदनेकाकाररूपविकरणशक्तिः कामरूपित्वम्। यथाभिलषितैकमूर्त्तामूर्त्ताकारं[1] स्वांगस्य मुहुर्मुहुःकरणं कामरूपित्वमिति वा (११)।

क्षेत्रर्द्धिप्राप्ता द्वेधा—अक्षीणमहानसाः १ अक्षीणमहालयाश्चेति २। लाभान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षप्राप्तेभ्यो यतिभ्यो यतो भिक्षा दीयते, ततो भाजनाच्चक्रधरस्कन्धावारोऽपि यदि भुंजीत, तद्दिवसे नान्नं क्षीयते ते अक्षीणमहानसाः (१)। अक्षीणमहालयत्वं प्राप्ता यतयो यत्र हस्तचतुष्टयमात्रावासे वसन्ति, तत्र देव-मनुष्य-तिर्यग्योनयः सर्वे निवसेयुः, परस्परमबाधमानाः सुखमासते, तेऽक्षीणमहालयाः (२)।

क्रियाविषया ऋद्धिर्द्विधा—चारणत्वं आकाशगामित्वं चेति। तत्र चारणा अनेकविधाः—जल १ जंघा २ तन्तु ३ पुष्प ४ पत्र ५ बीज ६ श्रेणि ७ अग्निशिखाद्यालम्बनगमनाः ८। [2]जलमुपादाय वाप्यादिषु अप्कायिकजीवानविराधयन्तो भूमाविव पादोद्धार-निक्षेपकुशलाः जलचारणाः। भूमेरुपरि आकाशे चतुरंगुलप्रमाणे जङ्घोत्क्षेप-निक्षेप शीघ्रकरणपटवो बहुयोजनशतमाशुगमनप्रवणाः जंघाचारणाः। एवमितरे च वेदितव्याः। पर्यंकावस्थानाः वा निषण्णा वा कायोत्सर्गशरीरा वा पादोद्धार-निक्षेपणविधिमन्तरेण वा आकाशगमनकुशला आकाशगामिनः। एवं ऋद्धिप्राप्ता आचार्योपाध्यायसर्वसाधवोऽपि ऋद्धिशब्देनोच्यन्ते। प्रस्थप्रमितं धान्यं प्रस्थ इति यथा, तथा ऋद्धिप्राप्ता मुनयोऽपि ऋद्धयः। ऋद्धीनामीशः ऋद्धीशः (६६)।

भूतनाथः—भूतानां प्राणिनां देवविशेषाणां च नाथः स्वामी भूतनाथः। भूतैः पृथिव्यप्तेजोवायुमिश्रतुर्भिर्भूतैरुपलक्षितो नाथो भूतनाथः। अतीतानामुपलक्षणात् वर्तमानभविष्यतां च नाथः भूतनाथः। अथवा भुवि पृथिव्या उताः सन्तानं प्राप्ता पृथिव्यां व्याप्ता[3] ये ते भूताः, तेषां नाथः भूतनाथः (६७)। **भूतभृत्**—पूर्वोक्तो भूतशब्दार्थः। भूतान् बिभर्त्ति पालयति भूतभृत् (६८)।

गतिः पाता वृषो वर्यो मंत्रकृच्छुभलक्षणः।
लोकाध्यक्षो दुराधर्षो भव्यबन्धुर्निरुत्सुकः॥ ६८॥

गतिः—गमनं ज्ञानमात्रं गतिः, सर्वेषां अर्त्तिमथनसमर्थो वा गतिः। आविष्टलिंगं गतिः शरणम् (६९)। **पाता**—पाति रक्षति दुःखादिति पाता रक्षकः (७०)। **वृषः**—वर्षति धर्मामृतं वृषः। नाम्युपधप्रीकृगॄज्ञां कः (७१)। **वर्यः**—व्रियते वर्यः। स्वराद्यः। सेवायातदेवेन्द्रादिभिर्वेष्टय इत्यर्थः। वर्यो वरणीयो मुक्तिलक्ष्म्याभिलषणीय इत्यर्थः। मुख्यो वा वर्यः (७२)। **मन्त्रकृत्**—मन्त्रं श्रुतं कृतवान् मन्त्रकृत्। मिथ्यादृष्टयस्तु मन्त्रं चत्वारिंशदध्यायादिलक्षणं वेदं मन्त्रं भणन्ति (७३)। **शुभलक्षणः**—शुभानि लक्षणानि यस्य स शुभलक्षणः। कानि तानि शुभलक्षणानीति चेदुच्यन्ते[4]—पाणिपादेषु श्रीवृक्षः शंखः अब्जं स्वस्तिकः अंकुशः तोरणं चामरं छत्रं श्वेतं सिंहासनं ध्वजः मत्स्यौ कुंभौ कच्छपः चक्रं समुद्रः सरोवरं विमानं भवनं नागः नारी नरः सिंहः बाणः धनुः मेरुः इन्द्रः गंगा नगरं गोपुरं चन्द्रः सूर्यः जात्यश्वः वीणा व्यजनं वेणु मृदङ्गः माले हट्टः पट्टकूलं भूषा पक्वशालिक्षेत्रं वनं सफलं रत्नद्वीपः वज्रः भूमिः महालक्ष्मीः सरस्वती सुरभिः वृषभः चूडारत्नं महानिधिः कल्पवल्ली धनं जम्बूवृक्षः गरुडः नक्षत्राणि तारकः राजसदनं ग्रहाः सिद्धार्थवृक्षः प्रातिहार्याणि अष्टमंगलानि ऊर्ध्वरेखादीनि अन्यानि च शुभलक्षणानि अष्टशतम् (७४)। **लोकाध्यक्षः**—लोकानां प्रजानामध्यक्षः प्रत्यक्षीभूतः।

आरामं तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन।

तद्वत्, सर्वेषां प्रत्यक्षत्वात्। अथवा लोकानां अध्यक्षो लोको परिमुक्तः, राजनियोगिकनाकाध्यक्षवत्[5]। अथवा लोकास्त्रीणि भुवनानि अध्यक्षाणि प्रत्यक्षाणि यस्येति लोकाध्यक्षः। अथवा लोकेभ्यः प्रजाभ्यः

१ द यथाभिलषितैकमूर्त्ताकारं। २ स प्रे० 'कदाचिज्जलचारणो जलार्थीःसन् वापीं गत्वा तन्मध्याद्गालितं गृह्णन् तज्जलं कमण्डलुप्रविष्टं सत् ऋद्धिमाहात्म्यात्प्रासुकं भवति' इत्यधिकः पाठः। ३ द प्राप्ता। ४ द चेदुच्यते। ५ द राजनियोगिकं नाकाध्यक्षवत्।

अधिकानि अक्षीणि ज्ञानलक्षणानि लोचनानि यस्येति लोकाध्यक्षः (७५) । दुराधर्षः—दुःखेन महता कष्टेनापि आसमन्तात् धर्षितुं पराभवितुमशक्यो दुराधर्षः । ईषद्दुःखसुखकृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल् प्रत्ययः (७६) । भव्यबन्धुः—भव्यानां रत्नत्रययोग्यानां बन्धुरुपकारकः भव्यबन्धुः (७७) । निरुत्सुकः—स्थिरप्रकृतिरित्यर्थः (७८) ।

धीरो जगद्धितोऽजय्यस्त्रिजगत्परमेश्वरः ।
विश्वासी सर्वलोकेशो विभवो भुवनेश्वरः ॥६६॥

धीरः—ध्येयं प्रति धियं बुद्धिमीरयति प्रेरयतीति धीरः । अथवा धियं राति ददाति भक्तानामिति धीरः । तर्हि दाधातोर्दानार्थत्वात्तद्योगे चतुर्थी कथं न भवति ? सत्यं, यस्मै दित्सा दातुमिच्छा भवति, तत्र चतुर्थी भवति । परमेश्वरस्तु स्वभावेन बुद्धिं ददाति, नत्विच्छया, तस्याः मोहजनितत्वात् । स तु मोहो भगवति न वर्तते, तेन लिंगात् षष्ठी भवति, सम्बन्धमात्रविवक्षितत्वात् (७६) । **जगद्धितः**—जगतां हितः, जगद्भयो वा हितो जगद्धितः, स्फुटमेतत् (८०) । **अजय्यः**—न जेतुं केनापि इन्द्रादिना काम-क्रोध-मोह-लोभादिना वा शक्यः अजय्यः । शक्ये यः स्वरवत् स्वराद्यः (८१) । **त्रिजगत्परमेश्वरः**—त्रयाणां जगतां परम उत्कृष्ट ईश्वरः स्वामी त्रिजगत्परमेश्वरः । अथवा त्रिजगतां परा उत्कृष्टा मा लक्ष्मीस्तस्या ईश्वरः त्रिजगत्परमेश्वरः (८२) । **विश्वासी**—विश्वासो विद्यते यस्य स विश्वासी । तदस्यास्तीति मत्वर्थीयेन् । अथवा विश्वस्मिन् लोकालोके केवलज्ञानापेक्षया आस्ते तिष्ठतीत्येवंशीलः विश्वासी । नाम्न्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये (८३) । **सर्वलोकेशः**—सर्वस्य लोकस्य त्रैलोक्यस्थितप्राणिगणस्य ईशः प्रभुः सर्वलोकेशः (८४) । **विभवः**—विगतो भवः संसारो यस्य स विभवः । अथवा विशिष्टो भवो जन्म यस्य स विभवः (८५) । **भुवनेश्वरः**—भुवनस्य त्रैलोक्यस्य ईश्वरः प्रभुः भुवनेश्वरः (८६) ।

त्रिजगद्वल्लभस्तुङ्गस्त्रिजगन्मंगलोदयः ।
धर्मचक्रायुधः सद्योजातस्त्रैलोक्यमंगलः ॥७०॥

त्रिजगद्वल्लभः—त्रिजगतां वल्लभोऽभीष्टः त्रिजगद्वल्लभः (८७) । **तुङ्गः**—उन्नतः विशिष्टफलदायक इत्यर्थः (८८) । उक्तञ्च—

तुंगात्फलं यत्तदकिंचनाच्च प्राप्यं समृद्धान्न धनेश्वरादेः ।
निरंभसोऽप्युच्चतमादिवाद्रेर्नैकापि निर्याति धुनी पयोधेः ॥

त्रिजगन्मंगलोदयः—त्रिजगतां त्रिभुवनस्थितभव्यजीवानां मंगलानां पंचकल्याणानामुदयः प्राप्तिर्यस्मादसौ त्रिजगन्मंगलोदयः । तीर्थंकरनामगोत्रयोर्भक्तानां दायक इत्यर्थः (८६) । **धर्मचक्रायुधः**—धर्म एव चक्रम्, पापारातिखंडकत्वात् धर्मचक्रम् । धर्मचक्रमायुधं शस्त्रं यस्यासौ धर्मचक्रायुधः (६०) । उक्तञ्च—

पापमरातिर्धर्मो बन्धुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन् ।
समयं यदि जानीते श्रेयो ज्ञाता ध्रुवं भवति ॥

सद्योजातः—सद्यस्तत्कालं स्वर्गात्प्रच्युत्य मातुर्गर्भे उत्पन्नत्वात्सद्योजातः (६१) । उक्तञ्च—

सद्यो जातश्रुतिं बिभ्रत्स्वर्गावतरणेऽच्युतः ।
त्वमद्य वामतां धत्से कामनीयकमुद्वहन् ॥

त्रैलोक्यमंगलः—त्रैलोक्यस्य मंगं सुखं लाति ददाति मलं वा गालयति इति त्रैलोक्यमंगलः (६२) ।

वरदोऽप्रतिघोऽच्छेद्यो दृढीयानभयंकरः ।
महाभागो निरौपम्यो धर्मसाम्राज्यनायकः ॥७१॥

वरदः—वरमभीष्टं स्वर्गं मोक्षं च ददाति वरदः (९३) । **अप्रतिघः**—अविद्यमानः प्रतिघः क्रोधो यस्य स अप्रतिघः (९४) । **अच्छेद्यः**—न छेत्तुं शक्यः अच्छेद्यः (९५) । **दृढीयान्**—अतिशयेन दृढः दृढीयान् (९६) ।

पृथुं मृदुं दृढं चैव भृशं च कृशमेव च ।
परिपूर्वं वृढं[1] चैव षडेतान् रविधौ स्मरेत् ॥

अभयंकरः—न भयंकरो रौद्रः अभयंकरः । अथवा अभयं निर्भयं करोतीति अभयंकरः (९७) । **महाभागः**—महान् भागो राजदेयं यस्य स महाभागः । अथवा महेन पूजया आसमन्ताद् भज्यते सेव्यते महाभागः (९८) । **निरौपम्यः**—निर्गतमौपम्यं यस्य स निरौपम्यः (९९) । **धर्मसाम्राज्यनायकः**—धर्म एव साम्राज्यं चक्रवर्तित्वम्, तस्य नायकः स्वामी धर्मसाम्राज्यनायकः (१००) ।

नाथशतमेतदित्थं निजबुद्ध्यनुसारतो मया विवृतम् ।
सर्वमलनाशहेतुं भव्यजनैर्भावितं भवति ॥
विद्यानन्दिमुनीन्द्रात्संजातः सर्वसूरिसुखहेतुः ।
श्री कुन्दकुन्दवंशे श्रुतसागरसूरिरिह जयतु ॥

इति नाथशतनामा पंचमोऽध्यायः समाप्तः ।

अथ षष्ठो ऽध्यायः

योगी भव्यकनिर्वेदः साम्यारोहणतत्परः ।
सामयिकी सामयिको निःप्रमादोऽप्रतिक्रमः ॥ ७२ ॥

योगी—योगो ध्यानसामग्री अष्टाङ्गा विद्यते यस्य स योगी । कानि तानि अष्टाङ्गानि ? यम-नियमासन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधय इति । तत्र यमो महाव्रतानि पञ्च । कानि तानि ? प्राणातिपातविरतिः १ अनृतविरतिः २ स्तेयविरतिः ३ ब्रह्मचर्यं ४ आकिञ्चन्यम् ५ । रात्रिभुक्तिपरिहारणुव्रतं षष्ठम् । (१) कालमर्यादासहितं व्रतं नियमः (२) । (आसनं) उद्भासनं पद्मासनं च (३) प्राणायामो वायुरोधः (४) विषयेभ्यः पञ्चभ्य ऐन्द्रियेभ्यो मनः पश्चात् आनीय ललाटपट्टे अर्हमक्षरोपरि स्थाप्यते प्रत्याहारः (५) धारणा पञ्चविधा । सा का ? तिर्यग्लोकः सर्वोऽपि सरोवरं चिन्त्यते । तन्मध्ये जम्बूद्वीपः सहस्रदलं कमलं चिन्त्यते तन्मध्ये महामेरुः कर्णिका चिन्त्यते । तदुपरि पद्मासनेन अहमुपविष्ट इति चिन्त्यते । इति **पार्थिवीधारणा** कथ्यते । तत्र त्रिकोणमग्निमण्डलं मध्येरेफ-रकारैर्वेष्टितं कोणाग्रेषु स्वस्तिकत्रयसहितं चिन्त्यते । तन्मध्ये उपविष्टोऽहमिति चिन्त्यते । नाभौ षोडशदलं कमलं चिन्त्यते । तत्कर्णिकायां 'अर्हं' लिखितं चिन्त्यते । तत्पत्रेषु षोडश स्वराः लिखिताश्चिन्त्यते । हृदयमध्ये अष्टदलं कमलं अधोमुखं स्थितं अष्टकर्मसंकल्पं

---

१ द ज दृढं ।

चिन्त्यते। सर्वरकारेभ्यो रक्ताग्निमंडलस्थितेभ्योऽग्निज्वाला निर्गच्छन्त्यश्चिन्त्यते। ताभिः शरीरं दह्यते बहिः, अभ्यन्तरे 'अर्हं' अक्षरस्थितरेफात्पूर्वं धूमो निर्गच्छन् चिन्त्यते। तन्मध्यात्स्फुलिङ्गा निर्गच्छन्तश्चिन्त्यन्ते। ताभिरष्टदलं कमलं दह्यते। इति शरीरं कर्माणि च भस्मभूतानि चिन्त्यन्ते। टंकोत्कीर्णस्फटिकबिम्बसदृश आत्मा स्थित इति चिन्त्यते। इति **आग्नेयीधारणा**। तदनन्तरं वायुमण्डलं चिन्त्यते, तेन तद्भस्म उड्डाप्यते। इति **मारुतीधारणा**। तदनन्तरं वरुणमण्डलं चिन्त्यते, तेनात्मा प्रक्षाल्यते। इति **वारुणीधारणा**। तदनन्तरं समवसरणमंडित आत्मा केवलज्ञानमंडितः कोटिभास्करतेजाः निर्ग्रन्थादिभिर्द्वादशगणैर्नम्यमानश्चिन्त्यते। इति **तात्त्विकीधारणा**। एवं पञ्चविधा धारणा (६)। आर्त्त-रौद्रपरिहारेण यत् धर्मशुक्लध्यानद्वयं क्रियते, तद्ध्यानम् (७)। आत्मरूपे स्थीयते जलभृतघटवत् निश्चलेन भूयते स समाधिः(८)। एवमष्टाङ्गो योगो यस्य विद्यते स योगीत्युच्यते (१)। उक्तञ्च—

> तत्त्वे पुमान् मनः पुंसि मनस्यक्षकदम्बकम्।
> यस्य युक्तं स योगी स्यान्न परेच्छादुरीहितः॥

प्रव्यक्तनिर्वेदः—प्रव्यक्तः स्फुटो मुखकमलविकाससूचितो निर्वेदः संसार-शरीर-भोगवैराग्यं यस्य स प्रव्यक्तनिर्वेदः (२)। उक्तञ्च—

> भवतणुभोयविरत्तमणु जो अप्पा झाएइ।
> तासु गुरुक्की वेल्लडी संसारिणि तुट्टेइ॥

साम्यारोहणतत्परः—साम्यस्य समाधेरारोहणे चटने तत्परः, अनन्यवृत्तिः साम्यारोहणतत्परः (३)। उक्तञ्च—

> साम्यं स्वास्थ्यं समाधिश्च योगश्चेतोनिरोधनम्।
> शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थवाचकाः॥

सामयिकी—सर्वजीवानां समतापरिणामः सामयिकम्। सम्यक् अयः समयः शुभावहो विधिर्जैनधर्मः, समय एव सामायिकम्। स्वार्थे शैषिक[1] इकण्। सामयिकं सर्वसावद्ययोगविरतिलक्षणं विद्यते यस्य स सामयिकी। अथवा सा लक्ष्मीर्माया यस्य स सामायः, सर्वेऽपि-(द्वि-) समूहः; स विद्यते यस्य स सामायी। सामायी एव सामायिकः। स्वार्थे कः। सामायिको गणधरदेवसमूहो विद्यते यस्य स सामायिकी। इन् अस्त्यर्थे (४)। **सामयिकः**—समये जैनधर्मे नियुक्तः सामयिकः। इकण् (५)। **नि प्रमादः**—निर्गतः प्रमादो यस्य स निःप्रमादः। (५)। उक्तञ्च—

> विकहा तह य कसाया इंदिय णिद्दा तहेव पणओ य।
> चदु चदु पणमेगेगे होंति पमादा य पण्णरसा॥

अप्रतिक्रमः—न विद्यते प्रतिक्रमो यस्य स अप्रतिक्रमः। कृतदोषनिराकरणं प्रतिक्रमणम्। ते तु दोषाः स्वामिनो न विद्यन्ते तेन प्रतिक्रमणमपि न करोति, ध्यान एव तिष्ठति तेन अप्रतिक्रमः (७)।

> **यमः प्रधाननियमः स्वभ्यस्तपरमासनः।**
> **प्राणायामचणः सिद्धप्रत्याहारो जितेन्द्रियः॥७३॥**

यमः—यमो यावज्जीवनियमः, तद्योगात् स्वाम्यपि यमः, सर्वसावद्ययोगोपरतत्वात् (८)। **प्रधाननियमः**—प्रधानो मुख्यो नियमो यस्य स प्रधाननियमः (६)। उक्तञ्च—

---

[1] द स्वार्थे शैषिकण्।

नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोगसंहारे।
नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते॥

स्वभ्यस्तपरमासनः—सुष्ठु अतिशयेन अभ्यस्तमनुशीलितं आसनं पद्मासनं येन स स्वभ्यस्त-परमासनः। किञ्चिदूनकोटिपूर्वपर्यंन्तं भगवान् खलु पद्मासनेनोपविष्टो हि धर्मोपदेशं ददाति। जघन्येन त्रिंशद्वर्षपर्यन्तमेकासनेन पद्मासनेन तिष्ठति। मध्ये नानाविधकालपर्यन्तं ज्ञातव्यम्। अथवा सुष्ठु अति-शयेन अभ्यस्ता भुक्ता या परमा परमलक्ष्मीस्तां अस्यति त्यजति निःक्रमणकाले यः स स्वभ्यस्तपरमासनः (१०)। **प्राणायामचणः**—प्राणायामे कुम्भक-पूरक-रेचकादिलक्षणे वायुप्रचारे (चणो) वित्तो विचक्षणः प्रवीणः प्राणायामचणः। वित्ते चंचु चणौ इति तद्धितः चणप्रत्ययः (११)। तथा चोक्तम्—

मन्दं मन्दं क्षिपेद्वायुं मन्दं मन्दं विनिक्षिपेत्।
न क्वचिद्धार्यते वायुर्न च शीघ्रं विमुच्यते॥

तथा चोक्तम्—

णासविणिग्गउ सासडा अंबरि जत्थु विलाइ।
तुट्टइ मोहु तडित्ति तहि मणु [1]अत्थवणहं जाइ॥

सिद्धप्रत्याहारः—सिद्धः प्राप्तिमायातः प्रत्याहारः पूर्वोक्तनिर्विषय बीजाक्षरललाटस्थापनं मनो यस्य स सिद्धप्रत्याहारः (१२)। **जितेन्द्रियः**—जितानि विषयसुखपराङ्मुखीकृतानि इन्द्रियाणि स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुःश्रोत्रलक्षणानि येन स जितेन्द्रियः (१३)। निरुक्तं तु—

जित्वेन्द्रियाणि सर्वाणि यो वेत्त्यात्मानमात्मना।
गृहस्थो वानप्रस्थो वा स जितेन्द्रिय उच्यते॥

धारणाधीश्वरो धर्मध्याननिष्ठः समाधिराट्।
स्फुरत्समरसीभाव एकी करणनायकः॥७४॥

धरणाधीश्वरः—धारणा पूर्वोक्ता पञ्चविधा, तस्यां अधीश्वरः समर्थो धारणाधीश्वरः। अथवा धारणा जीवानां स्वर्ग-मोक्षयोः स्थापना, तस्या धीर्बुद्धिर्धारणाधीः भव्यजीवानां स्वर्गे मोक्षे च स्थापना बुद्धिस्तस्या ईश्वरो रत्नत्रयदानसमर्थस्तद्विना तद्द्वयं न भवतीति कारणात् धारणाधीश्वरः, मोक्षहेतुरत्नत्रय-बुद्धिदायक इत्यर्थः (१४)। इत्यनेन—

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुख-दुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥

इति निरस्तम्। **धर्मध्याननिष्ठः**—धर्मध्याने आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयलक्षणे न्यतिशयेन तिष्ठतीति धर्मध्याननिष्ठः (१५)। **समाधिराट्**—समाधिना शुक्लध्यान-केवलज्ञानलक्षणेन राजते शोभते समाधिराट् (१६)। **स्फुरत्समरसीभावः**—स्फुरन् अतिशयेन चित्ते चमत्कुर्वन् समरसीभावः सर्वे जीवाः शुद्धबुद्धैकस्वभावा इति परिणामः समरसीभावो यस्य स स्फुरत्समरसीभावः। अथवा स्फुरन् आत्मनि समरसीभाव एकलोलीभावो यस्य स स्फुरत्समरसीभावः (१७)। **एकी**—एक एव अद्वितीयसंकल्प-विकल्प-रहित आत्मा विद्यते यस्य स एकी। अथवा एके एकसदृशा आत्मानो जीवा विद्यन्ते यस्य स एकी (१८)। उक्तञ्च वेदान्ते—

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥

---

[1] द अंवण।

करणनायकः—करणानां पञ्चानामिन्द्रियाणां मनःषष्ठानां स्व-स्वविषयगमननिषेधे नायकः समर्थः करणनायकः । अथवा करणशब्देन परिणामा उच्यन्ते, तेषां त्रिविधानामपि नायकः प्रवर्तकः । (१६) । तथा चोक्तं जिनसेनपादैः—

> करणत्रययाथात्म्यव्यक्तयेऽर्थपदानि वै । ज्ञेयान्यमूनि सूत्रार्थसङ्गावज्ञैरनुक्रमात् ॥
> करणाः परिणामाः ये विभक्ताः प्रथमे क्षणे । ते भवेयुर्द्वितीयेऽस्मिन् क्षणेऽन्ये च पृथग्विधाः ॥
> द्वितीयक्षणसम्बन्धिपरिणामकदम्बकम् । तथान्यच्च तृतीये स्यादेवमाचरमक्षणात् ॥
> ततश्चाधःप्रवृत्ताख्यं करणं तन्निरुच्यते । अपूर्वकरणे नैवं ते ह्यपूर्वाः प्रतिक्षणम् ॥
> करणे त्वनिवृत्त्याख्ये न निवृत्तिरिहाङ्गिनाम् । परिणामैर्मिथस्ते हि समा भावाः प्रतिक्षणम् ॥
> तत्राद्ये करणे नास्ति स्थितिघाताद्युपक्रमः । ह्रापयन् केवलं शुद्ध्यन् बन्धं स्थित्यनुभागयोः ॥
> अपूर्वकरणेऽप्येवं किन्तु स्थित्यनुभागयोः । हन्यादग्रं गुणश्रेण्यां कुर्वन् संक्रमनिर्जरे ॥
> तृतीये करणेऽप्येवं घटमानः पटिष्ठधीः । अकृत्वान्तरमुच्छिन्द्यात् कर्मारीन् षोडशाष्ट च ॥
> गत्योरथाद्ययोर्नामप्रकृतीर्नियतोदयाः । स्त्यानगृद्धित्रिकं चास्मिन् घातेनैकेन योगिराट् ॥
> ततोऽष्टौ च कषायांस्तान् हन्याद्ध्यात्मतत्त्ववित् । पुनः कृतान्तरः शेषाः प्रकृतीरप्यनुक्रमात् ॥
> अश्वकर्णक्रिया कृष्टिकरणादिश्च यो विधिः । सोऽत्र वाच्यस्ततः सूक्ष्मसाम्परायत्वसंश्रयः ॥
> [1]सूक्ष्मीकृतं ततो लोभं जयन् मोहं व्यजेष्ट सः । कर्शितो लरिक्रोऽपि सुजयो विजिगीषुणा[2] ॥

एवमधःप्रवृत्तकरण-अपूर्वकरण-अनिवृत्तिकरणलक्षणत्रयः करणास्तेषां नायकः प्रवर्त्तकः करणनायक इत्युच्यते (१६) ।

> निर्ग्रन्थनाथो योगीन्द्रः ऋषिः साधुर्यतिर्मुनिः ।
> महर्षिः साधुधौरेयो यतिनाथो मुनीश्वरः ॥७५॥

निर्ग्रन्थनाथः—निर्ग्रन्थानां चतुर्विधमुनीनां नाथो निर्ग्रन्थनाथः । उक्तञ्च—

> निर्ग्रन्था, शुद्धमूलोत्तरगुणमणिभिर्येऽनगारा इतीयुः,
> संज्ञां ब्रह्मादिधर्मैर्ऋषय इति च ये बुद्धिलब्ध्यादिसिद्धेः ।
> श्रेण्योरारोहणैर्ये यतय इति समग्रतराध्यक्षबोधै-
> र्ये मुन्याख्यां च सर्वान् प्रणुमह इह तानर्थयामो मुमुक्षून् ॥

निर्ग्रन्थनाथ इति द्वादशगुणस्थानवर्ती । ब्रह्मादिसिद्धेरिति कोऽर्थः ? बुद्धिलब्ध्या औषधलब्ध्या[3] च ब्रह्मर्षिः । विक्रियालब्ध्या अक्षीणमहानसालयलब्ध्या च राजर्षिः । वियद्गमनलब्ध्या देवर्षिः । केवलज्ञानवान् परमर्षिः (२०) । उक्तञ्च—

> देशप्रत्यक्षवित्केवलभृदिह मुनिः स्यादृषिःप्रोद्गतर्द्धि-
> रारूढश्रेणियुग्मोऽजनि[4] यतिरनगारोऽपरः साधुरुक्तः ।
> राजा ब्रह्मा च देवः परम इति ऋषिर्विक्रियाऽक्षीणशक्ति-
> प्राप्तो बुद्ध्यौषधीशो वियदयनपटुर्विश्ववेदी क्रमेण ॥

योगीन्द्रः—योगिनां ध्यानिनामिन्द्रः स्वामी योगीन्द्रः (२१) । **ऋषिः**—रिषी[5] ऋषी गतौ । ऋषति गच्छति बुद्धिऋद्धिं औषधर्द्धिं विक्रियर्द्धिं अक्षीणमहानसालयर्द्धिं वियद्गमनर्द्धिं केवलज्ञानर्द्धिं प्राप्नोतीति ऋषिः । रनाम्युपधात्किः । अथवा रिष चोषृ आदान-संवरणयोः (२२) ।

---

१ द लक्ष्मीकृतं ज लक्ष्मीकृतं । २ महापुराण, पर्व २०, श्लोक २४६-२६० ।
३ ज धद्धया । ४ ज जनयति । ५ द ऋषि ।

रेखयात्कैश्वराशीनामृषिमाहुर्मनीषिणः ।
मान्यत्वादात्मविद्यानां महद्भिः कीर्त्यते मुनिः ॥

साधु—[1]साधयति रत्नत्रयमिति साधुः । कृ वा पा जि मि स्वदि साध्य सूदषि जनि चरि चटिभ्य उण् । (२३) । यतिः—यतते यत्नं करोति रत्नत्रये इति यतिः । सर्वधातुभ्य इः (२४) । निरुक्तं तु—

यः पापपाशनाशाय यतते स यतिर्भवेत् ॥

मुनिः—मन्यते जानाति प्रत्यक्षप्रमाणेन चराचरं जगदिति मुनिः । मन्यते किश्व उश्च (२५) । महर्षिः—महांश्चासौ ऋषिः ऋद्धिसम्पन्नः महर्षिः (२६) । उक्तञ्च—

रिसिणो रिद्धि[2]पवण्णा मुणिणो पच्चक्खणाणिणो णेया ।
जइणो कसायमहणा सेसा अणयारया भणिया ॥

साधुधौरेयः—साधूनां रत्नत्रयसाधकानां धुरि नियुक्तः साधुधौरेयः । स्त्र्यभ्योदेरेयण् (२७) । य[illegible]थः—यतीनां निःकषायाणां नाथः स्वामी यतिनाथः (२८) । तथा च लौ[illegible] वाक्यम्—

पक्षिणां काकचांडालः पशुचांडालगर्दभः ।
यतीनां कोपचांडालः सर्वचांडालनिन्दकः ॥

मुनीश्वरः—मुनीनां प्रत्यक्षज्ञानिनामीश्वरो मुनीश्वरः (२९) ।

महामुनिर्महामौनी महाध्यानी महाव्रती ।
महाक्षमो महाशीलो महाशान्तो महादमः ॥७६॥

महामुनिः—महांश्चासौ मुनिः प्रत्यक्षज्ञानी महामुनिः (३०) । महामौनी—मुनिषु ज्ञानिषु भवं मौनम् । मौनं विद्यते यस्य स मौनी । महांश्चासौ मौनी महामौनी । वर्षसहस्रपर्यन्तं खल्वादिनाथो न धर्ममुपदिदेश । ईदृशः स्वामी महामौनी भण्यते (३१) । महाध्यानी—ध्यानं धर्म-शुक्लध्यानं द्वयं विद्यते यस्य स ध्यानी । महांश्चासौ ध्यानी महाध्यानी (३२) । महाव्रती—महाव्रतानि प्राणातिपातपरिहारानृतवचनपरित्यागाचौर्यव्रतब्रह्मचर्याकिंचन्य-रजनीभोजन परिहारलक्षणानि विद्यन्ते यस्य स व्रती । महान् इन्द्रादीनां पूज्यो व्रती महाव्रती (३३) । महाक्षमः—महती अनन्यसाधारणा क्षमा प्रशमो यस्य स महाक्षमः (३४) । उक्तञ्च—

आक्रुष्टोऽहं हतो नैव हतो वा न द्विधाकृतः ।
मारितो न हतो धर्मो मदीयोऽनेन बन्धुना ॥

महाशीलः—महान्ति अष्टादशसहस्रगणनानि शीलानि व्रतरक्षणोपाया यस्य स महाशीलः । कानि तानि अष्टादशशीलसहस्राणीति चेदुच्यते—आशाधरमूलाचारग्रन्थे चतुर्थाध्याये एकसप्तत्यधिकशततमे श्लोकेऽयं विचारः ।

शीलं व्रतपरिरक्षणमुपैतु शुभयोगवृत्तिमितरहतिम् ।
संज्ञाक्षविरतिरोधौ क्ष्मादियममलात्ययं क्षमादींश्च ॥
गुणाः संयमविकल्पाः, शुद्धयः कायसंयमाः ।
सेव्याऽहिंसाऽऽकंपितातिक्रमाद्यब्रह्मवर्जनाः ॥

---

१ प्रतिषु 'साध्यति' । २ ख संपवण्णा ।

शुभयोगवृत्तिं उपैतु—शुभमनोवचनकाययोगाः ३। इतर-वृत्तिं उपैतु—अशुभमनोवचनकायान् त्रीन् शुभमनसा हन्तु, इति त्रीणि। अशुभमनोवचनकायान् शुभवचसा हन्तु, इति षट्। अशुभमनोवचनकायान् शुभकायेन हन्तु, इति नव। एते नव संज्ञाभिर्गुणिता षट्त्रिंशत्। ते इन्द्रियैः सह गुणिताः अशीत्यधिकं शतं १८०। क्षमादियममलात्ययम्-पृथ्वी अप् तेजो वायु वनस्पति द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय असंज्ञिसंज्ञिपंचेन्द्रिय इति दशभिर्गुणिता अष्टादशशतानि भवन्ति १८००। क्षमादींश्च—उत्तमक्षमादिभिर्दशभिर्गुणिता अष्टादश सहस्राणि भवन्ति १८०००। अथवा अशीत्यधिकद्विशताग्रसप्तदशसहस्राणि चैतन्यसम्बन्धीनि भवन्ति १७२८०। विंशत्यधिकसप्तशतानि अचैतन्यसम्बन्धीनि ७२०। देवी मानुषी तिरश्चीति तिस्रः कृतकारितानुमतगुणिता नव ९। मनोवचनकायगुणिताः सप्तविंशतिः २७। स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दैर्गुणिता पंचत्रिंशदधिकं शतं १३५। द्रव्यभावगुणिताः सप्तत्यधिके द्वे शते २७०। संज्ञाभिर्गुणिता अशीत्यधिकं सहस्रं १०८०। अनन्तानुबन्धि-अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान-संज्वलनषोडशभिर्गुणिता अशीत्यधिकद्विशतसप्तदशसहस्राणि भवन्ति १७२८०। इति चेतनसम्बन्धिभेदाः। अचेतनकृतभेदाः कथ्यन्ते—काष्ठ-पाषाण-लेपकृताः स्त्रियः मनःकायकृतगुणिताः षट्। कृत-कारितानुमतगुणिता अष्टादश १८। स्पर्शादिपंचगुणिता नवतिः ९०। द्रव्य-भावगुणिता अशीत्यग्रं शतं १८०। कषायैश्चतुर्भिर्गुणिताः विंशत्यधिकानि सप्तशतानि ७२०। एकत्र १८०००। अथ गुणाः कथ्यन्ते ८४०००००।

> हिंसा[1]ऽनृतं[2] तथा स्तेयं[3] मैथुनं च[4] परिग्रहः[5]।
> क्रोधादयो जुगुप्सा च[10] भय[11] मप्यरती[12] रतिः[13]॥
> मनोवाक्कायदुष्टत्वं[16] मिथ्यात्वं[17] सप्रमादकम्[18]।
> पिसुनत्वं[19] तथाऽज्ञानमक्षाणां[20] वाऽप्यनिग्रहः[21]॥

तेषां वर्जनानि एकविंशतिः। २१ अतिक्रम-व्यतिक्रम-अतिचार-अनाचारैश्चतुर्भिर्गुणिताश्चतुरशीतिः ८४। दशकाय-संयमैर्गुणिताश्चतुरशीतिशतानि ८४००। ते आकंपितादिभिर्दशभिर्गुणिताश्चतुरशीतिसहस्राणि ८४०००। दशधर्मैर्गुणिताश्चतुरशीतिलक्षाः ८४०००००। आकंपितादीनां दशानां गाथा यथा—

> आकंपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं बायरं च सुहुमं च।
> छण्णं सद्दाउलयं बहुजणमव्वत्त तस्सेवी॥

दशकायसंयमाः के ?

> पंचस्थावररक्षा विकलत्रयरक्षा पंचेन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञी।
> तद्रक्षा इति दश दश संयमसंयतान् वंदे॥

अथवा—महत् नवविधं शीलं यस्य स महाशीलः। के ते नवविधाः ? मनोवचनकायैः कृतकारितानुमोदैर्नव भवन्ति। अथवा—

> इत्थिविसयाहिलासो अंगविमोक्खो य पणिदरससेवा।
> संसत्तदव्वसेवा तहिंदियालोयणं चेव॥
> सक्कारपुरक्कारो[2] अदीदसुमरणमणागदहिलासो।
> इट्ठविसयसेवा वि य नवभेदमिदं अबंभं तु॥

एतानि नव विपरीतानि नवविधब्रह्मचर्याणि भवन्ति। तानि महान्ति शीलानि यस्य स महाशीलः (३५)।

महाशान्तः—महांश्चासौ शान्तो रागद्वेषरहितः कर्ममलकलंकरहितो वा महाशान्तः। अथवा महत् शं सुखं अन्तः स्वभावो यस्य स महाशान्तः। अथवा महत्या आशाया वांछाया अन्तो विनाशो यस्य स महाशान्तः (३६)। उक्तञ्च—

राग-द्वेषौ यदि स्यातां तपसा किं प्रयोजनम्।
तावेव यदि न स्यातां तपसा किं प्रयोजनम्॥

अन्यच्च—

जं मुणि लहइ अणंतु सुहु णियअप्पा झायंतु।
तं सुहु इंदु वि णवि लहइ देविहिं कोडि रमंतु॥

अन्यच्च—

आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता॥

महादमः—महान् दमस्तपःक्लेशसहिष्णुता यस्य स महादमः। अथवा महान् सर्वप्राणिगणरक्षा-लक्षणो दो दानं महादमः। महादे महादाने मा लक्ष्मीर्यस्य स महादमः (३७)। तथा चोक्तं—**विश्व-शम्भुमुनिप्रणीतायामेकाक्षरनाममालायाम्**—

दो दाने पूजने क्षीणे दाने शौण्डे च पालके।
देवे दीप्तौ दुराधर्षे दो भुजे दीर्घदेशके॥
दयायां दमने दीने दंदशूकेऽपि दः स्मृतः।
वद्धे च बन्धने बोधे बाले बीजे बलोदिते॥
विदोषेऽपि पुमानेष चालने[1] चीवरे वरे।

निर्लेपो निर्भ्रमस्वान्तो धर्माध्यक्षो दयाध्वजः।
ब्रह्मयोनिः स्वयंबुद्धो ब्रह्मज्ञो ब्रह्मतत्त्ववित्॥७७॥

निर्लेपः—निर्गतो निर्नष्टो लेपः पापं कर्ममलकलंको यस्य स निर्लेपः। अथवा निर्गतो लेप आहारो यस्य स निर्लेपः (३८)। उक्तञ्च—

श्वेतद्रव्येऽशने चापि लेपने लेप उच्यते॥

निर्भ्रमस्वान्तः—निर्भ्रमं तत्त्वे भ्रान्तिरहितं स्वान्तं मनोरथो यस्य स निर्भ्रमस्वान्तः, संशय-विमोह-विभ्रमरहिततत्त्वप्रकाशक इत्यर्थः (३९)। **धर्माध्यक्षः**—धर्मे चारित्रे अध्यक्षः अधिकृतः अधिकारी नियोग-वान् नियुक्तो न कमपि धर्मविध्वंसं कर्तुं ददाति धर्माध्यक्षः। अथवा धर्मस्य आधिश्चिन्ता धर्माधिः। धर्माधौ धर्मचिन्तायां अक्षो ज्ञानं आत्मा वा यस्य स धर्माध्यक्षः। उक्तञ्च—

आशाबन्धक-चित्तार्त्ति-व्यसनेषु तथैव च।
अधिष्ठाने च विद्वद्भिराधिशब्दो नरि स्मृतः॥

अथवा धर्मादौ धर्मचिन्तायामक्षाणीन्द्रियाणि यस्य स धर्माध्यक्षः (४०)। उक्तञ्च—

अक्षमिन्द्रियमित्युक्तं तुच्छं सौवर्चलं तथा।
अक्षो रावणा तुक् चात्मा ज्ञानं कर्षश्च सूचिका॥
पासकं शकटं कीलो रथस्य च विभीतकः।
व्यवहारो नवार्थेषु पुंस्ययं परिकीर्तितः॥

१. द चलने।

दयाध्वजः—दया ध्वजा पताका यस्य स दयाध्वजः। अथवा दयाया अध्वनि मार्गे जायते, योगिनां प्रत्यक्षो भवतीति दयाध्वजः। अथवा दया ध्वजा लांछनं यस्य स दयाध्वजः (४१)। **ब्रह्मयोनिः**—ब्रह्मणस्तपसो ज्ञानस्यात्मनो मोक्षस्य चारित्रस्य वा योनिरुत्पत्तिस्थानं ब्रह्मयोनिः (४२)। उक्तञ्च—

आत्मनि मोक्षे ज्ञाने वृत्ते ताते च भरतराजस्य।
ब्रह्मे ति गीः प्रगीता न चापरो विद्यते ब्रह्मा[1]॥

स्वयंबुद्धः—स्वयं आत्मना गुरुमन्तरेण बुद्धो निर्वेदं प्राप्तः स्वयंबुद्धः (४३)। उक्तञ्च—
निच्चिरा । निप्पडिलेहा य अवहिणाणी य।
णिग्गुरुमा अरहंता णिक्कम्मा हुंति सिद्धा य॥

ब्रह्मज्ञः—ब्रह्माणमात्मानं ज्ञानं तपश्चारित्रं मोक्षं च जानातीति ब्रह्मज्ञः (४४)। **ब्रह्मतत्वविद्**—ब्रह्मणो मोक्षस्य ज्ञानस्य तपसश्चारित्रस्य च तत्त्वं स्वरूपं हृदयं मर्म वेत्तीति जानातीति ब्रह्मतत्त्ववित् (४५)।

पूतात्मा स्नातको दान्तो भदन्तो वीतमत्सरः।
धर्मवृक्षायुधोऽक्षोभ्यः प्रपूतात्माऽमृतोद्भवः॥७८॥

पूतात्मा—पूतः पवित्रः कर्ममलकलंकरहित आत्मा स्वभावो यस्य स पूतात्मा (४६)। **स्नातकः**—स्नातः कर्ममलकलंकरहितः द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्मरहितत्वात् पूतः प्रक्षालितः क आत्मा यस्य स स्नातकः (४७)। उक्तञ्च—

पुलाकः सर्वशास्त्रज्ञो वकुशो भव्यबोधकः।
कुशीले स्तोकचारित्रं निर्ग्रन्थो ग्रन्थहारकः॥
स्नातकः केवलज्ञानी शेषाः सर्वे तपोधनाः।

दान्तः—दान्तः तपःक्लेशसहः। अथवा दो दानं अभयदानं अन्तः स्वभावो यस्य स दान्तः (४८)। **भदन्तः**—भदन्त इन्द्र-चन्द्र-धरणेन्द्र-मुनीन्द्रादीनां पूज्यपर्यायत्वाद्भदन्तः। (४९)। **वीतमत्सरः**—वीतो विनष्टो मत्सरः परेषां शुभकर्मद्वेषो यस्य स वीतमत्सरः। अजेर्वी (५०)। उक्तञ्च गुणभद्रदेवैः—

उद्युक्तस्त्वं तपस्यस्यधिकमभिभवंस्त्वव्यगच्छन् कषायाः
प्राभूद्बोधोऽप्यगाधो जलमिव जलधौ किन्तु दुर्लक्ष्यमन्यैः।
निर्व्यूढेऽपि प्रवाहे सलिलमिवमनाग्निम्नदेशेष्ववश्यं
मात्सर्यन्ते स्वतुल्यैर्भवति परवशाद्दुर्जयं तज्जहीहि॥

धर्मवृक्षायुधः—धर्म एव वृक्षः स्वर्ग-मोक्षफलप्रदायित्वात्। धर्मवृक्षः, स एव आयुधं प्रहरणं, कर्मशत्रुनिपातनत्वात्। धर्मवृक्षः आयुधं यस्य स धर्मवृक्षायुधः। (५१)। **अक्षोभ्यः**—न क्षोभयितुं चारित्राच्चालयितुं शक्यः अक्षोभ्यः। हेतावेर्णि सति स्वरादः कारितस्यानामिड् विकरणे। इनो लोपे रूपमिदम्। अथवा अक्षेण केवलज्ञानेन उभ्यते[2] ऊभ्यते पूर्यते[3] अक्षोभ्यः (५२)। **प्रपूतात्मा**—प्रकर्षेण पूतःपवित्र आत्मा यस्य स प्रपूतात्मा। अथवा प्रपुनाति प्रकर्षेण पवित्रयति भव्यजीवान् इति प्रभूः, पवित्रकारकः सिद्धपरमेष्ठी। तस्य ता लक्ष्मीरनन्तचतुष्टयं तया उपलक्षित आत्मा स्वभावो यस्य स प्रपूतात्मा, सिद्धस्वरूप इत्यर्थः (५३)। **अमृतोद्भवः**—अविद्यमानं मृतं मरणं यत्र तत् अमृतं मोक्षः, तस्य उद्भव उत्पत्तिर्भव्यानां यस्मादसावमृतोद्भवः। अथवा मृतं मरणम्, उद्भवो जन्म। मृतं च उद्भवश्च मृतोद्भवौ। न विद्येते मृतोद्भवौ मरण-जन्मनी यस्य स अमृतोद्भवः (५४)।

१ द ब्रह्म। २ ज 'उभ्यते' इति पाठो नास्ति। ३ ज पूर्यते।

मन्त्रमूर्तिः स्वसौम्यात्मा स्वतन्त्रो ब्रह्मसम्भवः।
सुप्रसन्नो गुणाम्भोधिः पुण्यापुण्यनिरोधकः॥ ७६॥

मंत्रमूर्तिः—मंत्रः णमो अरहंताणं इति सप्ताक्षरो मंत्रः, स एव मूर्तिः स्वरूपं यस्य स मंत्रमूर्तिः। विप्रास्तु—ईषेत्वोर्जित्वा वायवः स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे इत्यादि चत्वारिंशदध्यायान् मन्त्रं भणन्ति। स इहग्विधो मंत्रः पापवेदांशो[1] मूर्तिः काठिन्यं हिंसाकर्महेतुत्वात् निर्दयत्वं यस्य मते स मन्त्रमूर्तिः। अथवा मन्त्रः स्तुतिः, स मूर्तिः यस्य स मन्त्रमूर्तिः। मन्त्रं स्तुतिं कुर्वन्तो भगवन्तं प्रत्यक्षं पश्यन्तीति कारणात् मन्त्रमूर्तिः। उक्तञ्च—

त्रिदशेन्द्रमौलिमणिरत्नकिरणविसरोपचुंबितम्।
पादयुगलममलं भवतो विकसत्कुशेशयदलारुणोदरम्॥
नखचन्द्ररश्मिकवचातिरुचिरशिखरांगुलिस्थलम्।
स्वार्थनियतमनसः सुधियः प्रणमन्ति मन्त्रमुखरा महर्षयः॥

अथवा मन्त्रेण गुप्तभाषणेन ताल्वोष्ठाद्यचलनेनोपलक्षिता मूर्तिः शरीरं यस्य स मन्त्रमूर्तिः (५५)। **स्वसौम्यात्मा**—स्वेन आत्मना स्वयमेव परोपदेशं विनैव सौम्योऽक्रूरः आत्मा स्वभावो यस्य स स्वसौम्यात्मा (५६)। **स्वतन्त्रः**—न पराधीनः स्वः आत्मा तन्त्रं शरीरं यस्य। स्वः आत्मा तन्त्रं इति कर्त्तव्यता यस्य। स्वः आत्मा इहलोक-परलोकलक्षणद्वयर्थसाधको यस्य स स्वतन्त्रः। स्वः आत्मा तन्त्रं करणं यस्य स स्वतन्त्रः। स्वः आत्मा तन्त्रं शास्त्रं यस्य स स्वतन्त्रः। स्वः आत्मा तन्त्रं परिच्छेदो यस्य स स्वतन्त्रः। स्वः आत्मा तन्त्रं औषधं यस्य स स्वतन्त्रः। स्वः आत्मा तन्त्रं कुटुम्बकृत्यं यस्य स स्वतन्त्रः। स्वः आत्मा तन्त्रं प्रधानो यस्य स स्वतन्त्रः। स्वः आत्मा तन्त्रं सिद्धान्तो यस्य स स्वतन्त्रः (५७)। उक्तञ्च—

इति कर्तव्यतायां च शरीरे द्वयर्थसाधके।
श्रुतिशाखान्तरे राष्ट्रे कुटुम्बकृति चौषधे[2]॥
प्रधाने च परिच्छंदे करणे च परिच्छदे।
तंतुवाने च शास्त्रे च सिद्धान्ते तन्त्रमिष्यते॥

ब्रह्मसम्भवः—ब्रह्मणा आत्मनश्चारित्रस्य ज्ञानस्य मोक्षस्य च सम्भव उत्पत्तिर्यस्मात् स ब्रह्मसम्भवः। अथवा ब्रह्मणः क्षत्रियात् सम्भव उत्पत्तिर्यस्य स ब्रह्मसम्भवः। अथवा ब्रह्मा धर्मसृष्टिकारकः, स चासौ सं समीचीनो भवः पापसृष्टिप्रलयकारकः ब्रह्मसम्भवः (५८)। **सुप्रसन्नः**—सुष्ठु अतिशयेन प्रसन्नः प्रहसितवदनः स्वर्गमोक्षवरदायको वा सुप्रसन्नः (५९)। **गुणाम्भोधिः**—गुणानां अनन्तकेवलज्ञान-अनन्तदर्शन-अनन्तवीर्य-अनन्तसौख्य-सम्यक्त्व-अस्तित्व-वस्तुत्व-प्रमाणत्व-प्रमेयत्व चैतन्यादीनां अनन्तगुणानां अम्भोधिः समुद्रः गुणाम्भोधिः। अथवा गुणानां चतुरशीतिलक्षाणां अम्भोधिः गुणाम्भोधिः। के ते चतुरशीतिलक्षगुणाः?

हिंसाऽनृतं तथा स्तेयं मैथुनं च परिग्रहः।
क्रोधादयो जुगुप्सा च भयमप्यरती रतिः॥
मनोवाक्कायदुष्टत्वं मिथ्यात्वं दकम्।
पिशुनत्वं तथाऽज्ञानमक्षाणां चाप्यनिग्रहः॥

एतेषामेकविंशतेर्वर्जनानि एकविंशतिगुणा भवन्ति। ते च अतिक्रम-व्यतिक्रम-अतीचार-अनाचारैश्चतुर्भिर्गुणिताश्चतुरशीतिर्भवन्ति। उक्तञ्च—

---

१ द वेशोः। २ द चौषधेः। ज स चौषधिः।

मनसः शुद्धिविनाशोऽतिक्रम इति च व्यतिक्रमो ज्ञेयः ।
शीलवृतेश्च विलंघनमतिचारो विषयवर्तनं चैव ॥
विषयेष्वतिसक्तिरियं प्रोक्तोऽनाचार इह महामतिभिः ।
इति चत्वारः सुधिया विवर्जनीया गुणप्राप्तौ ॥

ते च चतुरशीतिगुणाः, दशकायसंयमैर्गुणिताश्चतुरशीतिशतानि भवन्ति । ते चाकंपिताद्यमावदशकेन गुणिताश्चतुरशीतिसहस्रा भवन्ति । ते च दशधर्मैर्गुणिताश्चतुरशीतिलक्षा भवन्ति (६०) । **पुण्यापुण्यनिरोधकः**—पुण्यं च शुभकर्म, अपुण्यं च पापकर्म, सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् अतोऽन्यत्पापमिति वचनात् । पुण्यापुण्ययोर्निरोधको निषेधकारकः पुण्यापुण्यनिरोधकः । संवरावसरे भगवति न पुण्यमास्रवति, न च पापमास्रवति, द्वयोरपि निषेधक इत्यर्थः (६१) ।

सुसंवृतः सुगुप्तात्मा सिद्धात्मा निरुपप्लवः ।
महोदर्को महोपायो जगदेकपितामहः ॥८०॥

सुसंवृतः—सुष्ठु अतिशयेन संवृणोति स्म सुसंवृतः, अतिशयवद्विशिष्टसंवरयुक्त इत्यर्थः । उक्तञ्च-

वदसमिदीगुत्तीओ धम्माणुपिहा परीसहजओ य ।
चारित्तं बहुभेया णायव्वा भावसंवरविसेसा ॥

अस्यायमर्थः—पञ्च महाव्रतानि, पञ्च समितयः, तिस्रो गुप्तयः, दशलाक्षणिको धर्मः, द्वादशानुप्रेक्षाः, द्वाविंशतिः परीषहजयः, सामायिक-छेदोपस्थापना-परिहारविशुद्धिःसूक्ष्मसाम्पराय-यथाख्यातलक्षणं पञ्चविधं चारित्रम् । एते प्रत्येकं बहुभेदा भावसंवरविशेषा ज्ञातव्याः (६२) । **सुगुप्तात्मा**—सुष्ठु अतिशयेन गुप्तः आस्रवविशेषाणामगम्यः, आत्मा टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभाव आत्मा जीवो यस्य स सुगुप्तात्मा; तिसृभिर्गुप्तिभिः संवृतत्वात् (६३) । **सिद्धात्मा**—सिद्धो हस्तप्राप्तिमायातः आत्मा जीवो यस्य स सिद्धात्मा । अथवा सिद्धस्त्रिभुवनविख्यातः पृथिव्यादिभूतजनितत्वादिमिथ्यादृष्टिमतस्वरहित आत्मा जीवरूपं यस्य स सिद्धात्मा । अथवा सिद्धो मुक्त आत्मा यस्य स सिद्धात्मा (६४) । **निरुपप्लवः**—निर्गतो निर्नष्टो मूलादुन्मूलितः समूलकाषं कषितः उपप्लवः उत्पात उपसर्गो यस्य स निरुपप्लवः, तपोविघ्नरहितः षडूर्मिदूरः । (६५) । उक्तञ्च—

प्राणस्य क्षुत्पिपासे द्वे मनसः शोकमोहने ।
जन्ममृत्यू शरीरस्य षडूर्मिरहितः शिवः ॥

महोदर्कः—महान् सर्वकर्मनिर्मोक्षलक्षणोऽनन्तकेवलज्ञानादिलक्षणश्च उदर्कः उत्तरफलं यस्य स महोदर्कः । (६६) । **महोपायः**—महान् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपोलक्षण उपायो मोक्षस्य यस्य स महोपायः (६७) । **जगदेकपितामहः**—जगतामधऊर्ध्वमध्यलोकस्थितभव्यलोकानामेकोऽद्वितीयः पितामहः जनकजनको हितकारकत्वात् जगदेकपितामहः (६८) ।

महाकारुणिको गुण्यो महाक्लेशांकुशः शुचिः ।
अरिंजयः सदायोगः सदाभोगः सदाधृतिः ॥८१॥

महाकारुणिकः—करुणायां सर्वजीवदयायां नियुक्तः कारुणिकः । महांश्चासौ कारुणिको महाकारुणिकः, सर्वदैव मरणनिषेधक इत्यर्थः (६९) । **गुण्यः**—गुणेषु पूर्वोक्तेषु चतुरशीतिलक्षसंख्येषु नियुक्तः, साधुर्वा गुण्यः (७०) । **महाक्लेशांकुशः**—महान् तपःसंयमपरीषहसहनादिलक्षणो योऽसौ क्लेशः कृच्छ्रं स

एवांकुशः श्रुतिर्मत्तगजेन्द्रोन्मार्गनिषेधकारकत्वात् महाक्लेशांकुशः (७१)। **शुचिः**—परमब्रह्मचर्यपालनेन निजशुद्धबुद्धैकस्वभावात्मपवित्रतीर्थनिर्मलभावनाजलप्रक्षालितान्तरंगशरीरत्वाच्छुचिः परमपवित्रः। उक्तञ्च—

> आत्माऽशुद्धिकरैर्यस्य न संगः कर्मदुर्जनैः।
> स पुमान् शुचिराख्यातो नाम्बुसंप्लुतमस्तकः॥

अथवा कर्माष्टकाष्ठसमुच्चयभस्मभावकरणशक्तित्वात् शुचिरग्निमूर्त्तिः। जन्मप्रभृति मलमूत्ररहितत्वाद्वा शुचिः। अभ्यन्तरपापमलप्रक्षालनसमर्थनिर्लोभत्वजलस्नातत्वाद्वा शुचिः (७२)। **अरिंजयः**—अरीन् अष्टाविंशतिभेदभिन्नमोहमहाशत्रून् जयति निर्मूलकाषं कषति-अरिंजयः। (७३)। **सदायोगः**—सदा सर्वकालं योगो आसंसारमलब्धलाभलक्षणं परमशुक्लध्यानं यस्य स सदायोगः। (७४)। **सदाभोगः**—सदा सर्वकालं भोगो निजशुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मैकलोलीभावलक्षणपरमानन्दामृतरसास्वादस्वभावो भोगो यस्य स सदाभोगः। अथवा सन् समीचीन आभोगो मनस्कारो मनोव्यापारो यस्य स सदाभोगः (७५)। उक्तञ्च—

> भुञ्जानोऽभ्युदयं चाहंन् जनैर्भोगीव लक्ष्यते।
> बुधैर्योगीव तत्वं तु जानाति स्वादृगेव ते॥

सदाधृतिः—सदा सर्वकालं धृतिः संतोषो यस्य स सदाधृतिः, दिवा रात्रौ च सन्तोषवानित्यर्थः। रात्रिभोजनपरिहारपञ्चभावनायुक्त इति भावः। उक्तञ्च—

> धिदिवंतो खमजुत्तो कायजोगे परिट्ठिदो।
> परीसहाणं[1] उरंदिंतो उत्तमं वदमस्सिदो॥

धृतिरित्युपलक्षणं एकत्वतपोभावनानाम् (७६)।

> **परमौदासिताऽनाश्वान् सत्याशीः शान्तनायकः।**
> **अपूर्ववैद्यो योगज्ञो धर्ममूर्त्तिरधर्मधक्॥८२॥**

परमौदासिता—परम उत्कृष्टः उदासिता उदास्ते इत्येवंशीलः उदासिता। तृन्। उत्कृष्टौदासीन:, शत्रु-मित्रतृणकांचनादिसमानचित्तो मध्यस्थपरिणाम इत्यर्थः (७७)। उक्तञ्च—

> दोषानाकृष्य लोके मम भवतु सुखी दुर्जनश्चेद्धनार्थी,
> तत्सर्वस्वं गृहीत्वा रिपुरथ सहसा जीवितं स्थानमन्यः।
> मध्यस्थस्त्वेवमेवाखिलमिह हि जगज्जायतां सौख्यराशिः,
> मत्तो मा भूदसौख्यं कथमपि भविनः कस्यचित्पूत्करोमि॥

अनाश्वान्—न आश, न भुक्तवान् अनाश्वान्। क्वंसुकानौ परोक्षावच्च घोषवत्योश्च कृति नेट्। अनाश्वान् अनाश्वांसौ अनाश्वांसः इत्यादिरूपाणि भवन्ति। अनाशुषा अनाश्वद्भ्यामित्यादि च (७८)। उक्तञ्च निरुक्तशास्त्रे—

> योऽक्षस्तेनेषु विश्वस्तः शाश्वते पथि निष्ठतः।
> समस्तशत्रुविश्वास्यः सोऽनाश्वानिह गीयते॥

सत्याशीः—सत्सु भव्यजीवेषु योग्या सत्या, सत्सु नियोज्या सत्या, सद्भ्यो हिता वा सत्या। सत्या सफला वा आशीः अक्षयं दानमस्तु इत्यादिरूपा आशीराशीर्वादो यस्य स सत्याशीः। ये केचन मुनयस्तेषामाशीर्दातुर्लाभान्तरायवशात् कदाचिन्न फलति, जन्मान्तरे तु फलत्येव। भगवतस्त्वाशीरिहलोके परलोके च

[1] द गरिं।

फलत्येव, तेन भगवान् कल्पवृक्ष उच्यते (७९) । शान्तनायकः— शान्तानां रागद्वेषमोहरहितानां नायकः स्वामी, शान्तं मोक्षनगरं प्रापको वा शान्तनायकः । अथवा शान्तोऽङ्कुरः, स चासौ नायकः स्वामी शान्तनायकः । अथवा शान्तः सर्वकर्मरहितो मोक्षस्तस्य नायकः स्वामी शान्तनायकः । अथवा शस्य सुखस्य अन्तो विनाशो यस्मादसौ शान्तः संसारः, तस्य न आयः आगमनं यस्य स शान्तनायकः । न भ्राट् नपादिति[1] नस्य स्थितिः (८०) । अपूर्ववैद्यः— विद्या मंत्रौषधलक्षणा विद्यते यस्य स वैद्यः । प्रज्ञादित्वात् णप्रत्ययः । स वैद्यो लोकानां व्याधिचिकित्सने किमपि फलमभिलषति तेन स वैद्यः सर्वेषामपि अपूर्वो दृष्टः श्रुतश्च विद्यते । भगवांस्तु सर्वेषां जन्मप्रभृत्यपि व्याधितानां प्राणिनां नाममात्रेणापि व्याधिविनाशं करोति, कुष्ठिनामपि शरीरं सुवर्णशलाकासदृशं विदधाति, जन्मजरामरणं च मूलादुन्मूलयति तेन भगवान् अपूर्वश्चासौ वैद्यः अपूर्ववैद्यः (८१) ।

> कायबालग्रहोर्ध्वांगशल्यदंष्ट्राजरावृषान् ।
> अष्टावङ्गानि तस्याहुश्चिकित्सा येषु संश्रिता ॥

इत्यष्टाङ्गचिकित्साप्रवीणो वाग्भटो वैद्यो बभूव—

> रागादिरोगान् सततानुषक्तानशेषकायप्रसृतानशेषान् ।
> औत्सुक्यमोहारतिदान् जघान योऽपूर्ववैद्याय नमोऽस्तु तस्मै ॥

अथवा पूर्वाणां उत्पादादिचतुर्दशपूर्वाणां विद्या श्रुतज्ञानं सा विद्यते यस्य स पूर्ववैद्यः श्रुतकेवली । न पूर्ववैद्यः अपूर्ववैद्यः, केवलज्ञानित्वादश्रुत इत्यर्थः । अथवा अपूर्वा आसंसारमप्राप्ता विद्या केवलज्ञानं विद्यते यस्य स अपूर्वः वैद्यः । अथवा पूर्वभवे एकादशांगानि पठित्वा तीर्थकरनाम बध्वा अपूर्वविद्यायां भवः अपूर्ववैद्यः (८१) । योगज्ञः—योगं धर्मशुक्लध्यानद्वयं जानात्यनुभवति योगज्ञः । योगं मनोवचनकायव्यापारं शुभमशुभं च जानाति योगज्ञः । अन्यादयो हि ग्रान्ध्यतयः किल योगान् औषधप्रयोगान् जानन्ति, पापसूत्रे प्रवृत्तास्त्वन्येऽप्यशुभमनोवाक्काययोगैः संसारपर्यटनहेतुमपि पापमास्रवन्ति । भगवतस्तु शुभध्यानद्वयेनात्मनि प्रवृत्तस्याकर्मक्षयो भवति, तेन भगवानेव योगज्ञो बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहितत्वात्, भगवानेव योगज्ञः मोक्षमार्गप्रवृत्तत्वात् (८२) । उक्तञ्च —वीरनन्दिशिष्यैः पद्मनन्दिपादैः सद्बोधचन्द्रोदये—

> योगतो हि लभते विबन्धनं योगतोऽपि खलु मुच्यते नरः ।
> योगवर्त्म विषमं गुरोर्गिरा बोध्यमेतदखिलं मुमुक्षुणा ॥

तथा चोक्तं—

> संयोगमूला जीवेन प्राप्ता दुःखपरम्परा ।
> तस्मात्संयोगसम्बन्धं त्रिधा सर्वं त्यजाम्यहम् ॥

तथा च सोमदेवः—

> वैराग्यं ज्ञानसंपत्तिरसंगः स्थिरचित्तता ।
> ऊर्म्मिस्मयसहत्वं च पंच योगस्य हेतवः ॥
> प्राणस्य क्षुत्पिपासे द्वे मनसः शोकमोहने ।
> जन्ममृत्यू शरीरस्य षडूर्मिरहितः शिवः ॥

धर्ममूर्त्तिः— धर्मस्य चारित्रस्य मूर्त्तिराकारो धर्ममूर्त्तिः । धर्मस्य न्यायस्य मूर्त्तिः धर्ममूर्त्तिः । धर्मस्य अहिंसालक्षणस्य मूर्त्तिर्धर्ममूर्त्तिः । धर्मस्य पुण्यस्य मूर्त्तिः धर्ममूर्त्तिः । ये भगवन्तं विराधयन्ति तेषां धर्मस्य यमस्य कालस्य कृतान्तस्येति यावत् मूर्त्तिः, तेषामनन्तमरणहेतुत्वात् धर्ममूर्त्तिः । उक्तञ्च—

---

[1] द नपादिति ।

सुहृत्त्वयि श्रीसुभगत्वमश्नुते द्विषंस्त्वयि प्रत्ययवत्प्रलीयते ।
भवानुदासीनतमस्तयोरपि प्रभोः परं चित्रमिदं तवेहितम् ॥

अथवा धर्मस्य गतिलक्षणस्य मूर्त्तिरुपमा यस्य स धर्ममूर्त्तिः, अलक्ष्यस्वरूपत्वात् । तदुपलक्षणमाकाशादेरपि मूर्त्तिः (८३) । उक्तञ्च—

अहिंसादौ तथा न्याये तथा पञ्चदशेऽर्हति ।
आचारोपमयोः पुण्ये स्वभावे च शरासने ॥
मत्स्यांगे चोपनिषदि प्रोक्तो धर्मं यमे नरि ।
दानादिके नपुंस्येतद्द्वादशार्थेषु धीधनैः ॥

अधर्मधक्—अधर्मं हिंसादिलक्षणं पापं स्वस्य परेषां च दहति भस्मीकरोति अधर्मधक् (८४) ।

ब्रह्मेट् महाब्रह्मपतिः कृतकृत्यः कृतक्रतुः ।
गुणाकरो गुणोच्छेदी निर्निमेषो निराश्रयः ॥८३॥

ब्रह्मेट्—ब्रह्मणो ज्ञानस्य वृ तस्य मोक्षस्य च ईट् स्वामी ब्रह्मेट् (८५) । **महाब्रह्मपतिः**—ब्रह्मणां मतिज्ञानादीनां चतुर्णां उपरि वर्त्तमानं पंचमं केवलज्ञानं महाब्रह्मोच्यते, तस्य पतिः स्वामी महाब्रह्मपतिः । अथवा महाब्रह्मा सिद्धपरमेष्ठी, स पतिः स्वामी यस्य स महाब्रह्मपतिः । दीक्षावसरे नमः सिद्धेभ्यः इत्युपच्चारणत्वात् । अथवा महाब्रह्मणां गणधराणां लौकान्तिकानामहमिन्द्राणां च पतिः स्वामी महाब्रह्मपतिः (८६) । **कृतकृत्यः**—कृत्यं कृत्यं आत्मकार्यं येन स कृत्यकृत्यः । अथवा कृतं पुण्यं कृत्यं कार्यं कर्त्तव्यं करणीयं यस्य स कृतकृत्यः (८७) । **कृतक्रतुः**—कृतो विहितः क्रतुर्यज्ञः शक्रादिभिर्यस्य स कृतक्रतुः । अथवा कृतं परिपूर्णं फलं वा क्रतौ पूजायां यस्य स कृतक्रतुः । भगवतो भव्यैः कृता पूजा निःफला न भवति किन्तु स्वर्ग-मोक्षदायिका भवति, तेन कृतक्रतुः । अथवा कृतः पर्याप्तः समाप्तिं नीतः क्रतुर्यज्ञो येन स कृतक्रतुः (८८) । उक्तञ्च—

मणु मिलियउं परमेसरहो परमेसरु वि मणस्स ।
दोहिंवि समरसहूआहं पुज्ज चडावउं कस्स ॥

गुणाकरः—गुणानां केवलज्ञानादीनां चतुरशीतिलक्षाणां वा आकरः उत्पत्तिस्थानं गुणाकरः । अथवा गुणानां षट्चत्वारिंशत्संख्यानामाकरो गुणाकरः । उक्तञ्च—

अरहंता छायाला सिद्धा अट्ठेव सूरि छत्तीसा ।
उवज्झाया पणवीसा साहूणं हौंति अडवीसा ॥

तत्रार्हतां षट्चत्वारिंशद्गुणाः—चतुस्त्रिंशदतिशयाः पूज्यपादेन नन्दीश्वरभक्तौ विस्तरेण प्रोक्ताः अष्टप्रातिहार्याणि च, अनन्तचतुष्टयं चेति । सिद्धानां सम्यक्त्वादयोऽष्टौ गुणाः । आचार्याणां षट्त्रिंशद्गुणाः । ते के ?

पञ्चाचारधरः[1] संघश्रुताधार[2]स्तथा यति-
ग्रानाशनस्थानशय्याकृतिषु व्यवहारवान्[3] ॥
गुणदोषाकथी[4] साधोर्लज्जया दोषसंवृतिः[5] ।
यतिदोषाकथो[6]ऽन्येषा*मप्युक्तादौ च तोषकः[7] ॥
परीषहादिभिः साधोरुद्भ्रमस्य चलाश्रये ।
हितोपदेशैर्नानार्थैःस्थापको[8]ऽष्टलसद्गुणः ॥

* ज मामक्यादौ ।

स्थितिकल्पेऽशुक्लत्यागो[1]ऽनुद्दिष्टाहारभोज्यपि[2] ।
निद्राग्रामेऽन्यंदिवसे वन्नाभोजी[3] विरागभुक्[4] ॥
दीक्षाप्रभृति नित्यं च समता सुप्रतिक्रमः[5] ।
व्रतानां धारणं[6] सर्वज्येष्ठत्वं[7] पाक्षिकादिमान्[8] ॥
षण्मासयोगी[9] मासद्विनिषिद्यालोकनं[10] दश ।
गुणाः द्विषट्तपोधारी षडावश्यकसद्विधिः ॥

आचार्याणां गुणा एते षडग्रा त्रिंशदेव च ।
अथोपाध्यायसम्बन्धिगुणाः स्युः पञ्चविंशतिः ॥
एकादशाङ्गैः सप्तपूर्वाणि श्रुतसंश्रिताः ।

साधूनामष्टाविंशतिगुणाः भवन्ति । ते के ? दशसम्यक्त्वगुणाः, मत्यादिपंचज्ञानानि, त्रयोदशचारित्रगुणाः एतेषु अष्टाविंशतौ गुणेषु सर्वं प्रसिद्धम् । परं दश सम्यक्त्वानि अप्रसिद्धानि, तान्येव कथ्यन्ते—

आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात् ।
विस्तारार्थाभ्यां भवमवगाढपरमावगाढे च ॥

अस्या आर्याया विवरणार्थं वृत्तत्रयम् । तथाहि—

आज्ञासम्यक्त्वमुक्तं यदुत विरुचितं वीतरागाज्ञयैव,
त्यक्तग्रन्थप्रपञ्चं शिवममृतपथं श्रद्दधन्मोहशान्तेः ।
मार्गश्रद्धानमाहुः पुरुषवरपुराणोपदेशोपजाता,
या संज्ञानागमाब्धिप्रसृतिभिरुपदेशादिरादेशि दृष्टिः ॥
आकर्ण्याचारसूत्रं मुनिचरणविधेः सूचनं श्रद्दधानः-
सूक्तासौ सूत्रदृष्टिर्दुरधिगमगतेरर्थसार्थस्य बीजैः ।
कैश्चिज्जातोपलब्धेरसमशमवशाद्बीजदृष्टिः पदार्थान्,
संक्षेपेणैव बुद्ध्वा रुचिमुपगतवान् साधुसंक्षेपदृष्टिः ॥
यः श्रुत्वा द्वादशांगीं कृतरुचिरथ तं विद्धि विस्तारदृष्टिं
सञ्जातार्थात् कुतश्चित्प्रवचनवचनान्यन्तरेणार्थदृष्टिः ।
दृष्टिः सांगाङ्गबाह्यप्रवचनमवगाह्योत्थितायावगाढा
कैवल्यालोकितार्थे रुचिरिह परमावादिगाढेति रूढा ॥

एवं अधिकचत्वारिंशदग्रशतं गुणानां भवति, तेषामाकर इत्युच्यते (८९) । गुणोच्छेदी—गुणान् क्रोधादीन् उच्छेदयतीत्येवंशीलो गुणोच्छेदी । 'अगुणोच्छेदी' इति पाठे अगुणान् दोषानुच्छिनत्तीति अगुणोच्छेदी । अथवा अगुणानामुच्छेदो विद्यते यस्य सोऽगुणोच्छेदी, अष्टादशदोषरहित इत्यर्थः । उक्तञ्च—

क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मयाः ।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥

चकाराच्चिन्तारतिनिद्राविषादस्वेदखेदविस्मया गृह्यन्ते (९०) । निर्निमेषः—चक्षुषोर्मेषोन्मेषरहितः, दिव्यचक्षुरित्यर्थः; [1]लोचनस्पन्दरहित इति यावत् (९१) । निराश्रयः—निर्गतो निर्नष्ट आश्रयो गृहं यस्य स निराश्रयः । अथवा निर्निश्चिन्त आश्रयो निर्वाणपदं यस्य स निराश्रयः (९२) ।

सूरिः सुनयतत्त्वज्ञो महामैत्रीमयः शमी ।
प्रक्षीणबन्धो निर्द्वन्द्वः परमर्षिरनन्तगः ॥८४॥

---

१ ज स्पन्दन० ।

सूरिः—सूते बुद्धिं सूरिः । भू सू अदिभ्य क्रिः (९३) । तथा चेन्द्रनन्दिदेवैः—

पञ्चाचाररतो नित्यं मूलाचारविदग्रणीः ।
चतुर्विधस्य संघस्य यः स आचार्य इष्यते ॥

सुनयतत्त्ववित्—ये स्याच्छब्दोपलक्षितास्ते सुनयाः । यथा स्यान्नित्यः स्यादनित्यः स्यान्नित्यानित्यः स्यादवाच्यः स्यान्नित्यश्चावक्तव्यः, स्यादनित्यश्चावक्तव्य. स्यान्नित्यानित्यश्चावक्तव्य इति सप्त नया अनेकान्ताश्रिताः सुनया उच्यन्ते । तेषां तत्त्वं मर्म जानातीति सुनयतत्त्ववित् । ये तु सर्वथैकान्ताश्रिताः नित्य एव, अनित्य एवेत्यादिरूपास्ते दुर्नया ज्ञातव्याः (९४) । **महामैत्रीमयः**—महती चासौ मैत्री महामैत्री, सर्वजीवजीवनबुद्धिः; तया निर्वृतः महामैत्रीमयः (९५) । **शमी**—शमः सर्वकर्मक्षयो यस्य स शमी । 'समी' इति पाठे समः समतापरिणामो विद्यते यस्य स समी । अथवा शाम्यतीति शमी शमामष्टानांघिनिण् (९६) । **प्रक्षीणबन्धः**—प्रकर्षेण क्षीणः क्षयं गतो बन्धो यस्य स प्रक्षीणबन्धः (९७) । **निर्द्वन्द्वः**—निर्गतं द्वन्द्वं कलहो यस्य स निर्द्वन्द्वः (९८) । **परमर्षिः**—परमश्चासौ ऋषिः केवलज्ञानर्द्धिसहितः परमर्षिः (९९) । **[अन]न्तगः**—अनन्तं केवलज्ञानं गच्छति प्राप्नोति अनन्तगः । अथवा अनन्तात् संसारात् गतो मुक्तः अनन्तगः । अथवा अनन्ते आकाशे गच्छतीति अनन्तगः (१००) ।

श्रीवीरगौतमगुणाधिककुन्दकुन्द-श्रीभद्रबाहु-जिनचन्द्र-समन्तभद्रान् ।
देवेन्द्रकीर्त्तिममलं स्वगुरुं च विद्यानन्दिप्रभुं विनयतो विनतोऽस्मि नित्यम् ॥

श्रीश्रुतसागरगुरुणा योगिशतं पूर्णतां समानीतम् ।
निर्वाणशताध्यायः विचार्यतां शृणुत भव्यजनाः ॥

इति सूरिश्रीश्रुतसागरविरचितायां सहस्रनामटीकायां योगिशतनामषष्ठोऽध्यायः समाप्तः ।

अथ सप्तमोऽध्यायः

निर्वाणः सागरः प्राज्ञैर्महासाधुरुदाहृतः ।
विमलाभोऽथ शुद्धाभः श्रीधरो दत्त इत्यपि ॥८५॥

[1]**निर्वाणः**—निर्वाति स्म निर्वाणः, सुखीभूतः अनन्तसुखं प्राप्तः । निर्वाणोऽवाते इति साधुः । अथवा निर्गता बाणाः शराःकंदर्पबाणाः यस्मादिति निर्वाणः । अथवा निर्गता बाणाः सामान्यशरास्तदुपलक्षणं[2] सर्वायुधानां, निर्वाणः । अथवा वने नियुक्तो वानः, निश्चितो वानो निर्वाण. । यतो भगवान् निःक्रान्तः सन् वनवासी एव भवति, जिनकल्पित्वात्, न तु स्थविरकल्पिवत् वसत्यादौ तिष्ठति (१) । **सागरः**—सा लक्ष्मीर्गले कण्ठे यस्य स सागरः, अभ्युदयनिःश्रेयसलक्ष्मीसमालिंगितत्वात्[3] । अथवा निःक्रमणकल्याणावसरे सा राज्यलक्ष्मीर्गरः विषसदृशी, अरोचमानत्वात् सागरः । अथवा सह गरेण वर्तते सगरो धरणेन्द्रः, तस्यापत्यं संकल्पपुत्रः सागरः । भगवान् यदा बालकुमारो भवति, तदा सिंहासने धरणेन्द्र उपविशति; धरणेन्द्रस्योत्संगे भगवानुपविशति । सौधर्मेन्द्रस्तु अग्र उपविशति, तदुत्संगे भगवान् पादौ

१ ज '३० नमः सिद्धेभ्यः' इत्यधिकः पाठः । २ ज लक्षणः । ३ ज लिंगत्वात् ।

लालयति; तेन शेषनागस्य पुत्रवत्प्रतिमाव्यते स्वामी; तस्मात् स्वामी सागर इत्युच्यते। अथवा सया लक्ष्म्या शोभया उपलक्षितः अगः पर्वतो गिरिराजः सागः मेरुः; जन्माभिषेकावसरे तं राति गृह्णाति स्वीकरोति सागरः। अथवा साया गताः, दरिद्रिणः। तान् रायति शब्दयति आकारयति आह्वयति धनदानार्थं सागरः; भगवतः कनकवर्षित्वात्, दीन-दुःस्थ-दरिद्राणां दारिद्र्यस्फेटक इत्यर्थः (२)। **महासाधुः**—दक्षः कुशली हितश्च साधुरुच्यते। महांश्चासौ साधुर्महासाधुः। राध साध संसिद्धौ। साधयति सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणीति साधुः; महान् तीर्थंकरो भूत्वा रत्नत्रयेण मुक्तिसौख्यसाधक इत्यर्थः (३)। **विमलाभः**—विमला कर्ममलकलंकरहिता आभा शोभा यस्येति विमलाभः। गोरप्रधानस्यान्तस्य स्त्रियामादादीनां चेति ह्रस्वः। अथवा विशिष्टा केवलज्ञानलक्षणोपलक्षिता मा लक्ष्मीर्यत्र स विमो मोक्षः, तस्य लाभः प्राप्तिर्यस्य स विमलाभः। अथवा विमला राह्वाद्युपरागरहिता आसमन्ताद्भा दीप्तिः कोटिभास्कर-चन्द्रकोटिभ्योऽप्यधिकं भामण्डलं यस्य स विमलाभः (४)। **शुद्धाभः**—शुद्धा शुक्ला आभा दीप्तिर्यस्य स शुद्धाभः, शुक्लेश्यो वा शुद्धाभः। शुद्धः कर्ममलकलङ्करहितः सन् आसमन्ताद्भाति शुद्धाभः (५)। **श्रीधरः**—श्रियं बाह्यां समवसरणलक्षणोपलक्षितां अभ्यन्तरां अनन्तकेवलज्ञानादिलक्षणां धरति श्रीधरः। श्रिया उपलक्षिता धरा समवसरणभूमिरष्टमी भूमिर्वा यस्य स श्रीधरः। अथवा श्रिया निवासभूमिः, धरो हिमवान् गिरिः श्रीधरः, श्रीनिवासपर्वत इत्यर्थः। अथवा श्रियोपलक्षितो धरः कूर्मराजः पृथिव्या आधारभूतत्वात् श्रीधरः (६)। **दत्तः**—दानं दत्तम्, दत्तयोगाद्भगवानपि दत्तः, वांछितफलप्रदायक इत्यर्थः। दातुमारब्धो दत्तः। दीयते स्म निजात्मनो ध्यानविषयीक्रियते दत्तः। आदिकर्मणि क्तः, कर्त्तरि च दद्धो धः, इति व्युत्पत्तेः (७)।

अमलाभोऽप्युद्धरोऽग्निः संयमश्च शिवस्तथा।
पुष्पाञ्जलिः शिवगण उत्साहो ज्ञानसंज्ञकः॥८६॥

अमलाभः—अविद्यमाना मलस्य पापस्य आभा लेशोऽपि यस्य स अमलाभः। अथवा न विद्यते मा लक्ष्मीर्येषां ते अमाः, दीन-दुःस्थित-दरिद्रास्तेषां लाभो धनप्राप्तिर्यस्मादसौ अमलाभः। अथवा अमा निर्ग्रन्था मुनयस्तान् लान्ति गृह्णन्ति स्वीकुर्वन्ति ये ते अमला गणधरदेवास्तैरा समन्ताद् भाति शोभते अमलाभः (८)। **उद्धरः**—उत् ऊर्ध्वस्थाने धरति स्थापयति भव्यजीवानिति उद्धरः। अथवा उत् उत्कृष्टे हरः पाप-चोरकः उद्धरः। अथवा उत् उत्कृष्टा धरा समवसरणलक्षणा मुक्तिलक्षणा वा भूमिर्यस्य स उद्धरः। अथवा उत्कृष्टः धरः मेरुलक्षणः पर्वतः स्नानपर्वतो यस्य स उद्धरः। अथवा उत्कर्षेण हन्ति गच्छति उद्धरं वेगो यस्य स उद्धरः। एकेन समयेन त्रैलोक्याग्रे गमनवेग इत्यर्थः (९)। **अग्निः**—अगति ऊर्ध्वं गच्छति त्रैलोक्याग्रं व्रजति ऊर्ध्वं व्रज्यास्वभावत्वात् अग्निः। अगिशुश्रियुवहिभ्यो निः (१०)। **संयमः**—सम्यक् प्रकारो यमो यावज्जीवव्रतो यस्य स संयमः (११)। **शिवः**—शिवं परमकल्याणं तद्योगात् पञ्चकल्याणप्रापकत्वात् शिवः, श्रेयस्करत्वात् शिवः। अथवा शिवः शरीरसंयुक्तो मुक्तः, जीवन्मुक्त इत्यर्थः। सिद्धस्वरूपत्वाद्वा शिवः (१२)। **पुष्पाञ्जलिः**—पुष्पवत्कमलवत् अञ्जलिः इन्द्रादीनां करसंपुटो यं प्रति स पुष्पाञ्जलिः। पुष्पाणां वकुलचम्पक-जाति-मन्दार-मल्लिकाट्टहास-कुमुद-नीलोत्पल-कमल-शतपत्र-कल्हार-केतकी-पारिजात-मचकुन्द-नवमालिका-नमेरु-सन्तानक-पट्पदानां पट्चरणसम्मतकदम्बादिकुसुमानामञ्जलयो यस्मिन् स पुष्पाञ्जलिः, द्वादशयोजनप्रमाणे पुष्पवृष्टिरित्यर्थः (१३)। **शिवगणः**—शिवः श्रेयस्करो गणो निर्ग्रन्थादिद्वादशभेदः संघो यस्य स शिवगणः। अथवा गजानां सप्तविंशतिः, रथाश्च तावन्तः, अश्वानामेकाशीतिः, पञ्चत्रिंशदधिकं शतं पत्तयः इत्येको गण उच्यते। सज्यकाले शिवाः श्रेयस्कराः गणाः यस्य स शिवगणः, सेनासमुद्र इत्यर्थः। अथवा शिवं मोक्षं गणयति सारतया मन्यतेऽन्यदसारमिति शिवगणः (१४)। **उत्साहः**—सहनं साहः। भावे घञ्। उत्कृष्टः साहः सहनं परीषहादिक्षमता उत्साहः। अथवा उत्कृष्टां मां मोक्षलक्ष्मीं न हन्तीति अव-श्यमेव मोक्षं सेव्यमानो ददतीति उत्साहः। अथवा उत्कृष्टायाः सायाः अहः दिनं दानावसरदिवसो यस्य स उत्साहः। राजन् अहन् सखि अत् प्रत्ययः। नस्तु क्वचित् नकारलोपः इवर्णावर्णयोः लोपः स्वरे प्रत्यये

च। (१५)। **ज्ञानसंज्ञकः**— ज्ञानं जानाति विश्वमिति ज्ञानम्। कृत्ययुटोऽन्यत्रापि च, कर्त्तरि युट्। ज्ञानमिति संज्ञा यस्य स ज्ञानसंज्ञकः। अथवा ज्ञान् पण्डितान् अनिति जीवति ज्ञानः अत्रान्तर्भूत इन् प्रत्ययः (१६)।

परमेश्वर इत्युक्तो विमलेशो यशोधरः।
कृष्णो ज्ञानमतिः शुद्धमतिः श्रीभद्र शान्तयुक् ॥८७॥

परमेश्वरः- परमश्चासौ ईश्वरः स्वामी परमेश्वरः। अथवा परा उत्कृष्टा मा लक्ष्मी परमा, मोक्ष-लक्षणोपलक्षिता लक्ष्मीः परमा। परमायाः परमलक्ष्म्या ईश्वरः स्वामी परमेश्वरः। अथवा पस्य परित्राणस्य रमा परमा, नरकादिगतिगर्त्तपतनरक्षणा लक्ष्मीः परमा। तस्या ईश्वरः परमेश्वरः। उक्तञ्च **विश्वप्रकाशे**—

पः सूर्ये शोषणे वह्नौ पाताले वरुणेऽनिले।
परित्राणे क्षमे क्षत्रे निपाने पंकसंकुले ॥
उच्चदेशे स्थले।

अथवा परं निश्चितं अः अर्हन्, स चासावीश्वरः परमेश्वरः (१७)। **विमलेशः**—विमलः कर्म-मलकलङ्करहितो व्रतेष्वनतिचारो वा विमलः। स चासावीशः विमलेशः। अथवा विविधं मं मलं अघाति-कर्म पञ्चाशीतिप्रकृतिवृन्दम्, तल्लेशोऽल्पप्रायो यस्य स विमलेशः, बलवत्तरघातिकर्मघातकत्वात् विमलेशः (१८)। **यशोधरः**—यशः पुण्यगुणकीर्त्तनं धरतीति यशोधरः (१९)। **कृष्णः**—कर्षति मूलादुन्मूल-यति निर्मूलकाषं कषति घातिकर्मणां घातं करोतीति कृष्णः। इण् जि-कृषिभ्यो नक्। कृष विलेखने भ्वादौ परस्मैपदी धातुरयम् (२०)। **ज्ञानमतिः**—ज्ञानं केवलज्ञानं मतिः ज्ञानं यस्य स ज्ञानमतिः (२१)। **शुद्धमतिः**—शुद्धा कर्ममलकलङ्करहिता मतिः सकलविमलकेवलज्ञानं यस्य स शुद्धमतिः (२२)। **श्रीभद्रः**—श्रिया अभ्युदय-निःश्रेयसलक्षणाया लक्ष्म्या भद्रो मनोहरः श्रीभद्रः। (२३)। **शान्तः**—शाम्यति स्म शान्तः रागद्वेषरहित इत्यर्थः। (२४)।

वृषभस्तद्वदजितः वश्चा न्दनः।
मुनिभिः सुमतिः पद्मप्रभः प्रोक्तः सुपार्श्वकः ॥ ८८ ॥

वृषभः—वृषेण अहिंसालक्षणोपलक्षितेन धर्मेण भाति शोभते वृषभः (२५)। **अजितः**—न केनापि कामक्रोधादिना[१] शत्रुणा जितः अजितः (२६)। **सम्भवः**— सं समीचीनो भवो जन्म यस्यस सम्भवः। शंभव इति पाठे शं सुखं भवति यस्मादिति सम्भवः संपूर्वेभ्यः संज्ञायां अच्। अथवा सं समीचीनोऽरौद्रः अक्रूराशयः शान्तमूर्त्तिः कपाल-शूल-खट्वांगनादिरहितो भवो रुद्रः सम्भवः (२७)। **अभिनन्दनः**—अभि समन्तात् नन्दयति निजरूपाद्यतिशयेन प्रजानामानन्दमुत्पादयतीति अभिनन्दनः। अथवा न विद्यते भीर्भयं यत्र तानि अभीनि भवभयरहितानि। स्वरो ह्रस्वो नपुंसके। अभीनि निर्भयानि शान्तप्रदेशानि नन्द-नानि अशोक-सप्तवर्ण-चम्पक-चूतानां वनानि समवसरणे यस्य स अभिनन्दनः (२८)। **सुमतिः**—शोभना लोकालोकप्रकाशिका मतिः केवलज्ञानलक्षणोपलक्षिता बुद्धिर्यस्य स सुमतिः (२९)। **पद्मप्रभः**—पद्मवत् रक्तकमलवत् प्रभा वर्णो यस्य स पद्मप्रभः। रक्तवर्णः बन्धूकपुष्पवर्णशरीरः प्रातरर्कसन्निभशरीर इत्यर्थः। अथवा पदोश्चरणयोर्मा लक्ष्मीर्यस्य स पद्मः। प्रकृष्टा मा दीप्तिर्यस्य स प्रभः। पद्मश्चासौ प्रभः पद्मप्रभः। अथवा पद्मैः सुर-नरादिसमूहैः निधिविशेषैश्च प्रभाति प्रकर्षेण शोभते पद्मप्रभः। अथवा पद्मैः योजनैकप्रमाणसपादद्विशतहेममयकमलैः प्रभाति शोभते यः स पद्मप्रभः (३०)। उक्तञ्च—

हृस्विन्दौ मतं पद्मं पद्मोऽपि मतः।
संख्याहिनिधिवृन्देषु पंद्मा[२]ध्वनिरयं स्मृतः ॥

---

१ ज क्रोधादिशत्रुणा। २ ज पद्माध्वनि।

सुपार्श्वः—सुष्ठु शोभने पार्श्वे वाम-दक्षिणशरीरप्रदेशौ यस्य स सुपार्श्वः (३१)।

चन्द्रप्रभः पुष्पदन्तः शीतलः श्रेय आह्वयः।
वासुपूज्यश्च विमलोऽनन्तजिद्धर्म इत्यपि ॥८६॥

चन्द्रप्रभः—चन्द्रादपि प्रकृष्य कोटिचन्द्रसमाना भा प्रभा यस्य स चन्द्रप्रभः (३२)। **पुष्पदन्तः**—पुष्पवत् कुन्दकुसुमवदुज्ज्वला दन्ता यस्य स पुष्पदन्तः। अथवा भगवान् छद्मस्थावस्थायां यस्मिन् पर्वत-तटे तपोध्याननिमित्तं तिष्ठति तत्र वनस्पतयः सर्वर्तुपुष्पाणि फलानि च दधति, तेन पुष्पदन्तः (३३)। **शीतलः**—शीतो मन्दो लो गतिर्यस्य स शीतलः। उक्तञ्च—

गिरिभित्त्यवदानवतः श्रीमत इव दन्तिनः स्रवद्दानवतः।
तव समवादानवतो गतमूर्जितमपगतप्रमादानवतः ॥

अथवा शीतं लाति सहते छद्मस्थावस्थायां शीतलः, तदुपलक्षणं उष्णस्य वर्षाणां च त्रिकाल-योगवानित्यर्थः। अथवा शीतलः शान्तमूर्तिः अक्रूर इत्यर्थः। अथवा संसारसंतापनिवारकशीतलवचन-रचनायोगाद् भगवान् शीतल उच्यते। अथवा शी आशीर्वादः तलः स्वभावो यस्य स शीतलः, प्रिय-हितवचनत्वात्। भगवान् आशीर्वादमेव दत्ते, न तु शापं; परम कारुणिकत्वात् (३४)। उक्तञ्च—

शस्ये स्वभावेऽप्यधरे चपेटे तालपादपे।
तलः पुंसि तलं क्लीबे प्रोक्तं ज्याघातवारणे ॥

तथा च—

आद्येन हीनं जलधावदृश्यं मध्येन हीनं भुवि वर्णनीयम्[1]।
अन्तेन हीनं चलयेच्छरीरं यस्याभिधानं स जिनः श्रियेऽस्तु ॥

श्रेयान्—अतिशयेन प्रशस्यः श्रेयान्। प्रशस्यस्य श्रः। गुणाद्विष्ठेयन्सौ वा (३५)। **वासुपूज्यः**—वासुः शक्रः, तस्य पूज्यः वासुपूज्यः। अथवा वेन वरुणेन पवनेन वा, इन्द्रादीनां वृन्देन वा, वेन गन्धेन वा आ समन्तात् सुष्ठु अतिशयेन पूज्यः वासुपूज्यः। अथवा वा इतिशब्दः स्त्रीलिंगे वर्तमानः मन्त्रवाची वर्त्तते, अमृतात्मकत्वात्। तेनायमर्थः—वया ॐ ह्रीं श्रीं वासुपूज्याय नमः इति मन्त्रेण सुष्ठु अतिशयेन पूज्यः वासुपूज्यः (३६)। उक्तञ्च विश्वप्रकाशे—

वो दन्त्योष्ठ्यस्तथोष्ठ्यश्च वरुणे वारणे वरे।
शोषणे पवने गन्धे वासे वृन्दे च वारिधौ ॥
वन्दने वदने वादे वेदनायां च वा स्त्रियाम्।
झंझावाते तथा मन्त्रे सर्वमन्त्रेऽमृतात्मके ॥

विमलः—विगतो विनष्टो मलः कर्ममलकलङ्को यस्य स विमलः। अथवा विविधा विशिष्टा वा मा लक्ष्मीर्येषां ते विमाः इन्द्रादयो देवाः, तान् लाति, निजपादाक्रान्तान् करोति विमलः। अथवा विगता दूरी-कृता मा लक्ष्मीर्यैस्ते विमाः निर्ग्रन्थमुनयः, तान् लाति स्वीकरोति विमलः। अथवा विगतं विनष्टं मलमुच्चारः प्रस्रावश्च यस्याऽऽजन्म स विमलः (३७)। **अनन्तजित्**—अनन्तं संसारं जितवान् अनन्तजित्। अथवा अनन्तं अलोकाकाशं जितवान् केवलज्ञानेन तत्पारं गतवान् अनन्तजित्। अथवा अनन्तं विष्णुं शेषनागं च जितवान् अनन्तजित् (३८)। उक्तञ्च नेमिस्तुतौ—

द्युतिमद्रथांगरविबिम्बकिरणजटिलांशुमंडलः।
नीलजलदजलराशिवपुः सह बन्धुभिर्गरुडकेतुरीश्वरः ॥

[1] ज वंदनीयं।

हलभृच्च ते भक्तिमुदितहृदयौ जनेश्वरौ ।
धर्मविनयरसिकौ सुतरां चरणारविन्दयुगलं प्रणेमतुः ॥

धर्मः—संसारसमुद्रे निमज्जन्तं जन्तुमुद्धृत्येन्द्र-नरेन्द्र-मुनीन्द्र-वन्दिते पदे धरतीति धर्मः । अर्त्ति हु सु धृक्षिणीपदमायास्तुभ्यो मः । (३९) ।

शान्तिः कुन्थुररो मल्लिः सुव्रतो नमिरप्यतः ।
नेमिः पार्श्वो वर्धमानो महावीरः सुवीरकः ॥६०॥

शान्तिः—शाम्यतीति सर्वकर्मक्षयं करोतीति शान्तिः । तिक्क्तौ च संज्ञायामाशिषि । संज्ञायां पुल्लिंगे तिक्प्रत्ययः (४०) । कुन्थुः—कुथि पुथि लुथि मथि हिंसा-संक्लेशयोः इति तावत् भ्वादिकः कुथुधातुः । कुन्थति समीचीनं तपःक्लेशं करोतीति कुन्थुः । पटि असि वसि हनि मनि त्रपि इंदि कंदि बंधि वहि अणिभ्यश्च इत्यस्य उणादौ षष्ठस्य सूत्रस्य वृत्तौ चकारोऽनुक्तसमुच्चयमात्रे उप्रत्ययः स तु उप्रत्ययः उणादौ पंचमे सूत्रे गृहीतोऽस्ति । तथाहि—भृ मृ तृ चरित्सरितनिधनिमस्जिशीङ्भ्य उः, इत्यत उप्रत्ययस्य ग्रहणम् (४१) । अरः— ऋ गतौ धातुः भ्वादौ वर्त्तते । तत्र अरति गच्छति केवलज्ञानेन लोकालोकं जानाति इति अरः । सर्वे गत्यर्थाः धातवो ज्ञानार्था इति वचनात् । अथवा ऋ सृ गतौ इति धातुः अदादौ वर्तते । तत्र इयर्ति गच्छति त्रैलोक्यशिखरमारोहतीत्यरः । एकेन समयेन मुक्तिं प्राप्नोतीत्यरः । अच् पचादिभ्यश्च अच्प्रत्ययेन सिद्धमिदं रूपम् । अथवा अर्यते मोक्षार्थिभिर्गम्यते, ज्ञानिभिर्ज्ञायते इत्यरः स्वरवृद्दगमिग्रहामल् । कर्मणि अल् प्रत्ययः । नाम्यन्तयोर्धातुविकरणयोर्गुणः । अथवा संसारमोक्षणे अरः शीघ्रः शीघ्रगो वा । अथवा धर्मरथप्रवृत्तिहेतुत्वादरश्चक्राङ्गभूतः (४२) । मल्लिः— मल मल्ल च इत्ययं धातुर्धारणे[१] वर्तते तेन मल्लते धारयति भव्यजीवान् मोक्षपदं स्थापयतीति मल्लिः । सर्वधातुभ्य इः । अथवा मल्ल्यते धार्यते निजशिरस्सु देवेन्द्रादिभिर्मल्लिः । अथवा मल्लिर्मुक्तबन्धनपुष्पाणि तत्सुरभिगन्धत्वान्मल्लिः । अतएवाह—मल्लिर्मल्लिजये मल्लः (४३) । उक्तञ्च धन्वन्तरिवैद्येन—

वार्षिकी त्रिपुटा सुरूपा सुभगा प्रिया ।
श्रीपदी षट्पदानन्दा सुवर्षा मुक्तबन्धना ॥

इति मोगरनामानि । तथा मल्लिकावेलनाम—

मल्लिका शीतभीरुश्च मदयन्ती प्रमोदिनी ।
मदनी च भवाली च भूपद्यष्टापदी तथा ॥

सुव्रतः—शोभनानि व्रतानि अहिंसासत्याचौर्यब्रह्मचर्याकिंचन्यादीनि रात्रिभोजनपरिहारषष्ठाणुव्रतानि यस्य स सुव्रतः (४४) । नमिः—नम्यते इन्द्र-चन्द्र-मुनीन्द्रैर्नमिः । सर्वधातुभ्यः इः (४५) । नेमिः—नयति स्वधर्मं नेमिः । नीदलिभ्यां मिः (४६) । पार्श्वः—निजभक्तस्य पार्श्वे अदृश्यरूपेण तिष्ठति पार्श्वः । यत्र कुत्र प्रदेशे स्मृतः सन् स्वामी समीपवर्त्त्येव वर्तते पार्श्वः । उक्तञ्च—

अर्च्चेयमाद्यं सुमना मनामना यः सर्वदेशो भुविनाविनाविना ।
समस्तविज्ञानमयो मयोमयो पार्श्वं फणे रामगिरौ गिरौ गिरौ ॥

अथवा पार्श्वं वक्रोपायः । वक्रस्य मनसः कामस्य वा साधनस्य उपायः वक्रोपायः रागद्वेषपरिहारः[२] तद्योगात् भगवानपि पार्श्वः (४७) । वर्धमानः—वर्धते ज्ञानेन वैराग्येण च लक्ष्म्या द्विविधया वर्धमानः । अथवा अव समन्तात् ऋद्धः परमातिशयं प्राप्तो मानो ज्ञानं पूजा वा यस्य स वर्द्धमानः । अवाप्योरल्लोपः । (४८) । उक्तञ्च—

---

१ द धातुर्द्धारणे । २ ज रहितः ।

वष्टि-भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः ।
आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा ॥

महावीरः—महान् वीरः सुभटः महावीरः, मोहमल्लविनाशत्वात् । अथवा महतीं विशिष्टां ईं लक्ष्मीं निःश्रेयसलक्षणां राति ददात्याददाति वा महावीरः । अथवा महांश्चासौ वीरः श्रेष्ठो महावीरः (४९) । **वीरः** वीरः श्रेष्ठत्वात् । अथवा विशिष्टां ईं लक्ष्मीं राति मोक्षलक्ष्मीं ददाति निजभक्तानां वीरः । (५०) । उक्तञ्च

ये वीरपादौ प्रणमन्ति नित्यं ध्यानस्थिताः संयमयोगयुक्ताः ।
ते वीतशोका हि भवन्ति लोके संसारदुर्गं विषमं तरन्ति ॥

सन्मतिश्चाकथि महतिमहावीर इत्यथ ।
महापद्मः सूरदेवः सुप्रभश्च स्वयम्प्रभः ॥६१॥

सन्मति—सती समीचीना शाश्वती वा मतिर्बुद्धिः केवलज्ञानं यस्य स सन्मतिः । अथवा सतां विद्वज्जनानां मतिः सद्बुद्धिर्यस्मादसौ सन्मतिः (५१) । **महतिमहावीरः**—मस्य मलस्य पापस्य हतिर्हननं विध्वंसनं समूलकाषं कषणं महतिः । महतौ कर्मनलकलंकसुभटनिर्वाटने[1] महावीरो महासुभटः अनेकसहस्रभट-लक्षभटकोटीभटानां विघटनपटुर्महतिमहावीरः (५२) । **महापद्म**—महती पद्मा लक्ष्मीः सर्वलोकावकाश-दायिनी समवसरणविभूतिर्यस्य स महापद्मः । अथवा महती लोकालोकव्यापिनी पद्मा केवलज्ञानलक्षणोपलक्षिता लक्ष्मीर्यस्य स महापद्मः । अथवा महान्ति पद्मानि योजनैकप्रमाणसहस्रपत्रकनकमयकमलानि सपादद्विशतसं-ख्यानि यस्य स महापद्मः । अथवा महती पदोश्चरणयोर्मा लक्ष्मीरिन्द्रादिमनोनयनहारिणी शोभा यस्य स महापद्मः । अथवा महान्तः प्रत्येकसंख्यातकोटिगणनाः पद्माश्चतुर्णिकायिकदेवसमूहा यस्य स महापद्मः (५३) । **सूरदेवः**—सूराणां भारमयानां सूरीणां वा देवः सूरदेवः परमाराध्यः । शूरदेव इति तालव्यपाठे शूराणा-मिन्द्रियजये सुभटानां देवः परमाराध्यः स्वामी वा शूरदेवः । तथा चोक्तं—

यो न च याति विकारं युवतिजनकटाक्षबाणविद्धोऽपि ।
स त्वेव शूरशूरो रणशूरो न भवेच्छूरः ॥

अथवा सूराणां देवानि मनोनयनादीन्द्रियाणि यस्मिन् स सूरदेवः । अथवा सुः सोमः, रः सूर्यः अग्निश्च कामश्च सूराः, तेषां देवो राजा सूरदेवः । अथवा सुष्ठु अतिशयवान् सन्त्वमहिमयुक्तत्वात् उः रुद्रः सूः । सूश्च रश्च अग्निसूर्यौ तयोर्देवः, स्वामी सूरदेवः (५४) । **सुप्रभः**—शोभना चन्द्रार्ककोटिसमा नेत्राणां प्रिया च प्रभा द्युतिमंडलं यस्य स सुप्रभः । दिवाकरसहस्रभासुरमपीक्षणानां प्रियम्, इति गौतमस्वामिना जिनरूपवर्णनत्वात् (५५) । **स्वयम्प्रभः**—स्वयं आत्मना प्रभा तेजोमहिमा वा यस्य स स्वयम्प्रभः । अथवा स्वयमात्मना प्रकर्षेण भाति शोभते स्वयम्प्रभः । उपसर्गे स्वातो डः । स्वयं न अन्यः प्रकृष्टः पिता भ्राता च लोकानां हितकारकत्वात् स्वयम्प्रभः (५६) ।

सर्वायुधो जयदेवो भवेदुदयदेवकः ।
प्रभादेव उदङ्कश्च प्रश्नकीर्त्तिर्जयाभिधः ॥६२॥

सर्वायुधः—सर्वाणि ध्यानाध्ययनसंयमतपांसि आयुधानि कर्मशत्रुविध्वंसकानि शस्त्राणि यस्य स सर्वायुधः (५७) । **जयदेवः**—जयेनोपलक्षितो देवो जयदेवः । जयस्य जयन्तस्य देवेन्द्रपुत्रस्य वा देवः परमा-राध्यो जयदेवः (५८) । **उदयदेवः**—चय उपचयश्चयोपचयश्चेति त्रिविध उदयः । तत्र जन्मान्तरसञ्चितं निदान-

---

[1] ल निर्वोटने ।

दोषरहितं विशिष्टं तीर्थंकरनामोच्चगोत्रादिलक्षणं पुण्यबन्धनं चयः। स्वर्गादागत्य पुनरपि प्रजापालनादिपुण्योपार्जनमुपचयः। पुनर्निर्वाणगमनं चयोपचयः। तेन त्रिविधेनापि उदयेनोपलक्षितो देवः उदयदेवः। अथवा उत्कृष्टोऽयः शुभावहो विधिः उदयः, तेनोपलक्षितो देव उदयदेवः। अथवा यस्य कदाचिदपि क्षयो न भवति, अस्तमनं नास्ति, स उदयदेवः (५६)। **प्रभादेवः**—प्रभा चन्द्रार्ककोटितेजस्तयोपलक्षितो देवः सर्वज्ञवीतरागः प्रभादेवः। अथवा प्रभा महिमा, तयोपलक्षितो देवः प्रभादेवः। अथवा प्रभानाम एकत्रिंशत्तमं स्वर्गपटलं तत्र देवो दक्षिणश्रेणौ अष्टादशे विमाने देवो देवेन्द्रः सौधर्मेन्द्रः प्रभादेवः। प्रभादेवसेवायोगात् भगवानपि प्रभादेवः। उक्तञ्च त्रिलोकसारे—

इगतीस सत्त चत्तारि दोण्णि एक्केक्क छक्क चदुकप्पे।
तित्तिय एक्केक्किंद उडुआदि तेसट्ठी॥

अथवा प्रकृष्टा भा लोकालोकप्रकाशिनी दीप्तिः केवलाख्यं ज्योतिस्तयोपलक्षितो देवः प्रभादेवः (६०)। **उदङ्कः**—उत्कृष्टो अंको विरुदं कामशत्रुरिति उदङ्कः, मुक्तिकान्तापतिरिति, मोहारिविजयीति उदङ्कः। अथवा उद्गतो निर्नष्टोऽङ्कोऽपराधः आगो यस्य स उदङ्कः। अथवा अंको भूषा उद्गता निराभरणभासुरमिति वचनात् यस्य स उदङ्कः। अथवा उत्कृष्टः अङ्कः स्थानं मोक्षलक्षणं यस्य स उदङ्कः। अथवा उत्कृष्टः अङ्कश्चिन्हं प्रातिहार्याष्टकं यस्य स उदङ्कः (६१)। **प्रश्नकीर्तिः**—प्रश्ने गणधरदेवाद्यनुयोगे सति कीर्त्तिः संशब्दनं ध्वनिप्रवृत्तिर्यस्य स प्रश्नकीर्त्तिः। अथवा प्रश्नस्य पृच्छायाः कीर्त्तिर्विस्तारो यस्य स प्रश्नकीर्त्तिः। अथवा प्रश्ने सति कीर्त्तिर्यशो यस्माद्गणधरदेवादीनां स प्रश्नकीर्तिः (६२)। **जयः**—जयति मोहारातिमभिभवतीति जयः (६३)।

पूर्णबुद्धिर्निष्कपायो विक्षेयो विमलप्रभः।
बहलो निर्मलश्चित्रगुप्तः समाधिगुप्तकः॥ ६३॥

पूर्णबुद्धिः—पूर्णा सम्पूर्णा लोकालोकसर्वतत्त्वप्रकाशिका केवलज्ञान-दर्शनलक्षणा बुद्धिर्यस्य स पूर्णबुद्धिः (६४)। **निःकषाय**—निर्गता कषायाः क्रोधमानमायालोभाः यस्य स निःकषायः। निष्केन सुवर्णेन सदृशी (सा) सरस्वती कषादिपरीक्षोत्तीर्णा निष्कषा। तस्या आय आगमनं यस्य स निष्कषायः। अपरपदेऽपि क्वचित्सकारस्य षत्वम्। यथा संहितायां इयाय कारिमानं दायक्षीयत्वम्। आलभते इति क्रियापदं दूरे वर्त्तते। अथवा निष्कस्य सा लक्ष्मीस्तस्या आयो रत्नवृष्टिसमागमो यस्य स निष्कषायः। दातुर्गृहे मातुर्मन्दिरे च पञ्चाश्चर्यविधायक इत्यर्थः (६५)। तदुक्तं—

सुरयण-साहुक्कारो गंधोदय-रयण-पुप्फवुट्ठी य।
तह दुंदुहीणिघोसो पंचच्छरिया मुणेयव्वा॥

विमलप्रभः—विमले घातिसंघातघाते सति प्रभा तेजोमण्डलं यस्य स विमलप्रभः। उक्तञ्च—

अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादिमहोदयः।
दिव्यः सत्यो दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु सः॥

अथवा विगतं मं मलं येषां ते विमा गणधरदेवानगारकेवल्यादयः। विमान् लाति गृह्णाति विमला। तादृशी प्रभा यस्य स विमलप्रभः (६६)। उक्तञ्च—

भो मन्त्रे मन्दिरे माने सूर्ये चन्द्रे शिवे विधौ।
मायाविनि वृथा मन्त्रे मारण-प्रतिदानयोः॥
मं मौलौ मोऽधवृत्तौ मं।

व :—वहं स्कन्धदेशं लाति ददाति संयममारोद्धरणे वहलः। अथवा वहं वायुं लाति गृह्णाति पृष्ठत उपभोगतया वहलः। अथवा वो वायुर्हलः सखा यस्य, पृष्ठतो गामित्वात् वहलः। अथवा वो वंदनं

हलं लांगलं यस्य, पुण्यकर्षणोत्पादकत्वात् वहल । अथवा वहति मोक्षं प्रापयति वहलः । शकि शमि वहि-स्योऽलः । व्यापकत्वाद्विस्तीर्णः (६७) । **निर्मलः**—निर्गतं मलं विण्मूत्रादिर्यस्य स निर्मलः । उक्तञ्च—

तित्थयरा तप्पियरा हलहरचक्की य अद्धचक्की य ।
देवा य भोगभूमा आहारो अत्थि णत्थि णीहारो ॥

अथवा निर्गतानि निर्मलानि पापकर्माणि यस्मादसौ निर्मलः । अथवा निर्गता मा लक्ष्मीर्धनं येभ्यस्ते निर्मा निर्ग्रन्थमुनयः चतुप्रकारास्तान् लाति स्वीकरोति यः स निर्मलः । उक्तञ्च—

निर्ग्रन्थाः शुद्धमूलोत्तरगुणमणिभिर्येऽनगारा इतीयुः,
संज्ञां ब्रह्मादिधर्मैः ऋषय इति च ये बुद्धिलब्ध्यादिसिद्धैः ।
श्रेण्योरारोहणैर्ये यतय इति समग्रेतराध्यत्तबोधै-
र्ये मुन्याख्यां च सर्वान् प्रभुमह इह तानर्चयामो मुमुक्षून् ॥

अथवा निर्मान् पञ्चप्रकारनिर्ग्रन्थान् लाति निर्मलः । के ते पञ्चप्रकारा निर्ग्रन्था इत्याह-पुलाकवकुश कुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः, संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपादस्थानविकल्पतः साध्याः । इत्यनयोः सूत्रयोर्विवरणं तत्त्वार्थतात्पर्यवृत्तौ नवसहस्रश्लोकप्रमाणायां श्रुतसागरकृतायां ज्ञातव्यं विस्तारतया मयात्र नैव लिखितम् (६८) । **चित्रगुप्तः**– चित्रवत् आकाशवत् गुप्तः अलक्ष्यस्वरूपः चित्रगुप्तः । अथवा चित्रा विचित्रा मुनीनामाश्चर्यकारिण्यो गुप्तयो मनोवचनकायगोपाया विद्यन्ते यस्य स चित्रगुप्तः । अथवा चित्रं तिलकदानं प्रतिष्ठायां गुप्तं रूपदेशप्राप्यं यस्य स चित्रगुप्तः । अथवा चित्रास्त्रैलोक्यमनोनयनविस्मयाह्लादकारिण्यो गुप्तयस्त्रयः समवसरणप्राकारा यस्य विद्यन्ते स चित्रगुप्तः (६९) । उक्तञ्च—

स्वेन प्रपूरितजगत्त्रयपिण्डितेन
कान्तिप्रतापयशसामिव सञ्चयेन ।
माणिक्यहेमरजतप्रविनिर्मितेन
सालत्रयेण भगवन्नभितो विभासि ॥

समाधिगुप्तः—सम्यक् समीचीनानि अबाधितानि वा आ समन्तात् धीयन्ते आत्मनि आरोप्यन्ते सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपांसि परलोकपर्यन्तं निर्विघ्नेन प्रतिपाल्यन्ते उपसर्ग-परीषहादिविनिपातेऽपि न त्यज्यन्ते यस्मिन्निति समाधिः । उपसर्गे दः किः । समाधिना गुप्तो रक्षितः, न संसारे पतितुं दत्तः समाधिगुप्तः । समैस्तृणकांचन-शत्रुमित्र-वनभवन-सुखदुःख-स्त्रीदन्दशूकनिजानिजेषु समानचित्तैर्मुनिसत्तमैरधिगुप्तः अधिकतया वेष्टितः समाधिगुप्त । अथवा सह मेन मन्दिरेण वर्तन्त इति समा गृहमेधिनो गृहस्थाः, तैरधिगुप्तः सेवित. समाधिगुप्तः, सद्दृष्टिभिः श्रावकैराराधित इत्यर्थः । अथवा सह मेन मन्त्रेण वर्तन्ते ये ते समा विद्याधराः, तैरधिगुप्तः समाधिगुप्त. । अथवा सह मेन मानेन अहंकारतया वर्त्तन्ते ते समा असुरादयस्तैरधिगुप्तः समाधिगुप्तः । अथवा मैः सूर्याचन्द्रमसैः शिवैरुद्रैर्वा मायाधिभिरनेकपाखण्डिभिर्वृथामन्त्रैश्च अधिगुप्तः सेवितः समाधिगुप्तः । अथवा ममाभिर्वर्षैरधिकः अतिवृद्धैरपि सेवितः समाधिगुप्तः । अथवा सम. शोभित. आधिर्धर्मचिन्ता येषां ते समाधयो लौकान्तिकाहमिन्द्रदेवास्तैगुप्तो हृदयकमलेषु स्थिरतया स्थापितोऽहर्निशं तत्रस्थैरपि चिन्तितः समाधिगुप्तः । अथवा सह मया लक्ष्म्या वर्तत इति समो नारायणः, तेन अधिकतया गुप्तः सेवितः समाधिगुप्तः (७०) ।

स्वयम्भूश्चापि कन्दर्पो जयनाथ इतीरितः ।
श्रीविमलो दिव्यवादोऽनन्तवीरोऽप्युदीरितः ॥६४॥

स्वयम्भूः—स्वयमात्मना गुरुनिरपेक्षतया भवति, निर्वेदं प्राप्नोति लोकालोकस्वरूपं जानाति स्वयम्भूः। स्वयं भवति निजस्वभावे तिष्ठति स्वयम्भूः। स्वयं भवति मंगलं करोति स्वयम्भूः। स्वयं भवति निजगुणैर्वृद्धिं गच्छति स्वयम्भूः। स्वयंभवति निर्वृतो वसति स्वयम्भूः। स्वयं भवति केवलज्ञान-दर्शन-द्वयेन लोकालोके व्याप्नोति स्वयम्भूः। स्वयं भवति सम्पत्तिं करोति भव्यानामिति स्वयम्भूः। स्वयं भवति जीवानां जीवनाभिप्रायं करोति स्वयम्भूः। स्वयं भवति द्रव्यपर्यायान् ज्ञातुं शक्नोति स्वयम्भूः। स्वयं भवति ध्यानिनां योगिनां प्रत्यक्षतया प्रादुर्भवति स्वयम्भूः। स्वयं भवति ऊर्ध्वं व्रज्यास्वभावेन त्रैलोक्याग्रे गच्छति स्वयम्भूः (७१)। तथा चोक्तं—

सत्तायां मंगले वृद्धौ निवासे व्याप्तिसम्पदोः।
अभिप्राये च शक्तौ च प्रादुर्भावे गतौ च भूः॥

कन्दर्पः—कं सुखं तस्य दर्पोऽतितीव्रता कन्दर्पः, अनन्तसौख्य इत्यर्थः। कं कुत्सितो दर्पो यस्य मते यस्याग्रे वा, स कन्दर्पः। भगवदग्रे यः पुमान् ज्ञानादेर्दर्पं करोति स कुत्सित इत्यर्थः। अथवा अद्वितीयरूपत्वाद्भगवान् कन्दर्प उच्यते। अथवा—

ऋशब्दः पावके सूर्ये धर्मे दाने घने पुमान्।
आ अरौ अर एतानि अरं चारौ ऋश्च शसि॥

इति वचनात् कन्दान् कन्दमूलानि रे धर्माय लोकानां पुण्यनिमित्तं पाति रक्षति भक्षितुं न ददाति, कन्दमूलानि धर्मार्थं निषेधति, तेन भगवान् कन्दर्पः कथ्यते। ऋवर्णे अर् इति सन्धिकार्ये सति 'कन्द+ऋ +पः' इत्यस्य कन्दर्प इति रूपं निष्पद्यते (७२)। उक्तञ्च **समन्तभद्रैः रत्नकरण्डके**—

अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृङ्गवेराणि।
नवनीतनिम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम्॥

जयनाथः—जयस्य सर्वदिग्विजयस्य नाथः स्वामी जयनाथः, सर्वस्मिन् धर्मक्षेत्रे आर्यखण्डे धर्म-तीर्थप्रवर्तक इत्यर्थः। अथवा जयस्य जयन्तस्य इन्द्रपुत्रस्य नाथः स्वामी जयनाथः। अथवा जयाय जयार्थं जयनिमित्तं संसारदु.खच्छेदनार्थं नाथ्यते याच्यते जयनाथः। अथवा जय नाथ, जय स्वामिन्निति धर्मोपदेश-समये पुनः पुनर्भव्या वदन्ति, तत्प्रसिद्धया जयनाथ इति नामोच्यते (७३)।

श्रीविमलः—विमलः कर्ममलकलङ्करहितो व्रतशीलातिचाररहितो वा विमलः श्रिया बाह्याभ्यन्तर-लक्ष्म्या उपलक्षितो विमल, श्रीविमलः। अथवा विविधं मं मलं पापं लुनाति छिनत्ति भक्तानां विमलः। डोऽसंज्ञायामपि, डिति टेर्लोपः। ऊकारलोप.। पश्चात् श्रीमांश्चासौ विमलः श्रीविमलः इति कर्मधारयः क्रियते (७४)। **दिव्यवाद**—दिव्योऽमानुषो वादो ध्वनिर्यस्य स दिव्यवादः। अथवा दिवि स्वर्गे व्योम्नि पाताले स्वर्गे व्यन्तरलोके वा भवाः दिव्याश्चातुर्णिकायदेवास्तेषां वा वेदनां संसारसागरपतनादु.खं आसमन्तात् द्यति खंडयति निवारयति दिव्यवादः। अथवा दिव्यान् मनोहरान् त्रिजगज्जनमनोहरान् अर्थान् पूर्वापर विरोध-रहितान् जीवादीन् पदार्थान् वदति दिव्यवादः। कर्मण्यन्। अथवा दिव्यं मन्त्रं ददाति दिव्यवाद, पञ्च-त्रिंशदक्षरमंत्रोपदेशक इत्यर्थः (७५)।

अभिलषितकामधेनौ दुरितद्रुमपावके हि मन्त्रेऽस्मिन्।
दृष्टादृष्टफले सति परत्र मन्त्रे कथं सजतु॥
कृत्वा पापसहस्राणि हत्वा जन्तुशतानि च।
अमुं मन्त्रं समाराध्य तिर्यञ्चोऽपि दिवङ्गताः॥

अनन्तवीरः—न विद्यते अन्तो विनाशो यस्य स अनन्तोऽविनश्वरः । स चासौ वीरः सुभटः कर्मशत्रु-विनाशकः अनन्तवीरः । अथवा न विद्यते अन्तो विनाशो यस्याः सा अनन्ता, सा चासौ ई: विशिष्टकैवल्य-लक्षणोपलक्षितां गतिं आददाति ददाति वा भक्तानां सोऽनन्तवीरः । अथवा अनन्ते ऊर्ध्वमन्तरिक्षे तनुवातवलये स्थास्यतीति वीरः अनन्तवीरः । भाविनि भूतवदुपचार इति परिभाषया सिद्ध एव स्वामी कथितः । अथवा समवसरणे गन्धकुटीमध्ये सिंहासनोपरि तिष्ठन्नपि चतुरङ्गुलमाकाशं परिहृत्यान्ते वियति स्थितत्वात् वीरः अनन्त-वीरः । अथवा जगति प्रलयं गतेऽपि शिष्यत इति वचनात् अनन्तः शेषनागो नारायणो वा । ताभ्यामपि अधिको वीरः अनन्तवीरः । अथवा अनन्ताः संख्याविवर्जिता वीरा नम्रीभूता यस्य सोऽनन्तवीरः (७६) ।

पुरुदेवोऽथ सुविधिः प्रज्ञापारमितोऽव्ययः ।
पुराणपुरुषो धर्मसारथिः शिवकीर्त्तनः ॥ ६५ ॥

पुरुदेवः—पुरुर्महान् इन्द्रादीनामाराध्यो देवः पुरुदेवः । अथवा पुरवः प्रचुरा असंख्या देवा यस्य स पुरुदेवः, असंख्यातदेववन्दित इत्यर्थः । अथवा पुरोः स्वर्गस्य देवः पुरुदेवः, देवदेव इत्यर्थः (७७) । सुविधिः—शोभनो विधिर्विधाता स्रष्टिकर्त्ता सुविधिः । अथवा शोभनो निरतिचारो विधिश्चारित्रं यस्य स सुविधिः । अथवा शोभनो विधिर्दैवं पुण्यं यस्य स सुविधिः । अथवा शोभनो विधिः कालो यस्य स सुविधिः (७८) । प्रज्ञापारमितः—प्रज्ञायाः बुद्धिविशेषस्य पारं पर्यन्तं इतः प्राप्तः प्रज्ञापारमितः । अथवा प्रज्ञापारैः महापण्डितैः उभयमीमांसाविचक्षणैः मितः प्रमाणीकृतः प्रज्ञापारमितः, प्रत्यक्ष-परोक्षप्रमाणचतुरैर्गणधरदेवादि-भिर्मानित इत्यर्थः (७९) । अव्ययः—न व्ययो विनाशो यस्य द्रव्यार्थिकनयेन सोऽव्ययः । अथवा अविना मेषेण अयः गमनं यस्य सोऽव्ययः । अव्यया अग्निकुमारा सेवापरा यस्य सोऽव्ययः । अथवा सिद्धिपर्यायं प्राप्तः स न व्येति नोपचयापचयं गच्छतीति अव्ययः, भाविनि भूतवदुपचार इति वचनात् (८०) । पुराणपुरुषः—पुराणश्चिरन्तनः पुरुष आत्मा यस्येति पुराणपुरुषः । अथवा पुराणेषु त्रिषष्टिलक्षणेषु प्रसिद्धः पुरुषः पुराणपुरुषः । अथवा पुराणे अनादिकालीनेऽकल्पे पुरुणि महति स्थाने शेते तिष्ठति पुराणपुरुषः । अथवा पुरं शरीरं परमौदारिककायं अनिति जीवति मुक्तिं यावद् गच्छति तावत्पुराणः । स चासौ पुरुषः आत्मा पुराणपुरुषः । मुक्तिं प्राप्त सन् न शरीरे तिष्ठती-त्यर्थः जीवन्मुक्त इत्यर्थः । लोकमते तु पुराणपुरुषो नारायणः कथ्यते, शिरसा स्वल्पत्वात् (८१) । धर्म-सारथिः—धर्मस्य अहिंसालक्षणस्य सारथिः प्रवर्तको धर्मसारथिः । अथवा सह रथेन वर्तते सरथः क्षत्रियः । सरथस्य क्षत्रियस्यापत्यं सारथिः । इणतः ऋद्धिरादौ स्त्रिः[1] । धर्मस्य चारित्रस्य सारथिः प्रेरकः धर्मसारथिः । अथवा धर्माणां मध्ये सारो धर्मो धर्मसारः श्रीमद्भगवदर्हत्प्रणीतो धर्मः । धर्मसारे तिष्ठति धर्मसारथिः । संज्ञाशब्दानां व्युत्पत्तिस्तु यथा[2] कथंचित् । तेन स्थाधातोः सकारलोपः, किप्रत्ययश्च । आलोपोऽसार्व-धातुके इत्यनेन आकारलोपस्तु न्यायसिद्धः (८२) । शिवकीर्त्तनः—शिवः श्रेयस्करं, शिवं परमकल्याणं इति वचनात् । शिवं पञ्चपरमकल्याणदायकं तीर्थकरनामगोत्रकारकं कीर्त्तनं स्तुतिर्यस्य स शिवकीर्त्तनः । शिवं क्षेमकरं सुखकरं वा कीर्त्तनं यस्य स शिवकीर्त्तनः । शिवे वेदे कीर्त्तनं यस्य स शिवकीर्त्तनः । अथवा शिवेन रुद्रेण कीर्त्तनं यस्य स शिवकीर्त्तनः । शिवानां सिद्धानां वा कीर्त्तनं यस्य स शिवकीर्त्तनः । दीक्षावसरे नमः सिद्धेभ्यः इत्युच्चारणत्वात् । शिवाय मोक्षाय वा कीर्त्तनं यस्य स शिवकीर्त्तनः (८३) ।

विश्वकर्माऽजरोऽजन्मा विश्वभूर्विश्वनायकः ।
दिगम्बरो निरातङ्को निरारेको भवान्तकः ॥६६॥

विश्वकर्मा—विश्वं कृत्स्नं कष्टमेव कर्म यस्य मते स विश्वकर्मा । अथवा विश्वेषु देवविशेषेषु त्रयो-दशसंख्येषु कर्म सेवा यस्य स विश्वकर्मा । अथवा विश्वस्मिन् जगति कर्म लोकजीवनकरं क्रिया यस्य स विश्व-कर्मा । कर्म अत्र असिमषिकृष्यादिकं गृहस्थावस्थायां ज्ञातव्यम् (८४) । अजरः—न जरति, स्वभावात् न

१. द इरतः ऋदा रादौ नरि च कारे । २. द यथार्थवत् ।

प्रच्यवते, आत्मन्येकलोलीभावत्वात् अक्षरः। अक्षरं मोक्षः तत्स्वरूपत्वात् क्षीणकर्मत्वादक्षरः, अर्हमित्यक्षररूपत्वादक्षरः, परमब्रह्मधर्मतपोमूर्त्तित्वादक्षरः, कर्महोमकारकत्वात् अक्षररूपोऽध्वररूपः अक्षरः, आकाशरूपत्वाद्वाऽक्षरः। अथवा अक्षो ज्ञानं केवलाख्यं ज्योतिस्तं राति भक्तानां ददात्यक्षरः। अथवा अक्षं आत्मानं राति स्वीकरोति अक्षर। अथवा अक्षाणि इन्द्रियाणि राति मनसा सह वशीकरोति अक्षरः। अथवा अक्षो व्यवहार स्वयं निश्चयनयमाश्रितोऽपि व्यवहारं दानपूजादिकं राति प्रवर्त्तयति लोके स भवत्यक्षरः। अथवा अक्षाः पासकानि, तेषु रोऽग्निर्यस्य स अक्षरः, द्यूतक्रीडा दह्यतामिति वदति सर्वमहापापमुख्यत्वात् अक्षरः (८५)। उक्तञ्च—

नपुंसकेऽक्षरं तुच्छे तथा सौवर्चलेन्द्रिये।
अक्षः पुंसि दशग्रीवपुत्रे विदि तथाऽऽत्मनि ॥
कर्षेऽनसि रथस्यावयवे व्यवहृतौ तथा।
पासकेषु ध्वनिश्चैष मत एकादशस्वपि ॥

अच्छद्मा:—न विद्यते छद्म घातिकर्म यस्येति अच्छद्मा। अथवा न विद्यते छद्म शाठ्यं यस्येति अच्छद्मा। अथवा न विद्येते छद्मनी ज्ञान-दर्शनावरणद्वयं यस्य स अच्छद्मा (८६) **विश्वभूः**—

सत्तायां मंगले वृद्धौ निवासे व्याप्ति-सम्पदोः।
अभिप्राये च शक्तौ च प्रादुर्भावे गतौ च भूः ॥

इति वचनात् विश्वस्मिन् भवति विद्यते अस्त्येव केवलज्ञानापेक्षया विश्वभूः। विश्वस्य भवति मंगलं करोति विश्वभूः। विश्वस्य भवति वृद्धिं करोति विश्वभूः। विश्वस्मिन् भवति केवलज्ञानापेक्षया निवसति विश्वभूः। विश्वं भवति व्याप्नोति केवलज्ञानापेक्षया विश्वभूः। विश्वस्य भवति संपदं करोति विश्वभूः। विश्वस्मिन् भूरभिप्रायो मनोगतं ज्ञानं यस्य स विश्वभूः। विश्वस्मिन् भवति शक्नोति विश्वभूः। विश्वस्मिन् भवति-प्रादुर्भवति ध्यानेन प्रत्यक्षीभवति विश्वभूः। विश्वं गच्छति केवलज्ञानेन जानाति विश्वभूः। सर्वे गत्यर्था धातवो ज्ञानार्था इति वचनात् (८७)। **विश्वनायकः**—विश्वस्य त्रैलोक्यस्य नायकः स्वामी विश्वनायकः। अथवा विरूपका विविधा वा श्वान इव श्वानो मिथ्यादृष्टयः, तेषां न अयते नागच्छति न प्रत्यक्षीभवति विश्वनायकः। अथवा विश्वं नयति स्वधर्मं प्रापयति विश्वनायकः (८८)। **दिगम्बरः**—दिशो अम्बराणि वस्त्राणि यस्य स दिगम्बरः, नग्न इत्यर्थः (८९)। उक्तञ्च निरुक्ते—

यो हताशः प्रशान्ताशस्तमाशाम्बरमूचिरे।
यः सर्वसंगसत्यक्तः स नग्नः परिकीर्त्तितः ॥

निरातङ्कः- सद्यः प्राणहरो व्याधिरातंकः स उच्यते। निर्गतो विनष्ट आतङ्को रोगो यस्य स निरातङ्कः। आतङ्कः शंका निर्गत आतङ्कः शंका यस्य स निरातङ्कः। अथवा निर्गत आतङ्कः संतापो यस्य स निरातङ्कः (९०)। **निरारेक**—निर्गता आरेका तत्त्वविषये शंका संदेहो यस्य स निरारेक (९१)। उक्तञ्च—

अहमेको न मे कश्चिदस्ति त्राता जगत्त्रये। इति व्याधिव्रजोत्क्रान्तिभीतिं शङ्कां प्रचक्षते ॥
एतत्तत्त्वमिदं तत्त्वमेतद्व्रतमिदं व्रतम्। एष देवश्च देवोऽयमिति शङ्कां विदुः पराम् ॥
इत्थं शङ्कितचित्तस्य न स्याद्दर्शनशुद्धता। न चास्मिन्नीप्सितावाप्तिर्यथैवोभयचेतने ॥
एष एव भवेद्वस्तत्त्वमंप्येतदेव च। एतदेव व्रतं मुक्त्यै तदेवं स्यादशङ्कधीः ॥
तत्त्वे ज्ञाते[1] रिपौ दृष्टे पात्रे वा समुपस्थिते। यस्य दोलायते चित्तं रिक्तः सोऽमुत्र चेह च

१ द ज्ञाने।

भवान्तकः— भवस्य संसारस्य अन्तको विनाशको भक्तानां भवान्तकः। अथवा भवस्य रुद्रस्य अन्तको मृत्युर्यस्य मते स भवान्तकः। इत्यनेन रुद्रस्य ये मृत्युञ्जयं कथयन्ति ते प्रत्युक्ताः (९२)।

दृढव्रतो नयोत्तुंगो निःकलङ्कोऽकलाधरः।
सर्वक्लेशापहोऽक्षय्यः क्षान्तः श्रीवृक्षलक्षणः॥ ९७॥

दृढव्रतः— दृढं निश्चलव्रतं दीक्षा यस्य प्रतिज्ञा वा यस्य स दृढव्रतः (९३)। नयोत्तुंगः- नयाः नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूताः सप्त। अथवा स्यादेकं स्यादनेकं स्यादुभयं स्यादवाच्यं स्यादेकं चावक्तव्यं च स्यादनेकं चावक्तव्यं च स्यादेकानेकं चावक्तव्यं च। तैरुत्तुंग उन्नतः नयोत्तुंगः, सर्वथैकान्तरहित इत्यर्थः। ततो नान्यः परमगुरुरेकान्तवस्तुप्रकाशनो दृष्टेष्टविरुद्धवचनत्वादविद्यास्पदत्वादक्षीणकल्मषसमूहत्वाच्चेति न तस्य ध्यानं युक्तमिति तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिके उक्तत्वात्। नयोत्तुंगः (९४)। उक्तञ्च—

अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं तदंशधीः।
नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्णयस्तन्निराकृतिः॥

निःकलंकः— निर्गतः कलङ्कः अपवादो यस्य स निःकलङ्कः। यथा गोपनाथस्य दुहितरं नारायणो जगाम, शन्तनोः कलत्रं ईश्वरोऽगमत्, देवराजो गौतमभार्यां बुभुजे। तदुक्तं—

किमु कुवलयनेत्राः सन्ति नो नाकनार्य-
स्त्रिदशपतिरहल्यां तापसीं यत्सिषेवे।
हृदयतृणकुटीरे दह्यमाने स्मराग्ना-
वुचितमनुचितं वा वेत्ति कः पण्डितोऽपि॥

चन्द्रः किल बृहस्पतिभार्यायां व्यभिचचार। तदुक्तं—

विधुर्गुरोः कलत्रेण गौतमस्यामरेश्वरः।
सन्तनोश्चापि दुश्चर्मा समगंस्त पुरा किल॥

एवं सर्वेऽपि देवाः सकलङ्काः सन्ति, सर्वज्ञवीतरागस्तु निःकलङ्कः (९५)। अकलाधरः— कलां कलनं धरतीति कलाधरः। न कलाधरः अकलाधरः, न केनापि कलयितुं शक्य इत्यर्थः। अथवा अकं दुःखं लाति ददाति अकलः संसारः। तं न धरति, न स्वीकरोति अकलाधरः। अकलः संसारोऽधरो नीचो यस्य स अकलाधरः। अथवा न कलां शरीरं धरति अकलाधरः, चरमशरीर इत्यर्थः। अथवा न कलां चन्द्रकलां धरति शिरसि धारयति अकलाधरः, निरम्बरत्वात् (९६)। सर्वक्लेशापहः— सर्वान् शारीर-मानसागन्तून् क्लेशान् दुःखानि अपहन्ति सर्वक्लेशापहः। अथवा सर्वेषां भक्तानां प्राणिनां क्लेशान् नरकादिदुःखानि अपहन्ति सर्वक्लेशापहः। अपात् क्लेशतमसोरिति डप्रत्ययः (९७)। अक्षय्यः— न क्षयितुं शक्यः अक्षय्यः (९८)। क्षान्तः— क्षमते स्म क्षान्तः, सर्वपरीषहादीन् सोढवानित्यर्थः (९९)। श्रीवृक्षलक्षणः— श्रीवृक्षोऽशोकवृक्षो लक्षणं यस्य स श्रीवृक्षलक्षणः। गन्धकुट्या उपरि मण्डपो योजनैकप्रमाणः, तदुपरि योजनैकप्रमाणगन्धकुट्युपरि योजनैकप्रमाणोऽशोकवृक्षो मणिमयो दिव्यहंसादिपक्षिमण्डितः। महामण्डपशिखरोपरिस्थितः स्कन्धः, तेन भगवान् दूरादपि लक्ष्यते, तेन श्रीवृक्षलक्षणः (१००)।

इति निर्वाणशतं समाप्तम्। इति [1]सूरिश्रीश्रुतसागरविरचितायां जिनसहस्रनामटीकायां सप्तमोऽध्यायः समाप्तः।

---

१ द श्रीसूरि०।

थ मोऽध्यायः

यदि संसार समुद्रादुद्विग्नो[1] दुःखराशिभीतमनाः।
तज्जिनसहस्रनाम्नामध्ययनं कुरु समाधानः॥

यो नामानि जिनेश्वरस्य सततं संचिन्तयेदर्थतः,
श्रीमद्धर्मविबोधनस्य बुधसंराध्यस्य धीमान्निधिः।
स स्यात्पुण्यचयो जगत्त्रयजयी तीर्थंकरः शंकरो
लोकाशापरिपूरणो गुणमणिश्चिन्तामणिः शुद्धधीः॥

अथ विद्यानन्दिगुरुं सूरिवरं संप्रणम्य शुद्धमनाः।
विवृणोमि ब्रह्मशतं सुसम्मतं साधुहृदयानाम्॥

ब्रह्मा चतुर्मुखो धाता विधाता कमलासनः।
अब्जभूरात्मभूः स्रष्टा सुरज्येष्ठः प्रजापति॥९८॥

ब्रह्मा—बृहि बृहि वृद्धौ, बृंहति वृद्धिं गच्छति केवलज्ञानादयो गुणा यस्मिन् स ब्रह्मा। बृंहेः कम-नच हात्पूर्वः इति सूत्रेण मन् प्रत्ययः। अनिदनुबंधानामगुणेऽनुषंगलोपः इत्यनेन नकारलोपो न भवति, तथापि विशेषातिदिष्टः प्रकृतं न बाधते इति न्यायात् विशेषेण कारानुबन्धप्रत्ययग्रहणात् नलुक्। ह्कारात् पूर्वः अकारागमश्च तेन रमृवर्णः ब्रह्मन् जातं। घुटि चांसबुद्धौ, व्यञ्जनाच्च सिलोपः। लिंगान्तनकारस्य नकारलोपः, तेन ब्रह्मा इति जातम् (१)। **चतुर्मुखः**—चत्वारि मुखानि यस्य स चतुर्मुखः। घातिसंघात-घातने सति भगवतस्तादृशं परमौदारिकशरीरनैर्मल्यं भवति यथा प्रतिदिशं मुखं सन्मुखं दृश्यते, अयमतिशयः स्वामिनो भवति तस्माच्चतुर्मुखः। अथवा चत्वारोऽनुयोगाः प्रथमानुयोग-करणानुयोग-चरणानुयोग-द्रव्यानुयोगा मुखे यस्यार्थरूपाः स भवति चतुर्मुखः। अथवा चत्वारो धर्मार्थकाममोक्षलक्षणाः पदार्थाः मुखे परिपूर्णास्वा-दनदायका यस्य स चतुर्मुखः। अथवा चत्वारि प्रत्यक्ष-परोक्षागमानुमानानि प्रमाणानि मुखानि यस्य स चतुर्मुखः। अथवा चत्वारि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपांसि मुखानि कर्मक्षयागमनद्वाराणि यस्य स चतुर्मुखः। (२)। **धाता**—दधाति चतुर्गतिषु पतन्तं जीवमुद्धृत्य मोक्षपदे स्थापयतीति धाता। अथवा दधाति प्रतिपा-लयति सूक्ष्मबादर-पर्याप्तापर्याप्तलब्ध्यपर्याप्तैकेन्द्रियादिपञ्चेन्द्रियपर्यन्तात् सर्वजन्तून् रक्षति परमकारुणिकत्वात् धाता (३)। **विधाता**—विशेषेण दधाति स्वर्ग-मोक्षयोः स्थापयति प्रतिपालयति वा विधाता। अथवा वीनां पक्षिणां धाता प्रतिपालकः। तर्हि अनर्थदण्डप्रसंगो भविष्यति? इति चेन्न, भगवान् सर्वप्राणिनां प्रतिपा-लकः। पक्षिणां तु पोषणेऽनर्थदण्डः न तु पालने[2]। अथवा सेवागतानां सुर-नरनिकराणां प्रमादपतिततन्दु-लादीनां समवसरणाद्बहिर्भक्षणेऽपि पक्षिणां श्रावकीभूतानां न कश्चिदनर्थदण्ड', सेवागतानां पादक्षालनजलपाने ऽपि न कश्चिदनर्थदण्डः (४)। **कमलासनः**—पद्मासने स्थित्वा सदा धर्मोपदेशं करोति भगवान् तेन कम-लासन स उच्यते। अथवा योजनैकप्रमाणसहस्रदलकनककमलं आसनं उपवेशनस्थानं विहरतो भगवतो यस्य स कमलासनः। अथवा निःक्रमणकाले कमलां राज्यलक्ष्मीं अस्यति त्यजति यः स कमलासनः। अथवा कमलाः मृगा आसने उपवेशनस्थाने यस्य स कमलासनः। भगवान् यदा वने तपश्चरणं करोति तदा स्वामिनः समीपे सिंह-गजाः व्याघ्र-गावः सर्प-मयूराः श्येन-शशकाः अहि-नकुला. मार्जार-मूषकाः काकोलूकाः हर्यक्ष-हरिणा इत्यादय. परस्परवैरिणो जीवाः वैरं परिहृत्य स्वामिनः समीपे उपविशन्ति परस्परं स्नेहं च कुर्वन्ति, तेन भगवान् कमलासन उच्यते। तथा समवसरणेऽपि। उक्तञ्च—

---

१ द दुद्विलष्टो। २ ज द प्रतिपालने।

सारंगी सिंहशावं स्पृशति सुतधिया नन्दिनी व्याघ्रपोतं,
मार्जारी हंसबालं प्रणयपरवशा केकिकान्ता भुजंगम् ।
वैराण्याजन्मजातान्यपि शमितधियो जन्तवोऽन्ये त्यजन्ति,
श्रित्वा साम्यैकरूढं प्रशमितकलुषं योगिनं क्षीणमोहम् ॥

अथवा कस्य आत्मनो मलानि अष्टकर्माणि अस्यति निराकरोति मूलादुन्मूलयति निर्मूलकाषं कषति कमलासनः । अथवा दीक्षाग्रहणकाले कमलां पृथ्वीं नारीं च अस्यति मुञ्चति कमलासनः । अथवा कमलं जलं छद्मस्थः सन् चारित्रे गृहीते सति भोजनान्तरं न कदाचिदपि पिबति, क्षुल्लकानामपि पातुं न ददाति कमलासनः (५) । अब्जभूः—अब्जैः कमलैरुपलक्षिता भूर्जन्मभूमिर्यस्य स अब्जभूः । अथवा मातुरुदरे अष्टदलं कमलं निजशक्त्या निधाय तत्कर्णिकायां स्वामी नवमासान् स्थित्वा वृद्धिङ्गतः, योनिमपि अस्पृष्ट्वा सञ्जातस्तेन अब्जभूरुच्यते । अथवा अब्जस्य चन्द्रस्य भूर्निवासस्थानं अब्जभूः, सदा चन्द्रेण सेवित इत्यर्थः । अथवा अब्जस्य धन्वन्तरेर्भूः स्थानं अब्जभूः, वैद्यानामायुर्वेदस्य गुरुत्वात् (६) । आत्मभूः—आत्मा निजशुद्धबुद्धैकस्वभावश्चिच्चमत्कारैकलक्षणः परमब्रह्मकल्परूपटंकोत्कीर्णस्फटिकमणि मतल्लिकाबिम्बसदृशो भूर्निवासस्थानं यस्य स आत्मभूः । अथवा आत्मा चक्षुषामगम्योऽपि सत्तारूपतयाऽस्त्येव मन्यते स आत्मभूः । अथवा आत्मा भूर्वृद्धिर्यस्य स आत्मभूः । अथवा आत्मना भवति केवलज्ञानेन चराचरं व्याप्नोति आत्मभूः । अथवा आत्मा भूः सम्पद् यस्येति आत्मभूः । आत्मा भूः अभिप्रायो यस्य स आत्मभूः । अथवा आत्मा भूः शक्तिर्यस्य स आत्मभूः । अथवा आत्मनि भवति प्रादुर्भवति आत्मभूः ध्यानेन योगिनां प्रत्यक्षीभवति आत्मभूः । अथवा आत्मना भवति गच्छति त्रिभुवनस्वरूपं द्रव्यपर्यायसहितं उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणं जानाति करणक्रमव्यवधानरहिततया स्फुटं पश्यति च आत्मभूः (७) । उक्तञ्च—

स्थिति-जनन-निरोधलक्षणं चरमचरं च जगत्प्रतिक्षणम् ।
इति जिनसकलज्ञलाञ्छनं वचनमिदं वदतां वरस्य ते ॥

स्रष्टा—सृजति करोति निर्ग्रमानः पापिष्ठैर्नारकतिर्यग्गती उत्पादयति, मध्यस्थैर्न स्तूयते न निंद्यते, तेषां मानवगतिं करोति । यैः स्तूयते पूज्यते आराध्यते तान् स्वर्गं नयति । यैर्ध्यायते तान् मुक्तान् करोति । तदुक्तं—

सृजति करोति प्रणयति घटयति निर्माति निर्मिमीते च ।
अनुतिष्ठति विदधाति च रचयति कल्पयति चेति करणार्थे ॥

तृण् तृचौ तृन् प्रत्ययः, सृजि दृशोः रागमोऽकारः स्वरात्परो घुटि गुणवृद्धिस्थाने छशोश्च षत्वं, तवर्गस्य टवर्गाट्टवर्गः, आसौ सिलोपश्च स्रष्टा इति जातम् (८) । सुरज्येष्ठः—सुराणां देवानां मध्ये ज्येष्ठो वृद्धो महान् श्रेष्ठो वा । प्रशस्यस्य श्रः । वृद्धस्य च ज्यः । प्रकृष्टः श्रेष्ठः प्रकृष्टो वृद्धो वा ज्येष्ठ उच्यते । प्रकृष्टे गुणादिष्ठेयसूर्ली वा । अथवा सुराणां देवानां ज्यावत् मातेव हितकारकः सुरज्येष्ठः । अथवा सुराणां ज्या भूमिः स्वर्गलोकः, तस्यामिष्टः सुरज्येष्टः । यतः सुराणां ज्या भूमिरिष्टा ततस्ते स्वर्गलोकं त्यक्त्वा समवसरणं समागच्छति भगवतः समे भूमौ तिष्ठन्ति, स्वामिनः सेवां कुर्वन्ति तेन सुरज्येष्ठः (९) । प्रजापतिः—प्रजानां त्रिभुवनस्थित लोकानां स्वामी प्रजापतिः (१०) ।

हिरण्यगर्भो वेदज्ञो वेदांगो वेदपारगः ।
अजो मनुः शतानन्दो हंसयानस्त्रयीमयः ॥९९॥

हिरण्यगर्भः—हिरण्येन सुवर्णेनोपलक्षितो गर्भो यस्य स हिरण्यगर्भः। भगवति गर्भस्थिते नव-मासान् रत्नकनकवृष्टिर्मातुर्गृहांगणे भवति तेन हिरण्यगर्भः। गर्भागमनात् पूर्वमपि षण्मासान् रत्नैरुपलक्षिता सुवर्णवृष्टिर्भवति तेन हिरण्यगर्भः। अथवा हि निश्चयेन रण्यो रणे साधुर्गर्भो यस्य स हिरण्यगर्भः। भगवतः पिता केनापि रणे जेतुं न शक्यो यस्मात्तेन भगवान् हिरण्यगर्भः (११)। **वेदज्ञः**—वेदेन श्रुतज्ञानेन मति-श्रुतावधिभिर्वा त्रिभिर्ज्ञानैर्विश्वं वेदितव्यं जानाति वेदज्ञः। अथवा वेदान् स्त्रीपुन्नपुंसकवेदान् जानाति वेदज्ञः। अथवा वेदं परवेदनां जानाति वेदज्ञः। अथवा येन शरीराद् भिन्न आत्मा ज्ञायते स वेदो भेदज्ञानं तं जानाति वेदज्ञः (१२)। उक्तञ्च निरुक्ते—

विवेकं वेदयेदुच्चैर्यः शरीर-शरीरिणोः।
स प्रीत्यै विदुषां वेदो नाखिलक्षयकारणम्॥

वेदाङ्गः—शिक्षा कल्पो व्याकरणं छन्दो ज्योतिषं निरुक्तं चेति मिथ्यावेदस्य अङ्गानि षड् वदन्ति कर्मचाण्डालाः अक्षरम्लेच्छापरनामानः। स्वमते तु वेदो ज्ञानं तन्मयं अङ्गं आत्मा यस्य स वेदाङ्गः। अथवा वेदस्य केवलज्ञानस्य प्राप्तौ भव्यप्राणिनां अङ्गं उपायो यस्मादसौ वेदाङ्गः (१३)। **वेदपारगः**—वेदस्य ज्ञानस्य पारं गच्छतीति सर्वज्ञत्वसाधनात् असम्भवद्बाधकसद्भावात् वेदपारगः। अथवा वेदेन ज्ञानेन संसारसमु-द्रस्य पारं पर्यन्तं गच्छतीति वेदपारगः। अथवा वेदान् द्वादशाङ्गानि पान्ति रक्षन्ति जिह्वाग्रे कल्पयन्ति[1] ये ते वेदपाः श्रुतज्ञानिनः। वेदपानां आ समन्तात् रं कामं गमयतीति निराकरोतीति वेदपारगः। अथवा रगि शंकायां वेदपान् न रगयति, न शङ्कयति निःसन्देहं तत्त्वमुपदिशति वेदपारगः (१४)। **अजः**—न जायते नोत्प-द्यते संसारे इत्यजः। (१५) **मनुः**—मन्यते जानाति तत्त्वमिति मनुः। पटि असि वसि हनि मनि त्रपि इंदि कंदि बंधि वह्याणिभ्यश्च[2] उ प्रत्ययः (१६)। **शतानन्दः**—शतमानन्दानां यस्य स शतानन्दः, अनन्तसुख इत्यर्थः। अथवा शतानामसंख्यानामानन्दो यस्मादसौ शतानन्दः, सर्वप्राणिसुखदायक इत्यर्थः (१७)। **हंसयानः**—हंसे परमात्मनि यानं गमनं यस्य स हंसयानः। अथवा हंसैः श्रेष्ठैः सह यानं विहारो यस्य स हंसयानः। अथवा हंसः श्रेष्ठं यानं वाहनं सहस्रदलकनककमलं यस्य स हंसयानः। अथवा हंसवत् सूर्यवत् अनीहितं स्वभावेन यानं विहारो यस्य स हंसयानः। अथवा हंसवत् यानं मन्दगमनं यस्य स हंसयानः (१८)। **त्रयीमयः**—त्रयाणां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां समाहारस्त्रयी। त्रय्या निर्वृत्तस्त्रयीमयः (१९)। उक्तञ्च—

जातिर्जरा सृतिः पुंसां त्रयी संसृतिकारणम्।
एषा त्रयी यतस्त्रय्याः क्षीयते सा त्रयी मता॥

विष्णुस्त्रिविक्रमः शौरिः श्रीपतिः पुरुषोत्तमः।
वैकुण्ठः पुण्डरीकाक्षो हृषीकेशो हरिः स्वभूः ॥१००॥

विष्णुः—वेवेष्टि केवलज्ञानेन विश्वं व्याप्नोतीति विष्णुः। विषेः किच्चेति नुः। उक्तञ्च—

यत्नाद्येन विदारितं कररुहैर्दैत्येन्द्रवक्षःस्थलं
सारथ्येन धनञ्जयस्य समरे योऽमारयत्कौरवान्।
नासौ विष्णुरनेककालविषयं यज्ज्ञानमव्याहतं
विश्वं व्याप्य विजृम्भते स तु महाविष्णुर्विशिष्टो मम॥

इति भट्टाकलङ्कः (२०)। **त्रिविक्रमः**—त्रयो विक्रमाः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां शक्तिसम्पदो यस्य स त्रिविक्रमः। अथवा त्रिषु लोकेषु विशिष्टक्रमः परिपाटी यस्य स त्रिविक्रमः (२१)। **शौरिः**—शूरस्य सुभटस्य क्षत्रियस्य अपत्यं शौरिः (२२)। **श्रीपतिः**—श्रीणां अभ्युदयनिःश्रेयसलक्षणानां लक्ष्मीणां पतिः

१ द कलयन्ति। २ द बाह्यनिभ्यश्च।

श्रीपतिः (२३) । **पुरुषोत्तमः**—पुरुषेषु त्रिषष्टिलक्षणेषु उत्तमः पुरुषोत्तमः (२४) । **वैकुण्ठः** —विकुण्ठा दिक्कुमारीणां प्रश्नानामुत्तरदाने विचक्षणा तीर्थकृन्माता, तस्या अपत्यं पुमान् वैकुण्ठः (२५) । **पुण्डरीकाक्षः** —पुण्डरीकवत् कमलवत् अक्षिणी लोचने यस्य स पुण्डरीकाक्षः । बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वांगादिति अक्ष् । अथवा पुण्डरीकः प्रधानभूतः अक्ष आत्मा यस्य स पुण्डरीकाक्षः । (२६) । उक्तञ्च **श्रीगौतमेन**—

गणधरचक्रधरेन्द्रप्रभृतिमहाभव्यपुण्डरीकैः पुरुषैः ।
बहुभिः स्नातं भक्त्या कलिकलुषमलापकर्षणार्थममेयम् ॥

हृषीकेशः—हृषीकाणामिन्द्रियाणां ईशो वशिता हृषीकेशः, जितेन्द्रिय इत्यर्थः (२७) । **हरिः**—हरति पापं हरिः । इः सर्वधातुभ्यः (२८) । **स्वभूः**—स्वेन आत्मना भवति वेदितव्यं वेत्ति स्वभूः । अथवा स्वस्य धनस्य भूः स्थानं स्वभूः । भक्तानां दारिद्र्यविनाशक इत्यर्थः । अथवा सुष्ठु अतिशयेन न भवति पुनर्भवे स्वभूः (२९) ।

विश्वम्भरोऽसुरध्वंसी माधवो बलिबन्धनः ।
अधोक्षजो मधुद्वेषी केशवो विष्टरश्रवः ॥ १०१ ॥

विश्वम्भरः—विश्वं त्रैलोक्यं बिभर्ति धारयति, न नरकादौ पतितुं ददाति विश्वम्भरः । नाम्नि तृ भृ वृ जि धारि तपि दमि सहां संज्ञायां खश् प्रत्ययः । ह्रस्वारुषोर्मोऽन्तः (३०) । **असुरध्वंसी**— असुरो मोहो मुनिभिरुच्यते, तं ध्वंसते इत्येवंशीलः असुरध्वंसी । नाम्न्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये । अथवा असून् प्राणान् राति गृह्णाति असुरो यमः, तं ध्वंसते मारयति असुरध्वंसी, यमस्य यम इत्यर्थः (३१) । उक्तञ्च—

अन्तकः क्रन्दको नॄणां जन्मज्वरसखा सदा ।
त्वामन्तकान्तकं प्राप्य व्यावृत्तः कामकारतः ॥

माधवः—मायाः लक्ष्म्याः समवसरणकेवलज्ञानादिकायाः धवो भर्ता माधवः । राज्यकाले राज्यलक्ष्म्या धवः स्वामी माधवः । अथवा मा शब्देन प्रत्यक्ष-परोक्षप्रमाणद्वयं लभ्यते । मायां प्रमाणद्वये धवो धूर्तः अतिविचक्षणः माधवः कथ्यते । अथवा मधुर्वसन्तः सदा वसन्तः सदा नित्यं सुखानुभवनत्वात्, लीलाविलासकत्वाच्च तत्पिता, तस्यापत्यं माधवः । अथवा मधुर्मद्यं क्षौद्रं च, पुष्परसश्च, एतत्त्रयास्वादनं पापस्वरूपं वेत्ति माधवः (३२) । उक्तञ्च—

महु लिहिवि मुत्तइ सुणहु एहु ण मज्जहो दोसु ।
मत्तउ अहिणि जि अहिलसइ तें तहो णरयपवेसु ॥

तथा—

महु आसइउ थोडउं वि णासइ पुण्णु बहुत्तु ।
वइसाणरहं तिडिक्किउ वि काणणु डहइ बहुत्तु ॥

तथा च स्मृतिः—

सप्तग्रामेषु यत्पापमग्निना भस्मसात्कृते ।
तत्पापं जायते तस्य मधुबिन्दुनिषेवणात् ॥

तथा च स्मृतिः—

मक्षिकागर्भसम्भूतबालाण्डकनिःपीडनात् ।
जातं मधु कथं सन्तः सेवन्ते कललाकृतिः ॥

कललं गर्भवेष्टनम् । तथा च—

प्रायः पुष्पाणि नाऽश्नीयान्मधुव्रतविशुद्धये ।
वस्त्यादिष्वपि मध्वादिप्रयोगं नार्हति व्रती ॥

बलिवन्धन—बलिः कर्मबन्धनं जीवस्य यस्य मते स बलिबन्धनः । उक्तञ्च—

कम्मइं दिढघणचिक्कणइं गरुअइं वज्जसमाइं ।
णाणवियक्खण जीवडउ उप्पहे पाडहिं ताइं ॥

अथवा बलमस्यास्तीति बलिः, बलवत्तरं त्रैलोक्यक्षोभकरणकारणं बन्धनं तीर्थंकरनामोच्चैर्गोत्रद्वयं यस्य स बलिबन्धनः । अथवा बलिर् पदेयकरस्तस्य बन्धनं षष्ठांशनिर्धारणं यस्मात् राज्यावसरे स बलिबन्धनः । अथवा बलिः पूजाबन्धनं विशिष्टपुण्योपार्जनकारणं यस्य स बलिबन्धनः । (३३) उक्तञ्च—

देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणम् ।
कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम् ॥
अर्हच्चरणसपर्यामहानुभावं महात्मनामवदत् ।
भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे ।

अधोक्षज—अधोक्षाणां जितेन्द्रियाणां दिगम्बरगुरूणां जायते ध्यानेन प्रत्यक्षीभवति अधोक्षजः । डोऽसंज्ञायामपि डप्रत्ययः । अक्षजं ज्ञानं अधो यस्य स अधोक्षजः, केवलज्ञानं सर्वेषां ज्ञानानामुपरि वर्तत इत्यर्थः । उक्तञ्च—

सव्वण्हु अणिंदिउ णाणमउ जो मयमुहु न पत्तियइं ।
सो णिंदिउ पंचिंदिय णिरउ वइतरिणिहिं पाणिउ पियइं ।

इत्यनेनेन्द्रियजनितं ज्ञानं प्रत्यक्षप्रमाणमिति ब्रुवाणा नैयायिका निर्मूलमुन्मूलिता भवन्ति (३४) । **मधुद्वेषी**—मधुशब्देन मद्यं सारघं च द्वयमुच्यते । तद्द्वयमपि द्वेष्टि दूषितं कथयति, पापमूलं महद् ब्रूते इत्येवंशीलः मधुद्वेषी । मिथ्यादृष्टीनां तु मधुशब्देन जरासन्धः कथ्यते, तस्य द्वेषी गोपीवल्लभः । स तु नमस्कर्तुं न योग्यः (३५) । तदुक्तं **अकलङ्कभट्टेन**—

यत्नाद्येन विदारितं कररुहैर्दैत्येन्द्रवक्षःस्थलं
सारथ्येन धनञ्जयस्य समरे योऽमारयत्कौरवान् ।
नासौ विष्णुरनेककालविषयं यज्ज्ञानमव्याहतं
विश्वं व्याप्य विजृम्भते स तु महाविष्णुर्विशिष्टो मम ॥

केशवः—प्रशस्ता अलिकुलनीलवर्णाः केशा मस्तके विद्यन्ते यस्य स केशवः । केशाद्वोऽन्यतरस्यां इत्यनेन सूत्रेण अस्त्यर्थे वप्रत्ययः । तीर्थंकरपरमदेवस्य शिरसि केशाः भवन्ति, न तु मुखे श्मश्रुणी कूर्चश्च वर्तते । उक्तञ्च—

देवास्तीर्थंकराश्चक्रिबलकेशवनारकाः ।
भोगभूमिनराः कामाः सर्वे कूर्चविवर्जिताः ॥

अथवा के परमब्रह्मणि ईशते समर्था भवन्ति महामुनयस्तेषां वो वासो यत्र स केशवः । ध्यानिनां योगिनां महामुनीनां निवास इत्यर्थः (३६) । **विष्टरश्रवा**—विष्टर इव श्रवसी कर्णौ यस्य स विष्टरश्रवा । सर्वधातुभ्योऽसुन् । अथवा विस्तरे सकलश्रुतज्ञाने श्रवसी कर्णौ आकर्णितवती यस्य स विष्टरश्रवा (३७) ।

श्रीवत्सलाञ्छनः श्रीमानच्युतो नरकान्तकः ।
विष्वक्सेनश्चक्रपाणिः पद्मनाभो जनार्दनः ॥१०२॥

श्रीवत्सलाञ्छनः—श्रीवत्सनामा वक्षसि लाञ्छनं रोमावर्तो यस्य स श्रीवत्सलाञ्छनः । अथवा श्रीवत्सः लक्ष्मीसुतः कामदेवः स लाञ्छनं भंगमापितोऽभिज्ञानं यस्य स श्रीवत्सलाञ्छनः । अथवा श्रीवत्सले लक्ष्मीकान्ते आञ्छनं आयामः संसारदैर्घ्यं यस्य मते स श्रीवत्सलाञ्छनः । यः किल लक्ष्म्यां स्नेहलो भवति लोभिष्ठो भवति स दीर्घं संसारं प्राप्नोति, पिण्याकगन्धवत् (३८) । उक्तञ्च—

पष्ठयाः क्षितेस्तृतीयेऽस्मिन् लल्लके दुःखमल्लके ।
पेते[1] पिण्याकगन्धेन धनायाविद्धचेतसा ॥

श्रीमान्—श्रीर्बहिरङ्गा समवसरणलक्षणा, अन्तरङ्गा केवलज्ञानादिका विद्यते यस्य स श्रीमान् (३९) । **अच्युतः**—न च्यवते स्म स्वरूपादच्युतः, परमात्मनिष्ठ इत्यर्थः (४०) । **नरकान्तकः**—मिथ्यादृष्टयः खल्वेवं वदन्ति-नरकनामा दैत्यः, स वरदानबलेन ईश्वरमेव भस्मीकर्तुं लग्नः पार्वतीग्रहणार्थं । नारायणेन तु पार्वतीरूपं गृहीत्वा स नर्त्तितः शिरसि यावत्करं करोति तावत्स एव भस्मीबभूव । तेन नारायणः किल नरकान्तकः कथ्यते । श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञस्तु सद्धर्ममार्गप्रकाशकत्वात् नरके धर्मा-वंशा-शिलाञ्जना-रिष्टा-मघवी-माघवीनामसप्तप्रकारेऽपि न कमपि पतितुं ददाति, तेन नरकान्तक उच्यते । नरकस्य रत्नप्रभा-शर्कराप्रभा वालुकाप्रभा पंकप्रभा धूमप्रभा तमःप्रभा महातमःप्रभा इति सप्तभूमिषु पतितुं न ददाति तेन नरकस्य अन्तको विनाशकः, स्वर्ग-मोक्षप्रदायक इत्यर्थः (४१) । **विष्वक्सेनः**—मिथ्यादृष्टयः खल्वेवं निर्वचन्ति—विश्वञ्चो यादवाः सेनायां यस्य स विष्वक्सेनो नारायणः । भगवदर्हत्सर्वज्ञस्तु विष्वक् समन्तात् सेना द्वादशविधो गणो यस्य स विष्वक्सेनः । अथवा विष्वक् समन्तात् स्वर्गामर्त्यपाताललोकेषु या सा लक्ष्मीर्वर्तते, तस्याः इनः स्वामी विष्वक्सेनः, इन्द्र-धरणेन्द्र-नरेन्द्रादिभिर्निजलक्ष्मीभिः पूजितत्वात् (४२) । **चक्रपाणिः**—मिथ्यादृष्टयः किलैवं निर्वचन्ति--चक्रं भ्रमिलं आयुधविशेषः पाणौ करे यस्य स चक्रपाणिः । भगवदर्हत्सर्वज्ञस्तु चक्रलक्षणं पाणौ यस्य स चक्रपाणिः । तदुपलक्षणं रवीन्दुकुलिशादीनां अष्टाधिकलक्षणसहस्रं यस्य । अथवा चक्रं पृथ्वीमण्डलं पाणौ हस्ते यस्य स चक्रपाणिः, त्रिभुवनजनप्रभुत्वात् । अथवा चक्रं पान्ति रक्षन्ति चक्रपाः, अर्धमण्डलेश्वराधचक्रवर्त्तिसकलचक्रवर्त्तिपर्यन्ता राजानः, तेषामणिः सीमा चक्रपाणिः; धर्मचक्रवर्त्तित्वात् । एतादृशश्चक्रवर्त्ती संसारे कोऽपि नास्तीत्यर्थः । अथवा अण रण वण भण मण कण क्वण ध्रन ध्वन शब्दे इत्यनेन धातुपाठसूत्रेण तावत् अण धातुः चक्रपान् सुरेन्द्र-नागेन्द्र-नरेन्द्र-मुनीन्द्रान् अणति शब्दं करोति परमधर्मोपदेशं ददाति चक्रपाणिः । इः सर्वधातुभ्यः इति सूत्रेण इ प्रत्ययः (४३) । **पद्मनाभः**—पद्मवत् कमलपुष्पवत् नाभिर्यस्य स पद्मनाभः । समासान्तगतानां वा राजादीनामदन्तता इत्यधिकारे संज्ञायां नाभिः । अन् प्रत्ययः (४४) । **जनार्दनः**—जनान् जनपदलोकान् अर्दति सम्बोधनार्थं गच्छति जनार्दनः । अथवा जनास्त्रिभुवनस्थितभव्यलोका अर्दना मोक्षयाचका यस्य स जनार्दनः । अथवा जनान् अर्दयति मोक्षं गमयति जनार्दनः । नन्द्यादेर्युः । इनन्तस्य युप्रत्ययः (४५) ।

श्रीकण्ठः शंकरः शम्भुः कपाली वृषकेतनः ।
मृत्युञ्जयो विरूपाक्षो वामदेवस्त्रिलोचनः ॥१०३॥

श्रीकण्ठः—श्रीर्मुक्ति लक्ष्मीः कण्ठे आलिंगनपरा यस्य स श्रीकण्ठः (४६) । **शङ्करः**—शं परमानन्दलक्षणं सुखं करोतीति शङ्करः । शं पूर्वेभ्यः संज्ञायां अच् प्रत्ययः (४७) । उक्तञ्च—

दग्धं येन पुरत्रयं शरभुवा तीव्रार्चिषा वह्निना
यो वा नृत्यति मत्तवत्पितृवने यस्यात्मजो वा गुहः ।

1 द्रु पिते ।

सोऽयं किं मम–शङ्करो भयतृषारोषार्त्तिमोहक्षयं-
कृत्वा यः स तु सर्वविसनुभृतां क्षेमङ्करः शङ्करः[1] ॥

शम्भुः—शं परमानन्दलक्षणं सुखं भवत्यस्माच्छम्भुः । भुवो डुर्विंशंमेषु च (४८) । **कपाली**—कान् आत्मनः सर्वजन्तून् पालयतीति कपाली । अथवा कं परमब्रह्मस्वरूपमात्मानं पान्ति रक्षन्ति संसारपतनान्निवारयन्ति कपा मुनयः, तान् लाति भूषयति शोभितान् करोतीत्येवंशीलः कपाली । नाम्न्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये (४९) । **वृषकेतनः**—वृषोऽहिंसालक्षणो धर्मः केतनं ध्वजा यस्य स वृषकेतनः । (५०) । **मृत्युञ्जयः**—मृत्युं अन्तकं यमं कृतान्तं धर्मराजं जयतीति मारयित्वा पातयतीति मृत्युञ्जयः । नाम्नि तृ भृ वृ जि धारि तपि दमि सहां संज्ञायां खशप्रत्ययः । एजः खश् इत्यतो वर्तते, ह्रस्वारुषोर्मोऽन्तः (५१) । **विरूपाक्षः**—मिथ्यादृष्टयः किलैवं वदन्ति यत् रुद्रो विरूपाक्षः कथ्यते । तन्निरुक्तिः—विरूपाणि त्रित्वात् अमनोहराणि अक्षीणि लोचनानि यस्येति विरूपाक्षो रुद्रः । श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञस्तु विरूपं रूपरहितं सूक्ष्मस्वभावं अक्षि केवलज्ञानलक्षणं लोकालोकप्रकाशकं लोचनं यस्य स विरूपाक्षः । सक्थ्यक्ष्णो स्वांगे इत्यनेन सूत्रेण बहुव्रीहौ अत् प्रत्ययः । अथवा विरूपे विशिष्टरूपे कर्णान्तविश्रान्ते त्रिभुवनमनोहरे अक्षिणी लोचने यस्य स विरूपाक्षः । उक्तञ्च—

नेमिर्विशालनयनो नयनोदितश्रीरभ्रान्तबुद्धिविभवो विभवोऽथ भूयः ।
प्राप्तो महाजनगाराजगराजि तत्र सूते न चारु जगदे जगदेकनाथः ॥

अथवा विरूपः केवलज्ञानगम्यः अक्ष आत्मा यस्य स विरूपाक्षः । अथवा विर्गरुडः, तद्रूपः संसारविषनिषेधकः अक्ष आत्मा यस्य स विरूपाक्षः (५२) । उक्तञ्च **शुभचन्द्रेण सूरिणा**—

शिवोऽयं वैनतेयश्च स्मरश्चात्मैव कीर्तितः ।
अणिमादिगुणानर्घ्यरत्नवार्धिर्बुधैर्मतः ॥

अन्यच्च—

आत्यन्तिकस्वभावोत्थानन्तज्ञानसुखः पुमान् ।
परमात्मा विपः कन्तुरहो माहात्म्यमात्मनः ॥

वामदेवः—वामो मनोहरो देवो वामदेवः । अथवा वामस्य कामस्य रुद्रस्य प्रतिकूलस्य शत्रोरपि देवः परमाराध्यो वामदेवः । अथवा वामानि वक्राणि विषमाणि एक्षितुमशक्यानि दुर्जयानि देवानि इन्द्रियाणि यस्य मते स वामदेवः । अथवा वामा मनोहरा देवाः सौधर्मेन्द्रादयः सेवापरा देवा यस्य स वामदेवः । अथवा वायां वंदनायां मा लक्ष्मीर्यस्य स वामः । वामश्चासौ देवो वामदेवः । अथवा वायां वन्दनायां मः सूर्यश्चन्द्रो रुद्रो विधाता च यस्य स वामः, स चासौ देवो वामदेवः । अथवा वामानां शचीप्रभृतीनामत्यर्थं रागोत्पादिकानां देवीनां राजपत्नीनां देवः परमाराध्यो वामदेवः । याकारौ स्त्रीकृतौ ह्रस्वौ क्वचित् (५३) । **त्रिलोचनः**—त्रयाणां स्वर्ग-मर्त्य-पातालस्थितानां भव्यजीवानां लोचनप्रायः नेत्रस्थानीयः त्रिलोचनः । श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञं विना लोका न किमपि पश्यन्ति अन्धसदृशा एव भवन्ति, तेन त्रिलोचनः । अथवा त्रिषु भुवनेषु लोचने केवलज्ञान-दर्शने नेत्रे द्वे यस्य स त्रिलोचनः । अथवा जन्मारभ्य मतिश्रुतावधिलक्षणानि लोचनानि नेत्राणि यस्य स त्रिलोचनः । अधिकाङ्गं हीनाङ्गं च मिथ्यात्वकर्मोदयाद्भवति रुद्रस्य तादृशं ललाटे लोचनं भवति, तत्तु न श्लाघ्यम् । उक्तञ्च **कालिदासेन कुमारसम्भवे** महाकाव्ये—

वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु ।
वरेषु यद्बालमृगाक्षि मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ॥

---

१ ज प्रतौ 'इति भट्टाकलंकभाषितम्' इत्यधिक पाठः ।

अथवा त्रिषु मनोवचनकायेषु लोचनं मुण्डनं यस्य स त्रिलोचनः। अथवा त्रिकरणशुद्धं पञ्चमुष्टिभिर्लोचनं केशोत्पाटनं यस्य स त्रिलोचनः। अथवा त्रीणि सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि लान्ति गृह्णन्ति त्रिला महामुनयः, तेषां ओचनः समवायो यस्य स त्रिलोचनः। चकाराधिकारात् क्वचित्पूर्वोऽपि लुप्यते त्रिलशब्दस्यावर्णलोपः (५४)।

उमापतिः पशुपतिः स्मरारिस्त्रिपुरान्तकः।
अर्धनारीश्वरो रुद्रो भवो भर्गः सदाशिवः ॥१०४॥

उमापति.—

तां पार्वतीत्याभिजनेन नाम्ना बन्धुप्रियां बन्धुजनो जुहाव।
उ मेति मात्रा तपसे निषिद्धा पश्चादुमाख्यां सुमुखी जगाम ॥

इति **कालिदासः**। स्वमते तु उमानाम्नी राजकन्या मातुर्दुर्भाग्यदायिका पर्वते परिहृता सा केनचिद् विद्याधरेण लब्धा मम पुत्रीति पोषिता परिणायिता च। तत्र भर्तुर्मरणे विधवा सती रुद्रेणावधृता। सा उमा कथ्यते। तस्याः पतिरीश्वरः उमापतिः। भगवदर्हत्सर्वज्ञस्तु उमायाः कान्तेः कीर्तेश्च पतिः स्वामी उमापतिः। अथवा उः समुद्रः क्षीरसागरः, तस्य तोयं च, उमेरुपर्वतः, एतेषां त्रयाणां उशब्देन लब्धानां मा लक्ष्मीः शोभा उमा, तस्याः पतिरुमापतिः (५५)। **पशुपतिः**—पशूनां सुर-नर-तिरश्चां पतिः स्वामी पशुपतिः। पश्यन्ते कर्मबन्धनैरिति पशवः- [१]अपष्ट्वादित्वादुप्रत्ययान्तो निपातः। पशव इति संसारिणो जीवास्तेषां पतिः प्रभुः पशुपतिः (५६)। **स्मरारिः**—स्मरस्य कन्दर्पस्य अरिः शत्रुः स्मरारिः। प्रसंख्यानपविपावकप्लुष्टानुत्थानमन्मथमदद्रिद्रितरुद्रस्मरविजय इत्यर्थः। (५७)। **त्रिपुरान्तकः**—तिसृणां पुरां जन्मजरामरणलक्षणानां नगराणां अन्तको विनाशकस्त्रिपुरान्तकः। अथवा मोक्षगमनकाले त्रयाणां शरीराणां परमौदारिकतैजसकार्मणनाम्नामन्तको विपरिहारकस्त्रिपुरान्तकः। अथवा त्रिपुरं त्रैलोक्यं तस्यान्ते त्रिजगदग्रे कः आत्मा ज्ञानकायो यस्य स त्रिपुरान्तकः (५८)। **अर्धनारीश्वरः**—अर्धं न विद्यन्ते अरयः शत्रवो यस्य सोऽर्धनारिः घातिसंघातघातनः। स चासावीश्वरः स्वामी अर्धनारीश्वरः (५९)। उक्तञ्च **उमास्वामिना**—मोहक्षयात् ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्। **रुद्रः**—कर्मणां रौद्रमूर्त्तित्वात् रुद्रः, रोदिति आनन्दाश्रूणि मुञ्चति आत्मदर्शने सति रुद्रः। स्फायि-तञ्चि वञ्चि शकि क्षिपि क्षुदि सृदि मदि मन्दि चन्द्यु न्दीदिग्यो रक् (६०)। **भवः**—भवत्यस्माद्विश्वमिति भवः। भगवन्तं यो विराधयति स नरके तिरश्चि वा उत्पद्यते। यो मध्यस्थो भवति स मनुष्यो भवति। यः आराधयति स स्वर्गीभवति। यो ध्यायति स मुक्तो भवति। तेनेयं निरुक्तिः—भवत्यस्माद्विश्वमिति भवः (६१)। **भर्गः**—भ्रस्जि भ्रजी भर्जने इत्ययं धातुः भौवादिकः आत्मनेपदी। भृज्यन्तेऽनेन कामक्रोधादयो ध्यानाग्निना पच्यन्ते भस्मीक्रियन्ते भर्गः। अकर्तरि च कारके संज्ञायां घञ् प्रत्ययः। नामिनश्चोपधाया लघोर्गुणः चजोः कगौ, धुड् धातुबन्धयोः। जस्य गः। अथवा डुधाञ् डुभृञ् धारण-पोषणयोः इत्ययं धातुः आदादिको जुहोत्यादिगणे वर्तते, तेन बिभर्त्ति धारयति केवलज्ञानादीन् गुणानिति भर्गः। अथवा बिभर्त्ति पोषयति स्वर्गमोक्ष-दानेन सुखेन पुष्टान् करोति भव्यजीवानिति भर्गः। सृभृभ्यां गः। उणादौ पञ्चमाध्याये पठितमं सूत्रमिदम् (६२)। **सदाशिवः**—सदा सर्वकालं शिवं परमकल्याणं अनन्तं सुखं वा यस्य सदाशिवः। अथवा सदा सर्वकालं अश्नन्ति दिवारात्रौ च भुञ्जते भोजनं कुर्वन्ति, रात्रिभोजनदोषं न मन्यन्ते, ते सदाशिनः। तेषां वः समुद्रः संसारसागरनिमज्जनं यस्य मते स सदाशिवः। उक्तञ्च **प्रभाचन्द्रगणिना**—

विरूपो विकलाङ्गः स्यादल्पायुः रोगपीडितः।
दुर्भगो दुःकुलश्चैव नक्तभोजी सदा नरः ॥

अपि च—

निजकुलैकमण्डनं त्रिजगदीशसम्पदम् ।
भजति यः स्वभावतस्त्यजति नक्तभोजनम् ॥

अथवा सत् समीचीनं आ समन्तात् शिवं कल्याणपञ्चकं यस्य स सदाशिवः (६३)।

**जगत्कर्ताऽन्धकारातिरनादिनिधनो हरः ।
महासेनस्तारकजिद् गणनाथो विनायकः ॥ १०५ ॥**

जगत्कर्ता—जगतां कर्ता स्थितिविधायकः मर्यादाकारकः जगत्कर्ता। अथवा जगतः कं सुखं इयर्ति गच्छति जानाति जगत्कर्ता । ऋ सृ गतौ, ऋ गतौ वा । तृचादिसिद्धं रूपमिदम् (६४)। **अन्धकारातिः**—अन्धश्चदृग्रहितः सम्यक्त्वविघातकः कः कायः स्वरूपं यस्य स अन्धकः मोहकर्म, तस्यारातिः शत्रुः मूलादुन्मूलकः अन्धकारातिः । अथवा कुत्सितः अन्धः अन्धकारं तधोगान्नरकः अन्धक उच्यते, तस्य अरातिरभिमाति[1]र्नरके पतितुं न ददाति स्वर्गादौ गमयति यः स अन्धकारातिः । अथवा अन्धा घोरान्धकारसहिता यासौ कारा बन्दीगृहं शरीरलक्षणं मातुरुदरं वा, तस्यां न अत्तिर्न गमनं यस्मादसौ अन्धकाराऽत्तिः, अकारस्य प्रश्लेषात् । सर्वधातुभ्य इः इति च लक्षणेन रूपमिदम् (६५)। **अनादिनिधनः** न विद्येते आदिनिधने उत्पत्तिमरणे यस्य स अनादिनिधनः । अथवा अनस्य जीवितस्य आदिर्जन्म तत्पर्यन्तं न्यतिशयेन धनं लक्ष्मीर्यस्य सोऽनादिनिधनः, आजन्मपर्यन्तं लक्ष्मीवान् इत्यर्थः । भगवान् समवसरणे स्थितोऽपि लक्ष्म्या नवनिधिलक्षणया न त्यक्तो यतः (६६)। **हरः**— अनन्तभवोपार्जितानि अघानि पापानि जीवानां हरति निराकरोतीति हरः । अथवा हं हर्षं अनन्तसुखं राति ददाति आदत्ते वा हरः । अथवा राज्यावस्थायां हं सहस्रसरं तरलमध्यगं हारं मुक्ताफलदाम राति वक्षःस्थले दधाति, कण्ठे धरति स हरः । अथवा हस्य हिंसाया रो अग्निदाहक अश्वमेधादियागाधर्मनिषेधक इत्यर्थः (६७)। **महासेनः**—महती द्वादशगणलक्षणा सेना यस्य स महासेनः । राज्यावस्थायां वा महती चतुःसागरतटवनवासिनी सेना चमूर्यस्य स महासेनः । अथवा महस्य पूजाया आ समन्तात् सा लक्ष्मीः शोभा महासा, तस्या इनः स्वामी महासेनः । अथवा महती केवलज्ञानलक्षणोपलक्षिता सा देवी सरस्वती, तस्या इनः स्वामी महासेनः । उक्तञ्च महत्वं सरस्वत्या **दुर्गसिंहेन** कविना—

शब्दात्मिकाया त्रिजगद्विभर्ति स्फुरद्विचित्रार्थसुधां स्रवंती ।
या बुद्धिरीड्या विदुषां हृदब्जे मुखे च सा मे वशमस्तु नित्यम् ॥

अथवा आसनमासः, आस्यतेऽस्मिन्निति वा आसः । अकर्तरि च कारके संज्ञायां घञ् प्रत्ययः । महांश्चासावासः सिंहविष्टरं त्रिमेखलापीठोपरि-स्थितपंचितगन्धकुटीमध्ये स्थितं सिंहासनं महास उच्यते । तदुपरि स्थितो भगवान् इन इव सूर्य इव प्रतिभासते महासेनः (६८)। **तारकजित्**— परमते तारको नाम दैत्यविशेषः, स किल इन्द्रादीन् संतापितवान् । तन्मारणार्थं रुद्रं तपोभ्रष्टं कृत्वा पार्वत्यां कार्त्तिकेयं पुत्रं रुद्रेण जनयित्वा तमिन्द्रः सेनापतिं कृत्वा तारकं मारितवान् । तेन कार्त्तिकेयं तारकजितमाहुर्मिथ्यादृष्टयः । स्वमते तु भगवदर्हत्सर्वज्ञस्तारकजित् । कस्मात् ? तारयन्ति संसारसमुद्रस्य पारं नयन्ति भव्यजीवान् तारका. गणधरदेवानगारकेवलिसूर्युपाध्यायसर्वसाधवः, तान् जितवान्, सर्वेषामप्युपरि बभूव, तेन तारकजिदुच्यते । अथवा तारमत्युच्चैः शब्दः, तं कायन्ति ध्वनन्ति गर्जनं कुर्वन्ति तारका उद्वेलसजलधराः, तान् निजेन ध्वनिना जितवान् तारकजित् । उक्तञ्च **देवनन्दिना** भट्टारकेन ।

ध्वनिरपि योजनमेकं प्रजायते श्रोत्रहृदयहारिगभीरः ।
स सलिलजलधरपटलध्वनितमिव प्रवितताविराशावलयम् ॥

---

१ द अरातिरभिमंतिरभिमंतिर्नरके । २ द पाठोऽयं नास्ति ।

अथवा तारं रूप्यं शुक्लमित्यर्थः । तारवत् रूप्यवत् शुक्लकः परमात्मा, तं जितवान् हस्ते कृतवान् प्राप्तवानिति यावत् । कर्ममलकलङ्करहितं परमात्मानं प्राप्तवानित्यर्थः । अथवा ताडयति आत्मानं ताडको मोहः तं जितवान् तारकजित् । अथवा तालयति मुद्रयति मोक्षपुरद्वारे कपाटरूपतया तिष्ठति तालकोऽन्तरायः पञ्चप्रकारः, तं जितवान् मूलादुन्मूलितवान् तारकजित् । अथवा हस्ततालं दत्त्वा श्मशाने नृत्यति तालको रुद्रः, तं जयति निजपादाक्रान्तं करोति तारकजित् (६९) । **गणनाथः**—परमते दण्डी वामन इत्यादयो रुद्रगणास्तेषां नाथो रुद्रः गणनाथः । स्वमते गणस्य द्वादशभेदसंघस्य नाथः स्वामी गणनाथः । अथवा गणे संख्यायां नाथः समर्थः गणनाथः, अचलात्मकपर्यन्तगणितशास्त्रे समर्थ इत्यर्थः । अथवा नाथृ नाधृ उपतापैश्वर्याशीःषु च इति धातुयोगात् गणसंघं नाथते ऐश्वर्यं ददाति आशीर्विषयं वा करोति गणनाथः । अथवा गणनायां मुख्यत्वे तिष्ठति गणनाथः । संज्ञाशब्दानां व्युत्पत्तिस्तु यथाकथञ्चित् इति वचनात् । आतोऽनुपसर्गात्कः, आलोपोऽसार्वधातुके । आकारलोपः सकारलोपश्च (७०) । **विनायकः**—विशिष्टानां गणीन्द्र-सुरेन्द्र-नागेन्द्र-नरेन्द्र-विद्याधरचारणादीनां नायकः स्वामी विनायकः । अथवा विगतो नायको यस्य स विनायकः सर्वेषां प्रभुरित्यर्थः । अथवा वैर्गरुडस्य नायकः विनायकः, संसारविषनिःसूदकत्वात् । (७१) ।

विरोचनो वियद्रत्नं द्वादशात्मा विभावसुः ।
द्विजाराध्यो बृहद्भानुश्चित्रभानुस्तनूनपात् ॥१०६॥

विरोचनः—विशिष्टं रोचनं क्षायिकं सम्यक्त्वं यस्य स विरोचनः । अथवा विशिष्टं लोकालोकप्रकाशनं लोचनं केवलज्ञानलक्षणं चक्षुर्यस्य स विरोचनः । अथवा विगतो रोचनः कूष्माण्डमालिर्यस्मादसौ विरोचनः, नरकदुःखनिवारक इत्यर्थः । अथवा विशिष्टा रोचना उत्तमा स्त्री मुक्तिवनिता यस्य स विरोचनः । अथवा विगतं रोचनं संसारप्रीतिर्यस्य स विरोचनः । अथवा विशिष्टं रोचनं दीप्तिर्यस्य स विरोचनः । अथवा विरूपिका जिनपूजाया विरुद्धा रोचना गोपित्तं यस्य स विरोचनः । अथवा विशेषेण रोचते शोभते विरोचनः नियमरणमाधुरत्वात् (७२) । **वियद्रत्नम्**—वियतः आकाशात् रत्नं रत्नवृष्टिर्यस्य यस्माद्वा दातुर्गृहे वियद्रत्नम् । अथवा वियतः आकाशस्य रत्नं अन्तरिक्षचारित्वात् । अथवा वियतस्तनुवातवातवलयस्य रत्नं भविष्यति वियद्रत्नम् । अथवा विशिष्टं यन्तो गच्छन्तो मन्दगमना महामुनयस्तेषु रत्नं स्वजात्युत्तमः (७३) । उक्तञ्च—

मद्दंगमणं सोम्मं च भासणं कोह-लोहपरिहरणं ।
इंदियदप्पुद्दलणं समणाणं विहूसणं एयं ॥

द्वादशात्मा—द्वादशानां गणानामात्मा जीवप्रायः द्वादशात्मा । अथवा द्वादश अङ्गानि आत्मा स्वभावो यस्य स द्वादशात्मा । अथवा द्वादश अनुप्रेक्षा आत्मनि छद्मस्थावस्थायां यस्य स द्वादशात्मा (७४) । **विभावसुः**—कर्मेन्धनदहनकारित्वात् विभावसुः अग्निरूपः । मोहान्धकारविघटनपटुत्वात् विभावसुः सूर्यः । लोकलोचनामृतवर्षित्वाद्विभावसुश्चन्द्रः । कर्मसृष्टिप्रलयकारित्वाद् विभावसुः रुद्रः । आत्मकर्मबन्धसंविभेदकत्वाद् विभावसुर्भेदज्ञानरूपः । विभा विशिष्टं तेजो वसु धनं यस्य स विभावसुः, केवलज्ञानधन इत्यर्थः । अथवा विशिष्टया भया दीप्त्या युक्तानि वसूनि रत्नानि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि यस्य स विभावसुः । अथवा विभा विगततेजस्का आ समन्ताद् वसवो देवविशेषा यस्य स विभावसुः । यादृशो घातिक्षयजस्तेजःसमूहो भगवति वर्तते,, न तादृशोऽन्यदेवे वर्तत इत्यर्थः । अथवा विशिष्टां भां दीप्तिं अवति रक्षति विभावा । ईदृशी सूर्जननी यस्य स विभावसुः । पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्पूरण्यादिषु स्त्रियां तुल्याधिकरणे इति विभावा शब्दस्य पुंवद्भावत्वाद् ह्रस्वत्वं । अथवा विभावं रागद्वेषमोहादिपरिणामं विनाशयति विभावसुः । षोऽन्तकर्मणि इति धातुः । सर्वधातुभ्यः उः । आलोपोऽसार्वधातुके (७५) । **द्विजाराध्यः**—द्विजानां मुनीनामाराध्यो द्विजाराध्यः, जैनब्राह्मणैराराध्यो न तु कर्मचाण्डालैरक्षरम्लेच्छापरनामभिः । अथवा द्विजा विप्रक्षत्रियवैश्या द्विजशब्देन सम्यग्दृष्टयो लभ्यन्ते, तैराराध्यः । तथा चोक्तं जिनसेनदेवैः—

अक्षत्रियाश्च वृत्तस्थाः क्षत्रिया एव दीक्षिताम् ।
यतो रत्नत्रयायत्तजन्मना तेऽपि तद्गुणाः' ॥

तेन मुनिभ्यः शेषा गृह्यत इति तात्पर्यम् । अथवा द्विजैः पक्ष्यादिभिराराध्यः । उक्तञ्च पूज्यपादैः—

येनार्ध्वश्रृंगगिरिनारगिरा विनापि,
नेमिः स्तुतोऽपि पशुनापि गिरा विनापि ।
कन्दर्पदर्पदलनः क्षतमोहतान-
स्तस्य श्रियो दिशतु नः क्षतमोहतानः ॥

अथवा द्विजा ब्राह्मणा आरो मङ्गलः शनैश्चरश्च द्विजाराः, तेषामाधिर्मानसी पीडा तस्यां साधुर्मानस-दुःखनिवारकः द्विजाराध्यः । यदुगवादितः । ईदृशो भगवान् यत् शनैर्मङ्गलग्रहस्यापि मनःपीडां निषेधति, सर्वे ग्रहा अपि स्वामिनः शरणं प्रविशन्ति, स भगवांस्तेषां दुःखं निवारयति । अथवा द्विजानां दन्तानामुपरि दन्तान् धृत्वा योगिजना भगवन्तमेकाग्रतया ध्यायन्ति द्विजाराध्यः । स द्विजो यो न जन्मवान् इति निरुक्तः (७६) । **बृहद्भानुः**— बृहतः अलोकस्यापि अपर्यन्तकस्यापि व्यापिनो भानवः केवलज्ञानकिरणा यस्य स बृहद्भानुः । वृषभ देव बलकल पल भा इति अलंतनिपाताः । अथवा भाति शोभते भानु दिनम् । दाभारी-वृन्भ्यो नुः । तेनायमर्थः— बृहत् महत्तरो भानुर्दिनं पुण्यं यस्य स बृहद्भानुः । तीर्थकरनामलक्षणमहा-पुण्ययुक्त इत्यर्थः । अथवा बृहन्महान् लोकालोकप्रकाशको भानू रवि बृहद्भानुः । अथवा बृहद्भानुर्वैश्वा-नरः, पापकर्मदाहकः पावकश्चेत्यर्थ. (७७) । **चित्रभानुः**—चित्रा विचित्रास्त्रैलोक्यलोकचित्तचमत्कार-कारिणो विश्वप्रकाशकत्वाद् भानवः केवलज्ञानकिरणा यस्य स चित्रभानुः । अथवा चित्रा आश्चर्यजनका भानवो दिनानि पुण्यानि यस्य स चित्रभानुः । अथवा चित्रेण आश्चर्येण युक्तो भानुः सूर्यो यत्र स चित्रभानुः, भानोरधिकतेजस्कत्वात् (७८) । **तनूनपात्**— तनूं कायं न पातयति छद्मस्थावस्थायां नियत-वृत्तानुपवासान् कृत्वापि लोकानां मार्गदर्शनार्थं पारणां करोति तनूनपात् । केवलज्ञाने उत्पन्ने तु भगवान् कवलाहारं न गृह्णात्येव, तद्ग्रहणे मोहसद्भावात् । उक्तञ्च जिनसेनदेवैः[2]—

न भुक्तिः क्षीणमोहस्य तवानन्तसुखोदयात् ।
क्षुत्क्लेशबाधितो जन्तुः कवलाहारभुग्भवेत् ॥
असद्वेद्योदयाद् भुक्तिं त्वयि यो योजयेदधीः ।
मोहानिलप्रतीकारे तस्यान्वेष्यं जरद्घृतम् ॥
असद्वेद्यविषं घातिविध्वंसध्वस्तशक्तिकम् ।
त्वय्यकिञ्चित्करं मन्त्रशक्त्येवाऽपबलं विषम् ॥
असद्वेद्योदयो घातिसहकारिव्यपायतः ।
त्वय्यकिञ्चित्करो नाथ सामग्र्या हि फलोदयः[3] ॥

अथवा तनूनपात् भगवान् मुक्तिगतो यदा भविष्यति तदा तनोः परमौदारिकचरमशरीरात् किञ्चिदून-शरीराकारं निजसिद्धपर्यायाकारं भव्यजीवान् पातयति ज्ञापयतीति तनूनपात् (७९) ।

द्विजराजः सुधाशोचिरौषधीशः कलानिधिः ।
नक्षत्रनाथः शुभ्रांशुः सोमः कुमुदबान्धवः ॥१०७॥

द्विजराजः—द्विजानां विप्रक्षत्रियवैश्यानां राजा स्वामी द्विजराजः । तर्हि शूद्राणां स्वामी किं न भवति ? भवत्येव, ते तु वर्णत्रयस्य शुश्रूषकाः, तेषां सह लग्नानां विशेषेण स्वामी । अथवा द्वौ वारावु-

१ महापुराण पर्व ४२ श्लोक २८ । २ ज सेनपादैः । ३ महापुराण पर्व २५ श्लोक ३९-४२ ।

त्कृष्टतया संसारे जायन्त उत्पद्यन्ते द्विजा अहमिन्द्रविशेषाः, विजयादिषु द्विचरमा इति सूत्रकारवचनात् । तेषां राजा द्विजराजः । अथवा द्वे च ते जरे वार्धिक्ये द्विजरे, वलित-पलितलक्षणे; ते द्वे अपि जरे द्विप्रकारे अपि जरे न जायेते नोत्पद्येते यस्य स द्विजराजः । भगवति जीवितपर्यन्तेऽपि न वलयः त्वक् संकोचाः, न पाण्डुरकेशाः शिरसि जायन्ते, इति भगवान् द्विजराजः । अथवा द्विजरो जराजीर्णः उर्वशीवेश्यायां च वलितचित्तो विकलबुद्धित्वात् द्विजरोऽजो ब्रह्मा यस्य स द्विजराजः । इयं व्युत्पत्तिस्तु लोकसिद्धान्तानुसारिणी ज्ञातव्या, ब्रह्मणो जैनशासनेऽभावात् । तदुक्तम्—

आत्मनि मोक्षे ज्ञाने वृत्ते ताते च भरतराजस्य ।
ब्रह्मेति गीः प्रगीता न चापरो विद्यते ब्रह्मा[1] ॥

अथवा द्वयोः स्त्रीपुरुषयोः संयोगे सति जायते उत्पद्यते द्विजः कन्दर्पः । तं राति गृह्णन्ति ये ते द्विजराः हरिहरहिरण्यगर्भाः, तान् अजति क्षिपति तन्मतं निराकरोतीति द्विजराजः (८०) । **सुधाशोचिः**—सुधावत् अमृतवत् लोचनसौख्यदायकं शोची रोचिर्यस्य स सुधाशोचिः (८१) । **औषधीशः**—औषधीनां जन्म-जरामरणनिवारणभेषजानां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपसामधीशः स्वामी औषधीशः, जन्मजरामरणनिवारणक इत्यर्थः । शरीरिणां शरीररोगाणामपि निर्मूलने समर्थ इत्यर्थः । अथवा उपस्य शरीरदाहस्य धीः बुद्धिरोपधीः दहनप्रवेशादिबुद्धिः स्त्रीणां मृतपुरुषेण सह गमनं छुरिकोदरविदारणं गलपाशेन मरणं कूपवापीनदीतडागादिपातः करपत्रदानादिनाऽऽत्महननं सर्वमपि दुर्मरणं औपधीरुच्यते । तां श्यति तनूकरोतीति औषधीशः, आत्मघातनिषेधक इत्यर्थः । उक्तञ्च संहितायां चत्वारिंशत्तमेऽध्याये—

असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तां ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

आतोऽनुपसर्गात्कः । अथवा ओषधिया तपश्चरणादिना कर्मदाहधिया शं सुखं यस्य मते स औषधीशः (८२) । **कलानिधिः**— कलानां द्वासप्ततिसंख्यानां लोके प्रसिद्धानां निधिर्निधानभूतः कलानिधिः । कास्ताः द्विसप्ततिकला इति चेदुच्यते— गीत[1]-वाद्य[2]-बुद्धि[3]-शौच[4]-नृत्य[5]-वाच्य[6]-विचार[7]-मन्त्र[8]-वास्तु[9]-विनोद[10]-नेपथ्य[11]-विलास[12]-नीति[13]-शाकुन[14]-क्रीडनक[15]-चित्र[16]-संयोग[17]-हस्तलाघव[18]-कुसुम[19]-इन्द्रजाल[20]-सूचीकर्म[21]-स्नेह[22]-पाना[23]-हार[24]-विहार[25]-सौभाग्य[26]-गन्ध[27]-वस्त्र[28]-रत्न[29]-पत्र[30]-वैद्य[31]-देशभाषित[32]-विजय[33]-वाणिज्या[34]-युध[35]-युद्ध[36]-नियुद्ध[37]-समय[38]-वर्तन[39]-गज[40]-तुरङ्ग[41]-पुरुष[42]-स्त्री[43]-पक्षि[44]-भूमि[45]-लेप[46]-काष्ठ[47]-शिल्प[48]-वृक्ष[49]-छद्म[50]-प्रश्न[51]-उत्तर[52]-शास्त्र§[53]-शस्त्र[54]-गणित[55]-पठन[56]-लिखित[57]-वक्तृत्व[58]-कवित्व[59] कथा[60]-वचन[61]-व्याकरण[62]-नाटक[63]-छन्दो[64]ऽलंकार[65]-दर्शना[66]वधान[67]-धातु[68]-धर्मा[69]र्थ[70]काम[71]-शरीरकला[72]श्चेति । अथवा कलानिधिः—कं परमब्रह्म आत्मानं लान्ति ददति स्फुटीकुर्वन्ति यास्ताः कला द्वादशानुप्रेक्षा वैराग्यादिभावना वा, तासां निधिरक्षयस्थानं कलानिधिः । अथवा कलानां मधुरालापानां आ समन्तात् चतुर्दिक्षु निधिः प्रश्नोत्तरवादीत्यर्थः (८३) । **नक्षत्रनाथः**— नक्षत्राणां अश्विनीत्यादीनां नाथः स्वामी नक्षत्रनाथः । अथवा नक्षत्रात् अन्यायात् नाथ उपतापः संतापः संसारपर्यटनं यन्मते स नक्षत्रनाथः । नाथृ नाधृ उपतापैश्वर्याशीःषु च । अथवा णक्ष सक्ष यक्ष गतौ इतिधातोः प्रयोगात् नक्षणं नक्षः, गतिरित्यर्थ । सर्वे गत्यर्था धातवो ज्ञानार्था भवन्ति, तेन नक्षं ज्ञानं त्रायन्ते पालयन्ति स्वीकुर्वन्ति नक्षत्राः महामुनयो ज्ञानिन इत्यर्थः । नक्षत्राणां ज्ञानिनां नाथः स्वामी नक्षत्रनाथः (८४) । **शुभ्रांशुः**—शुभ्रा उज्ज्वलाः कर्ममलकलङ्करहिताः अंशवः केवलज्ञानकिरणा यस्य स शुभ्रांशुः । अथवा शुभ्राश्चण्डदीधितिसमाना दीप्तिमन्तः अंशवः सूक्ष्मांशा आत्मप्रदेशा यस्य स शुभ्रांशुः, लोकालोकप्रकाशकात्मप्रदेश इत्यर्थः । अथवा शुभ्रा उज्ज्वलाः पापरहिता अंशव इव अंशवः शिष्याः यस्य स शुभ्रांशुः । तत्र केचिद् गणधरदेवाः, केचित् श्रुतज्ञानिनः, केचित् पूर्व-

१ यशस्ति० ६, पृ० २६६ । † द वै । § द पाठोऽयं नास्ति ।

धराः, केचित् शिक्षकाः, केचिदवधिज्ञानिनः, केचित् केवलज्ञानिनः, केचिद्विक्रियर्द्धिसहिताः, केचिन्मनःपर्ययज्ञानिनः, केचिद् वादिनः । एते सर्वेऽपि भगवद्भास्करस्य किरणसदृशाः शुभ्रांशव उच्यन्ते (८५) । **सोमः**—सूते उत्पादयति अमृतं मोक्षं सोमः । सूयते मेरुमस्तके अभिषिच्यते वा सोमः । अर्त्ति हु सु धृक्षि-क्षीपदमायास्तुभ्यो मः । अथवा सा लक्ष्मीः सरस्वती च, ताभ्यां उमा कीर्तिर्यस्य स सोमः । अथवा सह उमया कान्त्या वर्तते यः स सोमः (८६) । **कुमुदबान्धवः**—कुमुदानां भव्यकैरवाणां बान्धव उपकारकः मोक्षप्रापकः कुमुदबान्धवः । अथवा कुषु तिसृषु पृथ्वीषु मुदो हर्षो येषां ते कुमुदा इन्द्र-नरेन्द्र-धरणेन्द्राः, तेषां बान्धव उपकारकः कुमुदबान्धवः । अथवा कुत्सिते अश्वमेधादिहिंसाकर्मणि मुद् हर्षो येषां ते कुमुदः, तेषामबान्धवः, तन्मतोच्छेदकः कुमुदबान्धवः (८७) ।

लेखर्षभोऽनिलः पुण्यजनः पुण्यजनेश्वरः ।
धर्मराजो भोगिराजः प्रचेता भूमिनन्दनः ॥१०८॥

लेखर्षभः—रिषि-ऋषी गतौ तुदादौ परस्मैपदी धातुः, तेन ऋषति गच्छतीति ऋषभः । ऋषि-वृषिभ्यां यण्वत् इति उणादिसूत्रेण अत्र अभः प्रत्ययः । स च यण्वत्, तेन गुणो न भवति । लेखेषु देवेषु ऋषभः श्रेष्ठो लेखर्षभः, देवानां मध्ये उत्तमो देव इत्यर्थः (८८) । **अनिलः**—न विद्यते इला भूमिर्यस्य स अनिलः, त्यक्तराज्यत्वात् उर्ध्वान्तरिक्षचारित्वाद्वा तनुवातवातवलये निराधारः स्थास्यतीति वा अनिलः । अथवा न विद्यते इरा वाग् यस्य स अनिलः । अथवा न विद्यते इरा मद्यं यस्य मते स अनिल , रलयोरैक्यं, श्लेषत्वात् (८६) । **पुण्यजनः**—पुण्याः पवित्राः पापरहिता जनाः सेवका यस्य स पुण्यजनः पुण्यजननो वा पुण्यजन , अन्तर्गर्भितार्थमिदं नाम, पुण्यं जनयतीति पुण्यजन इति भाव. (६०) । **पुण्यजनेश्वरः**—पुण्यवत्पुरुषाणां ईश्वर पुण्यजनेश्वरः, पुण्यजनानां राक्षसेन्द्राणां सज्जनानां पंचाश्चर्यकारकगुह्यकानां वा ईश्वरः स्वामी पुण्यजनेश्वरः । कानि तानि पञ्चाश्चर्याणीति चेदुच्यते (६१) । उक्तञ्च—

सुरयण साहुकारो गंधोदग-रयण-पुप्फविट्ठीओ ।
तह दुंदुहीणिग्घोसो पंचच्छरिया मुणेयव्वा ॥

धर्मराजः—धर्मस्य अहिंसालक्षणस्य चारित्रस्य रत्नत्रयस्य उत्तमक्षमादेश्च राजा स्वामी धर्मराजः । अथवा धर्मार्थो रो अग्नि. पशुहोमनिमित्तः गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्निसंज्ञो येषां ते धर्मरा. ब्राह्मणास्तानजति क्षिपति निराकरोतीति धर्मराजः (६२) । **भोगिराजः**—भोगिनां नागेन्द्रादिदेवानां राजा भोगिराजः । अथवा भोगिनां दशाङ्गभोगयुक्तानां चक्रवर्तिनां राजा भोगिराजः (६३) । के ते दशाङ्गभोगा इति चेदुच्यते—

सरत्ना निधयो देव्यः पुरं शय्यासने चमूः ।
भाजनं भोजनं नाट्यं भोगास्तस्य दशांगकः ॥

प्रचेताः—प्रकृष्टं सर्वेषां दुःखदारिद्र्यनाशनपरं चेतो मनो यस्य स प्रचेताः । अथवा प्रगतं प्रणष्टं चेतो मनोव्यापारो यस्य स प्रचेताः, सङ्कल्प-विकल्परहित इत्यर्थः । (६४) । **भूमिनन्दनः**—भूमीनां अधोमध्योर्ध्वलक्षणत्रैलोक्यलोकान् नन्दयति समृद्धिदानेन वर्धयतीति भूमिनन्दनः । नन्दि वसि मदि दूषि-साधिशोवर्द्धिभ्य इन्नन्तेभ्यः संज्ञायां युः, नंद्यादेर्युः । त्रिजगदानन्दकारक इत्यर्थः (६५) ।

सिंहिकातनयश्छायानन्दनो बृहतांपतिः ।
पूर्वदेवोपदेष्टा च द्विजराजसमुद्भवः ॥१०६॥

सिंहिकातनयः—सिंहिका त्रिजगन्नयनशीला सिंहिका तीर्थंकरजननी, तस्यास्तनयः पुत्रः सिंहिकातनयः । राहुवत्पापकर्मसु क्रूरचित्तत्वाद्वा सिंहिकातनयः (६६) । **छायानन्दनः**—छायां शोभां नन्दयति

वर्धयति छायानन्दनः । अथवा छायायां अशोकतरुच्छायायां त्रैलोक्यलोकं सेवायां मिलितं नन्दयति आनन्दितं शोकरहितं च करोति छायानन्दनः । अथवा छाया निजशरीरप्रतिबिम्बं अनातपं च न नन्दयति, अछायत्वात् छायानन्दनः । अथवा छाया अर्कभार्या, तत्प्रभृतिका सर्वापि स्त्री नन्दना पुत्री यस्य स छायानन्दनः । अथवा छायाप्रभृतिकानां सर्वासां स्त्रीणां नन्दनः पुत्रश्छायानन्दनः । अथवा छायां सर्वप्राणिप्रतिपालनं कान्तिं च नन्दयति छायानन्दनः । अथवा छायां अन्धकारं न नन्दति, न तिष्ठति यस्मिन् स छायानन्दनः (९७) । उक्तञ्च—

> शोभा तमोऽर्कभार्यायां प्रतिमापंक्त्यनातपे ।
> कान्तौ च पालने चैवोत्कोचे छाया प्रवर्त्तते ॥

बृहतांपतिः—बृहतां सुरेन्द्र-नरेन्द्र मुनीन्द्राणां पतिः स्वामी बृहतांपतिः । तत्र बृहस्पतेः किमुच्यते ? अत्र अलुक् समासः । क्वचिद् विभक्तयो न लुप्यंत इति वचनात् (९८) । **पूर्वदेवोपदेष्टा**—पूर्वदेवानामसुरदीनामुपदेष्टा संक्लेशपरिणामनिषेधकः पूर्वदेवोपदेष्टा । अथवा पूर्वैश्चतुर्दशपूर्वैः श्रुतज्ञानार्थविशेषैः देवानां सौधर्मैशान-सनत्कुमारमाहेन्द्र-ब्रह्मब्रह्मोत्तर-लान्तवकापिष्ट-शुक्रमहाशुक्र-शतारसहस्रारानतप्राणतारणाच्युतान्तानां समवसरणस्थितानां भवनवासि-व्यन्तर-ज्योतिष्क कल्पोपपन्नानां पूर्वदेवानामुपदेष्टा गुरुः । तर्हि अहमिन्द्राणां नवग्रैवेयक-नवानुदिश-पञ्चानुत्तराणां किमुपदेष्टा न भवति ? भवत्येव, यतस्ते स्थानस्थिता एव भगवद्वचनानि शृण्वन्ति, न समवसरणे समागच्छन्ति तेन कारणेन पूर्वेषामेवोपदेष्टा भगवान् कथ्यते । अथवा पूर्वं प्रथमतः देवानि पञ्चेन्द्रियाणि तेषामुपदेष्टा पञ्चेन्द्रियविषयव्यावृत्तिनिषेधकर्त्ता पूर्वदेवोपदेष्टा । अथवा पूर्वदेवा गणधरदेवाः श्रुतज्ञानधरश्चेत्यादयो निर्ग्रन्थास्तेषामुपदेष्टा धर्मकथकोऽधर्मनिषेधकश्च पूर्वदेवोपदेष्टा । अथवा पूर्वाभिमुखः स्थितः सन् देवश्चासावुपदेष्टा पूर्वदेवोपदेष्टा (९९) । **द्विजराजसमुद्भवः**—द्विजानां राज्ञां च समुत् सहर्षः भवो जन्म यस्य स द्विजराजसमुद्भवः । लौकिकव्युत्पत्तिस्त्वेवं-द्विजराजश्चन्द्रस्तस्मात्समुद्भवो जन्म यस्य स द्विजराजसमुद्भवो बुधः । स्वमते तु द्विजेषु मुनिषु राजन्ते द्विजराजानि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि, तेभ्यः समुद्भवो जन्म यस्य स द्विजराजसमुद्भवः, रत्नत्रययोनिः, अयोनिसम्भव इत्यर्थः (१००) ।

इति सूरिश्रीश्रुतसागरविरचितायां जिनसहस्रनामटीकायां ब्रह्मशतनामाष्टमोऽध्यायः समाप्तः ।

—:o:—

अथ नवमोऽध्यायः

> शब्दश्लेषग्रन्थिप्रभेदनो जैनसन्मते निपुणः ।
> विद्वज्जनमान्यतमो जयति श्रुतसागरो वीरः ॥
> विद्यानन्द्यकलङ्क-गौतम-महावीर-प्रभाचन्द्रवाक् ,
> लक्ष्मीचन्द्र-समन्तभद्र-जिनसेनाचार्यवर्याश्च[1] ये ।
> श्रीमन्मल्लिमुनीन्द्रभूषणयतिः श्रीकुन्दकुन्दप्रभुः
> श्रीश्रीपाल-सुपात्रकेसरियुताः कुर्वन्तु मे मङ्गलम् ॥
> अथ शुद्धशते टीकां करोमि वीरं जिनेन्द्रमभिवन्द्य ।
> शृण्वन्तु मोक्षमार्गं यियासवो भव्यनव्यतराम् ॥

[1] स० प्रे० वर्यपेयः ।

बुद्धो दशबलः शाक्यः षडभिज्ञस्तथागतः।
समन्तभद्रः सुगतः श्रीघनो भूतकोटिदिक् ॥ ११० ॥

ॐ नमः। बुद्धः—बुद्धिः केवलज्ञानलक्षणा विद्यते यस्य स बुद्धः। प्रज्ञादित्वाण्णः। अथवा बुध्यते जानाति सर्वमिति बुद्धः। मनुबन्धमतिबुद्धिपूजार्थेभ्यः क्तः। वर्तमाने क्तप्रत्ययः (१)। दशबलः—बौद्धमताभिप्रायेण दश बलानि यस्य स दशबलः। कानि तानि दशबलानीति चेदुच्यते—

दानं शीलं क्षान्ति वीर्यं ध्यानं च शान्तिमपि च बलम्।
प्राहुरुपायं सुधियः प्रणिधानं ज्ञानमिति च दश॥

स्वमते उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि दश लक्षणानि धर्माणाम्। इत्युक्तानां दशानां बलं सामर्थ्यं यस्य स दशबलः। अथवा दौ दया बोधश्च, ताभ्यां सबलः समर्थौ दशबलः, श्लेषत्वात्स-शयोर्न भेदः (२)। शाक्यः—परमते शकेषु जातः शाक्यः, बुद्धावतारः। बुद्धस्य किल एते-ऽवताराः—एकः शाक्यमुनिर्बुद्धावतारः। शाक्यश्चासौ मुनिः शाक्यमुनिः। शकोऽभिजनोऽस्य शाक्यः। शण्डिकादिभ्यो ञ्यः। यथा शण्डिका अभिजनोऽस्य शाण्डिक्यः, तथा शकाभिजनोऽस्य शाक्यः। द्वितीयो-वतारः शाक्यसिंहः, सिंह इव शाक्यः शाक्यसिंहः। उपमितं व्याघ्रादिभिरिति समासः। भीमसेनो यथा भीमः कथ्यते, सत्यभामा यथा भामा कथ्यते, तथा शाक्यमुनिः शाक्य उच्यते। तृतीयोऽवतारः सर्वार्थसिद्धः—सर्वार्थेषु सिद्धो निष्पन्नः सर्वार्थसिद्धः। चतुर्थोऽवतारः शौद्धोदनि.। शुद्धोदनस्य राज्ञोऽपत्यं शौद्धोदनिः। इणतः। गौतमो गोतमगोत्रावतारात् पञ्चमोवऽतारः। षष्ठोऽर्कबन्धुरवतारः अर्कबन्धुः, सूर्यवंशत्वात्। सप्तमोऽवतारो मायादेवीसुतः। स्वमते शक्नोतीति शकः, तीर्थकृत्पिता। शकस्यापत्यं पुमान् शाक्यः। अथवा अक अग कुटिलायां गतौ, भ्वादौ परस्मैपदी। अकनं आकः केवलज्ञानम्, शं सुखं अनन्तसौख्यम्। शं च आकश्च शाकौ, तयोर्नियुक्तः शाक्यः। यद्गवादितः (३)। षडभिज्ञः—बौद्धमते दिव्यं चक्षुर्दिव्यं श्रोत्रं पूर्वनिवासानुस्मृतिः परचित्तज्ञानं आस्रवक्षयः ऋद्धिश्चेति षट् अभिज्ञा यस्य स षडभिज्ञः। स्वमते षट् जीव-पुद्गलधर्माधर्मकालाकाशान् षड्द्रव्यसंज्ञान् पदार्थान् अभिसमन्तात् जानातीति षडभिज्ञः (४)। तथा-गतः—तथेति सत्यभूतं गतं ज्ञानं यस्य स यथागतः (५)। समन्तभद्रः—समन्तात् सर्वत्र भद्रं कल्याणं यस्य स समन्तभद्रः। अथवा समन्तं सम्पूर्णं स्वभावं भद्रं शुभं यस्य स समन्तभद्रः (६)। सुगतः—शोभनं गतं मन्दगमनं यस्य स सुगतः। अथवा सुष्ठु शोभनं गतं केवलज्ञानं यस्य स सुगतः। अथवा सुगा सुगमना अग्रेऽग्रे गामिनी ता लक्ष्मीर्यस्य स सुगतः (७)। श्रीघनः—श्रिया लक्ष्म्या घनो मेघ, कनकव-र्षित्वात् श्रीघनः। अथवा श्रिया लक्ष्म्या केवलज्ञानादिलक्षणया निर्वृतः श्रीघनः (८)। भूतकोटि-दिक्—भूतानां प्राणिनां कोटीरनन्तजीवान् दिशति कथयति मुक्तिं गतेष्वपि अनन्तजीवेषु संसारे अनन्ता-नन्तजीवाः सन्तीति, न कदाचिदपि जीवराशिक्षयो भवतीति शिक्षयति भूतकोटिदिक्। उक्तञ्च—

जइया होहिसि पिच्छा जिणागमे अत्थि उत्तरं तइया।
एक्क[1]निगोदसरीरे भागाणंतं खु सिद्धिगया॥

अथवा भूतानां अतीतानां भवान्तराणां कोटीरनन्तभवान्तराणि दिशति कथयति भूतकोटिदिक्। अथवा भूतान् जीवान् कोटयति कुटिलान् कुर्वन्ति मिथ्यात्वं कारयन्ति भूतकोटिनो जिमिनि-कपिल-कणचर-चार्वाक-शाक्याः। तान् दिशति भेदान्तर्भेदान् कथयति भूतकोटिदिक्। अथवा भूतकोटीनां दिक् विश्रामस्थानं भूतकोटिदिक्। अथवा भूतानां जीवानां कोटिं परमप्रकर्षं अनन्तज्ञानादिगुणातिशयं दिशति भूतकोटि-दिक् (९)।

---

[1] ज एक०।

सिद्धार्थो मारजिच्छास्ता क्षणिकैकसुलक्षणः ।
बोधिसत्त्वो निर्विकल्पदर्शनोऽद्वयवाद्यपि ॥१११॥

सिद्धार्थः—सिद्धाः प्राप्तिमागता अर्था धर्मार्थकाममोक्षाश्चत्वारो यस्य स सिद्धार्थः । अथवा सिद्धानां मुक्तात्मनामर्थः प्रयोजनं यस्य स सिद्धार्थः; सिद्धपर्यायादपरं प्रयोजनं किमपि भगवतो न वर्तते इत्यर्थः । अथवा सिद्धा विदुषां प्रसिद्धिं गताः अर्था जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षपुण्यपापलक्षणा नव पदार्थाः यस्मादसौ सिद्धार्थः । अथवा सिद्धो अर्थो हेतुर्मोक्षकारणं रत्नत्रयं यस्य स सिद्धार्थः (१०) । **मारजित्**—मारं कन्दर्पं जितवान् मारजित् । बौद्धमतानुसारेण तु स्कन्धमारः क्लेशमारो मृत्युमारो देवपुत्रमारश्चेति चतुरो मारान् जितवान् मारजित् । अथवा मां लक्ष्मीं इयूति[1] गच्छन्ति माराः । अथवा मा लक्ष्मीरारात्समीपे येषां ते माराः सुरेन्द्र-नागेन्द्र-नरेन्द्र-मुनीन्द्रास्तान् जितवान्, निजपादयोर्नामितवान् मारजित् (११) । **शास्ता**—शास्ति विनेयजनान् धर्मं शिक्षयति शास्ता (१२) । **क्षणिकैकसुलक्षणः**—सर्वे उर्वीपर्वतसर्वादयः पदार्था एकस्मिन् क्षणे एकस्मिन् समये उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यत्रयेण युक्ताः क्षणिकाः, ईदृशं वचनं एकमद्वितीयं शोभनं लक्षणं सर्वज्ञत्वलाञ्छनं यस्य स क्षणिकैकसुलक्षणः (१३) उक्तञ्च **समन्तभद्रस्वाम्याचार्येण**—

स्थितिजननिरोधलक्षणं चरमचरं च जगत्प्रतिक्षणम् ।
इति जिन सकलज्ञलाञ्छनं वचनमिदं वदतांवरस्य ते ॥

बोधिसत्त्वः- रत्नत्रयपरिप्राप्तिर्बोधिः ; बोधेः सत्त्वं विद्यमानत्वं अस्तित्वं सत्तारूपतया सर्वेषु प्राणिषु शक्तिरूपतया विद्यते यस्य मते स बोधिसत्त्वः । अथवा निःक्रमणकल्याणावसरे बोधेर्वैराग्यस्य सत्त्वं समीचीनत्वं यस्य स बोधिसत्त्वः (१४) । **निर्विकल्पदर्शनः**- निर्विकल्पं क्षणविनश्वरत्वं निर्विचारतया दर्शनं मते यस्य बुद्धस्य स बुद्धो निर्विकल्पदर्शनः । स्वमते तु निर्विकल्पं अविशेषं सत्तावलोकनमात्रं दर्शनं यस्य स निर्विकल्पदर्शनः । उक्तञ्च—

सत्तालोचनमात्रमित्यपि निराकारं मतं दर्शनं
साकारं च विशेषगोचरमिति ज्ञानं प्रवादीच्छया ।
ते नेत्रे[2] क्रमवर्तिनी सरजसां प्रादेशिके सर्वतः,
स्फूर्जन्ती युगपत्पुनर्विरजसां युष्माकमङ्गातिगाः[3] ॥

अथवा निर्विकल्पानि विचाररहितानि दर्शनानि अपरमतानि यस्य स निर्विकल्पदर्शनः । तथा चोक्तं **सोमदेवेन सूरिणा**—

[4]अन्तर्दुरन्तसंचारं बहिराकारसुन्दरम् ।
न श्रद्दध्यात्कुदृष्टीनां मतं किंपाकसन्निभम् ॥
श्रुतिशाक्यशिवाम्नायाः कौलमांसासवाश्रयः ।
यदन्ते मन्त्रमोक्षाय विधिरत्र तदन्वयः ॥
[5]भस्मिभस्मजटाजूटयोगपट्टकटासनम् ।
मेखला प्रोक्षणं मुद्रा कूर्चो दण्डः करण्डकः[6] ॥
शौचमज्जनमाचामः पितृपूजानलार्चनम् ।
अन्तस्तत्त्वविहीनानां प्रक्रियेयं विराजते ॥
को देवः किमिदं ज्ञानं किं तत्त्वं कस्तपःक्रमः ।
को बन्धः कश्च मोक्षो वा यत्रेदं न विद्यते[7] ॥

१ ज प्रतिरंति । २ द नेत्रे । स तेत्रे । ३ प्रतिष्ठा सा० २, ६० । ४ स दुरन्त० । ५ ज भस्मि । ६ द कंडकः ।
७ यशस्ति ६, २६६ ।

आप्तागमाविशुद्धत्वे क्रिया शुद्धापि देहिषु ।
नाभिजातफलप्राप्त्यै[1] विजातिष्विव जायते ॥
तत्संस्तवं प्रशंसा वा न कुर्वीत कुदृष्टिषु[2] ।
ज्ञान-विज्ञानयोस्तेषां विपश्चिन्न च विभ्रमेत्[3] ॥

अथवा निश्चितो विशिष्टः कल्पः स्वर्गो मोक्षश्च दर्शने आर्हते मते यस्य स निर्विकल्पदर्शनः । अथवा निर्गतो विशिष्टशास्त्रबहिर्भूतो वीरपट्कल्याणगर्भापहरणप्रतिपादकः कल्पः प्राकृतशास्त्रविशेषो दर्शने मते यस्य स निर्विकल्पदर्शनः (१५) । **अद्वयवादी**—बौद्धमताभिप्रायेण अद्वयं विज्ञानाद्वैतं वदतीत्यवश्यं अद्वयवादी । स्वमते निश्चयनयमाश्रित्य आत्मा च कर्म च एतद्द्वयं न द्वयं वदतीत्येवमवश्यं अद्वयवादी । उक्तञ्च—

बन्धमोक्षौ रतिद्वेषौ कर्मात्मानौ शुभाशुभौ ।
इति द्वैताश्रिता बुद्धिरसिद्धिरभिधीयते ॥

अथवा न द्वयं रागद्वेषद्वयं वदति मोक्षप्राप्तये अद्वयवादी । न सर्वथा नित्यः, न सर्वथा अनित्यः, एतद्द्वयं न वदतीति अद्वयवादी (१६) ।

महाकृपालुर्नैरात्म्यवादी सन्तानशासकः ।
सामान्यलक्षणचणः पञ्चस्कन्धमयात्मदृक् ॥१९॥

महाकृपालु - कृपा विद्यते यस्य, स कृपालुः । महांश्चासौ कृपालुः महाकृपालुः । तद्धित आलुः । तथा च । **शाकटायनवचनं**—शीतोष्णतृप्रादसह आलुः, शीतं न सहते इत्यर्थे आलुः । शीतालुः उष्णालुः, तृप्तालुः । कृपायाश्च आलुः । दयि पति गृहि स्पृहि श्रद्धा तन्द्रा निद्राभ्य आलुः । यथा दयालुस्तथा कृपालुः (१७) । **नैरात्म्यवादी**—बौद्धमते किल निर्गत आत्मा निरात्मा, क्षणविनश्वरत्वात् । निरात्मनो भावः नैरात्म्यम् । नैरात्म्यं वदतीत्येवमवश्यं नैरात्म्यवादी । तथा च **भट्टाकलंकः**—

नाहङ्कारवशीकृतेन मनसा न द्वेषिणा केवलं
नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यति जने कारुण्यबुद्ध्या मया ॥
राज्ञः श्रीहिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनो
बौद्धौघान् सकलान् विजित्य सुगतः पादेन विस्फालितः[4] ॥

एष वादो वाराणस्यां बभूव । स्वमते नीरस्य जलस्य अप्कायिकस्य भावो नैरं नीरसमूहस्तदुपलक्षणं पञ्चस्थावराणां, तत्र आत्मा शक्तिरूपतया केवलज्ञानादिस्वभावो नैरात्मा । नैरात्मनो भावः नैरात्म्यम् , तद्वदतीति नैरात्म्यवादी । अतएव महाकृपालुरिति पूर्वमुक्तम् । (१८) **सन्तानशासकः**—बौद्धमते किलात्मा क्षणविनश्वरो वर्तते, सन्तानेन ज्ञानं प्रकाशते । अन्वयं विना सन्तानः कुतस्त्यः स्यात् । उक्तञ्च—

सोऽहं योऽभूवं बालवयसि निश्चिन्वन् क्षणिकमतं जहासि ।
सन्तानोऽप्यत्र न वासनापि यद्यन्वयभावस्तेन नापि[5] ॥

अन्यच्च—

सन्तानो न निरन्वये विसदृशो सादृश्यमेतन्न हि,
प्रत्यासत्तिहते कुतः समुदयः का वासना वास्थिरे ।
सत्त्वे वाचि समस्तमानरहिते ताथागते साम्प्रतं
धर्माधर्मनिबन्धनो विधिरयं कौतस्कुतो वर्तताम्[6] ॥

---

१. ज फलप्राप्ते । २ ज कुदृष्टिषु जायते । ३ यशस्ति० ६, २९६ । ४ अकलंकस्तो० १४ । ५ यशस्ति०८,३८८ । ६ यशस्ति०५,२५६ ।

एवं च सति सन्तानं शास्तीति सन्तानशासक, इति न घटते। स्वमते तु अनादिसन्तानवान् जीवस्तत्सन्तानं शास्तीति सन्तानशासकः। (१६)। **सामान्यलक्षणक्षण**—शुद्धनिश्चयनयमाश्रित्य सर्वे जीवाः शुद्धबुद्धैकस्वभावा इति वचनात् सर्वेषां जीवानां सामान्यलक्षणम्। तत्र क्षणो विचक्षणः सामान्यलक्षणक्षणः (२०)। **पञ्चस्कन्धमयात्मदृक्**—बौद्धमते पञ्चस्कन्धाः विज्ञान-वेदना-संज्ञा-संस्कार-रूप-नामानः। तन्मयमात्मानं पश्यतीति पञ्चस्कन्धमयात्मदृक्। [1]स्वमते तु शुद्धाशुद्धनयमाश्रित्य पञ्चस्कन्धमयं पञ्चज्ञानमयमात्मानं पश्यतीति पञ्चस्कन्धमयात्मदृक् (२१)।

भूतार्थभावनासिद्धः चतुर्भूमिकशासनः।
चतुरार्यसत्यवक्ता निराश्रयचिदन्वयः॥११३॥

भूतार्थभावनासिद्धः—चार्वाकमते किलैवं कथयन्ति भूतानां पृथिव्यप्तेजोवायूनामर्थानां भावनायां[2] संयोगे सति आत्मा सिद्ध उत्पन्नः, पृथगात्मा न वर्तते। उक्तञ्च **चार्वाकमतम्**—

पश्यन्ति ये जन्म मृतस्य जन्तोः पश्यन्ति ये धर्ममदृष्टसाध्यम्।
पश्यन्ति येऽन्यं पुरुषं शरीरात्पश्यन्ति ते नीलक-पीतकानि॥

प्राणापानसमानोदानव्यानव्यतिकीर्णेभ्यः कायाकारपरिणतिसंकीर्णेभ्यो जलपवनावनिपवनसखेभ्यः पिष्टोदकगुडधातकीप्रमुखेभ्य इव मदशक्तिः, पर्णचूर्णक्रमुकेभ्य इव रागसम्पत्तिस्तदात्मकार्यगुणस्वभावतया चैतन्यमुपजायते। तच्च गर्भादिमरणपर्यन्तपर्यायमतीतं सत् पादपात्पतितं पत्रमिव न पुनः प्ररोहति। [4]उक्तञ्च—

जलबुद्बुदस्वभावेषु जीवेषु मदशक्तिप्रतिज्ञाने च विज्ञाने किमर्थोऽयं ननु लोकस्यात्मसम्पन्नप्रयत्नस्तदपहायामीषां जीवन्मृतमनीषाणां मनीषितमेतत्कुशलाशयैराश्रेयम्[5]।

यावज्जीवेत्सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरम्।
भस्मीभूतस्य कायस्य पुनरागमनं कुतः॥

स्वमते तु भूतार्थभावनासिद्धः भूतः सत्यः सत्यरूपो योऽसावर्थो भूतार्थः, शुद्धनिश्चयनयस्तस्य भावना वासना पुनः पुनश्चिन्तनं भूतार्थभावना। [6]भूतार्थभावनया[7] कृत्वा स्वामी सिद्धो घातिसंघातघातनो बभूव, केवलज्ञानं प्राप्तवानित्यर्थः। उक्तञ्च **कुन्दकुन्दाचार्यैः** समयसारग्रन्थे—

ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवे जीवो॥

अतोऽयमेव परमगुरुरनेकान्ततत्त्वप्रकाशनो दृष्टेष्टाविरुद्धवचनत्वात्प्रक्षीणकल्मषसमूहत्वाच्च भूतार्थभावनासिद्ध (२२)। **चतुर्भूमिकशासनः**—चतस्रो भूमयो यस्य तच्चतुर्भूमिकम्। चार्वाकमते चतुर्भूमिकं पृथिव्यप्तेजोवायुभूतचतुष्टयरूपमेव सर्वं जगद्वर्तते। स्वमते तु चतुर्भूमिकं नरकतिर्यग्मनुष्यदेवगतिलक्षणं शासनं शिक्षणमुपदेशो यस्य स चतुर्भूमिकशासन। अंग-पूर्व-प्रकीर्णकैश्चतुर्गतीनामेव विस्तरो वर्तते। अथवा चतुर्भूमिकं प्रथमानुयोग-करणानुयोग-चरणानुयोग-द्रव्यानुयोगलक्षणं शासनं मतं यस्य स चतुर्भूमिकशासनः (२३)। **चतुरार्यसत्यवक्ता**—बौद्धमते किल बुद्धश्चतुरार्यसत्यवक्ता भवति। चत्वारि च तानि आर्यसत्यानि चतुरार्यसत्यानि। तेषां वक्ता चतुरार्यसत्यवक्ता। कानि तानि बौद्धमते चत्वारि आर्यसत्यानि?

---

१ ज स्वमते पंचस्कन्धमयं औदारिकादिपंचशरीरनामकर्मोदयनिष्पन्नं वा आहारभाषामनस्तेजःकार्मणवर्गणानिष्पन्नं वा स्पर्शनादिपंचेन्द्रियसमूहमयं वा आत्मानं अशुद्धनयेन द्रव्यभावरूपं संसारिपर्यायं पश्यति सम्यग्जानाति पंचस्कन्धमयात्मदृक्। ईदृक् पाठः। २ स० प्रे० भावानां। ३ ज वन०। ४ स० प्रे० 'तथा च परलोकाभावे' इति पाठः। ५ ज राश्रयं। ६ भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानम्। न्यायवि० १, ११,। ७ स प्रे० भावनयात् तत्त्वात् स्वामी इति पाठः।

इति चेदुच्यते—विज्ञान-वेदना-संज्ञा-संस्कार-रूपनामानः पंच संसारिणः स्कन्धाः दुःखमित्येकमार्यसत्यम् । स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रनामानि तावत्पंचेन्द्रियाणि, स्पर्शनरसगंधवर्णशब्दनामानः पंचविषयाः, मानसं धर्मायतनं चेति द्वादश आयतनानि इति द्वितीयमार्यसत्यम् । आत्मा तृतीयमार्यसत्यं मोक्षश्चतुर्थमार्यसत्यम् । चतुर्णामार्यसत्यानां वक्ता प्रतिपादकः चतुरार्यसत्यवक्ता । श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञस्तु चतुरार्यसत्यवक्ता—चतुराः मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानचतुष्टये प्रवीणाश्चतुराः श्रीमद्गणधरदेवाः । अर्यन्ते सेव्यन्ते गुणैर्गुणवद्भिर्वा आर्याः । चतुराश्च ते आर्याश्चतुरार्याः, तेषां आर्यभूमिभवमनुष्यादीनां वा सत्यस्य वक्ता चतुरार्यसत्यवक्ता (२४) । **निराश्रयचित्**—निर्गतो निर्नष्ट आश्रयः स्थानं यस्याः सा निराश्रया, निराश्रया चित् चेतना यस्य बुद्धस्य स निराश्रयचित् । बौद्धमते किल चेतना निराश्रया भवति । उक्तञ्च—

> दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चिन्नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
> दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतः स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥
> दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चिन्नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
> जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतः क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥

स्वमते तु श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञस्तु निराश्रयचित्—निराश्रया रागद्वेषमोहसमस्तसंकल्पविकल्पादिजाल-रहिता चित् चेतना शुक्लध्यानैकलोलीभाव आत्मा यस्य स निराश्रयचित् (२५) । **अन्वयः**—अनु पृष्ठतो लग्नः अयः पुण्यं यस्य सोऽन्वयः (२६) ।

> **यौगो वैशेषिकस्तुच्छाभावभित् षट्पदार्थदृक् ।**
> **नैयायिकः षोडशार्थवादी पञ्चार्थवर्णकः ॥ ११४ ॥**

यौगः—यौगो नैयायिकः । भगवांस्तु ध्यानयोगाद् यौगः, मनोवचनकाययोगाद् यौगः । अथवा यः सूर्यश्चन्द्रश्च, या रमा, याः याचकाः, या युक्तिः, यो यथार्थः, यो योग[1], उः शंकरः, ऊ रक्षी एते यं गच्छन्ति स यौगः (२७) । **वैशेषिकः**—वैशेषिकाः काणादा[2]स्तेषां मते षट् पदार्था भवन्ति । ते के ? द्रव्यं गुणः कर्म-सामान्यं विशेषः समवायश्चेति । तत्र द्रव्यं नवप्रकारम् । के ते नव प्रकाराः—भूमिर्जलं तेजः पवन आकाशः कालो दिक् आत्मा मनश्चेति । चतुर्विंशतिः गुणाः । के ते ? आर्याद्वयेन कथयामि—

> स्पर्शरसगन्धवर्णाः शब्दाः संख्या वियोग-संयोगौ ।
> परिमाणं च पृथक्त्वं तथा परत्वापरत्वे च ॥
> बुद्धिसुखदुःखेच्छाधर्माधर्मप्रयत्नसंस्काराः ।
> द्वेषः स्नेहगुरुत्वे द्रवत्वयोगौ गुणा एते ॥

कर्म पञ्च प्रकारम्—

> उत्क्षेपावक्षेपावाकुंचनकं प्रसारणं गमनम् ।
> पञ्चविधं कर्मैतत्परापरे द्वे च सामान्ये ॥
> तत्र परं सत्ताख्यं द्रव्यत्वादपरमथ विशेषस्तु ।
> निश्चयतो नित्यद्रव्यवृत्तिरन्त्यो विनिर्दिष्टः ॥
> य इहायुतसिद्धानामाधाराधेयभूतभावानाम् ।
> सम्बन्ध इह प्रत्ययहेतुः स च भवति समवायः ॥

यथा तन्तव आधार', तन्तुषु पट आधेयः । एवं छिदिक्रिया आधारः, छेद्यः आधेयः । अमुना प्रकारेण तन्तुपटयोः समवायः, छिदिक्रिया-छेद्ययोः समवायः । प्रत्यक्षमनुमानमागमश्चेति प्रमाणानि त्रीणि ।

---

१ ज रक्षा । २ ज दय० ।

नित्यानित्यैकान्तो वादः । श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञस्तु वैशेषिकः—इन्द्रियजं ज्ञानं सामान्यं अतीन्द्रियज्ञानं विशेषः, केवलज्ञानमित्यर्थः । विशेषेण केवलज्ञानेन सह दीव्यति संसृष्टः तर्पति, चरति वा वैशेषिकः (२८) । **तुच्छाभावभित्**—तुच्छश्च गुणतुच्छत्वं अभावश्च आत्मनाशः, तुच्छाभावौ तौ भिनत्ति उत्थापयति उच्छेदयति तुच्छाभावभित् (२९) । उक्तञ्च—

> तुच्छोऽभावो न कस्यापि हानिर्दीपस्तमोऽन्वयी ।
> घटादिषु धियो हानौ विश्लेषे सिद्धसाध्यता ॥

तथा च पूज्यपादैः—

> नाभावः सिद्धिरिष्टा न निजगुणहतिस्तत्तपोभिर्न युक्ते-
> रस्त्यात्माऽनादिबद्धः स्वकृतजफलभुक् तत्क्षयान्मोक्षभागी ।
> ज्ञाता द्रष्टा स्वदेहप्रमितिरुपसमाहारविस्तारधर्मा-
> ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मा स्वगुणयुत इतो नान्यथा साध्यसिद्धिः ॥

षट्पदार्थदृक्—काणादमते द्रव्यगुणकर्मसामान्यसमवायाभावाः (सामान्यविशेषसमवायाः) षट् पदार्थाः । स्वमते जीवपुद्गलधर्माधर्मकालाकाशनामानः षट् पदार्थाः । तान् पश्यति जानाति च द्रव्यगुणपर्यायतया सम्यग् वेत्ति षट्पदार्थदृक् (३०) । **नैयायिकः**—न्याये स्याद्वादे नियुक्तो नैयायिकः । अन्ये तु शैवादयः सर्वेऽपि अन्यायकारकाः अनैयायिकाः नाममात्रेण नैयायिकाः (३१) । **षोडशार्थवादी**—नैयायिकमते षोडशार्थाः । ते के ? प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्तावयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल-जाति-निग्रहस्थानानि चेति । तेषां विवरणं तु तर्कपरिभाषादिषु मिथ्याशास्त्रेषु ज्ञातव्यम् । स्वमते तु षोडश—दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नताशीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्त्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य । इति सूत्रेण सूचितानि षोडशकारणानि षोडशार्थाः, तान् वदतीत्येवंशीलः षोडशार्थवादी (३२) । **पञ्चार्थवर्णकः**—पञ्चार्थवर्णकः काणादो वैशेषिकश्च कथ्यते । स तु पञ्चार्थवर्णकः द्रव्यगुणकर्मसामान्यसमवायान् पञ्च पदार्थान् वर्णयति । अभावस्तु तत्त्वं न वर्तते । श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञस्तु पञ्च ते अर्थाः पञ्चार्थाः । ते के ? कुन्द-चन्द्र-हिमपटल-मौक्तिक-मालादयः एकः शुभ्रोऽर्थः । इन्द्रनीलमणिर्भिन्नाञ्जनं निरभ्राकाशं उदर्सितनरारिष्टश्चेत्यादिकः कृष्णोऽर्थः द्वितीयोऽर्थः । बन्धूकपुष्पं रक्तकमलं पद्मरागमणिरित्यादिको रक्तार्थवर्णपदार्थस्तृतीयोऽर्थः । प्रियंगुः परिणतशिरिषग्रीवा शालिपर्णं शुकपक्षो मरकतमणिश्चेत्यादिको नीलवर्णश्चतुर्थोऽर्थः । सन्ततकनकं चेत्यादिः पञ्चमोऽर्थः । पञ्चार्थैः समानो वर्णः पञ्चार्थवर्णः । पञ्चार्थवर्णः कः कायो यस्य तीर्थंकरपरमदेवसमुदायस्य स पञ्चार्थवर्णकः । तथा चोक्तं—

> जम्बूधातकिपुष्करार्धवसुधाक्षेत्रत्रये ये भवा-
> श्चन्द्राम्भोजशिखण्डिकण्ठकनकप्रावृड्घना भाजिनः ।
> सम्यग्ज्ञानचरित्रलक्षणधरा दग्धाष्टकर्मेन्धनाः
> भूतानागतवर्तमानसमये तेभ्यो जिनेभ्यो नमः ॥

इति पञ्चार्थवर्णकः । अथवा पञ्चानां जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशलक्षणानां पञ्चास्तिकायानां वर्णकः प्रतिपादकः पञ्चार्थवर्णकः । अथवा पञ्चानां नैयायिक-बौद्ध-वैशेषिक-जैमिनीय सांख्यपंचमिथ्यादृष्टीनामर्थवर्णकः पञ्चार्थवर्णकः । के ते पञ्च मिथ्यादृष्टयः, क च तेषामर्था इति चेदुच्यते—नैयायिकाः—पाशुपताः जटाकविशेषाः तेषां दर्शनं ईश्वरं देवता । प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्तावयव-तर्क निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल-जाति निग्रहस्थानानि षोडश तत्त्वानि । प्रत्यक्षमनुमानमुपमानमागमश्चेति चत्वारि प्रमाणानि । नित्यानित्याद्येकान्तवादः । दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायेऽभावो

मोक्षमार्गः मोक्षः । षडिन्द्रियाणि षड् विषयाः षड् बुद्धयः सुखं दुःखं शरीरं चेत्येकविंशतिप्रभेदभिन्नस्य दुःखस्यात्यन्तोच्छेदो मोक्षः ।

बौद्धा-रक्तपटाः भिक्षुकाः, तेषां दर्शने बुद्धो देवता । दुखायतनसमुदयनिरोधमोक्षमार्गरूपाणि चत्वारि आर्यसत्यानि तत्त्वानि । प्रत्यक्षमनुमानं चेति द्वे प्रमाणे । क्षणिकैकान्तवादः । सर्वक्षणिकत्व-सर्वनैरात्म्यवासना मोक्षमार्गः । वासनाक्लेशसमुच्छेदे प्रदीपस्येव ज्ञानसंतानस्य अत्यन्तोच्छेदो मोक्षः ।

काणादं शैवदर्शनं वैशेषिकमिति । तत्र शिवो देवता । द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः षट्पदार्थास्तत्त्वम् । प्रत्यक्षमनुमानमागमश्चेति त्रीणि प्रमाणानि । नित्यानित्याद्येकान्तवादः दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायेऽभावो मोक्षमार्गः । बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काररूपाणां नवानामात्मविशेषगुणानामत्यन्तोच्छेदो मोक्षः ।

जैमिनीयं भट्टदर्शनं—तत्र देवो नास्ति । नित्येभ्यो वेदवाक्येभ्य एव तत्त्वनिश्चयः । तत्र चोदनालक्षणो धर्मस्तत्त्वम् । प्रत्यक्षमनुमानमुपमानमागमोऽर्थापत्तिरभावश्चेति षट् प्रमाणानि । नित्यानित्याद्येकान्तवादः । वेदविहितानुष्ठानं मोक्षमार्गः । नित्यनिरतिशयसुखाभिव्यक्तिर्मोक्षः ।

सांख्यदर्शनं मरीचिदर्शनम् । तत्र केषाञ्चिदीश्वरो देवता, केषांचित्तु कपिल एव । पञ्चविंशतिस्तत्त्वानि । सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः । प्रकृतेर्महान् बुद्धिरित्यर्थः । महतोऽहङ्कारः, अहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राणि एकादश चेन्द्रियाणि । तत्र शब्दतन्मात्रादाकाशम्, रूपतन्मात्रात्तेजः, गन्धतन्मात्रात्पृथ्वी, रसतन्मात्रादापः, स्पर्शतन्मात्राद्वायुः । स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुः-श्रोत्राणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि । वाक्पाणिपादपायूपस्थानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, एकादशं मन इति । अमूर्त्तश्चैतन्यरूपोऽकर्त्ता भोक्ता च पुरुषः ।

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥

पंग्वन्धवत्प्रकृतिपुरुषयोगात् । प्रत्यक्षानुमानशब्दास्त्रीणि प्रमाणानि । नित्यैकान्तवादः । पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं मोक्षमार्गः । प्रकृति-पुरुषविवेकदर्शनान्निवृत्तायां प्रकृतौ पुरुषस्य स्वरूपावस्थानं मोक्षः । अथाहो भगवान् पञ्चार्थानामेव वर्णको निजं जैनमतं किं न वर्णयति ? सत्यम्, वर्णयत्येव; पूर्वमेव स्वस्वरूपनिष्ठत्वात्त्वयमेव तद्रूपत्वात् वर्णित एव सोऽर्थः । तथापि जडजनानां सम्बोधनार्थं वर्ण्यते ।

जैनं नैयायिकं बौद्धं काणादं जैमिनीयकम् ।
सांख्यं षड् दर्शनान्याहुर्नास्तिकीयं तु सप्तमम् ॥
देवं तत्त्वं प्रमाणं च वादं मोक्षं च निर्वृतिं ।
तेषां वीरं प्रणम्यादौ वक्ष्येऽहं तद्यथागमम् ॥

जैनदर्शनेऽर्हन् देवता, तेन ते आर्हता उच्यन्ते । जीवाजीवास्रवपुण्यपापबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वानि । प्रत्यक्षं परोक्षं चेति द्वे प्रमाणे । नित्यानित्याद्यनेकान्तवादः । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः । कृतकर्मक्षयो नित्यनिरतिशयसुखाविर्भावश्च मोक्षः । पञ्च मतानि तु पूर्वमेवोक्तानि । तर्हि चार्वाकदर्शनं कीदृशं भवति ? चार्वाका नास्तिका लोकायतिकाश्चेति तन्नामानि । तेषां दर्शने देवो नास्ति, पुण्यं नास्ति, पापं नास्ति, जीवो नास्ति, नास्ति मोक्ष इति । पृथिव्यप्तेजोवायवश्चत्वारि भूतानि चत्वारि तत्त्वानि । प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणम् । पृथिव्यादेः समवायान्मद्याङ्गेभ्यो मदशक्तिवच्चैतन्यशक्तिः । अदृष्टसुखपरित्यागेन दृष्टसुखोपभोग एव पुरुषार्थः । दुर्णयबलप्रभावितसत्ताका हि खल्वेते प्रवादाः । तथाहि—

नैगमनयानुसारिणौ नैयायिक-वैशेषिकौ । संग्रहनयानुसारिणः सर्वेऽपि मीमांसकविशेषाः अद्वैतवादाः सांख्यदर्शनं च । व्यवहारनयानुसारिणः प्रायश्चार्वाकाः । ऋजुसूत्रनयानुसारिणो बौद्धाः । शब्दादिनयाव-

शब्दिनो वैयाकरणादयः। ते एते नित्यानित्याद्यनन्तात्मके वस्तुनि स्वाभिप्रेतैकधर्मसमर्थनप्रवणाः शेषधर्मतिरस्कारेण प्रवर्तमाना दुर्णया इत्युच्यन्ते। स्वाभिप्रेतैकधर्मसमर्थनप्रवणाः शेषधर्मस्वीकार-तिरस्कारपरिहारेण प्रवर्तमाना नयाः। सर्वनयमतं तु जिनमतं स्याद्वादरूपं प्रमाणमिति (३३)।

ज्ञानान्तराव्यक्तबोधः समवायवशार्थभित्।
मुक्तैकसाध्यकर्मान्तो निर्विशेषगुणामृतः ॥११५॥

ज्ञानान्तराव्यक्तबोधः—ज्ञानान्तरेषु मतिश्रुतावधिमनःपर्ययेषु अव्यक्तः प्रत्यक्षीभूत उपरि मुक्तो[1] निर्मुक्तो बोधः केवलज्ञानं यस्य स ज्ञानान्तराव्यक्तबोधः (३४)। **समवायवशार्थभित्**—समवायस्य वशात् ये अर्थास्तानुपलभ्य मिलितांस्तान् भिनत्ति पृथक्कृतया जानाति यः स समवायवशार्थभित् (३५)। तथा चोक्तम्—

अण्णोण्णं पविसंता दिंता ओग्गासमण्णमण्णस्स।
मेलंता वि य णिच्चं सगसब्भावं ण विजहंति ॥

मुक्तैकसाध्यकर्मान्तः—मुक्तेन अनुभवनेन एकेन अद्वितीयेन साध्यः कर्मणामन्तः स्वभावो यस्य स मुक्तैकसाध्यकर्मान्तः। उक्तञ्च—

अनंस्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिंगाः।
अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्तः संहत्य कार्येष्विति साध्यवादीः ॥

अथवा अनादौ संसारे कर्मफलं भुञ्जानो जीव आयातः कदाचित्सामग्रीविशेषं सम्प्राप्य कर्मणामन्तं विनाशं करोति। ईदृशं मतं यस्य स मुक्तैकसाध्यकर्मान्तः (३६)। एवं च सतीदं प्रत्युक्तं भवति—

कृतकर्मक्षयो नास्ति कल्पकोटिशतैरपि।
अवश्यमेव हि भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥

निर्विशेषगुणामृतः—निर्विशेषा विशेषरहितास्तीर्थंकरपरमदेवानां अनगारकेवल्यादीनां च घातिसंघातघातने सति गुणा अनन्तज्ञानानन्तदर्शनानन्तवीर्यानन्तसुखादयो यस्य मते स निर्विशेषगुणामृतः। गुणा एवामृतं पीयूषं जन्मजरामरणदुःखनिवारकत्वात्। निर्विशेषं गुणामृतं यस्य स निर्विशेषगुणामृतः। अथवा निर्विशेषैर्गुणैरुपलक्षितं अमृतं मोक्षो यस्य मते स निर्विशेषगुणामृतः (३७)।

सांख्यः समीक्ष्यः कपिलः पञ्चविंशतितत्त्ववित्।
व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानी ज्ञानचैतन्यभेददृक् ॥११६॥

सांख्यः—संख्यानं संख्या, तस्यां नियुक्तः सांख्यः।

प्रथमोऽप्ययमेव संख्याते मध्यमोऽप्ययमेव कथ्यते।
अन्त्योऽप्ययमेव भगवान् तेन सांख्यः स सांख्यवान् ॥

स सांख्यो यः प्रसंख्यावान् इति नु निरुक्तिः (३८)। **समीक्ष्यः**—सम्यक् ईक्षितुं द्रष्टुं योग्यः समीक्ष्यः। अथवा समिनां योगिनामीक्ष्यो दृश्यः समीक्ष्यः। अन्ये त्वेनमवलोकयितुमसमर्थाः, सूक्ष्मकेवलज्ञानदृष्टिरहितत्वादित्यर्थः। येनायं दृष्टस्तेन सर्वं दृष्टमिति वचनात्। अतएव वेदान्तवादिभिरप्युक्तं—द्रष्टव्यो रेऽयमात्मा श्रोतव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्याऽऽत्मनि वा अरे दृष्टे श्रुतेऽनुमिते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम् (३९)। **कपिलः**—कम्पत इव कपिः, मनोमर्कटः। कपिं लाति विषय-कषायेषु गच्छन्तं लाति आत्मनि स्थापयति निश्चली-

---

[1] द मुक्तो।

करोति यो भगवान् तीर्थंकरपरमदेवः स कपिल उच्यते। अन्यस्तु विषयकषायचलितचित्तः शापेन पष्टिसहस्रान् सगरपुत्रान् भस्मीकरोति, स पापीयान् कपिलः कुक्कुर एव ज्ञातव्यः। अथवा कपिलः कं परमब्रह्मस्वरूपमात्मानमपि निश्चयेन लाति गृह्णाति आत्मना सहैकलोलीभावो भवति कपिलः। अवाप्योरल्लोपः इति व्याकरणसूत्रेण अपिशब्दस्य अकारलोपः (४०)। उक्तञ्च—

वष्टि-भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः।
आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा गिरा[1]

पञ्चविंशतितत्त्ववित्— सांख्यमतस्य पञ्चविंशति तत्त्वानि पूर्वोक्तानि ज्ञातव्यानि। स्वमते पञ्चविंशतिभावनानां तत्त्वं स्वरूपं वेत्तीति पञ्चविंशतितत्त्ववित्। कास्ताः पञ्चविंशतिर्भावनाः? अहिंसामहाव्रतस्य पञ्च भावना— वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च। सत्यवचनस्य पंच भावनाः— क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च। अचौर्यव्रतस्य पंच भावनाः—शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माविसंवादाः पञ्च। ब्रह्मचर्यव्रतस्य पञ्च भावनाः— स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च। आकिंचन्यव्रतस्य पञ्च भावनाः— मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च।

अथवा त्रयोदश क्रियाः द्वादश तपांसि चेति पञ्चविंशतिभावनाः। कास्तास्त्रयोदश क्रियाः? षडावश्यकानि, पञ्चनमस्काराः, असही निस्सही चेति। अथवा पंचविंशतेः क्रियाणां तत्त्ववित् स्वरूपज्ञायकः। कास्ताः पंचविंशतिः क्रियाः? उच्यन्ते—शुभाशुभकर्मादानहेतवो व्यापाराः पञ्चविंशतिक्रियाः। तथाहि— चैत्यगमन-गुरुप्रवचनपूजादिलक्षणा सम्यक्त्ववर्धनी क्रिया सम्यक्त्वक्रिया १। अन्यदेवतास्तवनादिरूपा मिथ्यात्वहेतुका कर्मप्रवृत्तिः मिथ्यात्वक्रिया २। गमनागमनादिप्रवर्त्तनं कायादिभिः प्रयोगक्रिया ३। संयतस्य सतः अविरतिं प्रत्याभिमुख्यं समादानक्रिया ४। ईर्यापथनिमित्ता ईर्यापथक्रिया ५। एताः पञ्च क्रियाः। क्रोधादिवशात् प्रादोषिकी क्रिया १। प्रदुष्टस्य सतोऽभ्युद्यमः कायिकी क्रिया २। हिंसोपकरणादानात् आधिकरणिकी क्रिया ३। सत्त्वदुःखोत्पत्तितन्त्रत्वात् पारितापिकी क्रिया ४। आयुरिन्द्रियबलप्राणानां वियोगकरणात् प्राणातिपातकी क्रिया ५। एताः पञ्च क्रियाः। रागार्द्रीकृतत्वात्प्रमादिनो रमणीयरूपावलोकनाभिप्रायो दर्शनक्रिया १। प्रमादवशात् स्पृष्टव्यसंचेतनानुबन्धः स्पर्शनक्रिया २। अपूर्वाधिकरणोत्पादनात् प्रात्ययिकी क्रिया ३। स्त्रीपुरुषपशुपात्रपण्डसम्पातदेशे अन्तर्मलोत्सर्गकरणं समन्तानुपातक्रिया ४। अप्रमृष्टादृष्टभूमौ कायादिक्षेपो अनाभोगक्रिया ५। एता. पञ्च क्रियाः। यां परेण निर्वर्त्यां क्रियां स्वयं करोति स स्वहस्तादानक्रिया १। पापादानादिप्रवृत्तिविशेषाभ्यनुज्ञानं निसर्गक्रिया २। पराचरितसावद्यादिप्रकाशनं विदारणक्रिया ३। यथोक्तमावश्यकादिषु चारित्रमोहोदयात् कर्तुमशक्नुवतोऽन्यथाप्ररूपणात् आज्ञाव्यापादिका क्रिया ४। शाठ्यालस्याभ्यां प्रवचनोपदिष्टविधिकर्तव्यतानादरोऽनाकांक्षक्रिया ५। एताः पञ्च क्रियाः। छेदन-भेदन-विशसनादिक्रियादिपरत्वं अन्येन वाऽऽरम्भे क्रियमाणे प्रकर्षः प्रारम्भक्रिया १। परिग्रहाद्यविनाशार्था पारिग्राहिकी क्रिया २। ज्ञानदर्शनादिषु निकृतिवचनं मायाक्रिया ३। अन्यं मिथ्यादर्शनक्रियाकरणकारणाविष्टं प्रशंसादिभिर्द्रढयति यथा साधु करोषीति मिथ्यादर्शनक्रिया ४। संयमघातिकर्मोदयवशात् अनिवृत्तिरप्रत्याख्यानक्रियाः ५। एताः पञ्च क्रियाः। एतासु पञ्चविंशतिक्रियासु मध्ये या प्रथममुक्ता सम्यक्त्ववर्धनी सम्यक्त्वक्रिया सा शुभा, अन्या अशुभाः। इति पञ्चविंशतिक्रियाणां तत्त्वं स्वरूपं वेत्तीति पञ्चविंशतितत्त्ववित् (४१)।

व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानी—सांख्यमते किल व्यक्तं विवेकवत्। अव्यक्तस्य प्रकृतेर्ज्ञस्य आत्मनश्च विवेके सति विज्ञानं ज्ञानरहितत्वं मोक्षो भवति। तदुक्तं—

स यदा दुःख त्रयोत्थतप्तचेतास्तद्विघातकहेतुजिज्ञासोत्सेकितविवेकस्रोताः स्फाटिकाश्मानमिवानन्दात्मानमप्यात्मानं सुखदुःखमोहावहपरिवर्तिमहदहंकारादिविवर्तैश्च कलुषयन्त्याः सत्त्वरजस्तमःसाम्यावस्थापर-

नामवल्याः सनातनव्यापिगुणाधिकृतेः प्रकृतेः स्वरूपमवगच्छति तदाऽयोमयगोलकानलतुल्यवर्गस्य बोधवद्वुधानकसंसर्गस्य सति विसर्गे सकलज्ञानज्ञेयसम्बन्धवैकल्यं कैवल्यमवलम्ब्यते । तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानमिति वचनात् । ततश्च—

> अनुभवत पिबत खादत विलसत मानयत कामितं लोकाः ।
> आत्मव्यक्तिविवेकान्मुक्तिर्ननु किं वृथा तपत ॥

एवं सति तन्मतखंडनायां श्लोकः —

> अव्यक्तनरयोर्नित्यं नित्यव्यापिस्वभावयोः ।
> विवेकेन कथं ख्याति सांख्यमुख्याः प्रचक्षते ॥

श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञस्तु व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानी । अस्यायमर्थः—व्यक्ता लोचनादीनां गोचराः संसारिणो जीवाः, अव्यक्ताः केवलज्ञानस्य गम्याः सिद्धपरमेष्ठिनः व्यक्ताश्चाव्यक्ताश्च व्यक्ताव्यक्ताः, ते च ते ज्ञा जीवाः व्यक्ताव्यक्तज्ञाः तेषां विशिष्टं ज्ञानं शक्तितया व्यक्तितया केवलज्ञानं विद्यते यस्य मते स व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानी । सर्वे जीवाः शुद्धबुद्धैकस्वभावा इत्यभिप्रायवानित्यर्थः (४२) । **ज्ञानचैतन्यभेदहक्**— चेतना त्रिविधा- ज्ञानचेतना कर्मचेतना कर्मफलचेतना चेति । तत्र केवलिनां ज्ञानचेतना । त्रसानां कर्मचेतना कर्मफलचेतना चेति द्वे । स्थावराणां कर्मफलचेतनैव । चेतनायाः भावः चैतन्यम्, ज्ञानस्य चैतन्यस्य च भेदं पश्यतीति ज्ञानचैतन्यभेदहक् । अथवा ज्ञानं मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानभेदात्पञ्चविधम् मार्गणाश्रितत्वात् कुमति- कुश्रुति-कदवधिभेदात् त्रिविधं कुज्ञानमपि ज्ञानोपचारात् ज्ञानमष्टविधम् । दर्शनं चतुर्भेदमेव—चक्षुरचक्षुर- वधिकेवलदर्शनभेदात् । तत्सर्वं द्वादशविधमपि उपयोगाश्रितवान् जीवलक्षणत्वात् ज्ञानमेव चैतन्यं तु सूक्ष्मनिर्त्यानिगोदादौ ज्ञानलेशत्वात् चैतन्यमुच्यते संग्रहनयबलात् । तदुक्तं—

> णिच्चणिगोदपज्जत्तयस्स जादस्स पढमसमयम्हि ।
> हवदि हु सव्वजहण्णं णिच्चुग्धाडं णिरावरणं ॥

इति गाथया पर्यायनाम्नो लब्ध्यक्षरापराभिधेयस्य भावश्रुतभेदस्य लक्षणं प्रोक्तम् । भावश्रुतस्य भेदा विंशतिर्भवन्ति । ते के ?

> पर्यायाक्षरपदसंघातप्रतिपत्तिकानुयोगविधीन् ।
> प्राभृतकप्राभृतकं प्राभृतकं वस्तु पूर्वं च ॥
> तेषां समासतोऽपि च विंशतिभेदात् समस्तश्रुतवानं तत् ।
> वंदे द्वादशधोक्तं गभीरवरशास्त्रपद्धत्या ॥

सूक्ष्मनित्यनिगोदजीवस्य अपर्याप्तस्य यत्प्रथमसमये प्रवृत्तं सर्वजघन्यज्ञानं तत्पर्याय इत्युच्यते, तदेव लब्ध्यक्षरमुच्यते । तथा चोक्तम्—

> त्वं लब्ध्यक्षरबोधनेन भविनो नित्यश्रुताणीयस-
> स्तत्तच्चित्कलया परांस्त्रिभुवनानुग्राहिणीः सर्गया ।
> चिच्छक्त्याऽखिलचेष्टिनः परमया सञ्जीवयन्त्या तया
> मुक्तानप्यनुगृह्णती भगवति ध्येयाऽसि कस्येह न ॥

इत्यत्र पर्यायस्य लब्ध्यक्षरमित्यपरनाम सूचितं भवति । अक्षरश्रुतानन्तभागपरिमाणत्वात् सर्वविज्ञाने- भ्यस्तज्जघन्यं नित्योद्घाटितं निरावरणं च वर्तते । न हि भावतस्तस्य कदाचिदप्यभावो भवति आत्मनोऽपि अभावप्रसंगात्; उपयोगलक्षणत्वाज्जीवस्य । तदेव ज्ञानं अनन्तभागवृद्ध्या असंख्येयभागवृद्ध्या संख्येयभाग-

वृद्धया संख्येयगुणवृद्धया असंख्येयगुणवृद्धया अनन्तगुणवृद्धया च वर्धमानं असंख्येयलोकपरिमाणं प्रागक्षर-श्रुतज्ञानात् पर्यायसमासः कथ्यते । अक्षरश्रुतज्ञानं तु एकाक्षराभिधेयावगमरूपं श्रुतज्ञानसंख्येयभागमात्रम् । तस्योपरिष्टादक्षरसमासोऽक्षरवृद्धया वर्धमानो द्वित्र्याद्यक्षरावबोधस्वभावः पदावबोधात्पुरस्तात् । उक्तञ्च—

> षोडशशतं चतुस्त्रिंशत्कोटीनां त्र्यशीतिमेव लक्षाणि ।
> शतसंख्याष्टासप्ततिमष्टाशीतिं च पदवर्णान् ॥

पदात्परतः पदसमासः अक्षरादिवृद्धया वर्धमानात्प्राक् संघातात् । संख्यातपदसहस्रपरिमाणः संघातो नारकाद्यन्यतमगतिप्रपञ्चप्ररूपणप्रवणः प्रतिपत्तिकात् संख्यातसंघातपरिमाणाद् गतिचतुष्टयव्यावर्णनसमर्थात्पूर्व-मक्षरादिवृद्धया वर्धमानः संघातसमासः । एवमुत्तरत्राप्यनयैव दिशा समासवृद्धिः प्रतिपत्तव्या । प्रतिपत्तिका-त्पूर्वं प्रतिपत्तिसमासः संख्यातप्रतिपत्तिकरूपादनुयोगात् समस्तमार्गणानिरूपणसमर्थात् । तस्मादप्युपरिष्टादनु-योगसमासः संख्यातानुयोगस्वरूपात् प्राभृतकप्राभृतकादधस्तात् प्राभृतकप्राभृतकात् चतुर्विंशत्याः भवति प्राभृतकं प्राभृतकात्प्राक् प्राभृतकप्राभृतकसमासः । प्राभृतकसमासोऽपि प्राभृतकविंशतिपरिमाणाद्वस्तुनः पूर्वं वस्तुस-मासः । पुनर्वस्तुनः परतो दशादिवस्तुपरिमाणात् पूर्वात् प्रागवगन्तव्यः । ततः पूर्वसमास एव पूर्वसमुदये परं श्रुतसंज्ञाया अभावादिति ।

अथ के ते द्रव्यश्रुतभेदा इति चेदुच्यन्ते—अष्टादशपदसहस्रपरिमाणं गुप्तिसमित्यादियत्याचरणसूचक-माचारांगम् १८००० (१) । षट्त्रिंशत्पदसहस्रपरिमाणं ज्ञानविनयादिक्रियाविशेषप्ररूपकं सूत्रकृतमंगम् ३६००० (२) । द्विचत्वारिंशत्पदसहस्रसंख्यं जीवादिद्रव्यैकाद्येकोत्तरस्थानप्रतिपादकं स्थानम् ४२००० (३) । चतुःषष्टिसहस्रैकलक्षपदपरिमाणं द्रव्यतो धर्माधर्मलोकाकाशैकजीवानां क्षेत्रतो जम्बूद्वीपावधिष्ठाननरक-नन्दी-श्वरवापी-सर्वार्थसिद्धिविमानादीनां, कालत उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यादीनां भावतः क्षायिकज्ञान-दर्शनादिभावानां सम्यक् प्रतिपादकं समवायनामधेयम् १६४००० (४) । अष्टाविंशतिसहस्रलक्षद्वयपरिमाणा जीवः किमस्ति नास्तीत्यादिगणधरषष्टिसहस्रप्रश्नव्याख्याविधायिका व्याख्याप्रज्ञप्तिः २२८००० (५) । षट्पंचाशत्सहस्रा-धिकपञ्चलक्षपदपरिमाणा तीर्थंकराणां गणधराणां च कथोपकथाप्रतिपादिका ज्ञातृकथा ५५६००० (६) । सप्ततिसहस्रैकादशलक्षपदसंख्यं श्रावकानुष्ठानप्ररूपकमुपासकाध्ययनम् ११७०००० (७) । अष्टाविंशति-सहस्रत्रयोविंशतिलक्षपदपरिमाणं प्रतितीर्थं दश-दशानगाराणां निर्जितदारुणोपसर्गाणां निरूपकमन्तकृद्दशम् २३२८००० (८) । चतुश्चत्वारिंशत्सहस्रद्विनवतिलक्षपदपरिमाणं प्रतितीर्थं निर्जितदुर्द्धरोपसर्गाणां समासादि-तपंचानुत्तरोपपदानां दश-दशमुनीनां प्ररूपकमनुत्तरौपपादिकदशम् ९२४४००० (९) । षोडशसहस्रत्रिनव-तिलक्षपदपरिमाणं नष्ट-मुष्टयादीन् परप्रश्नानाश्रित्य यथावत्तदर्थप्रतिपादकं प्रश्नानां व्याख्यातृ प्रश्नव्याकरणम् ९३१६००० (१०) । चतुरशीतिलक्षाधिकैककोटीपदपरिमाणं सुकृत-दुःकृतविपाकसूचकं विपाकसूत्रम् १८४००००० (११) । एकादशांगानां पदसमुदायांकः ४१५०२००० ।

द्वादशमङ्गं पञ्चप्रकारं । के ते पञ्च प्रकाराः—एकं परिकर्म द्वितीयं सूत्रं तृतीयः प्रथमानुयोगः चतुर्थं पूर्वगतं पंचमी चूलिका चेति । तत्र परिकर्मणः पंच भेदाः । ते के ? चन्द्रप्रज्ञप्तिः १ सूर्यप्रज्ञप्तिः २ जम्बू-द्वीपप्रज्ञप्तिः ३ द्वीपसागरप्रज्ञप्तिः ४ व्याख्याप्रज्ञप्तिश्चेति ५ । तत्र पञ्चसहस्राधिकषट्त्रिंशल्लक्षपदपरिमाणा चन्द्रायुर्गतिवैभवादिप्रतिपादिका चन्द्रप्रज्ञप्तिः ३६०५००० । त्रिसहस्रपञ्चलक्षपदपरिमाणा सूर्यायुर्गतिविभवादि-प्रतिपादिका सूर्यप्रज्ञप्तिः ५०३००० । पञ्चविंशतिसहस्रलक्षत्रयपदपरिमाणा जम्बूद्वीपस्याखिलवर्ष-वर्षधरादि-समन्वितस्य प्ररूपिका जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिः ३२५००० । षट्त्रिंशत्सहस्रद्विपञ्चाशल्लक्षपदपरिमाणा असंख्यात-द्वीपसमुद्रस्वरूपप्ररूपिका द्वीपसागरप्रज्ञप्तिः ५२३६००० । चतुरशीतिलक्षषट्त्रिंशत्सहस्रपदपरिमाणा जीवादि-द्रव्याणां रूपित्वादिस्वरूपनिरूपिका व्याख्याप्रज्ञप्तिः ८४३६००० । अष्टाशीतिलक्षपदपरिमाणं जीवस्य कर्म कर्तृत्वतत्फलभोक्तृत्वसर्वगतत्वादिधर्मविधायकं पृथिव्यादिप्रभवत्वाणुमात्रत्व-सर्वगतत्वादिधर्मनिषेधकं च सूत्रम्

८८०००००। पञ्चसहस्रपदपरिमाणस्त्रिपष्टिशलाकापुरुषपुराणानां प्ररूपकः प्रथमानुयोगः ५०००। पंचनवति-कोटिपंचाशल्लक्षपंचपदपरिमाणं निखिलार्थानां उत्पादव्ययध्रौव्याद्यभिधायकं पूर्वगतम् ९५५००००००५। जल-गता स्थलगता मायागता रूपगता आकाशगता चेति पंचविधा चूलिका। तत्र कोटीद्वयनवलक्षैकान्ननवतिसहस्र-शतद्वयपरिमाणा जलगमन-स्तम्भनादिहेतूनां मन्त्र-तन्त्र तपश्चरणानां प्रतिपादिका जलगता २०९८९२००। स्थलगताप्येतावत्पदपरिमाणैव भूमिगमनकारणमन्त्र-तन्त्रादिसूचिका पृथिवीसम्बन्धिवास्तुविद्यातिप्रतिपादिका च। मायागताप्येतावत्पदपरिमाणैव, इन्द्रजालादिक्रियाविशेषप्ररूपिका। रूपगताप्येतावत्पदपरिमाणैव व्याघ्र-सिंह-हरिणादिरूपेण परिणमनकारणमन्त्र-तन्त्रादेश्चित्रकर्मादिलक्षणस्य प्रतिपादिका। आकाशगताप्येताव-त्पदपरिमाणैव आकाशगतिहेतुभूतमन्त्र तन्त्र-तपःप्रभृतीनां प्रकाशिका।

अथ चतुर्दशपूर्वस्वरूपं निरूप्यते—जीवादेरुत्पादव्ययध्रौव्यप्रतिपादकं कोटिपदमुत्पादपूर्वम् १००००००० षण्णवतिलक्षपदमंगानामग्रभूतार्थस्य प्रधानभूतार्थस्य प्रतिपादकमग्रायणीयम् ९६०००००। सप्ततिलक्षपदं चक्रधर-सुरपति धरणेन्द्र-केवल्यादीनां वीर्यमाहात्म्यव्यावर्णकं वीर्यानुप्रवादम् ७००००००। षष्टिलक्षपदं षट्पदार्थानामनेकप्रकारैरस्तित्व-नास्तित्वधर्मसूचकं अस्तिनास्तिप्रवादम् ६००००००। एकोनकोटिपदं अष्ट-ज्ञानप्रकाराणां तदुदयहेतूनां तदाधाराणां च प्ररूपकं ज्ञानप्रवादम् ९९९९९९९। षडधिकैककोटिपदं वाग्गुप्ति-वाक्संस्काराणां कण्ठादिस्थानानां आविष्कृतवक्तृत्वपर्यायद्वीन्द्रियादिवक्तॄणां शुभाशुभरूपवचःप्रयोगस्य च सूचकं सत्यप्रवादम् १००००००६। षड्विंशतिकोटिपदं जीवस्य ज्ञानसुखादिमयत्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि-धर्मप्रतिपादकं आत्मप्रवादम् २६०००००००। अशीतिलक्षैककोटिपदं कर्मणां बन्धोदयोदीरणोपशम-निर्जरादिप्ररूपकं कर्मप्रवादम् १८००००००। चतुरशीतिलक्षपदं द्रव्यपर्यायाणां प्रत्याख्यानस्य निवृत्तेर्व्या-वर्णकं प्रत्याख्याननामधेयम् ८४०००००। दशलक्षैककोटिपदं क्षुद्रविद्यासप्तशती महाविद्यापञ्चशती-मष्टांगनिमित्तानि च प्ररूपयत्पृथु विद्यानुप्रवादम् ११००००००। षड्विंशतिकोटिपदं अर्हद्बलदेव-वासुदेव—चक्रवर्त्यादीनां कल्याणप्रतिपादकं कल्याणनामधेयम् २६०००००००। त्रयोदशकोटिपदं प्राणापान-विभागायुर्वेद-मन्त्रवाद गारुडादीनां प्ररूपकं प्राणावायम् १३००००००। नवकोटिपदं द्वासप्ततिकलानां छंदोऽलंकारादीनां च प्ररूपकं क्रियाविशालम् ९००००००। पञ्चाशल्लक्षद्वादशकोटिपदं लोकबिन्दुसारं मोक्षसुखसाधनानुष्ठानप्रतिपादकम् १२५००००००। पूर्वाणामनुक्रमेण वस्तुसंख्या दश १ चतुर्दश २, अष्ट ३, अष्टादश ४, द्वादश ५, द्वादश ६, षोडश ७, विंशतिः ८, त्रिंशत् ९, पञ्चदश १०, दश ११, दश १२, दश १३, दश १४। एवमेकत्र वस्तुसंख्या १९५। एकैकस्मिन् वस्तुनि प्राभृतानि २०। एवं प्राभृ-तानि ३९००। द्वादशानामंगानां समुदितपदसंख्या—११२८३५८००५।

कोटीशतं द्वादश चैव कोट्यो लक्षाण्यशीतिस्त्र्यधिकानि चैव।
पञ्चाशदष्टौ च सहस्रसंख्यमेतच्छ्रुतं पञ्चपदं नमामि॥

त्रिविधं हि पदं-अर्थपदं प्रमाणपदं मध्यमपदं चेति। तत्र अनियताक्षरं अर्थपदं समासगतमसमासगतं क्रियापदं अव्ययं वा अर्थपदमुच्यते। यावन्त्यक्षराणि अर्थादनपेतानि तावत्प्रमाणमर्थपदम्। प्रमाणपदं तु अष्टा-क्षरं अंगबाह्यश्रुतसंख्यानिरूपकं श्लोकचतुर्थपादरूपम्। मध्यमपदं तु अंगप्रविष्टश्रुतसंख्याख्यापकम्। तस्य मध्यमपदस्य वर्णास्तु एते भवन्ति—चतुस्त्रिंशदधिकषोडशशतकोट्यः त्र्यशीतिलक्षाणि सप्तसहस्राणि अष्टशतानि अष्टाशीतिश्चेति। १६३४८३०७८८८। अंगबाह्यश्रुतं प्रकीर्णकसंज्ञकम्। तस्य वर्णाः अष्टौ कोट्यः एको लक्षः अष्टौ सहस्राः एकं शतं पंचसप्ततिश्चेति ८०१०८१७५। कानि तानि चतुर्दशप्रकीर्णकानि? अनगारसागार-यतीनां नियतानियतकालः समयः समता, तत्प्रतिपादनं प्रयोजनं यस्य तत्सामयिकम् (१)। वृषभादीनां चतुस्त्रिंशदतिशयप्रातिहार्यलांछन-वर्णादिव्यावर्णकं चतुर्विंशतिस्तवम् (२)। अर्हदादीनामेकैकशान्तिनन्दना-भिधानबोधिका वन्दना (३)। दिवस-रात्रि-पक्ष-चतुर्मासंसंवत्सरेर्यापथोत्तमार्थप्रभवसप्तप्रतिक्रमणप्ररूपकं प्रति-क्रमणम् (४)। ज्ञान-दर्शन-तपश्चारित्रोपचारलक्षणपंचविधविनयप्ररूपकं वैनयिकम् (५)। दीक्षाग्रहणादि-

क्रियाप्रतिपादकं कृतिकर्म (६) । द्रुमपुष्पितादिदशाधिकारैर्मुनिजनाचरणसूचकं दशवैकालिकम् (७) । नानोपसर्गसहनतत्फलादिनिवेदकं उत्तराध्ययनम् (८) । यतीनां कल्पं योग्यमाचरणं आचरणच्यवने प्रायश्चित्तप्ररूपयत्कल्पव्यवहारम् (६) । सागारानगारयतीनां कालविशेषमाश्रित्य योग्यायोग्यविकल्पमाचरणं निरूपयत्कल्पाकल्पम् (१०) । दीक्षा शिक्षा गणपोषणात्मसंस्कारभावनोत्तमार्थभेदेन षट्कालप्रतिबद्धं यतीनामाचरणं प्रतिपादयत् महाकल्पं (११) । भवनवास्यादिदेवेपूत्पत्तिकारणतपःप्रभृतिप्रतिपादकं पुण्डरीकम् (१२) । अमरामरांगनाप्सरःसूत्पत्तिहेतुप्ररूपकं महापुण्डरीकम् (१३) । सूक्ष्म-स्थूलदोषप्रायश्चित्तं पुरुषवयः-सत्त्वाद्यपेक्षया प्ररूपयन्ती अशीतिका (१४) । परमावधि-सर्वावधी चरमदेहानां भवतः । देशावधिस्तु सर्वेषामपि । मनःपर्ययस्तु अर्धतृतीयद्वीपक्षेत्रम् । केवलं सर्वव्यापकम् । मतिज्ञानस्य तु षट्त्रिंशदधिकत्रिशतभेदाः पूर्वमेवोक्ताः । एवं ज्ञानचैतन्यभेददृक् । अथवा चैतन्याद् ज्ञानं भिन्नं वर्तते, हिमवन्मकराकरवत्; इति केचिन्मन्यन्ते । भगवांस्तु नययोगेन ज्ञानचैतन्यभेददृक्; तत्प्रमाणशास्त्रादुन्नेयम् (४३) ।

अस्वसंविदितज्ञानवादी सत्कार्यवादसात् ।
त्रिप्रमाणोऽक्षप्रमाणः स्याद्वादंकारिकाक्षदिक् ॥११७॥

अस्वसंविदितज्ञानवादी—सांख्यमते किलात्मा मुक्तः सन् स्वं आत्मानं न वेत्ति, ईदृशं ज्ञानं वदतीति अस्वसंविदितज्ञानवादी । स्वमते तु निर्विकल्पसमाधौ स्थित आत्मा रागद्वेषमोहादिसंकल्प-विकल्परहितत्वान्न स्वो विदितो येन ज्ञानेन तत् अस्वसंविदितज्ञानम् । ईदृशं ज्ञानं वदतीत्येवंशीलः अस्वसंविदितज्ञानवादी (४४) । **सत्कार्यवादसात्**— सत्कार्यः सांख्यः । सत्कार्ये सांख्यकपिलौ इति वचनात् । सत्कार्यस्य सांख्यस्य वादः सत्कार्यवादः । असत्कार्यवादः सन् सत्कार्यवादो भवति सत्कार्यवादः, अभूततद्भावे सातिर्वा सात् । सत्कार्यवादसात् । तन्न घटते । किं तर्हि संगच्छते ? सत्समीचीनं कार्यं संवर-निर्जरादिलक्षणं कार्यं कर्तव्यं करणीयं कृत्यं सत्कार्यम् । तस्य वादः शास्त्रं सत्कार्यवादः । असत्कार्यवादः सन् भगवान् सत्कार्यवादो भवतिसत्कार्यवादसात् । अभिव्याप्तौ संपद्यतौ सातिर्वा इत्यनेन सूत्रेण सात्प्रत्ययः, सादन्तमव्ययं ज्ञातव्यम् । अथवा सत्कार्यवादस्य सा शोभा लक्ष्मीस्तां अत्ति भक्षयति चर्वति चूर्णीकरोति निराकरोतीति सत्कार्यवादसाद् । एवं सति दकारान्तोऽयं शब्दः (४५) । **त्रिप्रमाणः**—सांख्यमते त्रीणि प्रमाणानि प्रत्यक्षमनुमानं शब्दश्चेति । तानि त्रीणि प्रमाणानि न संगच्छन्ते **न्यायकुमुदचन्द्रोदये प्रभाचन्द्रेण** भगवता शतखण्डीकृतत्वात् । भगवान् त्रिप्रमाणो घटते । तत्कथम् ? त्रीणि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि प्रमाणं मोक्षमार्गतयाऽभ्युपगतं यस्य स त्रिप्रमाणः । अथवा त्रिषु लोकेषु इन्द्र-धरणेन्द्र मुनीन्द्रादीनां प्रमाणतयाऽभ्युपगतः त्रिप्रमाणः । अथवा तिस्रः प्रमाः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि अनिति जीवयति त्रिप्रमाणः (४६) । **अक्षप्रमाणः**—सांख्यादिमते अक्षैश्चक्षुरादीन्द्रियैर्यल्लब्धं तत्प्रत्यक्षप्रमाणम्, तेन अक्षप्रमाणः सांख्यादिकः । भगवांस्तु अक्ष आत्मा प्रमाणं यस्य सोऽक्षप्रमाणः (४७) । **स्याद्वादंकारिकाक्षदिक्**—स्याद्वा इत्यस्य शब्दस्य अहंकारो वादः स्याद्वादंकारः । स्याद्वादंकारे नियुक्तः स्याद्वादंकारिकः अक्ष आत्मा स्याद्वादंकारिकाक्षः, ईदृशमक्षमात्मानं दिशति उपदेशयति स्याद्वादंकारिकाक्षदिक्, स्याच्छब्दपूर्वकवादविधायीत्यर्थः (४८) । उक्तञ्च **समन्तभद्राचार्यैः**—

सर्वथा नियमत्यागी यथादृष्टमपेक्षकः ।
स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषाम्[1] ॥

क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषो नरो ना चेतनः पुमान् ।
अकर्ता निर्गुणोऽमूर्तो भोक्ता सर्वगतोऽक्रियः ॥११८॥

क्षेत्रज्ञः—क्षियन्ति अधिवसन्ति तदिति क्षेत्रम् । सर्वधातुभ्यष्ट्रन् । क्षेत्रं अधोमध्योर्ध्वलोकलक्षणं त्रैलोक्यं अलोकाकाशं च जानाति क्षेत्रज्ञः । नाम्युपधाप्रीकृगृज्ञां कः । आलोपोऽसार्वधातुके । अथवा क्षेत्रं भगं भगस्वरूपं जानातीति क्षेत्रज्ञः । उक्तञ्च भगस्वरूपं **शुभचन्द्रेण** मुनिना—

[1] स्वयम्भूस्तो० श्लो० १०२ ।

मैथुनाचरणे मूढ म्रियन्ते जन्तुकोटयः।
योनिरन्ध्रसमुत्पन्ना लिंगसंघट्टपीडिताः॥

एकैकस्मिन् याते असंख्येयाः पंचेन्द्रियादयो जीवा म्रियन्त इत्यर्थः। याणु याणु असंखेज्जा इति वचनात्। अथवा क्षेत्राणि वंशपत्र-कूर्मोन्नत-शंखावर्तयोनीर्जानातीति क्षेत्रज्ञः। वंशपत्रयोनिः सर्वलोकोत्पत्तिसामान्या। कूर्मोन्नतयोनौ शलाकापुरुषा उत्पद्यन्ते। शंखावर्तयोनौ न कश्चिदुत्पद्यते। अथवा क्षेत्रं स्त्री, तत्स्वरूपं जानातीति क्षेत्रज्ञः। उक्तञ्च—

पुत्रामुत्तमनायिकामभिजनावर्ज्यां मुक्तिप्रेयसीं
मुक्तिस्त्रीललनां गुणप्रणयिनीं गन्तुं तवेच्छा यदि।
तां त्वं संस्कुरु वर्जयान्यवनितावार्त्तामपीह स्फुटं
तस्यामेव रतिं तनुष्व नितरां प्रायेण सेर्ष्याः स्त्रियः[1]॥

अथवा क्षेत्रं शरीरं शरीरप्रमाणमात्मानं जानातीति क्षेत्रज्ञः। न हि श्यामाककणमात्रः, न चांगुष्ठप्रमाणः, न च वटस्थितवच्चक्रवदेकदेशस्थितः, न च सर्वव्यापी जीवपदार्थः। किन्तु निश्चयनयेन लोकप्रमाणोऽपि व्यवहारेण शरीरप्रमाण इति जानातीति क्षेत्रज्ञः (४९)। **आत्मा**:—अत सातत्यगमने, अतति सततं गच्छति लोकालोकस्वरूपं जानातीति आत्मा। सर्वधातुभ्यो मन्, बोपवत्योश्च कृतिः, इट् निषेधः (५०)। **पुरुषः**—पुरुणि महति इन्द्रादीनां पूजिते पदे शेते तिष्ठतीति पुरुषः (५१)। **नरः**—नृणाति नयं करोतीति नरः। नृ नये। अचपचादिभ्यश्च। अथवा न राति न किमपि गृह्णाति नरः। डोऽसंज्ञायामपि। परमनिर्ग्रन्थ इत्यर्थः। उक्तञ्च समन्तभद्रेण भगवता—

प्रातिहार्यविभवैः परिष्कृतो देहतोऽपि विरतो भवानभूत्।
मोक्षमार्गमशिषन्नरामरानापि शासनफलैषणातुरः[2]॥

अथवा न विद्यतेऽरः कामो यस्य स नरः। उक्तञ्च—

कन्दर्पस्योद्धुरो दर्पस्त्रैलोक्यविजयार्जितः।
ह्रेपयामास तं धीरे त्वयि प्रतिहतोदयः[3]॥

अन्यच्च—प्रसंख्यानपवित्रावकल्पुष्टानुस्थानमन्मथमदद्विरिद्विरन्द्रस्मरविजयः। अथवा न विद्यते रा रमणी यस्य स नरः (५२)। उक्तञ्च—

यो न च याति विकारं युवतिजनकटाक्षबाणविद्धोऽपि।
स त्वेव शूरशूरो रणशूरो नो भवेच्छूरः॥

तथा चाह भोजराजः—

कन्तोः सकान्तमपि मल्लमवैति कश्चि-
न्मुग्धो मुकुन्दमरविन्दजमिन्दुमौलिम्।
मोघीकृतत्रिदशयोषिदपांगपात-
स्तस्य त्वमेव विजयी जिनराजमल्लः[4]॥

ना नयति समर्थतया भव्यजीवं मोक्षमिति ना। नयतेर्डिच्चेति तृन्प्रत्ययः (५३)। **चेतनः**—चेतति लोकालोकस्वरूपं जानाति ज्ञापयति वा चेतनः। नन्द्यादेर्युः (५४)। **पुमान्**—पुनाति पुनीते वा पवित्रयति

१ आत्मानुशा० श्लो० १२८। २ स्वयम्भूस्तो० श्लो० ७३। ३ स्वयम्भूस्तो० श्लो०६४। ४ भूपालचतुर्विं०श्लो०१२।

आत्मानं निजानुगं त्रिभुवनस्थितमव्यजनसमूहं च पुमान्। पूञो ह्रस्वश्च सिमॅनन्तश्च पुमन्स। पातीति पुमानिति केचित् (५५)। अकर्त्ता—न करोति पापमिति अकर्त्ता। अथवा अं शिवं परमकल्याणं करोतीति अकर्त्ता। अथवा अस्य परमब्रह्मणः कर्त्ता अकर्त्ता संसारिणं जीवं मोचयित्वा सिद्धपर्यायस्य कारक इत्यर्थः। अः शिवे केशवे वायौ ब्रह्मचन्द्राग्निभानुषु इति विश्वप्रकाशे (५६)। निर्गुणः—निश्चिताः केवलज्ञानादयो गुणा यस्य स निर्गुणः। अथवा निर्गता गुणा रागद्वेषमोहक्रोधादयोऽशुद्धगुणा यस्मादिति निर्गुणः। उक्तञ्च—

> क्षुत्पिपासाजरातंकजन्मान्तकभयस्मयाः।
> न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते[1] ॥

चकाराच्चिन्तारतिनिद्राविषादस्वेदखेदविस्मया लभ्यन्ते। अष्टादशदोषरहित इत्यर्थः। अथवा निर्गता समुदिता गुणास्तन्तवो वस्त्राणि यस्मादिति, निर्गुणो दिगम्बर इत्यर्थः। अथवा निर्नीचैः स्थितान् पादपद्मसेवातत्परान् भव्यजीवान् गुणयतीति आत्मसमानगुणयुक्तान् करोतीति निर्गुणः (५७)। उक्तञ्च—

> आत्मा मनीषिभिरयं त्वदभेदबुद्ध्या
> ध्यातो जिनेन्द्र भवतीहि भवत्प्रभावः।
> पानीयमप्यमृतमित्यनुचिन्त्यमानं
> किं नाम नो विषविकारमपाकरोति[2] ॥

इति कुमुदचन्द्रैः। तथा च मानतुङ्गैरपि—

> नात्यद्भुतं भुवनभूषण भूतनाथ,
> भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः।
> तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा
> भूत्याऽऽश्रितं य इह नात्मसमं करोति[3] ॥

अमूर्त्तः—मूर्च्छा मोह-समुच्छ्राययोः। मूर्च्छ्यते स्म मूर्त्तः। निष्ठा क्तः। नामिनोर्वोरकुर्छुरोर्व्यञ्जने इत्यनेन मूर्च्छः, राल्लोप्यौ इत्यनेन छकारलोपः। निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याप्यभावः इत्यनेन चकारलोपः। राल्लिष्टातो नोऽपूमूर्च्छिमदिख्याध्याभ्यः इत्यनेन निष्ठातकारस्य तकार एव, न तु नकारः। आदनुबन्धाच्च निष्ठावेट्, मूर्त्त इति निष्पन्नम्। कोऽर्थः? मूर्त्तो मोहं प्राप्तः, न मूर्त्तो न मोहं प्राप्तः अमूर्त्तः। अथवा अमूर्त्तो मूर्त्तिरहितः सिद्धपर्यायं प्राप्तः। ननु

> अताम्रनयनोत्पलं सकलकोपवह्नेर्जयात्
> कटाक्षशरमोक्षहीनमविकारितोद्रेकतः।
> विषादमदहानितः प्रहसितायमानं सदा
> मुखं कथयतीव ते हृदयशुद्धिमात्यन्तिकीम्[4] ॥

इत्यादि गौतमेन भगवता जिनरूपवर्णनात्। अमूर्त्तः कथमिति चेन्न, भाविनि भूतवदुपचारः, इति परिभाषासूत्रबलेन भगवान् मूर्त्तोऽपि अमूर्त्त उच्यते। अमूर्त्तभावित्वात्। अथवा न विद्यते मूर्त्तिः प्रतिनमस्कारो यस्य स अमूर्त्तः। प्रज्ञादित्वाण्णः। अथवा न विद्यते मूर्त्तिः काठिन्यं यस्य स अमूर्त्तः, मार्दवोत्तमधर्मोपेतत्वात्। सांख्यमते तु—

---

१ रत्नक० श्लो० ६। २ कल्याणमं० श्लो० १७। ३ भक्ताम० श्लो० १४। ४ चैत्यभक्ति० श्लो० ३१।

अकर्ता निर्गुणः शुद्धो नित्यः सर्वगतोऽक्रियः ।
अमूर्तश्चेतनो भोक्ता पुमान् कपिलशासने[1] ॥

एतच्च चार्वर्चितं[2] । कस्मात् ? सोमदेवेन सूरिणा खण्डितत्वात् (५८) ।

अकर्तापि पुमान् भोक्ता क्रियाशून्योऽप्युदासिता ।
नित्योऽपि जातसंसर्गो सर्वगोऽपि वियोगभाक् ॥
शुद्धोऽपि देहसम्बद्धो निर्गुणोऽपि स मुच्यते ।
इत्यन्योन्यविरुद्धोक्तं न युक्तं कापिलं वचः[2] ॥

भोक्ता—भुंक्ते परमानन्दसुखमिति भोक्ता (५९) । **सर्वगतः**—सर्वं परिपूर्णं गतं केवलज्ञानं यस्य स सर्वगतः । अथवा ज्ञानापेक्षया, न तु प्रदेशापेक्षया, सर्वस्मिन् लोकेऽलोके च गतः प्राप्तः सर्वगतः । अथवा लोकपूरणावसरसमुद्घातापेक्षया निजात्मप्रदेशैस्त्रिभुवनव्यापकः सर्वगतः (६०) । **अक्रियः**—भगवान् खलु प्रमादरहितत्वेन प्रतिक्रमणादिक्रियारहितत्वादक्रियः (६१) ।

द्रष्टा तटस्थः कूटस्थो ज्ञाता निर्बन्धनोऽभवः ।
बर्हिर्विकारो निर्मोक्षः प्रधानं बहुधानकम् ॥ ११६ ॥

द्रष्टा—केवलदर्शनेन सर्वं लोकालोकं पश्यतीत्येवंशीलः द्रष्टा । तृन् (६२) । **तटस्थः**—तटे संसारपर्यन्ते मोक्षनिकटे तिष्ठतीति तटस्थः । नाम्नि स्थश्च कप्रत्ययः (६३) । **कूटस्थः**—अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावत्वात्कूटस्थः, त्रैलोक्यशिखराग्रे स्थित इत्यर्थः । तदपि भाविनयापेक्षया ज्ञातव्यम् (६४) । **ज्ञाता**—जानातीत्येवंशीलो ज्ञाता, केवलज्ञानवानित्यर्थः (६५) । **निर्बन्धनः**—निर्गतानि बन्धनानि मोहज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायकर्माणि यस्य स निर्बन्धनः (६६) । **अभवः**—न विद्यते भवः संसारो यस्य सोऽभवः (६७) **बर्हिर्विकारः**—बर्हिर्बाह्ये विकारो विकृतिर्यस्य स बर्हिर्विकारः । अनम्बरसहितो नग्न इत्यर्थः । वस्त्रादिकस्वीकारो विकारः, तस्माद् रहितो बर्हिर्विकारः । अथवा विरूपकाकारं बन्धग्रहं विकारं प्राणिनां शरीरम् । बहिर्गतो आत्मनो भिन्नो विकारो यस्य मते स बर्हिर्विकारः । अथवा विशिष्टपरमौदारिकशरीरं कर्म च बर्हिर्यस्येति बर्हिर्विकारः । अथवा बर्हः पक्षिणः, बर्ह एव पिच्छा दिव्यपक्षिणः बर्हिः श्रीमण्डपाद्बाह्ये अशोकवृक्षोपरिस्थितः पिच्छा दिव्यपक्षिण आयान् सर्वार्थं यस्य स बर्हिर्विकारः । योजनैकप्रमाणश्रीमण्डपोपरिस्थितयोजनैकप्रमाणशोकवृक्षोपरि लीनादिव्यपक्षियोगभिरमन्तेऽपि इत्यर्थः, बर्हिर्विकारः । अथवा बहिर्गतो विकारोऽणिमादिविक्रिया यस्य स बर्हिर्विकारः । अणिमा-महिमादयो विक्रिया विकृतयः षष्ठे गुणस्थाने भवन्ति, भगवांस्तु त्रयोदशे गुणस्थाने वर्तते (६८) । **निर्मोक्षः**—निश्चितो नियमेन मोक्षो यस्येति निर्मोक्षः, तद्भव एव मोक्षं यास्यतीति नियमोऽस्ति भगवतो निर्मोक्षस्तेनोच्यते (६९) । **प्रधानम्**—सांख्यमते प्रधानं चतुर्विंशतिप्रकृतिरूपमुच्यते, अव्यक्तं बहुधानकं च कथ्यते । स्वमते डुधाञ् डुकृञ् धारण-पोषणयोरिति तावद्धातुर्वर्तते । प्रधीयते एकाग्रतया आत्मनि आत्मा धार्यते इति प्रधानं परमशुक्लध्यानम्, तद्योगाद्भगवानपि प्रधानमित्यविरुद्धलिङ्गतयोच्यते (७०) । **बहुधानकम्**—बहु प्रचुरं निर्भरं, तदुपलक्षितं धानकं पूर्वोक्तलक्षणं परमशुक्लध्यानं बहुधानकम्, तद्योगाद् भगवानपि बहुधानकं अजहल्लिङ्गतया तथोच्यते । अथवा बहुधा बहुप्रकारा आनकाः पटहानि सन्ति समवसरणे तत्समवसरणं बहुधानकम्; द्वादशकोटिप्रमाणपटहवादित्रोपलक्षितं समवसरणं बहुधानकमुच्यते; तद्योगाद् भगवानप्यविरुद्धलिङ्गतया बहुधानकमुच्यते । उक्तञ्च—

अम्बरचरकुमारैर्हस्तास्फालितवेणुवल्लकीपणवानक-
मृदङ्गशंखकाहलात्रिविलतालझल्लरीभेरीभंभा
प्रमुख्यनवविवनशुषिरतनावनद्धवाद्यनाद-
निर्वहितनिखिलविश्वाविधिपापामनाथदुस्तरम्[3] ॥

१ यशस्ति० ५, पृ० २५० । २ यशस्ति० ५, पृ० २५३ । ३ यशस्ति० ८, पृ० ३८४ ।

अथवा अननं आनो जीवितव्यम्। बहुधा बहुप्रकारेणोपलक्षितं कं सुखं बहुधानकम्। तदुपलक्षणं बहुधा जीवितेनोपलक्षितं दुःखं चेति लभ्यते तेन तावद् दुःखमेव जीवितव्यं निरूप्यते। निगोतमध्येऽन्तर्मुहूर्त्तेन षट्षष्टिसहस्रत्रिशतषट्त्रिंशद्वारान् जीवा म्रियन्ते, तन्मरणापेक्षयाऽल्पजीवितं ज्ञातव्यम्। उक्तञ्च—

छत्तीसा तिण्णि सया छावट्ठिसहस्सवारमरणाइं।
अंतोमुहुत्तमज्झे पत्तो सि निगोदमज्झम्मि[1] ॥
वियलिंदिए असीदी सट्ठी चालीस एव जाणेह।
पंचक्खे चउवीसं खुद्दभवंतोमुहुत्तस्स[2] ॥

एवं नारकाणां दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम्। प्रथमनरके सागरोपमेनैकम्। द्वितीये त्रयः सागराः, तृतीये सप्त सागराः, चतुर्थे दश सागराः, पञ्चमे सप्तदश सागराः, षष्ठे द्वाविंशतिसमुद्राः, सप्तमे त्रयस्त्रिंशदुदन्वन्तः। सुखायुर्वर्ण्यते-कुभोगभूमिमनुष्येषु पल्यमेकम्। भोगभूमनुष्य-तिर्यक्षु जघन्यमध्यमोत्कृष्टायुः पल्य-द्विपल्य-त्रिपल्यानि क्रमात्। भवनवासिषु जघन्यं दशवर्षसहस्राणि। असुरेषु सागरं उत्कृष्टम्। नागेषु त्रीणि पल्यानि। सुपर्णकुमाराणां आयुः सार्धपल्यद्वयम्। द्वीपकुमाराणां पल्यद्वयम्। विद्युत्कुमाराग्निकुमारवातकुमारस्तनितकुमारोदधिकुमारदिक्कुमाराणां प्रत्येकं षट्कुमाराणामायुः सार्द्धं पल्यम्। व्यन्तराणां पल्यमेकम्। ज्योतिष्काणां च पल्यमेकम्। जघन्यं पल्याष्टमो भागः। सौधर्मैशानयोः सागरद्वयं सातिरेकम्। सानत्कुमारे माहेन्द्रे च सप्त सागराः। ब्रह्मणि ब्रह्मोत्तरे च दश सागराः। तत्र ब्रह्मणि लौकान्तिकानामष्टार्णवाः, इति विशेषः। लान्तवे कापिष्टे च चतुर्दशोदधयः। शुक्रे महाशुक्रे च षोडश समुद्राः। शतारे सहस्रारे चाष्टादश जलधयः। आनते प्राणते च विंशतिरब्धयः। आरणे अच्युते च द्वाविंशतिः सरस्वन्तः। नवसु ग्रैवेयकेषु च एकैकः सागरो वर्धते। नवानुदिशेषु द्वात्रिंशत्सागराः। पंचानुत्तरेषु त्रयस्त्रिंशदब्धयः। अन्यदायुर्भेदस्वरूपमागमाद् बोधव्यम्। एवं बहुधानकनामस्वरूपं व्याख्यातं भवति (७१)।

प्रकृतिः ख्यातिरारूढप्रकृतिः प्रकृतिप्रियः।
प्रधानभोज्योऽप्रकृतिर्विरम्यो विकृतिः कृती ॥१२०॥

प्रकृतिः—सांख्यमते प्रकृतिः सत्त्वरजस्तमःसाम्यावस्थाऽपरनाम्नी चतुर्विंशतिप्रकारा। सा किल नित्यस्वरूपा। पंचविंशतितमः आत्मा। स किल व्यापिस्वभावः। तयोर्भेदज्ञाने ख्यातिर्मुक्तिर्भवति। सा प्रकृतिः पंगुसदृशी, आत्मा तु अन्धसदृशः। तन्मतनिरासार्थमयं श्लोकः—

अव्यक्तनरयोर्नित्यं नित्यव्यापिस्वभावयोः।
विवेकेन कथं ख्यातिं सांख्यमुख्याः प्रचक्षिरे[3] ॥

प्रकृतिर्नित्या, आत्मा तु व्यापी तयोर्विवेकोऽपि न भवति, कथं मुक्तिः स्यात्? श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञस्तु प्रकृतिः। कृतिः करणं कर्तव्यं तीर्थप्रवर्तनम्, प्रकृष्टा त्रैलोक्यहितकारिणी कृतिस्तीर्थप्रवर्त्तनं यस्य स प्रकृतिः। अथवा आविष्टलिंगमिदं नाम चेत् तदा प्रकृतिस्वभावाद्भगवानपि प्रकृतिः। अथवा तीर्थंकरनामप्रकृतियुक्तत्वात् प्रकृतिः। अथवा प्रकृतिः स्वभावः, धर्मोपदेशादिस्वभावयुक्तत्वात् प्रकृतिः (७२)। उक्तञ्च—

न क्वापि वांछा ववृते च वाक्ते काले क्वचित्कोऽपि तथा नियोगः।
न पूरयाम्यम्बुधिमित्युदंशुः स्वयं हि शीतद्युतिरभ्युदेति[4] ॥

ख्यातिः—सांख्यमते ख्यातिर्मुक्तिरुच्यते। ख्यानं प्रकृष्टं कथनं यथावत्तत्त्वस्वरूपनिरूपणं ख्यातिः तद्योगाद्भगवानपि ख्यातिरित्याविष्टलिंगमिदं नाम। सकलतत्त्वस्वरूपप्रकथक इत्यर्थः (७३)। **आरूढप्रकृतिः**—आ समन्ताद् रूढा त्रिभुवनप्रसिद्धा प्रकृतिस्तीर्थंकरनामकर्म यस्येति स आरूढप्रकृतिः (७४)।

१ भावपा० २८। गो० जी० १२२। २ भावपा० २९। ३ यशस्ति०२, पृ० २७१। ४ विषाप० ३०।

प्रकृतिप्रियः—प्रकृत्या स्वभावेन प्रियः सर्वजगद्वल्लभः प्रकृतिप्रियः। अथवा प्रकृतीनां लोकानां प्रियः प्रकृतिप्रियः सर्वलोकवल्लभ इत्यर्थः (७५)। **प्रधानमोक्ष्यः**—सांख्यमते प्रधानं प्रकृतिरुच्यते, तन्मते प्रधानं प्रकृतिर्मोक्ष्यमास्वादनीयम्। तदुक्तं—

कृतकर्मक्षयो नास्ति कल्पकोटिशतैरपि।
अवश्यमेव हि भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्॥

एवं च सति मुक्तेरभावो भवति। भगवांस्तु प्रधानमोक्ष्यः। प्रकृष्टं धानं सावधानं आत्मन एकाग्रचिन्तनं अध्यात्मरसः तद्वोक्ष्यं आस्वाद्यं यस्य स प्रधानमोक्ष्यः, आत्मस्वरूपामृतास्वादनचर्वण इत्यर्थः (७६)। **अप्रकृतिः**—दुष्टप्रकृतीनां त्रिषष्टेः कृतक्षयत्वात् शेषा अघातिप्रकृतयः सत्योऽपि असमर्थत्वात्तासां सत्त्वमपि असत्त्वं दग्धरज्जुसमतया निर्बलत्वं अकिंचित्करत्वं यतस्तेन भगवानप्रकृतिः। सर्वेषां प्रभुत्वाद्वा अप्रकृतिः। (७७)। **विरम्यः**— विशिष्टानामिन्द्र धरणेन्द्र-नरेन्द्र-मुनीन्द्र-चन्द्रादीनां विशेषेण रम्योऽतिमनोहरो विरम्यः, अतिशयरूपसौभाग्यप्रवृत्तित्वात्। तथा चोक्तं—

तव रूपस्य सौन्दर्यं दृष्ट्वा तृप्तिमनापिवान्।
द्वयक्षः शक्रः सहस्राक्षो बभूव बहुविस्मयः[1]॥

अथवा विगतं विनष्टं आत्मस्वरूपत्वादन्यन्मनोहरं वस्तु इष्टस्त्रवनिताचन्दनादिकं यस्य स विरम्यः। आत्मस्वरूपं विना भगवतोऽन्यद्वस्तु रम्यं मनोहरं न वर्तत इत्यर्थः (७८)। तथा चोक्तम्—

शुद्धबोधमयमस्ति वस्तु यद्रामणीयकपदं तदेव नः।
स प्रमाद इह मोहजः क्वचित्कल्प्यते यदपरेऽपि रम्यता॥

विकृतिः—विशिष्टा कृतिः कर्तव्यता यस्येति विकृतिः। अथवा विगता विनष्टा कृतिः कर्म यस्येति विकृतिः, कृतकृत्यः कृतार्थ इति यावत् (७९)। **कृती**—सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यं इति वचनात् कृतं पुण्यं विद्यते यस्य स कृती, निदानदोषरहितविशिष्टपुण्यप्रकृतिरित्यर्थः। अथवा कृती योग्यः हरि-हर-हिरण्यगर्भादीनामसम्भविन्याः शक्रादिकृतायाः पूजाया योग्य इत्यर्थः। अथवा कृती विद्वान्—अनन्तकेवलज्ञानानन्तकेवलदर्शनतद्वुत्पलोकालोकविज्ञानसामर्थ्यलक्षणानन्तशक्ति-तद्विज्ञानोत्थानन्तसौख्यसमृद्धः कृतीत्युच्यते; अनन्तचतुष्टयविराजमान इत्यर्थः (८०)।

मीमांसकोऽस्तसर्वज्ञः श्रुतिपूतः सदोत्सवः।
परोक्षज्ञानवादीष्टपावकः सिद्धकर्मकः॥१२१॥

मीमांसकः—मान पूजायाम् इति तावदयं धातुः, मान्-बध्-दान्-शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य अनेन सूत्रेण सन् प्रत्ययः। चपरोत्तरचिक्रीषितसनन्तेषु इत्यनेन मान् सद् द्विर्वचनम्। अभ्यासस्यादिव्यञ्जनमवशेष्यम्। अभ्यासस्य नकारलोपः। ह्रस्व इति ह्रस्वः। अभ्यासविकारेष्वपवादो नोत्सर्गं बाधते इति ज्ञापकात् सन्यवर्णस्य अभ्यासस्य इत्वं। पश्चात् दीर्घश्चाभ्यासस्य इत्यनेन ईकारः। मनोरनुस्वारो धुटि। मीमांस इति जातम्। मीमांसते मीमांसकः, बुण्-तृचौ। बुवुसामना कान्ताः, मीमांसक इति जातम्। परसमये भाट्टप्राभाकरवेदान्तवादिनः सर्वेऽप्यमी मीमांसका उच्यन्ते। श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञैस्तु जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वमिति सप्त तत्त्वानि, पुण्यपापसहितानि नव पदार्थाः, जीवपुद्गलधर्माधर्मकालाकाशाः षड् द्रव्याणि। जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशाः पञ्चास्तिकायाः कथ्यन्ते। एतानि स्वसमयतत्त्वानि। प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्तावयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा हेत्वाभास-च्छल-जाति-निग्रहस्थाननामानि

[1] स्वयम्भू० श्लो० ८३।

षोडश नैयायिकमततत्त्वानि । दुःख-समुदय-निरोध-मोक्षमार्गरूपाणि चत्वारि आर्यसत्यनामानि बौद्धमते तत्त्वानि । द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायाभिधानानि षट् तत्त्वानि काणादमते वर्तन्ते । चोदना-लक्षणो धर्मस्तत्त्वं जैमिनीयानाम् । सत्त्वरजस्तमःसाम्यावस्था प्रकृतिः । प्रकृतेर्महान् बुद्धिः, बुद्धेरहंकारः, अहङ्कारात् पञ्च तन्मात्राणि । सत्त्वादीनि त्रीणि च तत्त्वानि । पृथ्वीतन्मात्रं अप्तन्मात्रं तेजस्तन्मात्रं वायुतन्मात्रं आकाशतन्मात्रं चेत्यष्ट । पृथ्वी अप् तेजो वायुराकाशश्च पञ्च । एवं त्रयोदश । स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रं इति पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि । वाक्पाणिपादपायूपस्थानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि । एवं त्रयो-विंशतिः, चतुर्विंशं मनः, पञ्चविंशतितमो जीवः । एवं पञ्चविंशतितत्त्वानि सांख्यानाम् । पृथ्वी अप् तेजो वायुश्चत्वारि तत्त्वानि नास्तिकानाम् । एतानि स्वसमय-परसमयतत्त्वानि तत्तत्समयप्रमाणादीनि च मीमांसते विचारयति मीमांसकः । मीमांसको विचारकस्तर्हि पूजार्थः कथं लभ्यते ? युक्तमुक्तं भवता, यो विचारको यथावत्तत्त्वस्वरूपप्रतिपादकः स पूजां लभत एव (८१) । **अस्तसर्वज्ञः**—मीमांसकानां मते सर्वज्ञ-सर्व-दर्श्यादिविशेषणविशिष्टः कोऽपि देवो नास्ति, ततो वेद एव शाश्वतः प्रमाणमिति अस्तसर्वज्ञः । श्रीमद्भगव-दर्हत्सर्वज्ञस्तु अस्तसर्वज्ञः । तत्कथम् ? उच्यते—सर्वे च ते ज्ञाः सर्वज्ञाः सर्वविद्वान्सः जिमिनि-कपिल-कणचर-चार्वाक-शाक्यादयः, अस्ताः प्रत्युक्ताः सर्वज्ञा येन सोऽस्तसर्वज्ञः । उक्तञ्च—

> सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति प्रमा ।
> तावुभौ यदि सर्वज्ञौ मतभेदः कथं तयोः ॥

एवं रुद्रोऽपि सर्वज्ञो न भवति, एकेन कवलेन बहुप्राणिगणभक्षकत्वात् । तदुक्तं **पात्रकेसरिणा** महापण्डितेन—

> पिशाचपरिवारितः पितृवने नरीनृत्यते,
> क्षरद्रुधिरभीपणद्विरदकृत्तिहेलांपटः ।
> हरो हसति चायतं कहकहाट्टहासोल्वणं
> कथं परदेवेति परिपूज्यते पण्डितैः ॥

> मुखेन किल दक्षिणेन पृथुनाऽखिलप्राणिनां
> समत्ति शवपूतिमज्जरुधिरांत्रमांसानि च ।
> गणैः स्वसदृशैर्भृशं रतिमुपैति रात्रिंदिवं
> पिबत्यपि च यः सुरां कथमाप्तताभाजनम् ॥

> कमंडलु-मृगाजिनाक्षवलयादिभिर्ब्रह्मणः
> शुचित्वविरहादिदोपकलुपत्वमप्यूह्यते ।
> भयं विघृणता च विष्णु-हरयोः सशस्त्रत्वतः
> स्वतो न रमणीयता परिमूढता भूषणात् ॥

एवं सर्वेऽपि लोकदेवताः सर्वज्ञेन निराकृता भवन्तीति भावः । अतएव अस्तसर्वज्ञो भगवांनुच्यते (८२) । **अतिपूतः**—मीमांसकानां मते ऋग्वेद-यजुर्वेद-सामवेद-अथर्ववेदाः चत्वारिंशदध्यायलक्षणा संहिता च मन्त्रः सर्वोऽपि ग्रन्थः श्रुतिरुच्यते, तेन पूतः पवित्रो वेदधर्मः । स्वमते श्रुतिः सर्वज्ञस्य प्रथमवचनम् । उक्तञ्च—

> सर्वः प्रेप्सति सत्सुखाप्तिमचिरात्सा सर्वकर्मक्षयात्
> सद्वृत्तात्स च तच्च बोधनियतं सोऽप्यागमात्स श्रुतेः ।
> सा चाप्तात्स च सर्वदोपरहितो रागादयस्तेऽप्यत-
> स्तं युक्त्या सुविचार्य सर्वसुखदं सन्तः श्रयन्तु श्रिये[1] ॥

---

१ आत्मानुशा० ६ ।

श्रुतिशब्देन सर्वज्ञवीतरागध्वनिः, तया पूतः पवित्रः सर्वोऽपि पूर्वसर्वज्ञश्रुत्या[1] तीर्थंकरनामगोत्रं बध्वा पवित्रो भूत्वा सर्वज्ञः संजातस्तेन श्रुतिपूत उच्यते। अथवा श्रुतिर्वातः पृष्ठतो गमनेन पूतः पवित्रो यस्य स श्रुतिपूतः, अतएव लोकानां व्याध्यादिकं दुःखं निवारयति (८३)। तथा चोक्तं—

> हृद्यः प्राप्तो मरुदपि भवन्मूर्तिशैलोपवाही
> सद्यः पुंसां निरवधिरुजा धूलिबन्धं धुनोति।
> ध्यानाहूतो हृदयकमलं यस्य तु त्वं प्रविष्ट-
> स्तस्याशक्यः क इह भुवने देव लोकोपकारः॥

सदोत्सवः—सदा सर्वकालं उत्सवो महो महार्चा यस्य स सदोत्सवः। अथवा सदा सर्वकालं उत् उत्कृष्टः सवो यज्ञो यस्य स सदोत्सवः (८४)। उक्तञ्च—

> अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
> होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥

तथा चामरसिंहः—

> पाठो होमश्चातिथीनां सपर्या तर्पणं बलिः।
> एते पंच महायज्ञा ब्रह्मयज्ञादिनामकाः॥

परोक्षज्ञानवादी—नैयायिकमते इन्द्रियजनितं चक्षुरादिज्ञानमेव ज्ञानं प्रमाणं वदन्ति। त्वमते अक्षाणामिन्द्रियाणां परं परोक्षं केवलज्ञानम्, तदात्मनः वदतीत्येवंशीलः परोक्षज्ञानवादी। उक्तञ्च खण्डेन महाकविना—

> सव्वण्हु अणिंदिउ णाणमउ जो मयमूढु न पत्तियइ।
> सो णिंदियउ पंचिंदिय णिरउ वइतरणिहिं पाणिउ पियइ॥

अनिन्द्रियं परमकेवलज्ञानं यो न मन्यते स नरके पततीति भावः (८५)। इष्टपावकः—नैयायिकमते अग्निमुखा वै देवाः इति वेदवाक्याद्वह्नावेव जुह्वति। त्वमते इष्टा अभीष्टा पावकाः पवित्रकारका गणधरदेवादयो यस्य स इष्टपावकः[2]। अथवा पावकेषु पवित्रकारकेषु भगवानेवेष्टः सर्वस्मिन् लोके भगवानेव पावकः पवित्रकारकतया स्थित इति भव्यलोकेषु प्रतीतिमागत इष्टपावकः। इष्टश्चासौ पावकः इष्टपावकः (८६)। सिद्धकर्मकः—प्राभाकरमते यागादिकं कर्म सिद्धमेव वर्तते तद्वाक्यार्थं वदन्ति प्राभाकराः पुनर्नियोगं कुर्वन्ति अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः। भट्टास्तु चोदनैव वाक्यार्थं वदन्ति। वेदान्तवादिनस्तु आत्मा सिद्धो वर्तते, तथापि उपदिशन्ति आत्मप्राप्त्यर्थं द्रष्टव्योऽयमात्मा श्रोतव्योऽनुमन्तव्यो निदिध्यासितव्य इति। एवं परस्परं विरुद्धा वदन्ति। आत्मा तु न केनापि लब्धः। प्राभाकरमते यज्ञयागादिकं कर्म सिद्धं कुर्वन्ति, तदुपरि भगवत इदं नाम सिद्धकर्मक इति। अस्यायमर्थः—सिद्धकर्मकः सिद्धं समाप्तिं गतं परिपूर्णं जातं कर्म क्रिया चारित्रं यथाख्यातलक्षणं यस्येति सिद्धकर्मा, यथाख्यातचारित्रसंयुक्त इत्यर्थः। सिद्धकर्मकः आत्मा यस्येति सिद्धकर्मकः, यथाख्यातचरित्रसंयुक्तात्मस्वरूप इत्यर्थः। अथवा कुत्सितं कर्म कर्मकं सिद्धं आगमे प्रसिद्धं कर्मणो ज्ञानावरणादेः कुत्सितत्वं यस्येति सिद्धकर्मकः (८७)।

चार्वाको भौतिकज्ञानो भूताभिव्यक्तचेतनः।
प्रत्यक्षैकप्रमाणोऽस्तपरलोको गुरुश्रुतिः॥१२०॥

---

१ द पूर्वज्ञश्रुत्या। २ पञ्चीमा० १० ।

चार्वाकः—चृवाकस्यापत्यं शिष्यो वा चार्वाको नास्तिकाचार्यः। तन्मते जीवो नास्ति, पुण्यं नास्ति, पापं नास्ति, परलोको नास्ति, पृथिव्यप्तेजोवायुसंयोगे चैतन्यमुत्पद्यते । गर्भादिमरणपर्यन्तं तद्भवति । प्रत्यक्षमेकं प्रमाणम् । एवंविधो लोकयतिकनामा चार्वाक उच्यते । भगवांस्तु चार्वाक इत्यस्य नाम्नो निरुक्तिः क्रियते – अक अग कुटिलायां गतौ इति तावद्धातुः भ्वादिगणे घटादिमध्ये परस्मैभाषः । अकनं आकः, कुटिला अकुटिला च गतिरुच्यते । यावन्तो गत्यर्थाः धातवस्तावन्तो ज्ञानार्थाः इति वचनादाकः केवलज्ञानं चार्विति विशेषणत्वात् चारुर्मनोहरस्त्रिभुवनस्थितभव्यजीवचित्तानन्दकारकः आकः केवलज्ञानं यस्येति चार्वाकः (८८)। **भौतिकज्ञानः**—चार्वाकमते चतुर्षु भूतेषु पृथिव्यप्तेजोवायुषु भवं भौतिकं ज्ञानं यस्येति भौतिकज्ञान.। स्वमते भूतिर्विभूतिरैश्वर्यमिति वचनात् भूतिः समवसरणलक्षणोपलक्षिता लक्ष्मीरष्टौ प्रातिहार्याणि चतुस्त्रिंशदतिशयादिकं देवेन्द्रादिसेवा च भूतिरुच्यते । भूत्या चरति विहारं करोति भौतिकम् । भौतिकं समवसरणादिलक्ष्मीविराजितज्ञानं केवलज्ञानं यस्येति भौतिकज्ञानः । अथवा भूतेभ्यो जीवेभ्य उत्पन्नं भौतिकं ज्ञानं यस्य मते स भौतिकज्ञानः, इत्यनेन पृथिव्यादिभूतसंयोगे ज्ञानं भवतीति निरस्तम् (८९)। **भूताभिव्यक्तचेतनः**—चार्वाकमते भूतैः पृथिव्यप्तेजोवायुभिरभिव्यक्ता चेतना यस्येति भूताभिव्यक्तचेतनः । तदयुक्तम् । स्वमते भूतेषु जीवेषु अभिव्यक्ता प्रकटीकृता चेतना ज्ञानं येनेति भूताभिव्यक्तचेतनः (९०)। **प्रत्यक्षैकप्रमाणः**—चार्वाकमते प्रत्यक्षमेकं प्रमाणं यस्येति प्रत्यक्षैकप्रमाणः। स्वमते प्रत्यक्षं केवलज्ञानमेव एकमद्वितीयं न परोक्षं प्रमाणं अश्रुतादिकत्वात्केवलिनः स प्रत्यक्षैकप्रमाणः (९१)। **अस्तपरलोकः**—चार्वाकमते परलोको नरकस्वर्गमोक्षादिकं जीवस्य नास्तीति अभ्युपगतत्वादस्तपरलोकः। स्वमते अस्ता निराकृतास्तत्तन्मतखण्डनेन चूर्णीकृत्वा अधः पातिताः परे लोकाः जैमिनि-कपिल-कणचर-चार्वाक-शाक्यादयो जैनबहिर्भूता अनार्हता येनेति अस्तपरलोकः। अथवा भगवान् मुक्तिं विना मोक्षमन्तरेणान्यां गतिं न गच्छतीति अस्तपरलोकः (९२)। **गुरुश्रुतिः**—चार्वाकमते गुरुणां बृहस्पतिनाम्ना दुराचारेण कृता श्रुतिः शास्त्रान्तरं येनेति गुरुश्रुतिः। स्वमते गुर्वी केवलज्ञानसमाना श्रुतिः शास्त्रं यस्येति गुरुश्रुतिः। तथा चोक्तम्—

> स्याद्वाद-केवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने ।
> भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्[1] ॥

अथवा गुरुर्योजनैकव्यापिका सजलजलधरवद्गर्जनशीला क्षुभितसमुद्रवेलेव गंभीररवा श्रुतिर्ध्वनिर्यस्येति गुरुश्रुतिः । उक्तञ्च देवनन्दिना भट्टारकेन—

> ध्वनिरपि योजनमेकं प्रजायते श्रोत्रहृदयहारिगभीरः ।
> ससलिलजलधरपटलध्वनितमिव प्रविततान्तराशावलयम्[2] ॥

अथवा गुरुषु गणधरदेवेषु श्रुतिर्द्वादशांगग्रन्थो यस्येति गुरुश्रुतिः । उक्तञ्च—

> लोकालोकदृशः सदस्यसुकृतैरास्याद्यदर्थश्रुतं
> निर्यातं ग्रथितं गणेश्वरवृषैरान्तमुहूर्तेन यत् ।
> आरातीयमुनिप्रवाहपतितं यत्पुस्तकेष्वर्पितं
> तज्जैनेन्द्रमिहार्पयामि विधिना यष्टुं श्रुतं शाश्वतम् ॥

अथवा गुरुर्दुर्जरा मिथ्यादृष्टीनामभव्यानां श्रुतिर्वाग्यस्य स गुरुश्रुतिः (९३)।

> **पुरन्दरविद्धकर्णो वेदान्ती संविदद्वयी।**
> **शब्दाद्वैती स्फोटवादी पाखण्डघ्नो नयौघयुक् ॥१२३॥**

पुरन्दरविद्धकर्णः—पुरन्दरेण विद्धौ वज्रसूचिकया कर्णौ यस्य स पुरन्दरविद्धकर्णः। भगवान् खलु छिद्रसहितकर्ण एव जायते। परं जन्माभिषेकावसरे कोलिकपटलेनेव त्वचा अचेतनया मुद्रितकर्णच्छिद्रो

१ आप्तमीमांसा १०५ । २ नन्दीश्वरभ० श्लो० २१ ।

भवति । शक्रस्तु वज्रसूच्या कर्णे कृत्वा तत्कर्णं वेधं करोति, तेन भगवान् पुरन्दरविद्धकर्णः कथ्यते (६४)। वेदान्ती– वेदस्यान्तश्चतुर्दशः काण्डः उपनिषद् । मिथ्यादृष्टीनामध्यात्मशास्त्रं इत्यर्थः एकवार्या अवग्रह काण्ड-अरण्येव-अशाध्यायी-अभिरहस्य पूर्वाकाण्ड-नक्षत्रकाण्ड इत्यादयः प्रान्ते उपनिषद् चतुर्दशः काण्डः, स वेदान्तः कथ्यते । वेदान्तो विद्यते यस्य स वेदान्ती । स्वमते वेदस्य मति-श्रुतावधि-मनःपर्यय-केवलज्ञान-लक्षणज्ञानस्य अन्तः केवलज्ञानं वेदान्तः । वेदान्तो विद्यते यस्य स वेदान्ती, केवलज्ञानवानित्यर्थः । अथवा स्त्रीपुंनपुंसकलिङ्गानि त्रीणि त्रयो वेदाः कथ्यन्ते । तेषामन्तो विनाशो विद्यते यस्य स वेदान्ती (६५)। संविद्‍द्वयी– बौद्धाः केचित् ज्ञानमात्रमेव जगन्मन्यन्ते, तन्न संगच्छते । उक्तञ्च—

> अद्वैतं तत्त्वं वदति कोऽपि सुधियां धियमातनुते न कोऽपि
> यत्तद्धेतुदृष्टान्तवचनसंस्था कुतोऽत्र शिवशर्मसदन-
> द्वैतावनेकधर्मप्रसिद्धि[1]रात्याति जिनेश्वरतत्त्वसिद्धि-
> मन्यत्पुनरखिलमत[2]व्यतीतमुद्भाति सर्वमुख[3]नयनिकेत[4] ॥

संविद् सर्वार्वाचीनं ज्ञानं केवलज्ञानम्, तस्य न द्वितीयं ज्ञानं संविद्‍द्वयम् । उक्तञ्च—

> क्षायिकमेकमनन्तं त्रिकालसर्वार्थयुगपदवभासम् ।
> सकलसुखधाम सततं वन्देऽहं केवलज्ञानम्[5] ॥

संविद्‍द्वयं विद्यते यस्य स संविद्‍द्वयी । केवलज्ञानिनः खलु मतिज्ञानादिचतुष्टयं न योजनीयम्, सर्वमपि तदन्तर्गर्भितत्वात् । तेन संविद्‍द्वयी भगवानुच्यते (६६)। शब्दाद्वैती— मिथ्यादृष्टयः किलैवं वदन्ति—शब्द एव संसारे वर्तते, शब्दादन्यत्किमपि नास्ति, ते शब्दाद्वैतिन उच्यन्ते । स्वमते तु यावत्यो वाग्वर्गणा विद्यन्ते शक्तिरूपतया तावत्यः शब्दहेतुत्वात् पुद्गलद्रव्यं सर्वं शब्द एव, इति कारणाद्भगवान् शब्दाद्वैतीत्युच्यते (६७)। उक्तञ्च आशाधरेण महाकविना—

> लोकेऽन्योन्यमनुप्रविश्य परितो याः सन्ति वाग्वर्गणाः
> अन्यात्मकमवर्त्तिवर्णपरतां वा लोकयात्राकृते ।
> नेतुं संविमनस्युरःप्रभृतिषु स्थानेषु यन्मातरं
> तत्रायुष्मति जृम्भितं तव ततो दीर्घायुरात्मीमि तत् ॥

स्फोटवादी—मह्यन्ते स्फुटन्त्यर्थो यस्मादिति स्फोटः शब्दस्तं वदतीत्येवमवश्यं स्फोटवादी । शब्दं विना संसारे किमपि नास्तीत्यर्थः । स्वमते स्फुटति प्रकटीभवति केवलज्ञानं यस्मादिति स्फोटः निजशुद्धबुद्धैकस्वभाव आत्मा, तं वदति मोक्षहेतुतया प्रतिपादयति स्फोटवादी । उक्तञ्च कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः समयसारग्रन्थे—

> णाणम्हि भावणा खलु कादव्वा दंसणे चरित्ते य ।
> ते पुण तिण्णि वि आदा तम्हा कुण भावणं आदे[6] ॥

स्फोटमात्मानं मोक्षस्य हेतुतया वदतीत्येवंशीलः स्फोटवादी । वाक्यस्फोटस्य क्रियास्फोटवत् तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालंकारे निराकृतत्वात् (६८)। पाखण्डघ्नः—पाशं पापबन्धनं खण्डयतीति पाषण्डाः । पाषण्डाः सर्वलिङ्गिनः, पाषण्डान् हन्ति शुद्धान् कर्तुं गच्छति पाषण्डघ्नः । अथवा पाषण्डा खण्डितव्रतास्तान् हन्ति योग्यप्रायश्चित्तेन शोधनदण्डेन गच्छति कच्छ-महाकच्छादिकानिव वृषभनाथवत् पाषण्डघ्नः । अमनुष्यकर्तृकेऽपि

---

1. यशः० प्रबुद्धि, । 2. यशस्ति० मति । 3. यशस्ति० नयनांकित । 4. यशस्ति० ८, ३८८ । 5. श्रु तभक्ति श्लो०२९ ।
6. समय० गा० ११ ।

चटक् प्रत्ययः । भगवान् देवत्वादमनुष्यः । गम-हन-जन-खन-घसामुपधायाः स्वरादावनण्यगुणे उपधालोपः । लुप्तोपधस्य च हस्य घत्वम् (९६) । **नयौघयुक्**—नयानामोघः समूहस्तं युनक्तीति नयौघयुक् । अत्र समासस्द्भावासद्भावात् युजेरसमासे नुघुटीति वचनात् त्वागमो न भवति, अश्वयुगादिवत् । अथ के ते नयाः, यान् भगवान् युनक्ति, इति चेदुच्यते—अनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नयः । स द्विधा, द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकभेदात् । तत्र द्रव्यार्थिकस्त्रिविधः, नैगम-संग्रह-व्यवहारभेदात् सामान्यग्राहकः । पर्यायार्थिकश्चतुर्विधः, ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूतभेदाद् विशेषग्राहकः । तत्रानिष्पन्नार्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः । यथा कश्चित्पुरुष. परिगृहीतकुठारो वने गच्छन् केनचित्पुरुषेण पृष्ट. किमर्थं भवान् गच्छतीति ? स आह—प्रस्थमानेतुमिति । प्रस्थ इति कोऽर्थः ?

शार्यं पाणितलं मुष्टिं कुडवं प्रस्थमाढकम् ।
द्रोणं वहं च क्रमशो विजानीयाच्चतुर्गुणम् ॥

द्वादशवल्लो भवेद् शाण: इति गणितशास्त्रवचनात् चतुःसेरमात्रो मापविशेषः प्रस्थ उच्यते । नासौ प्रस्थपर्यायो निष्पन्नो वर्तते, तन्निष्पत्तये संकल्पमात्रे काष्ठे प्रस्थव्यवहार इति । एवं मञ्चकपाटकेपाहलादिष्वपि ज्ञातव्यः १ । स्वजात्यविरोधेनैकध्यमुपनीय अर्थान् आक्रान्तभेदान् अविशेषेण समस्तग्रहणं संग्रहः । स च परापरभेदाद् द्विविधः । तत्र सदात्मना एकत्वमभिप्रैति सर्वमेकं सदविशेषादिति परः । द्रव्यत्वेन सर्वद्रव्याणामेकत्वमभिप्रैति, कालत्रयवर्तिद्रव्यमेकं द्रव्यत्वादित्यपरः २ । संग्रहगृहीतार्थानां विधिपूर्वकमवहरणं विभजनं भेदेन प्ररूपणं व्यवहारः । संग्रहार्थं विभागमभिप्रैति—यत् सत्, तद् द्रव्यं पर्यायो वेति । यद् द्रव्यं तज्जीवादिषड्विधं । यः पर्यायः, स द्विविधः—सहभावी क्रमभावी चेति ३ । ऋजु प्राञ्जलं वर्तमानलक्षणमात्रं सूत्रयतीति ऋजुसूत्रः । सुखलक्षणं सम्प्रत्यस्तीत्यादि ४ । कालकारकसंख्यासाधनोपग्रहभेदाद्भिन्नमर्थं शपति गच्छतीति शब्द. ५ । नानार्थान् समेत्याभिमुख्येन रूढः समभिरूढः । इन्द्रः शक्र. पुरन्दर इति ६ । एवमित्थं विवक्षितक्रियापरिणामप्रकारेण भूतं परिणतमर्थं योऽभिप्रैति स नय एवम्भूतः । शकनक्रियापरिणतिक्षण एव शक्रमभिप्रैति, इन्दनक्रियापरिणतिक्षण एवेन्द्रमभिप्रैति, पुरदारणक्रियापरिणतिक्षण एव पुरन्दरमभिप्रैति ७ । इति नयाः आगमभाषया कथिताः । अध्यात्मभाषया तु नयविभागः कथ्यते-सर्वे जीवाः शुद्धबुद्धैकस्वभावा इति शुद्धनिश्चयलक्षणम् । रागादय एव जीवा इत्यशुद्धनिश्चयलक्षणम् । गुणगुणिनोरभेदेऽपि भेदोपचार इति सद्भूतव्यवहारलक्षणम् । भेदेपि सत्यभेदोपचार इत्यसद्भूतव्यवहारलक्षण चेति । तथाहि जीवस्य केवलज्ञानादयो गुणा इत्यनुपचरितसंज्ञशुद्धसद्भूतव्यवहारलक्षणम् । जीवस्य मतिज्ञानादयो विभावगुणा इत्युपचरितसंज्ञशुद्धसद्भूतव्यवहारलक्षणम् । मदीयो देह इत्यादिसंश्लेषसम्बन्धसहितपदार्थे पुनरनुपचरितसंज्ञासद्भूतव्यवहारलक्षणम् । यत्र तु संश्लेषसम्बन्धो नास्ति तत्र मदीयो गेह इत्याद्युपचरिताभिधानासद्भूतव्यवहारलक्षणमिति नयचक्रमूलभूतं संक्षेपेण नयषट्कं ज्ञातव्यमिति । तथा स्यात् नित्यमेव स्यादनित्यमेव स्यादुभयमेव स्यादवक्तव्यमेव स्यान्नित्यावक्तव्यमेव स्यादनित्यावक्तव्यमेव स्यादुभयावक्तव्यमेवेत्यपि योजनीयम् । एवं सत् असत्, एकं अनेकं, आपेक्षिकमनापेक्षिकं हेतुसिद्धमागमसिद्धं भ्रान्तमभ्रान्तं दैवं पौरुषं पापं पुण्यमित्यादौ सप्तभंगनया योजनीयाः । एवं नयानामसंख्यत्वात् तत्स्वरूपप्ररूपकत्वाद्भगवान्नयौघयुक् कथ्यते (१००) ।

इतीह बुद्धादिशतं निदर्शनं स-मुक्तमप्याहंतदर्शनेऽर्चितम् ।
अधीयते येन स्वभावनार्थिना स मंक्षु मोक्षोत्थसुखं समश्नुते ॥

इत्याचार्यश्रीश्रुतसागरविरचितायां जिनसहस्रनामस्तुतिटीकायां बुद्धशतविवरणो नाम नवमोऽध्यायः समाप्तः ।

—:०:—

अथ दशमोऽध्यायः

अथ जिनवरचरणयुगं प्रणम्य भक्त्या त्रिलोकनतशिवदम् ।
अन्तकृदादिशतस्य क्रियते विवरणमनावरणम् ॥
जिह्वाग्रे वसतु सदा सरस्वती विश्वविदुधजनजननी ।
मम गुरुयुगं च विद्यानन्दाकलङ्कौ भराङ्कवताम् ॥

अन्तकृत्पारकृत्तीरप्राप्तः पारेतमःस्थितः ।
त्रिदण्डी दण्डितारातिर्ज्ञानकर्मसमुच्चयी ॥ १०४ ॥

अन्तकृत्—अन्तं संसारस्यावसानं कृतवान् अन्तकृत् । अथवा अन्तं विनाशं मरणं कृन्ततीति अन्तकृत् । अथवा अन्तं आत्मनः स्वरूपं करोतीति अन्तकृत् । अथवा अन्तं मोक्षस्य सामीप्यं करोतीति अन्तकृत् । अथवा व्यवहारं परित्यज्य अन्तं निश्चयं करोतीति अन्तकृत् । अथवा अन्तं मुक्तेरवयवभूतमात्मानं करोति मुक्तिस्थानस्यैकपार्श्वे तिष्ठतीति अन्तकृत् (१) । उक्तञ्च—

निश्चयेऽवयवे प्रान्ते विनाशे निकटे तथा ।
स्वरूपे षट्सु चार्थेषु अन्तशब्दोऽत्र भण्यते ॥

पारकृत्—पारं संसारस्य प्रान्तं संसारसमुद्रस्य पारतटं कृतवान् पारकृत् (२) । **तीरप्राप्तः**—तीरं संसारसमुद्रस्य तटं प्राप्तस्तीरप्राप्तः (३) । **पारेतमःस्थितः**— तमसः पापस्य पारे पारेतमः । पारेतमसि पापरहितस्थाने अष्टापद-सम्मेद-चम्पापुरी-पावापुरी-ऊर्जयन्तादौ सिद्धक्षेत्रे स्थितः योगनिरोधार्थं गतः पारेतमःस्थितः । अथवा अज्ञानादतिदूरे स्थितः पारेतमःस्थितः । पारे मध्ये अन्तः षष्ठ्या वा अव्ययीभावसमासः । अथवा तृतीया-सप्तम्योः स्थितशब्देन उद्भावनं पर्यङ्कासनं वा मोक्षगमनार्थं स्थितः, सिद्धशिलाया मुपविष्टः (४) । **त्रिदण्डी**—मिथ्यादृष्टयः केचित् त्रिदण्डिनो भवन्ति, केचिदेकदण्डिनो भवन्ति । श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञस्तु त्रयो दण्डा मनोवाक्कायलक्षणा योगा विद्यन्ते यस्य स त्रिदण्डी । अथवा त्रीणि शल्यानि माया-मिथ्यानिदाननामानि दण्डयतीत्येवंशीलस्त्रिदण्डी । अथवा त्रयाणां छत्राणामेकमेव दण्डं विद्यते यस्मिन् स त्रिदण्डी (५) । **दण्डितारातिः**—दण्डिता जीवन्तोऽपि मृतसदृशाः कृता मोहप्रभुपातनादनङ्गाद्यादिशत्रवो येन स दण्डितारातिः । अथवा दण्डिताः दण्डं संजातं येषां ते दण्डिताः, तारकितादिदर्शनात् संजातेऽर्थे इतच्प्रत्ययः । अयमत्र भावः—निर्ग्रन्थलक्षणं मोक्षमार्गं विलोपयन्ति, सग्रन्थानामपि गृहस्थानां मोक्षं स्थापयन्ति तेन ते सितपटादयः पञ्चप्रकाराः जैनाभासाः दुर्जनदुष्टाधमाः जिनः श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञस्य अरातयः कथ्यन्ते, निर्ग्रन्थमार्गविलोपकत्वात् । ते स्वपापेनैव दण्डकराः कम्बलकन्था रंकवत् गृहे गृहे अवंदिता अपि धर्मलाभाशीर्वादं ददति, बहुवारान् भुंजते, ते उपचारेण सर्वज्ञेन वीतरागेण दण्डिताः । दण्डिता अरातयो येनेति दण्डितारातिः । उक्तञ्च तेषां मतम्—

सेयंवरो य आसंवरो य बुद्धो य तह य अन्नो य ।
समभावभावियप्पा लहेइ मोक्खं ण संदेहो ॥

अथ के ते पञ्चविधा जैनाभासा ये सर्वज्ञवीतरागेण दण्डिता इति चेदुच्यते—

गोपुच्छिकः श्वेतवासा द्राविडो यापनीयकः ।
निष्पिच्छश्चेति पञ्चैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः ॥

तथा च—

इत्थीणं पुण दिक्खा खुल्लयलोयस्स वीरचरियत्तं ।
कक्कसकेसग्गहणं छट्ठं च गुणव्वदं णाम ॥

इत्यादिभिर्वचनैरुत्सूत्रवादिन आहारदानायापि योग्या न भवन्ति, कथं मुक्तेर्योग्या इति सर्वज्ञेन दण्डिता परमार्थभूतश्रीमूलसंघोत्तुंगमन्दिरात् श्रीमूलसंघमहापत्तनात् श्रीमूलसंघधर्मदेशात् निर्वासिताः, तेन भगवान् दंडितारातिरुच्यते (६)। **ज्ञानकर्मसमुच्चयी**—ज्ञानं च केवलज्ञानम्, कर्म च पापक्रियाया विरमणलक्षणोपलक्षिता क्रिया यथाख्यातचारित्रमित्यर्थः। (ज्ञानं च कर्म च) ज्ञानकर्मणी, तयोः समुच्चयः समूहः ज्ञानकर्मसमुच्चयः। ज्ञानकर्मसमुच्चयो विद्यते यस्य स ज्ञानकर्मसमुच्चयी। प्रशंसायामिन्। अथवा सह मुदा हर्षेण परमानन्दलक्षणसौख्येन वर्तत इति समुत्। समुच्चासौ चयो द्वादशविधो गणः समुच्चयः। ज्ञान-कर्मभ्यां सम्यग्ज्ञान-चारित्राभ्यां कृत्वा समुत्सहर्षश्चयो विद्यते यस्य स ज्ञानकर्मसमुच्चयी (७)।

संहृतध्वनिरुत्सन्नयोगः सुप्तार्णवोपमः।
योगस्नेहापहो योगकिट्टिनिर्लेपनोद्यतः॥ १२५॥

संहृतध्वनिः—संहृतः संकोचितो मोक्षगमनकालनिकटे ध्वनिर्वाणी येन स संहृतध्वनिः। यथाऽस्यामवसर्पिण्यां वृषभादयस्तीर्थकरा नियतकाले ध्वनिं संहरन्ति इति नियमः (८)। उक्तञ्च **पूज्यपादेन** भगवता—

आद्यश्चतुर्दशदिनैर्विनिवृत्तयोगः
षष्ठेन निष्ठितकृतिर्जिनवर्धमानः।
शेषा विधूतघनकर्मनिबद्धपाशा
मासेन ते जिनवरास्त्वभवन् वियोगाः[1]॥

उत्सन्नयोगः[2]—उत्सन्ना विनाशं प्राप्ता मनोवचनकायानां योगा आत्मप्रदेशपरिस्पन्दनहेतवो यस्येति उत्सन्नयोगः। अथवा उच्छन्नो विच्छित्तिं गतो योगो विश्वासघाती पुमान् यस्मिन् धर्मोपदेशिनि स उच्छन्नयोगः। परमेश्वरे धर्मोपदेशके सति कश्चिदपि पुमान् विश्वासघाती नाभूत्, विश्रब्धघातिनो महापातकप्रोक्तत्वात् (९) तदुक्तं—

उपाये भेषजे लब्धलाभे युक्तौ च कार्मणे।
सन्नाहे संगतौ ध्याने धने विश्रब्धघातिनि॥
विष्कम्भादौ तत्तुस्थैर्यप्रयोगे योग उच्यते।

तथा—

न सन्ति पर्वता भारा नात्र सर्वेऽपि सागराः।
कृतघ्नो मे महाभारो भारो विश्वासघातकः॥

सुप्तार्णवोपमः—सुप्तः कल्लोलरहितो योऽसावर्णवः समुद्रः तस्य उपमा सादृश्यं यस्येति सुप्तार्णवोपमः, मनोवाक्कायव्यापाररहित इत्यर्थः (१०)। **योगस्नेहापहः**—योगानां मनोवाक्कायव्यापाराणां स्नेहं प्रीतिमपहन्तीति योगस्नेहापहः। अपाक्लेश-तमसोरित्यनेन हन्तेर्धातोर्डप्रत्ययः (११)। **योगकिट्टिनिर्लेपनोद्यतः**—योगानां मनोवाक्कायव्यापाराणां या कृता किट्टिश्चूर्णं मण्डूरादिदलानिवत्, तस्या निर्लेपनं निजात्मप्रदेशेभ्यो दूरीकरणं तत्र उद्यतो यत्नपरः योगकिट्टिनिर्लेपनोद्यतः (१२)।

स्थितस्थूलवपुर्योगो गीर्मनोयोगकार्श्यकः।
सूक्ष्मवाक्चित्तयोगस्थः सूक्ष्मीकृतवपुःक्रियः॥१२६॥

स्थितस्थूलवपुर्योगः—स्थितस्तावद्गतिनिवृत्तिमागतः स्थूलवपुर्योगो बादरपरमौदारिककाययोगो यस्य स स्थितस्थूलवपुर्योगः (१३)। **गीर्मनोयोगकार्श्यकः**—गीश्च वाक् मनश्च चित्तं तयोर्योग आत्मप्र-

---

१ निर्वाण भ० २६। २ 'उच्छन्नयोगः' इत्यपि पाठः।

देशपरिस्पन्दहेतुः, तस्य कार्श्यकः कृशकारकः सूक्ष्मकारकः श्लक्ष्णविधायकः गीर्मनोयोगकार्श्यकः (१४)। **सूक्ष्मवाक्चित्तयोगस्थः**—पश्चाद्भगवान् सूक्ष्मवाग्मनोयोगे तिष्ठति सूक्ष्मवाक्चित्तयोगस्थः (१५)। **सूक्ष्मीकृतवपुःक्रियः**—असूक्ष्मा सूक्ष्मा कृता सूक्ष्मीकृता वपुषः क्रिया काययोगो येन स सूक्ष्मीकृतवपुःक्रियः (१६)।

सूक्ष्मकायक्रियास्थायी सूक्ष्मवाक्चित्तयोगहा।
एकदण्डी च परमहंसः परमसंवरः ॥१२७॥

सूक्ष्मकायक्रियास्थायी—सूक्ष्मकायक्रियायां सूक्ष्मकाययोगे तिष्ठतीत्येवंशीलः सूक्ष्मकायक्रियास्थायी। पश्चाद्भगवान् कियत्कालपर्यन्तं सूक्ष्मकाययोगे तिष्ठति (१७)। **सूक्ष्मवाक्चित्तयोगहा** वाक् च चित्तं च वाक्चित्ते, तयोर्योगो वाक्चित्तयोगः। सूक्ष्मश्चासौ वाक्चित्तयोगः सूक्ष्मवाक्चित्तयोगः, तं हन्ति विनाशयतीति सूक्ष्मवाक्चित्तयोगहा (१८)। **एकदण्डी**—एकोऽद्वितीयो दण्डः सूक्ष्मकाययोगो विद्यते यस्य स एकदण्डी भगवानुच्यते। कियत्कालं सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिनामनि परमशुक्लध्याने स्वामी तिष्ठतीति एकदण्डी कथ्यते। न तु काष्ठादिदण्डं (करे) करोति भगवान्, दण्डग्रहणस्य हिंसानन्दरौद्रध्यानसद्भावात्। एतावता ये केचिद्दण्डं करे कुर्वन्ति तेषां धर्मध्यानस्यापि लेशोऽपि नास्तीति ज्ञातव्यम्। उक्तञ्च—लक्कडिया केण कज्जेण इति वचनात्। (१९)। **परमहंसः**—परम उत्कृष्टो हंस आत्मा यस्येति परमहंसः, भेदज्ञानवानित्यर्थः। तथा च निरुक्तिशास्त्रम्—

> कर्मात्मनो विवेक्ता यः क्षीर-नीरसमानयोः।
> भवेत्परमहंसोऽसौ नाग्निवत्सर्वभक्षकः[1] ॥

बिन्दुच्युतकमिदं भगवतो नाम, तेनायमर्थः—परस्य उत्कृष्टस्य महस्य पूजायाः सा लक्ष्मीर्यस्य स परमहंसः (२०)। **परमसंवरः**—परम उत्कृष्टः संवरो निर्जराहेतुर्यस्य स परमसंवरः। आस्रवनिरोधः संवरः[2] इति वचनात् (२१)।

नैःकर्म्यसिद्धः परमनिर्जरः प्रज्वलत्प्रभः।
मोघकर्मा त्रुटत्कर्मपाशः शैलेश्यलंकृतः ॥१२८॥

नैःकर्म्यसिद्धः—निर्गतानि कर्माणि ज्ञानावरणादीनि यस्येति निःकर्मा। निःकर्मणो भावः कर्म वा नैःकर्म्यम्, नैःकर्म्ये सिद्धः प्रसिद्धो नैःकर्म्यसिद्धः। परमते येऽश्वमेधादिकं हिंसायज्ञकर्म न कुर्वन्ति ते वेदान्तवादिन उपनिषद् पाठका नैःकर्म्यसिद्धा उच्यन्ते। ते द्रष्टव्योऽयमात्मा श्रोतव्योऽनुमन्तव्यो निदिध्यासितव्यः इत्यादि उपनिषदः पाठं पठन्ति, परं परमात्मानं न लभन्ते। तेषां वाक्यार्थो नास्ति, नियोग[3]वादिप्रभृतिवत्। भगवांस्तु प्रत्यक्षमात्मानं लब्ध्वा कर्माणि मुक्त्वा लोकाग्रे गत्वा तिष्ठति स वास्तवनैःकर्म्यसिद्ध उच्यते (२२)। **परमनिर्जरः**—परमा उत्कृष्टा असंख्येयगुणा कर्मनिर्जरा यस्येति परमनिर्जरः। तथा चोक्तम्—

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः[4]।

अस्यायमर्थः—सम्यग्दृष्टिश्च श्रावकश्च विरतश्च अनन्तवियोजकश्च दर्शनमोहक्षपकश्च उपशमकश्च उपशान्तमोहश्च क्षपकश्च क्षीणमोहश्च जिनश्च सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः। एते दशविधपुरुषाः अनुक्रमेण असंख्येयगुणनिर्जरा भवन्ति। तथाहि—एकेन्द्रियेषु विकलत्रये च प्रचुरतरकालं भ्रान्त्वा पञ्चेन्द्रियत्वे सति कालादिलब्धिसंजनितविशुद्धपरिणामक्रमेणापूर्वकरणपंक्त्योत्प्लवमानोऽयं जीवः प्रचुरतरनिर्जरावान् भवति। स एव तु औपशमिकसम्यक्त्वप्राप्तिकारणनैकट्ये सति सम्यग्दृष्टिः सन् असंख्येयगुणनिर्जरां लभते। स एव तु प्रथमसम्यक्त्वश्चारित्रमोहकर्मभेदाप्रत्याख्यानक्षयो-

---

१ यशस्ति० ८, ४१२। २ तत्त्वार्थ० अ० ६, सू० १। ३ दृ गि। ४ तत्त्वार्थसूत्र अ० ६, सू० ४५।

पशमहेतुपरिणामप्राप्त्यवसरे प्रकृष्टविशुद्धः श्रावकः सन् तस्मादसंख्येयगुणनिर्जरां प्राप्नोति । स एव तु प्रत्याख्यानावरणकषायक्षयोपशमहेतुभूतपरिणामैर्विशुद्धो विरतः सन् श्रावकादसंख्येयगुणनिर्जरां विन्दति । स एव तु अनन्तानुबन्धिकषायचतुष्टयस्य यदा वियोजो वियोजनपरो विघटनपरो भवति तदा प्रकृष्टपरिणामविशुद्धः सन् विरतादपि असंख्येयगुणनिर्जरामासादयति । स एव तु दर्शनमोहप्रकृतित्रयशुष्कतृणराशिं यदा निर्दग्धुमिच्छन् भवति तदा प्रकृष्टपरिणामविशुद्धः सन् दर्शनमोहक्षपकनामा अनन्तवियोजकादसंख्येयगुणनिर्जरां प्रपद्यते । एवं स पुमान् क्षायिकसद्दृष्टिः सन् श्रेण्यारोहणमिच्छन् चारित्रमोहोपशमे प्रवर्तमानः प्रकृष्टविशुद्धः सन् उपशमकनामा सन् क्षपकनामकादसंख्येयगुणनिर्जरामधिगच्छति । स एव तु समस्तचारित्रमोहोपशमकारणनैकट्ये सति संप्राप्तोपशान्तमोहनामक. संप्राप्तोपशान्तकषायापरनामक. दर्शनमोहक्षपकादसंख्येयगुणनिर्जरां प्रतिपद्यते । स एव तु चारित्रमोहक्षपणे सन्मुखो भवन् प्रवर्धमानपरिणामविशुद्धि. सन् क्षपकनाम दधत् उपशान्तमोहात्-उपशान्तकषायापरनामकात् असंख्येयगुणनिर्जरामश्नुते । स पुमान् यस्मिन् काले समग्रचारित्रमोहक्षपणपरिणामेषु सम्मुखः क्षीणकषायाभिधानं गृह्णाणो भवति तदा क्षपकनामकादसंख्येयगुणनिर्जरामासीदति । स एव चैकत्ववितर्काविचारनामशुक्लध्यानाग्निभस्मसात्कृतघातिकर्मसमूहः सन् जिननामधेयो भवन् क्षीणमोहादसंख्येयगुणनिर्जरामादत्ते तेन जिनो भगवान् परमनिर्जर इत्युच्यते (२३)। **प्रज्वलत्प्रभः**—प्रज्वलन्ती लोकालोकं प्रकाशयन्ती प्रभा केवलज्ञानतेजो यस्य स प्रज्वलत्प्रभः (२४)। **मोघकर्मा**—मोघानि निःफलानि कर्माणि असद्वेद्यादीनि यस्येति मोघकर्मा, फलदानासमर्थाघातिकर्मेत्यर्थः, वेदनीयायुर्नामगोत्रसंज्ञकानामघातिकर्मणामनुदय इत्यर्थः । (२५)। **त्रुटत्कर्मपाशः**—त्रुटन्ति स्वयमेव छिद्यन्ते कर्माण्येव पाशा यस्येति त्रुटत्कर्मपाशः, उत्कृष्टनिर्जरावानित्यर्थः । (२६)। **शैलेश्यलंकृतः**—शीलानामष्टादशसहस्रसंख्यानामीशः शीलेशः । शीलेशस्य भावः शैलेशी । यण च स्त्रीनपुंसकाख्या । शैलेश्या शीलप्रभुत्वेन अलंकृतः शैलेश्यलंकृतः । (२७)।

एकाकाररसास्वादो विश्वाकाररसाकुलः ।
अजीवन्नमृतोऽजाग्रदसुप्तः शून्यतामयः ॥१२९॥

एकाकाररसास्वादः—एकश्चासावाकारः एकाकारः, एकं विशेषज्ञानं केवलज्ञानमित्यर्थः । एकाकार एव रसः परमानन्दामृतं तस्यास्वादोऽनुभवनं यस्य स एकाकाररसास्वादः, निजशुद्धबुद्धैकस्वभावात्मज्ञानामृतरसानुभवनवानित्यर्थः (२८)। **विश्वाकाररसाकुलः**—विश्वस्य लोकालोकस्य आकारो विशेषज्ञानं स एव रसः अनन्तसौख्योत्पादनं तत्र आकुलो व्यापृतः विश्वाकाररसाकुलः (२९)। **अजीवन्**—आनप्राणवायुरहितत्वात् अजीवन् (३०)। उक्तञ्च—

णास-विणिग्गउ सासडा अंबरि जत्थु विलाइ ।
तुट्टइ मोहु तडित्ति तहि मणु अत्थवणहं जाइ[1] ॥

अमृतः—न मृतः अमृतः, जीवन्मुक्तत्वात् (३१)। **अजाग्रत्**—न जागर्तीति अजाग्रत्, योगनिद्रास्थितत्वात् (३२)। **असुप्तः**—आत्मस्वरूपे सावधानत्वात् न मोहनिद्रां प्राप्तः (३३)। **शून्यतामयः**—शून्यतया मनोवचनकायव्यापाररहितत्वात् शून्यतामयः (३४)। उक्तञ्च—

मणवयणकायसुण्णो णायसुण्णो असुद्धसब्भावे ।
ससहावे जो सुण्णो हवइ सो गयणकुसुमणिहो ॥

प्रेयानयोगी चतुरशीतिलक्षगुणोऽगुणः ।
निःपीतानन्तपर्यायोऽविद्यासंस्कारनाशकः ॥१३०॥

प्रेयान्—अतिशयेन प्रियः प्रेयान् (३५)। **अयोगी**—न विद्यन्ते योगा मनोवाक्कायव्यापारा यस्येति अयोगी (३६)। **चतुरशीतिलक्षगुणः**—चतुरशीतिलक्षा गुणा यस्येति चतुरशीतिलक्षगुणः ।

---

१ परमात्मप्रकाश २,१६२ ।

के ते चतुरशीतिलक्षगुणाः ? हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहवर्जनानि पञ्च । क्रोधमानमायालोभवर्जनमिति नव । जुगुप्साभयरत्यरतिवर्जनमिति त्रयोदश । मनोवाक्कायदुष्टत्ववर्जनमिति षोडश । मिथ्यात्वप्रमादपिशुनत्वाज्ञानवर्जनमिति विंशतिः । इन्द्रियनिग्रहश्चेत्येकविंशतिः । अतिक्रमव्यतिक्रमातिचारानाचारवर्जनचतुर्भिर्गुणिताश्चतुरशीतिः ८४ । दशशुद्धि-दशकायसंयमगुणिताश्चतुरशीतिशतानि ८४००। ते आकम्पितादिभिर्दशभिर्गुणिताश्चतुरशीतिसहस्राणि ८४००० । ते च दशधर्मगुणिताः चतुरशीतिलक्षाणि ८४००००० । के ते दश कायसंयमाः ? एकेन्द्रियादिपंचेन्द्रियपर्यन्तजीवरक्षणमिति पञ्च । निजपञ्चेन्द्रियविषयवर्जनं चेति पञ्च, इति दश कायसंयमाः ।

> आकंपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं बायरं च सुहुमं च ।
> छन्नं सद्दाउलयं बहुजणमव्वत्त तस्सेवी[1] ॥

इत्याकम्पितादयो दश । धर्मास्तु दश प्रसिद्धाः सन्ति (३७)। अगुणः—न विद्यन्ते गुणा रागादयो यस्य सोऽगुणः (३८) । निःपीतानन्तपर्यायः—निःपीताः अविवक्षिता केवलज्ञानमध्ये प्रविशिता अनन्ता पर्यायाः सर्वद्रव्याणां येन स निःपीतानन्तपर्यायः (३९)। अविद्यासंस्कारनाशकः—अविद्या अज्ञानं तस्याः संस्कार आसंसारमभ्यासोऽनुभवनं तस्य नाशकः मूलादुन्मूलकः निर्मूलकाषंकषकः । अथवा अविद्यां अज्ञानं संस्कारैरष्टचत्वारिंशता नाशयतीति अविद्यासंस्कारनाशकः । अथ के ते अष्टचत्वारिंशत् संस्कारा इति चेदुच्यते—१ सद्दर्शनसंस्कारः, २ सम्यग्ज्ञानसंस्कारः, ३ सच्चारित्रसंस्कारः, ४ सत्तपःसंस्कारः, ५ वीर्यचतुष्कसंस्कारः, ६ अष्टमातृप्रवेशसंस्कारः, ७ अष्टशुद्धिसंस्कारः, ८ परीषहजयसंस्कारः, ९ त्रियोगासंयमच्युतिशीलनसंस्कारः, १० त्रिकरणासंयमारतिसंस्कारः, ११ दशासंयमोपरमसंस्कारः, १२ अक्षनिर्जयसंस्कारः, १३ संज्ञानिग्रहसंस्कारः, १४ दशधर्मधृतिसंस्कारः, १५ अष्टादशशीलसहस्रसंस्कारः, १६ चतुरशीतिलक्षगुणसंस्कारः, १७ विशिष्टधर्मध्यानसंस्कारः, १८ अतिशयसंस्कारः, १९ अप्रमत्तसंयमसंस्कारः, २० दृढश्रुततेजोऽकंप्रकरणश्रेण्यारोहणसंस्कारः, २१ अनन्तगुणशुद्धिसंस्कारः, २२ अप्रवृत्तिस्थितिसंस्कारः, २३ पृथक्त्ववितर्कवीचारध्यानसंस्कारः, २४ अपूर्वकरणसंस्कारः, २५ अनिवृत्तिकरणसंस्कारः, २६ बादरकषायकिट्टिकरणसंस्कारः, २७ सूक्ष्मकषायकिट्टिकरणसंस्कारः, २८ बादरकषायकिट्टिनिर्लेपनसंस्कारः, २९ सूक्ष्मकषायकिट्टिनिर्लेपनसंस्कारः, ३० सूक्ष्मकषायचरणसंस्कारः, ३१ प्रक्षीणमोहत्वसंस्कारः, ३२ यथाख्यातचारित्रसंस्कारः, ३३ एकत्ववितर्कावीचारध्यानसंस्कारः, ३४ घातिघातनसंस्कारः, ३५ केवलज्ञानदर्शनोद्गमसंस्कारः, ३६ तीर्थप्रवर्तनसंस्कारः, ३७ सूक्ष्मक्रियाध्यानसंस्कारः, ३८ शैलेशीकरणसंस्कारः, ३९ परमसंवरवर्तिसंस्कारः, ४० योगकिट्टिकरणसंस्कारः, ४१ योगकिट्टिनिर्लेपनसंस्कारः, ४२ समुच्छिन्नक्रियसंस्कारः, ४३ परमनिर्जराश्रयणसंस्कारः, ४४ सर्वकर्मक्षयसंस्कारः, ४५ अनादिभवपर्ययविनाशसंस्कारः, ४६ अनन्तसिद्धत्वादिगतिसंस्कारः, ४७ अदेहसहजज्ञानोपयोगैश्वर्यसंस्कारः, ४८ अदेहसहोत्थाक्षयोपयोगैश्वर्यसंस्कारः (४०) ।

> वृद्धो निर्वचनीयोऽणुरणीयाननणुप्रियः ।
> प्रेष्ठः स्थेयान् स्थिरो नेष्ठः श्रेष्ठो ज्येष्ठः सुनिष्ठितः ॥१३१॥

वृद्धः—वर्धते स्म वृद्धः । केवलज्ञानेन लोकालोकं व्याप्नोति स्मेति वृद्धः । समुद्घातापेक्षया लोकप्रमाणो वा वृद्धः (४१) । निर्वचनीयः—निर्वक्तुं निरुक्तिमानेतुं शक्यः निर्वचनीयः । अथवा निर्गतं वचनीयमपकीर्तिर्यस्य यस्माद्वा निर्वचनीयः (४२) । अण रण वण भण मण कण क्वण ध्वन ध्वन शब्दे । अणति शब्दं करोतीति अणुः । पदि-असि-वसि-हनि-मनि-त्रपि-हृदि-कंदि-बंधि-वर्षाणिभ्यश्च उप्रत्ययः, अणुरिति जातम् । कोऽर्थः ? अणुः अविभागी अतिसूक्ष्मः पुद्गलपरमाणुरणुरुच्यते । स अणुरतिसूक्ष्मत्वाद् द्विखण्डो न भवति, अत्यल्पत्वात् । उक्तञ्च—

[1] मूला०, १०३०।

परमाणोः परं नाल्पं नभसो न परं महत् ।
इति ब्रुवन् किमद्राक्षीन्नेमौ दीनाभिमानिनौ ॥

इति वचनात्पुद्गलपरमाणुरतिसूक्ष्मो भवति । स उपमानभूतो नो भगवान्, तदणुसदृशत्वात्, योगिनामप्यगम्योऽणुरुच्यते (४३) । **अणीयान्**—अणोरप्यतिसूक्ष्मत्वादतिशयेन अणुः सूक्ष्मः अणीयान् । प्रकृष्टेऽर्थे गुणादिष्ठेयन्सौ वा इति सूत्रेण ईयन्सु प्रत्ययस्तद्धितम् । पुद्गलपरमाणुस्तावत्सूक्ष्मो वर्तते, सोऽपि अवधि-मनःपर्ययज्ञानवतां गम्योऽस्ति । परं भगवान् तेषां योगिनामंप्यगम्यस्तेन सः अणीयानुच्यते (४४) । **अनणुप्रियः**—न अणवः न अल्पाः अनणवो महान्तः, इन्द्र-धरणेन्द्र-नरेन्द्र-मुनीन्द्र-चन्द्रादयः । तेषां प्रियः, अतीवाभीष्टः अनणुप्रियः, चरणसेवकत्रिजगत्पतीनामाराध्य इत्यर्थः । अथवा न अणवः पुद्गलपरमाणवः प्रिया यस्येति अनणुप्रियः । भगवतः समयं समयं प्रति अनन्यसामान्याः पुद्गलपरमाणवः समागच्छन्ति, स्वामिनः शरीरं संश्लिष्यन्ति । तैः किल भगवतः शरीरं तिष्ठति । ते परमाणवो नोआहार उच्यते । योगनिरोधे सति न अणवः प्रिया यस्येति अनणुप्रियः (४५) । **प्रेष्ठः**—अतिशयेन इन्द्र-धरणेन्द्र-नरेन्द्र-मुनीन्द्र-चन्द्रादीनां प्रियः प्रेष्ठः । गुणादिष्ठेयन्सौ वा इष्ठप्रत्ययः । इष्ठप्रत्यये सति प्रियशब्दस्य प्रआदेशः । तद्वदिष्ठेमेयस्सु बहुलमिति वचनात् । प्रियस्थिरस्फिरोरुगुरुबहुलतृप्रदीर्घहस्वबृद्धवृन्दारकाणां प्रस्थस्फुवरगरवंहत्रपद्राघहसवर्षवृन्दाः । प्रियशब्दस्य प्रआदेशः । अस्मिन् सूत्रे तृप्रशब्दः तृप्यन्ति पितरोऽनेनेति तृप्रः, पुरोडाशः यज्ञशेषान्नमित्यर्थः । स्फायि-तंचि-वंचि-शकि-क्षिपि-क्षुदि-सहि-मदि-मंदि-वंदि-तुंदादिभ्यो रक् । इत्यधिकारेषु सूधान् गृधिश्विति धृति छिदि मुदि तृपि इपि[१] क्षुभिभ्यश्च इति सूत्रेण रक् प्रत्ययः (४६) । **स्थेयान्**—अतिशयेन स्थिरः स्थेयान् । गुणादिष्ठेयन्सौ वा इति सूत्रेण ईयन्सप्रत्ययः । वद्वदिष्ठेमेयःसु बहुल मित्यनेन सूत्रेण स्थिरशब्दस्य स्थ आदेशः । प्रियस्थिरस्फिरोरुगुरुबहुलतृप्रदीर्घहस्वबृद्धवृन्दारकाणां प्रस्थस्फुवरगरवंहत्रपद्राघहसवर्षवृन्दाः इति वचनात् स्थिरशब्दस्य स्थआदेशः, अवर्ण-इवर्णे ए स्थेयन्स् जातम् । प्रथमैकवचनं सिः । सान्तमहतोर्नोपधायाः दीर्घः, व्यञ्जनाच्च सिलोपः, संयोगान्तस्य लोपः, स्थेयान् (४७) । **स्थिरः**—योगनिरोधे सति उद्भासनेन पद्मासनेन वा तिष्ठति निश्चलो भवतीति स्थिरः । तिमि-रुधि-मदि-मंदि-चंदि-बधि-रुचि-सुषिभ्यः किरः इत्यधिकारे अजिरादयः अजिर-शिशिर-शिथिर-स्थिर-खदिराः इत्यनेन सूत्रेण किरप्रत्ययान्तो निपातः (४८) । **निष्ठः**—न्यतिशयेन तिष्ठतीति निष्ठः । आतश्चोपसर्गे आङ् प्रत्ययः (४९) । **श्रेष्ठः**—अतिशयेन प्रशस्यः श्रेष्ठः । गुणादिष्ठेयन्सौ वा । प्रशस्यस्य श्रः (५०) । **ज्येष्ठः**—अतिशयेन वृद्धः प्रशस्यो व ज्येष्ठः । गुणादिष्ठेयन्सौ वा । वृद्धस्य च ज्यः । चकारात् प्रशस्यस्य च ज्यः (५१) । **सुनिष्ठितः**—सुष्ठु शोभनं यथा भवति न्यतिशयेन स्थितः सुनिष्ठितः । द्यति-स्यति-मास्थान्त्यगुणे इत्वम् । अथवा शोभना निष्ठा योगनिरोधः संजातोऽस्येति सुनिष्ठितः । तारकितादिदर्शनात् संजातेऽर्थे इतच् प्रत्ययः (५२) ।

भूतार्थशूरो भूतार्थदूरः परमनिर्गुणः ।
व्यवहारसुषुप्तोऽतिजागरूकोऽतिसुस्थितः ॥ १३२ ॥

भूतार्थशूरः—भूतार्थेन परमार्थेन सत्यार्थेन शूरो भूतार्थशूरः, पापकर्मसेनाविध्वंसनसमर्थत्वात् । उक्तञ्च—

यो न च याति विकारं युवतिजनकटाक्षबाणविद्धोऽपि ।
स त्वेव शूरशूरो रणशूरो नो भवेच्छूरः ॥
[२]यो न च याति विकारं कर्मसमितिवज्रबाणविद्धोऽपि ।
स त्वेव शूरशूरो रणशूरो नो भवेच्छूरः ॥

१ द दमिशुमि० । २ द प्रतावयं श्लोको नास्ति ।

अथवा भूतानां प्राणिनाम् अर्थे प्रयोजने स्वर्ग-मोक्षसाधने शूरः सुभटः भूतार्थशूरः। अथवा भूतः प्राप्तः अर्थः आत्मपदार्थो येन स भूतार्थः। स चासौ शूरः कर्मक्षयसमर्थः भूतार्थशूरः। अथवा भूतार्थो युक्तार्थस्तत्र शूरः। अकातरः। भूतार्थशूरः (५३)। **भूतार्थदूरः**—भूतार्थः सत्यार्थो दूरः केवलज्ञानं विना अगम्यत्वात् विप्रकृष्टः। अथवा भूता अतीता येऽर्थाः पञ्चेन्द्रियविषयाः मुक्तमुक्ताः, तेभ्यो दूरो विप्रकृष्टः सर्वेन्द्रियविषयाणामनिकट इत्यर्थः। अथवा भूतानां प्राणिनामर्थः स्वर्ग-मोक्षादिसाधनम्, स दूरमतिशयेन यस्मात् स भूतार्थदूरः। अथवा भूताः पिशाचप्रायाः अभव्यजीवा, ये सम्बोधिता अपि न सम्बुध्यन्ते, तेषामर्थात् प्रयोजनात् दूरो दवीयस्तरः भूतार्थदूरः, भव्यानामर्थसाधने समर्थ इत्यर्थः। तथा चोक्तम् **आप्त-मीमांसायाम्**—

> इतीयमाप्तमीमांसा विहिता हितमिच्छताम्।
> सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये।

तत्र विहितेयमाप्तमीमांसा सर्वज्ञविशेषपरीक्षा हितमिच्छतां निःश्रेयसकामिनां मुख्यतो निःश्रेयसस्यैव हितत्वात् तत्कारणत्वेन रत्नत्रयस्यापि हितत्ववचनात्, तदिच्छतामेव; न पुनस्तदनिच्छतामभव्यानां तदनुपयोगात्। तत्त्वेतरपरीक्षां प्रति भव्यानामेव नियताधिकृतिः, तथा मोक्षकारणानुष्ठानान्मोक्षप्राप्त्युपपत्तेः (५४)। **परमनिर्गुणः**—निर्गता गुणा रागद्वेषमोहादयोऽशुद्धगुणा यस्मादिति निर्गुणः। परम उत्कृष्टो निर्गुणः परमनिर्गुणः। अथवा परं निश्चयेन अनिर्गुणः केवलज्ञानाद्यनन्तगुणसंयुक्तः परमनिर्गुणः। इत्यनेन ज्ञान-सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काराणां नवसंख्यावसराणामात्मगुणानामत्यन्तोन्मुक्तिर्मुक्तिरिति वदन्तो वैशेषिकाः काणादापरनामानः प्रत्युक्ता भवन्तीति। उक्तञ्च—

> बोधो वा यदि वाऽऽनन्दो नास्ति मुक्तौ भवोद्भवः।
> सिद्धसाध्यं तदाऽस्माकं न काचित्क्षतिरीक्ष्यते॥

अथवा परा उत्कृष्टा मा लक्ष्मीर्मोक्षलक्षणोपलक्षिता कर्मक्षयोद्भूता यस्येति परमः, पुंवद्भाषित-पुंस्कादनूङ्पूरण्यादिषु स्त्रियां तुल्याधिकरणे इति वचनात्परशब्दस्य पुंवद्भावः। निश्चिताः परमार्थभूताः परमविज्ञानैर्गणधरदेवादिभिर्निर्धारिता गुणा अनन्ताः केवलज्ञानादयो यस्येति निर्गुणः। परमश्चासौ निर्गुणः परमनिर्गुणः (५५)। **व्यवहारसुषुप्तः**—व्यवहारे विहारकर्मणि धर्मोपदेशादिके च सुष्ठु अतिशयेन सुप्तो निश्चिन्तः, अव्यापृतः व्यवहारसुषुप्तः (५६)। **अतिजागरूकः**—जागर्तीत्येवंशीलः जागरूकः आत्मस्वरूपे सदा सावधानः। अतिशयेन जागरूकः अतिजागरूकः। जागरूक इति वचनात् जागृधातो रूकप्रत्ययः (५७)। **अतिसुस्थितः**—अतिशयेन सुस्थितः सुखीभूतः अतिसुस्थितः (५८)।

> **उदितोदितमाहात्म्यो निरुपाधिरकृत्रिमः।**
> **अमेयमहिमात्यन्तशुद्धः सिद्धिस्वयंवरः॥१३३॥**

उदितोदितमाहात्म्यः—उदितादप्युदितं परमप्रकर्षमागतं माहात्म्यं प्रभावो यस्य स उदितोदित-माहात्म्यः (५९)। **निरुपाधिः**—निर्गत उपाधिर्धर्मचिन्ता धर्मोपदेशविहारकर्मादिको यस्येति निरुपाधिः। अथवा निर्गत उप समीपात् आधिः मानसी पीडा यस्येति निरुपाधिः, जन्मजरामरणव्याधित्रयरहितत्वात् निश्चिन्त इत्यर्थः। अथवा निश्चित उपाधिरात्मधर्मस्यात्मस्वरूपस्य चिन्ता परमशुक्लध्यानं यस्येति निरुपाधिः (६०)। **अकृत्रिमः**—अकरणेन अविधानेन धर्मोपदेशादेरकृत्रिमः। ड्वितुबंधात्त्रिमक् तेन निर्वृत्ते इति सूत्रेण त्रिमप्रत्ययः। ककारो गुणार्थः। उच्चरित-प्रध्वंसिनो ह्यनुबन्धाः इति परिभाषणात् ककारप्रलयः (६१)। **अमेयमहिमा**—महतो भावो महिमा। पृथ्व्यादिभ्य इमन्। वा अमेयोऽमर्यादीभूतो लोकालोक-व्यापी महिमा केवलज्ञानव्याप्तिर्यस्यासावमेयमहिमा (६२)। **अत्यन्तशुद्धः**—अत्यन्तमतिशयेन शुद्धः

कर्ममलकलंकरहितः अत्यन्तशुद्धः, रागद्वेषमोहादिरहितो वा द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्मरहितो वा, सन्निकटतर-सिद्धपर्यायत्वात् अत्यन्तशुद्धः (६३)। **सिद्धिस्वयंवरः**—सिद्धेरात्मोपलब्धेः कन्यायाः स्वयंवरः परिणेता सिद्धिस्वयंवरः (६४)।

सिद्धानुजः सिद्धपुरीपान्थः सिद्धगणातिथिः।
सिद्धसंगोन्मुखः सिद्धालिंग्यः सिद्धोपगूहकः॥१३४॥

सिद्धानुजः—सिद्धानां मुक्तात्मनां अनुजो लघुभ्राता, पश्चाज्जातत्वात् सिद्धानुजः (६५)। **सिद्धपुरीपान्थः**—सिद्धानां मुक्तात्मनां पुरी नगरी मुक्तिः, ईषत्प्राग्भारसंज्ञं पत्तनम्, तस्याः पान्थः पथिकः सिद्धपुरीपान्थः (६६)। **सिद्धगणातिथिः**—सिद्धानां मुक्तजीवानां गणः समूहः अनन्तसिद्धसमुदायः सिद्धगणः, तस्य अतिथिः प्राघूर्णकः सिद्धगणातिथिः (६७)। **सिद्धसंगोन्मुखः**—सिद्धानां भवविच्युतानां संगो मेलस्तं प्रति उन्मुखो बद्धोत्कण्ठः सिद्धसंगोन्मुखः (६८)। **सिद्धालिंग्यः**—सिद्धैः कर्मविच्युतैः सत्पुरुषैः महापुरुषैरालिंगितुं योग्य आश्लेषोचितः सिद्धालिंग्यः (६९)। **सिद्धोपगूहकः**—सिद्धानां मुक्तिवल्लभानां उपगूहकः आलिंगनदायकः अंकपालीविधायकः सिद्धोपगूहकः (७०)।

पुष्टोऽष्टादशसहस्रशीलाश्वः पुण्यशंबलः।
वृत्ताग्रयुग्यः परमशुक्ललेश्योऽपचारकृत्॥१३५॥

पुष्टः—पुष्णाति स्म पुष्टः, पूर्वसिद्धसमानज्ञानदर्शनसुखवीर्याद्यनन्तगुणैः सबलः (७१)। उक्तञ्च—

ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं कुलम्।
तयोर्मैत्री विवाहश्च न तु पुष्ट-विपुष्टयोः॥

अष्टादशसहस्रशीलाश्वः—अश्नुवते क्षणेन अभीष्टस्थानं प्राप्नुवन्ति जातिशुद्धत्वात् स्वस्वामिनमभिमतस्थानं नयन्तीति अश्वाः। अष्टभिरधिका दश अष्टादश। अष्टादश च तानि सहस्राणि अष्टादशसहस्राणि। अष्टादशसहस्राणि च तानि शीलानि अष्टादशसहस्रशीलानि, तान्येव अश्वा वाजिनो यस्य सोऽष्टादशसहस्रशीलाश्वः। कानि तानि अष्टादशसहस्राणि शीलानीति चेदनूच्यते—

शीलं व्रतपरिरक्षणमुपैतु शुभयोगवृत्तिमितरहतिम्।
संज्ञाक्षविरतिरोधौ क्ष्मादियममलात्ययं समादींश्च॥
गुणाः संयमवीकल्पाः शुद्धयः कायसंयमाः।
सेव्या हिंसाकम्पिताविक्रमाद्यनक्षवर्जनाः[1]॥

शुभयोगवृत्तिं उपैतु, शुभमनोवचनकाययोगानाप्नोतु इतरहतिं उपैतु, अशुभमनोवचनकायान् त्रीन् शुभमनसा हन्तु इति त्रीणि, अशुभमनोवचनकायान् शुभवचसा हन्तु इति षट् अशुभमनोवचनकायान् शुभकायेन हन्तु, इति नव। एते नव। आहारभयमैथुनपरिग्रहसंज्ञापरिहारैश्चतुर्भिर्गुणिताः षट्त्रिंशद्भवन्ति। ते षट्त्रिंशदिन्द्रियजयपंचकेनाहताः अशीत्यग्रं शतं भवन्ति। क्ष्मादियममलात्ययं-पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपंचेन्द्रियसंज्ञिपंचेन्द्रियदशानां विराधनापरिहारदशकेनाहता अष्टादशशतानि भवन्ति। ते दशधर्मैराहता अष्टादशसहस्राणि जायन्ते १८०००। अथवा अपरेण प्रकारेण शीला उच्यन्ते—अशीत्यग्रद्विशताधिकसप्तदशसहस्राश्चेतनसम्बन्धिनः १७२८०। विंशत्यग्रसप्तशतान्यचेतनसम्बन्धिनः ७२०। तथाहि—देवी-मानुषी-तिरश्चीपरिहारास्त्रयः। कृतकारितानुमतपरिहारैस्त्रिभिर्गुणिता नव भवन्ति। मनोवचनकायपरिहारैस्त्रिभिराहताः सप्तविंशतिर्भवन्ति। स्पर्शरसगंधवर्णशब्दलक्षणपंचविषयपरिहारपंचकेनाहताः पंचत्रि-

---

[1] अनगारधर्मा० अ० ४, १७२-१७३।

शदधिकं शतं जायन्ते। द्रव्यभावपरित्यागद्वयेन गुणिताः सप्तत्यधिकं द्विशतं जायते। चतस्रसंज्ञापरिहारचतुष्टयेनाहता अशीत्यधिकं सहस्रं समस्ति १०८०। अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनचतुष्कैः षोडशकषायपरिहारैराहता अशीत्यधिकद्विशताग्रसप्तदशसहस्राः संजायन्ते १७२८०। इति चेतनसम्बन्धिनो भेदाः। अचेतनसम्बन्धिनः प्रकारा कथ्यन्ते। तथाहि—काष्ठपाषाणलेपकृताः स्त्रियस्तिस्रः मनःकायपरिहारद्वयेन गुणिताः षट् भवन्ति। कृतकारितानुमतपरिहारैस्त्रिभिराहता अष्टादश स्युः। स्पर्शादिपञ्चविषयपरित्यागैर्गुणिताः नवतिर्भवति। द्रव्य-भावपरिहारद्वयेनाहता अशीत्यधिकं शतं स्यात्। कषायचतुष्टयपरिहृतिपरिगुणितं विंशत्यग्राणि सप्तशतानि जायन्ते (७२०)। एवं एकत्रीकृता अष्टादशसहस्राः संजायन्ते। १८०००। (७२) **पुण्यशंबलः**—पुण्यं सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्रलक्षणं शंबलं पथ्योऽदनं यस्य स भवति पुण्यशंबलः (७३) **वृत्ताग्रयुग्यः**—वृत्तं चारित्रं अग्रं मुख्यं युग्यं वाहनं यस्येति वृत्ताग्रयुग्यः (७४)। **परमशुक्ललेश्यः**—कषायानुरंजिता योगवृत्तिर्लेश्योच्यते। जीवं हि कर्मणा लिम्पतीति लेश्या। कृत्ययुटोऽन्यत्रापि च इति सूत्रेण कर्त्तरि ध्यण्, नामिनश्चोपधाया लघोरिति गुणः। पृषोदरत्वात्पकारस्य शकारः। स्त्रियामादा। उक्तञ्च—

> वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
> धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥
> वर्णागमो गवेन्द्रादौ सिंहे वर्णविपर्ययः।
> षोडशादौ विकारस्तु वर्णनाशः पृषोदरे॥

परमशुक्ला लेश्या यस्य स परमशुक्ललेश्यः (७५)। उक्तञ्च नेमिचन्द्रेण मुनिना गोम्मटसारग्रन्थे लेश्यानां षोडशाधिकारप्रस्तावे शुक्ललेश्यस्य लक्षणं—

> ण कुणइ पक्खवायं ण वि य णियाणं समो य सव्वेसिं।
> णत्थि य रायं दोसं णेहो वि य सुक्कलेस्सस्स[1]॥

अपचारकृत्—अपचरणमपचारो मारणम्, कर्मशत्रूणामेवापचारो घातिकर्मणां विध्वंसनमित्यर्थः। अपचारं घातिसंघातनं पूर्वमेव कृतवान् भगवानित्यर्थः। यथा कश्चिद्विजिगीषुः शत्रूणां मन्त्रविषप्रयोगादिभिः शत्रूणामपचारं मारणं करोति तथा भगवानपि कर्मणां मारणं ध्यानमन्त्रविषप्रयोगेण कृतवानित्यर्थः। इत्यनेनास्मिन्नन्तश्चक्रे भगवतो विजिगीषुस्वरूपनिरूपकानि नामानि स्वयमेवार्थापयितव्यानि। अथवा अपचारं मारणं कृन्तति उच्छेदयतीति अपचारकृत्। येऽक्षरम्लेच्छाः ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत, क्षत्राय राजन्यं, मरुद्भ्यो वैश्यं, तपसे शूद्रं, तमसे तस्करं, नारकाय वीरहणं पाप्मने क्लीबमाक्रयाय अयोगूं, कामाय पुंश्चलूं, अतिक्रुष्टाय मागधं, गीताय सूतमादित्याय स्त्रियं गर्भिणीमित्यादीनि हिंसाशास्त्रवचनानि पोषयन्ति, तेषां मतमुच्छेदितवान् भगवान्; परमकारुणिकत्वादिति ज्ञातव्यम् (७६)।

> **क्षेपिष्ठोऽन्त्यक्षणसखा पंचलघ्वक्षरस्थितिः।**
> **द्वासप्ततिप्रकृत्यासी त्रयोदशकलि ...त्॥१३६॥**

क्षेपिष्ठः—अतिशयेन क्षिप्रः शीघ्रतरः क्षेपिष्ठः। स्थूलदूरयुवक्षिप्रक्षुद्राणामन्तस्थादेर्लोपो गुणश्च इत्यनेन इष्ठप्रत्यये रकारलोप इकार एकारश्च क्षेपिष्ठः, अतिशयेन शीघ्रः एकेन क्षणेन त्रैलोक्यशिखरगामित्वात् (७७)। **अन्त्यक्षणसखा**—अन्त्यक्षणस्य सखा अन्त्यक्षणसखा, संसारस्य पश्चिमः समयः, तेन सह गामुको मित्रमित्यर्थः। उक्तञ्च—

> सतां सप्तपदं मैत्र्यं सत्सतां च पदत्रयम्।
> सत्सतामपि ये सन्तस्तेषां मैत्र्यं पदे पदे॥

[1] गो० जी० ५१६।

अथवा अन्त्यक्षणस्य पञ्चमकल्याणस्य सखा मित्रं अन्त्यक्षणसखा। अथवा अन्त्यक्षणसखः इति पाठे अन्त्यक्षणः सखा मित्रं यस्येति अन्त्यक्षणसखः। समासान्तगतानां वा राजादीनामदन्तता इत्यधिकारे राजन् अहन् सखि इत्यनेन अत्प्रत्ययः (७८)। पञ्चलघ्वक्षरस्थितिः—पञ्च च तानि लघ्वक्षराणि पञ्चलघ्वक्षराणि, अ इ उ ऋ लृ इत्येवंरूपाणि, क च ट त प इति रूपाणि वा, क ख ग घ ङ इत्यादि-रूपाणि वा। यावत्कालं पञ्चलघ्वक्षराण्युच्चार्यन्ते तावत्कालपर्यन्तं चतुर्दशे गुणस्थाने अयोगिकेवल्यपरनाम्नि स्थितिर्यस्येति पञ्चलघ्वक्षरस्थितिः। स पञ्चलघ्वक्षरोच्चारमात्रोऽपि कालपर्यायोऽन्तर्मुहूर्त्त उच्यते। उक्तञ्च—

> आवलि असंखसमया संखेज्जावलि होइ उस्सासो।
> सत्तुस्सासो थोवो सत्तत्थोवो लवो भणिओ॥
> अट्ठत्तीसद्धलवा नालो दो नालिया मुहुत्तं तु।
> समऊणं तं भिन्नं अंतमुहुत्तं अणेयविहं[1]॥

एकावलि-उपरि एकः समयो वर्धते स जघन्योऽन्तर्मुहूर्त्तः उच्यते। एवं द्वि-त्रि-चतुरादिसमया वर्धन्ते यावत् तावत् घटिकाद्वयमध्ये समयद्वयं हीनं तावदन्तर्मुहूर्त्त उच्यते। एकेन समयेनोनं नालीद्वयं भिन्नमुहूर्त्तः कथ्यते। एकस्यापि अक्षरस्य (उच्चारणे) असंख्येयाः समया भवन्ति (७९)। द्वासप्ततिप्रकृत्यासी—पञ्चानामक्षराणां मध्ये अन्त्याक्षरस्य येऽसंख्याताः समयाः भवन्ति तेषां समयानां मध्ये द्वौ द्वौ समयौ, तयो-र्द्वयोः समययोर्मध्ये यः पूर्वः समयः, स समयो द्विचरमः समयः कथ्यते, उपान्त्यसमयं चाभिधीयते। तस्मिन्नु-पान्त्यसमये द्विसप्ततिप्रकृतीर्भगवान् क्षिपति। द्विसप्ततिप्रकृतीरस्यति क्षिपते इत्येवंशीलो द्वासप्ततिप्रकृत्यासी। कास्ता द्वासप्ततिप्रकृतयो या भगवानुपान्त्यसमये चतुर्दशे गुणस्थाने क्षिपयतीति चेदुच्यते—द्वौ गन्धौ सुरभि-दुरभी २। मधुराम्लकटुतिक्तकषायाः पञ्च रसाः ७। श्वेतपीतहरितारुणकृष्णपञ्चवर्णाः १२। औदारिकवैक्रियिका-हारकतैजसकार्मणशरीराणि पञ्च १७। औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणशरीरबन्धनानि पञ्च २२। औदारिक-वैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणशरीरसंघाता पञ्च २७। वज्रवृषभनाराच-वज्रनाराच-नाराच-अर्धनाराच-कीलिका-ऽसंप्राप्तासृपाटिका षट् संहननानि ३३। समचतुरस्र न्यग्रोधपरिमंडल-वाल्मीक[2] कुब्जक-वामन-हुंडकसंस्थानानि षट् ३९। देवगतिः ४० देवगत्यानुपुर्व्यं ४१ प्रशस्तविहायोगतिः ४२ अप्रशस्तविहायोगतिः ४३ परघातकः ४४ अगुरुलघु ४५ उच्छ्वासं ४६ उपघातः ४७ अयशः ४८ अनादेयं ४९ शुभं ५० अशुभं ५१ सुस्वरं ५२ दुःस्वरं ५३ स्थिरं ५४ अस्थिरं ५५ स्निग्धरुक्षकर्कशकोमलागुरुलघुशीतोष्णस्पर्शाष्टकं ६३ निर्माणं ६४ औदा-रिकवैक्रियिकाहारकांगोपांगत्रयं ६७ अपर्याप्तं ६८ दुर्भगं ६९ प्रत्येकं ७० नीचैर्गोत्रं ७१ द्वयोर्वेद्ययोर्मध्ये एकं वेद्यं ७२ इति द्वासप्ततिप्रकृत्यासी (८०)। त्रयोदशकलिप्रणुत्—त्रयोदशकलीन् त्रयोदशकर्मप्रकृती नुदति क्षिपते त्रयोदशकलिप्रणुत्। के ते त्रयोदश कलय इत्याह—आदेयं १ मनुष्यगतिः २ मनुष्यगत्यानुपूर्व्यं ३ पञ्चेन्द्रियजातिः ४ यशः ५ पर्याप्तः ६ त्रसः ७ बादरं ८ सुभगं ९ मनुष्यायुः १० उच्चैर्गोत्रं ११ द्वयोर्वेद्य-योर्मध्ये एकं वेद्यं १२ तीर्थकरत्वं च १३ इति त्रयोदशकलिप्रणुत् (८१)।

> **अवेदोऽयाजकोऽयज्योऽयाज्योऽनग्निपरिग्रहः।**
> **अनग्निहोत्रो परमनिःस्पृहोऽत्यन्तनिर्दयः॥ १३७॥**

अवेदः—न विद्यते वेदः स्त्रीपुंनपुंसकत्वं यस्येति अवेदः, लिंगत्रयरहित इत्यर्थः। किं स्त्रीत्वं किं वा पुंस्त्वं किं च नपुंसकत्वमिति चेदुच्यते—

> श्रोणिमार्दवभीरुत्वमुग्धत्वक्लीबतास्तनाः।
> पुंस्कामेन समं सप्त लिंगानि स्त्रैणसूचने॥
> खरत्वं मेहनं स्ताब्ध्यं शौण्डीर्यंश्मश्रुधृष्टता।
> स्त्रीकामेन समं सप्त लिंगानि नरवेदने॥

---

१ गो० जीवकांड ५७३, ५७४। २ ज स्वाति।

यानि स्त्री-पुंसलिंगानि पूर्वाणीति चतुर्दश ।
उक्तानि तानि मिश्राणि पण्ढभावनिवेदने[1] ॥

अथवा अवेदः न विद्यन्ते ऋग्वेदयजुर्वेदसामवेदाथर्वणनामानः कालासुरादिविहिता हिंसाशास्त्राणि वेदा यस्येति अवेदः । तर्हि सर्वज्ञः कथं यदि पापशास्त्राणि न जानातीति चेन्न, जानात्येव, परं हेयतयाऽनेति । नञा निर्दिष्टस्यानित्यत्वादवेद उच्यते । अथवा अव समन्तात् ई स्वर्गापवर्गलक्षणोपलक्षितां लक्ष्मीं ददातीति अवेदः, अभ्युदय-निःश्रेयससंपत्तिप्रदायक इत्यर्थः । अथवा अस्य शिवस्य ईशानस्य केशवस्य च वायुदेवस्य ब्रह्मणश्चन्द्रस्य भानोश्च वस्य वरुणस्य इदं[1] पापं द्यति खंडयति अवेदः । ध्यायमानः स्तूयमानः पूज्यमानश्चैतेषां देवानां तदपत्यानां उपलक्षणात्सर्वेषां पापविध्वंसक इत्यर्थः । तथा चोक्तं विश्वप्रकाशशास्त्रे—

अः शिवे: केशवे वायौ ब्रह्मचन्द्राग्निभानुषु ।

वो वरुणे । ई कुत्सायां पापे च । अवेद इति गतं सिद्धमित्यर्थः (८२) । **अयाजकः**—न याजयति, न निजां पूजां कारयति, अतिनिःस्पृहत्वात् अयाजकः । तर्हि पूर्वं किं सस्पृह इदानीमेव निःस्पृहः संजातः ? इति चेन्न, पूर्वमपि निःस्पृहः, इदानीमपि भगवान्निःस्पृह एव । परं पूर्वं समवशरणस्थितः इन्द्रादिकृतामर्चनां लोचनाभ्यां स्वभावेन विलोकते, तदा भव्यानामानन्द उत्पद्यते—स्वाम्यस्मत्कृतां पूजां स्वीकरोतीति याजकवत्प्रतिभासते । इदानीं तु योगनिरोधकत्वात् साक्षादयाजक इव भव्यात्मनां पूज्यमानोऽपि चेतसि प्रतिभासते, तेन भगवानयाजक उच्यते । अथवा अयते अयः अच्पचादिभ्यश्चेति अचा सिद्धत्वात् । कर्त्तरि कृदिति वचनात् अय इति गतिरुच्यते । सा तु तीर्थप्रवर्तनकाले भवति, सूक्ष्मक्रियत्वादपि इदानीं तु व्युपरतक्रियो भगवान् बोभवीति स्म । तेनायमर्थः— अयस्य गमनस्य तीर्थप्रवर्तनपर्यटनस्य विहारस्याभावात् अयाजकः परिहारकः अयाजकः । अयजमानो वा (८३) । **अयज्यः**— यष्टुं शक्यो यज्यः, न यज्यः अयज्यः । शकि-सहि-पवर्गान्ताच्च यप्रत्ययः । शकि ग्रहणात् शक्यार्थो ग्राह्यः, स्वामिनोऽलक्ष्यस्वरूपत्वात् केनापि यष्टुं न शक्यते तेन 'अयज्य' इत्युच्यते (८४) । **अयाज्यः**— इज्यते याज्यः, न यष्टुं शक्यते अयाज्यः । ऋवर्ण-व्यंजनान्ताद् घ्यण् । शक्यार्थं विना यो न भवति । किं सामान्येन घ्यणेव भवति, अयाज्योऽपि अलक्ष्यस्वरूपत्वात् (८५) । **अनग्निपरिग्रहः**— कर्मसमिधां भस्मीकरणेन अग्ने गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्निनामत्रयवैश्वानरस्य न परिग्रहः स्वीकारो यस्यासौ अनग्निपरिग्रहः । अथवा अग्निश्च परिग्रहश्च पत्नी अग्निपरिग्रहौ, न अग्निपरिग्रहौ यस्य सोऽनग्निपरिग्रहः । आम्यर्षीणां तु अग्ने र्भार्यायाश्च परिग्रहो भवति, भगवांस्तु ध्यानाग्निनिर्दग्धकर्मेन्धनत्वात् अनग्निपरिग्रहः (८६) । उक्तञ्च—

प्रसंख्यानपविपावकप्लुष्टानुत्थानमन्मथमददरिद्रितरुद्रस्मरविजयः ।

अनग्निहोत्री—अग्निहोत्रो यज्ञविशेषः । अग्निहोत्रो विद्यते यस्य सोऽग्निहोत्री ब्राह्मणविशेषः । न अग्निहोत्री अनग्निहोत्री, अग्निं विनापि कर्मेन्धनदहनकारित्वात् । ननु त्रान्तं शब्दरूपं[2] नपुंसके प्रोक्तत्वात्कथमत्र अग्निहोत्रस्य पुंस्त्वं सूचितम् ?

सामान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान् भवेत् ।
परेण पूर्वबाधो वा प्रायशो दृश्यतामिह ॥

विशेषेण यज्ञनाम्नः पुंस्त्वम् । तथा चोक्तं दुर्गसिंहेन कविना—

स्वर्गदिनमानसंवत्सरनरयज्ञकुचकेशमासर्तुः ।
अरिगिरिजलदजलधिचिपसुरास्यात्म[3]भुजभुजंगा ॥
शरनखकपोलकदन्तपंकगुल्मोष्ठ[4]कण्ठरत्नमानीलाः ।
एषां संज्ञा धात्र्यान्युक्तो नाडीव्रणः पण्ढः ॥

१ संस्कृत पञ्चसंग्रह १६७–१६८ । २ ज स्वरूपं । ३ द स्यात्मज० । ४ द रत्नमानीलाः ।

तथा त्रान्ते नपुंसके उक्तेऽपि पुत्रच्छात्रामित्राश्च वृत्रमंत्रौ च विशेषत्वात्पुल्लिंग एव (८७)। **परमनि स्पृहः**—परम उत्कृष्टो निःस्पृहः परमनिस्पृहः। अथवा परा उत्कृष्टा केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयलक्षणोपलक्षिता मा लक्ष्मीर्यस्य स भवति परमः। परमश्चासौ निःस्पृहः परमनिःस्पृहः। ननु यो भगवान् उत्कृष्टलक्ष्मीवान् सः निःस्पृहः कथम्, विरुद्धमेतत् ? परिह्रियते—परं निश्चयेन अनिःस्पृहः परमनिःस्पृहः, मुक्तिकान्तायां संयोजितात्महृदयस्वरूपत्वात् (८८)। **अत्यन्तनिर्दयः**—अत्यन्तं नितरां निर्दयो दयारहितः अत्यन्तनिर्दयः। ननु भगवतः परमकारुणिकत्वान्निर्दयत्वं कथम्, इदमपि विरुद्धम् ? परिह्रियते—अतिगतो विनष्टोऽन्तो विनाशो यस्येति अत्यन्त.। निश्चिता सगुण-निर्गुण प्राणिवर्गरक्षणलक्षणा दया करुणा यस्येति निर्दयः। अत्यन्तश्चासौ निर्दयः अत्यन्तनिर्दयः। अथवा अतिशयेन अन्ते अन्तके यमे निर्दयो नि.करुणः अत्यन्तनिर्दयः। उक्तञ्च **स्वमभद्रेण** उत्सर्पिणीकाले भविष्यत्तीर्थंकरपरमदेवेन महाकविना—

> अन्तकः क्रन्दको नृणां जन्मज्वरसखः सदा।
> त्वामन्तकान्तकं प्राप्य व्यावृत्तः कामकारतः[१] ॥

अथवा अत्यन्ता अतिशयेन विनाशं प्राप्ता निर्दया अक्षरम्लेच्छादयो यस्मादिति अत्यन्तनिर्दयः। तीर्थंकरपरमदेवे सति मिथ्यादृष्टीनां निस्तेजस्कता भवतीति भावः। तथा चोक्तं तेनैव भगवता **समन्तभद्रस्वाम्याचार्येण**—

> त्वया धीमन् ब्रह्मप्रणिधिमनसा जन्मनिगलं
> समूलं निर्भिन्नं त्वमसि विदुषां मोक्षपदवी।
> त्वयि ज्ञानज्योतिर्विभवकिरणैर्भाति भगव-
> न्नभूवन् खद्योता इव शुचिरवावन्यमतयः[२] ॥

अथवा अतिशयेन अन्ते मोक्षगमनकाले निश्चिता दया स्वपरजीवरक्षणलक्षणा यस्येति अत्यन्तनिर्दयः। तदप्युक्तं तेनैव **देवागमस्तुतिकारिणा समन्तभद्रेण**—

> अन्तःक्रियाधिकरणं तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुवते।
> तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम्[३] ॥

अलमतिविस्तरेण (८९)।

> **अशिष्योऽशासकोऽदीक्ष्योऽदीक्षकोऽदीक्षितोऽक्षयः।**
> **अगम्योऽगमकोऽरम्योऽरमको ज्ञाननिर्भरः ॥ १३८ ॥**

अशिष्यः—न केनापि शिष्यते अशिष्यः। अथवा मोक्षगमनकाले मुनिशिष्यसहस्रादिगणैर्वेष्टितोऽपि परमनिःस्पृहत्वात् निरीहत्वाच्च अशिष्यः (९०)। **अशासकः**—न शास्ति न शिष्यान् धर्मं ब्रूते अशासकः, योगनिरोधत्वात् (९१)। **अदीक्ष्यः**—न केनापि दीक्ष्यते अदीक्ष्यः, स्वयंबुद्धत्वात् (९२)। **अदीक्षकः**—न कमपि दीक्षते व्रतं ग्राहयति अदीक्षकः, साधुचरितार्थत्वात् (९३)। **अदीक्षितः**—न केनापि व्रतं ग्राहितः अदीक्षितः, स्वयमेव स्वस्य गुरुत्वात्। (९४)। **अक्षयः**—नास्ति क्षयो विनाशो यस्य सोऽक्षयः। अथवा न अक्षाणि इन्द्रियाणि याति प्राप्नोति अक्षयः। आतोऽनुपसर्गात्कः (९५)। **अगम्यः**—न गन्तुं शक्यः अगम्यः। शकि-सहि-पवर्गान्ताच्च यप्रत्ययः, अविज्ञेयस्वरूप इत्यर्थः (९६)। **अगमकः**—न कमपि गच्छतीत्यगमकः, निजशुद्धात्मस्वरूपे स्थित इत्यर्थः (९७)। **अरम्यः**—आत्मस्वरूपं विना न किमपि रम्यं मनोहरं वस्तु यस्येति अरम्यः (९८)। उक्तञ्च—

> शुद्धबोधमयमस्ति वस्तु यद्रामणीयकपदं तदेव नः।
> स प्रमाद इह मोहजः क्वचित्कल्पते यदपरेऽपि रम्यता ॥

---

१ स्वयम्भूस्तो० १६। २ स्वयम्भूस्तो० ११७। ३ रत्नक० १२३।

अरमकः—आत्मस्वरूपमन्तरेण न क्वापि रमति अरमकः (९९)। **ज्ञाननिर्भरः**—ज्ञानेन केवलज्ञानेन निर्भरः परिपूर्णो ज्ञाननिर्भरः, आकण्ठममृतभृतसुवर्णघटवदित्यर्थः (१००)।

इत्यन्तकृच्छतम्।

महायोगीश्वरो द्रव्यसिद्धोऽदेहोऽपुनर्भवः।
ज्ञानैकचिज्जीवघनः सिद्धो लोकाग्रगामुकः॥ १३९॥

महायोगीश्वरः—महायोगिनां गणधरदेवादीनामीश्वरः स्वामी महायोगीश्वरः (१०१)। **द्रव्यसिद्धः**—द्रव्यरूपेण सिद्धो द्रव्यसिद्धः, साक्षात्सिद्ध इत्यर्थः (१०२)। **अदेहः**—न विद्यते देहः शरीरं यस्येति अदेहः, परमौदारिकतैजसकार्मणशरीरत्रयरहित इत्यर्थः (१०३) **अपुनर्भवः**—न पुनः संसारे संभवतीति अपुनर्भवः। अथवा न विद्यते पुनर्भवः संसारो यस्येति अपुनर्भवः। अथवा न पुनः भवो रुद्र उपलक्षणाद् ब्रह्मविष्ण्वादिको देवः संसारेऽस्ति, अयमेव श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञ एव देव इत्यर्थः (१०४)। **ज्ञानैकचित्**—ज्ञानमेव केवलज्ञानमेव एका अद्वितीया चित् चेतना यस्येति ज्ञानैकचित् (१०५)। **जीवघनः**—जीवेन आत्मना निर्वृत्तो निष्पन्नो जीवघनः जीवमय इत्यर्थः। मूर्तौ घनिश्च[1] (१०६)। उक्तञ्च—

असरीरा जीवघणा उवजुत्ता दंसणे य णाणे य।
सायारमणायारो लक्खणमेयं तु सिद्धाणं[2]॥

सिद्धः—सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः संजाता यस्येति सिद्धः (१०७)। **लोकाग्रगामुकः**—लोकस्य त्रैलोक्यस्य अग्रे शिखरे तनुवातवलये मुक्तिशिलाया उपरि मनागूनैकगव्यूतिप्रदेशे गच्छतीत्येवंशीलः लोकाग्रगामुकः। लषपतपदस्थाभूवृषहनकमगमशॄभ्य उकञ् इति सूत्रेण उकञ्प्रत्ययः। ञकारः सिद्धिरिज्वद्ञ्णानुबन्धे इति विशेषणार्थस्तेन अस्योपधाया दीर्घो वृद्धिर्नामिनमि च चटस्तु (१०८)। इत्यन्ताष्टकम्। एवमेकत्र १००८।

इदमष्टोत्तर नाम्नां सहस्रं भक्तितोऽर्हताम्।
योऽनन्तानामधीतेऽसौ मुक्त्यन्तां भुक्तिमश्नुते॥ १४०॥

इदं प्रत्यक्षीभूतं **अनन्तानां** अतीतानागतवर्तमानकालापेक्षया अनन्तसंख्यानां **अर्हतां** श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञानां **अष्टोत्तरं** अष्टाधिकं सहस्रं दशशतप्रमाणं यः पुमान् आसन्नभव्यजीवः **भक्तितः** परमधर्मानुरागेण विनयतः **अधीते** पठति **असौ** भव्यजीवः **मुक्त्यन्तां** मुक्तिरन्ते यस्याः सा मुक्त्यन्ता, तां **भुक्तिं** अभ्युदयलक्ष्मीभोगं **अश्नुते** भुंक्ते, संसारे उत्तमदेवोत्तममनुष्यपदस्य अभ्युदयसौख्यं भुक्त्वा मोक्षसौख्यं प्राप्नोतीत्यर्थः।

इदं लोकोत्तमं पुंसामिदं शरणमुल्वणम्।
इदं मंगलमग्रीयमिदं परमपावनम्॥ १४१॥
इदमेव परं तीर्थमिदमेवेष्टसाधनम्।
इदमेवाखिलक्लेशसंक्लेशक्षयकारणम्॥ १४२॥

इदं प्रत्यक्षीभूतं जिनसहस्रनामस्तवनं **लोकोत्तमं** अर्हल्लोकोत्तम-सिद्धलोकोत्तम-साधुलोकोत्तम-केवलिप्रज्ञप्तधर्मलोकोत्तमवत्। इदं जिनसहस्रनामस्तवनमेव लोकोत्तमं ज्ञातव्यं अर्हत्सिद्धसाधुधर्मलोकोत्तमवत् अनुसरणीयमित्यर्थः। **पुंसां** भव्यजीवानां **इदं शरणं**, अर्हच्छरण-सिद्धशरण-साधुशरण-केवलिप्रज्ञप्तधर्मशरणवत्। इदं जिनसहस्रनामस्तवनमेव शरणं आर्तिमथनसमर्थं ज्ञातव्यम्। अर्हत्सिद्धसाधुधर्मशरणवदनुसर्तव्यमित्यर्थः। शरणं कथंभूतं उल्वणं उद्रिक्तम्। **इदं मंगलमग्रीयं**—इदं प्रत्यक्षीभूतं जिनसहस्रनामस्तवनं मंगलं मं मलं पापं अनन्तभवोपार्जितमशुभं कर्म गालयतीति मंगलम्। अथवा मंगं सुखं अभ्युदय-निःश्रेयसलक्षणं लाति ददातीति मंगलम्। अर्हन्मंगल-सिद्धमंगल-साधुमंगल-केवलिप्रज्ञप्तधर्ममंगलवत् इदं जिनसहस्रनामस्तवनमेव मंगलं ज्ञातव्यम्। कथंभूतं मंगलम्? **अग्रीयं**—अग्राय त्रैलोक्यशिखराय मोक्षाय हितं

---

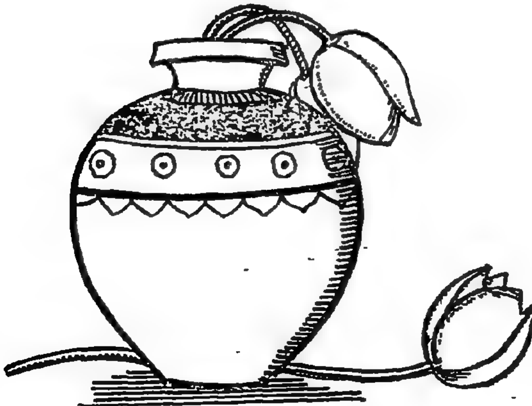
१ द मूर्तौयनिश्च। २ तत्त्वसार ७२।

अग्रीयं मुख्यं मंगलमित्यर्थः । **इदं परमपावनम्**—इदं प्रत्यक्षीभूतं जिनसहस्रनामस्तवनं परमपावनं परमपवित्रं, तीर्थंकरपरमदेवपंक्तौ मानुषमात्रस्यापि स्थापकमित्यर्थः । **इदमेव परं तीर्थम्**—इदमेव जिनसहस्रनामस्तवनमेव परमुत्कृष्टं तीर्थं संसारसमुद्रोत्तरणोपायभूतं—**अष्टापद-गिरनार-चम्पापुरी-पावापुरी-अयोध्या-शत्रुञ्जय-तुङ्गीगिरि-गजध्वजापरनाम-नाभेयसीमापरनाम-गजपंथ-चूलगिरि-सिद्धकूट मेढ्गिरि-तारागिरि-पावागिरि-गोमट्टस्वामि-माणिक्यदेव जीरावलि - रेवातट - रत्नपुर - हास्तिनपुर-वाराणसी-राजगृहादि**सर्वतीर्थकमर्त्यस्थानातिशयक्षेत्रस्पर्शन-यात्राकरणपरमपुण्यदानपूजादिसमुद्भूतसुकृतदानसमर्थमित्यर्थः । **इदमेवेष्टसाधनम्**—इदमेव जिनसहस्रनामस्तवनमेव इष्टसाधनं मनोऽभीष्टवस्तुदायकम् । **इदमेवाखिलक्लेशसंक्लेशक्षयकारणम्**—इदमेव इदं जिनसहस्रनामस्तवनमेव अखिलानां शारीर-मानसागन्तुकानां क्लेशानां दुःखानां संक्लेशानामार्त्तरौद्रध्यानानां क्षयकारणं विध्वंसविधायको हेतुरित्यर्थः ॥१४१-१४२॥

एतेषामेकमप्यर्हन्नाम्नामुच्चारयन्नघैः ।
मुच्यते किं पुनः सर्वाण्यर्थज्ञस्तु जिनायते ॥१४३॥

एतेषां पूर्वोक्तानां अष्टाधिकसहस्रसंख्यानां **अर्हन्नाम्नां** श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञतीर्थंकरपरमदेवानां मध्ये **एकमपि** नाम **उच्चारयन्** जिह्वाग्रे कुर्वन् पुमान् **अघैः** अनन्तजन्मोपार्जितपापैः **मुच्यते** परिह्रियते परित्यज्यते । **किं पुनः सर्वाणि**—यः सर्वाणि अर्हन्नामानि अष्टाधिकैकसहस्रसंख्यानि उच्चारयति पठति भक्तिपूर्वमधीते स पुमान् पापैर्मुच्यत इति किं पुनरुच्यते, सर्वाणि नामान्युच्चारयन् पुमान् भव्यजीवोऽनन्तभवोपार्जितमहापातकैरपि मुच्यत एवात्र संदेहो न कर्तव्यः । **अर्थज्ञस्तु जिनायते**—तुशब्दो भिन्नप्रक्रमे । अष्टाधिकसहस्रनाम्नां यो विद्वज्जनशिरोरत्नं अर्थं जानाति अर्थज्ञः स पुमान् जिनायते—जिन इवाचरति जिनायते । उपमानादाचारे, आय्यन्ताच्चेति सूत्रद्वयेन क्रमादायिप्रत्ययः आत्मनेपदं च सिद्धम् । स पुमान् सद्दृष्टिभिर्गुणवद्भिर्दानपूजातपश्चरणशरणैर्महाभव्यवरपुण्डरीकैः **रामस्वामिपाण्डवसमानै**र्धर्मानुरागरञ्जितहृदयकमलैः सर्वज्ञवीतरागवन्मान्यत इत्यर्थः ।

इति सूरिश्रीश्रुतिसागरविरचितायां जिनसहस्रनामटीकायामन्तकृच्छत-
विवरणो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥



टीकाकारस्य प्रशस्तिः

अर्हन्तः सिद्धनाथास्त्रिविधमुनिजना भारती चार्हतीद्धा
सद्धन्यः कुन्दकुन्दो विबुधजनहृदानन्दनः पूज्यपादः ।
विद्यानन्दोऽकलंकः कलिमलहरणः श्रीसमन्तादिभद्रो
भूयान्मे भद्रबाहुर्भवभयमथनो मंगलं गौतमादिः ॥ १ ॥

श्रीपद्मनन्दिपरमात्मपरः पवित्रो देवेन्द्रकीर्तिरथ साधुजनाभिवन्द्यः ।
विद्यादिनन्दिवरसूरिरनल्पबोधः श्रीमल्लिभूषण इतोऽस्तु च मंगलं मे ॥ २ ॥

अदः पट्टे भट्टादिकमतघटावट्टनपटुः
घटद्धर्मध्यानः स्फुटपरमभट्टारकपदः ।
प्रभापुञ्जः संयद्विजितवरवीरस्मरनरः
सुधीलक्ष्मीचन्द्रश्चरणचतुरोऽसौ विजयते ॥ ३ ॥

आलम्बनं सुविदुषां हृदयाम्बुजानामानन्दनं मुनिजनस्य विमुक्तिहेतोः ।
सट्टीकनं विविधशास्त्रविचारचारुचेतश्चमत्कृति कृतं श्रुतसागरेण ॥ ४ ॥

श्रीश्रुतसागरकृतिवरवचनामृतपानमत्र यैर्विहितम् ।
जन्मजरामरणहरं निरन्तरं तैः शिवं लब्धम् ॥ ५ ॥

अस्ति स्वस्तिसमस्तसंघतिलके श्रीमूलसंघेऽनघं
वृत्तं यत्र मुमुक्षुवर्गशिवदं संसेवितं साधुभिः ।
विद्यानन्दिगुरुस्त्विहास्ति गुणवद्गच्छे गिरः साम्प्रतं
तच्छिष्यश्रुतसागरेण रचिता टीका चिरं नन्दतु ॥६॥

॥ इति श्रीश्रुतसागरी टीका समाप्ता ॥



परिशिष्ट

पं० आशाधरजीके प्रस्तुत जिनसहस्रनामका नवां शतक दार्शनिक दृष्टिसे बहुत महत्वपूर्ण है, यह बात प्रस्तावनामें बतला आये हैं। इस शतकके सौ नामोंमें से केवल तीन नाम छोड़कर शेष सत्तानवे नाम बौद्ध, सांख्य, योग, नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक, चार्वाक और वेदान्तियों जैसे प्रसिद्ध भारतीय दार्शनिकोंके ही हैं। पं० आशाधरजीने इन नामोंकी निरुक्ति करके किस पाण्डित्यके साथ उनका अर्थ बदल कर जिनेन्द्र-परक अर्थका उद्भावन किया है, यह उनकी स्वोपज्ञ विवृत्ति और श्रुतसागरी टीकाके देखनेसे ही भली-भांति ज्ञात हो सकेगा। श्रुतसागरसूरिने अपनी टीकामें उक्त दार्शनिकोंके द्वारा माने गये देव, तत्त्व, प्रमाण, वाद और मोक्षकी भी चर्चा की है। जो पाठक संस्कृत भाषासे अपरिचित हैं, उनकी जानकारीके लिए यहां संक्षेपमें उक्त विषयों पर कुछ प्रकाश डाला जाता है—

(१) भगवान् महावीरके समयमें हुए गौतमबुद्धके अनुयायियोंको बौद्ध कहते हैं। बौद्धोंने गौतमबुद्धको ही अपने इष्ट देवके रूपमें स्वीकार किया है। बुद्धने दुःख, समुदय, मार्ग और निरोध-रूप चार तत्त्व माने हैं, जिन्हें कि चार आर्यसत्य कहा जाता है। नानाप्रकारके संकल्प-विकल्पोंके अनुभवको दुःख कहते हैं। बौद्धोंने रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार नामसे दुःखकी पांच जातियां मानी हैं, जो पंचस्कन्धके नामसे प्रसिद्ध हैं। बौद्धमतमें जिस प्रकार वेदना दुःख है, उसी प्रकार विज्ञान, संज्ञा, संस्कार और चित्र-विचित्र स्वरूप रूपको भी दुःख माना है, क्योंकि ये सब अशान्ति या क्लेशरूप ही हैं। इस प्रकारके विचारको दुःख नामका आर्यसत्य कहते हैं। "यह मैं हूँ, और यह मेरा है" इस प्रकारके राग और यह पर है, यह परका है, इस प्रकारके द्वेषके समुदायको समुदयनामका आर्यसत्य कहते हैं। सर्व संस्कार क्षणिक हैं, इस प्रकारकी नैरात्म्य वासनाको मार्ग या मोक्षमार्ग नामका आर्यसत्य कहते हैं। सर्व प्रकारके संस्कारोंके अभाव होने को निरोध कहते इसीका दूसरा नाम मोक्ष है, यह चौथा आर्यसत्य है। बौद्धोंका सारा दर्शन या तत्त्वज्ञान इन चार आर्यसत्योंमें ही निहित है। वे प्रत्यक्ष और अनुमानरूप दो प्रमाण मानते हैं। बौद्धमत क्षणिकै-कान्तवादी है, अतएव आत्मा नामका कोई स्थायी या नित्य पदार्थ उनके यहां नहीं है। वे मोक्षको भी दीपक बुझ जानेके समान शून्यरूप ही मानते हैं। उनका कहना है कि बुझनेवाला दीपक न आकाशमें जाता है, न पातालमें जाता है और न इधर-उधर पृथिवी पर ही कहीं जाता है। किन्तु शून्यतामें परिणत हो जाता है, इसीप्रकार ज्ञान-सन्तान भी मुक्त होती हुई ऊपर-नीचे या इधर-उधर कहीं नहीं जाती है, किन्तु शून्यतामें परिणत हो जाती है। उपर्युक्त चार आर्यसत्योंके वक्ता होनेसे बुद्धको चतुरार्यसत्यवक्ता कहा जाता है।

(२) योग दर्शनके दो भेद हैं, वैशेषिक दर्शन और नैयायिक दर्शन। दोनों ही दर्शनकार शिवको अपना इष्ट देव मानते हैं, और उसे ही जगत् का कर्त्ता हर्त्ता कहते हैं इतनी एकमात्र समता दोनों दर्शनों में है किन्तु तत्त्वव्यवस्था दोनों में भिन्न भिन्न है। वैशेषिक दर्शनमें द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवायरूप छह पदार्थ माने गये हैं। द्रव्यके नौ भेद माने हैं—पृथिवी, अप, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन। इस मतमें आत्मानामक द्रव्यसे ज्ञानादि गुणोंको सर्वथा भिन्न माना गया है। ये लोक समवाय सम्बन्ध नामके एक स्वतंत्र पदार्थकी कल्पना करके उसके द्वारा द्रव्य और गुणका सम्बन्ध होना मानते हैं। इस मतमें गुणके २४ भेद माने हैं।—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द, संख्या, संयोग, वियोग, परिमाण, पृथक्त्व, परत्व, अपरत्व, स्नेह, योग, गुरुत्व, द्रवत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार। उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण और गमनके भेदसे कर्म पांच प्रकारका है। पर और अपरके रूपसे सामान्यके

दो भेद हैं। नित्य द्रव्योंमें रहनेके कारण विशेषके अनन्त भेद हैं। समवाय एक ही रूप है। वैशेषिक दर्शनमें प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम ये चार प्रमाण माने गये हैं। यह मत नित्यानित्यै-कान्तकान्तवादी है। इसके अनुसार दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञानका उत्तरोत्तर अभाव मोक्षमार्ग और बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार रूप नौ आत्मिक-गुणोंका अत्यन्त उच्छेद हो जाना ही मोक्ष है। इनके मतानुसार मोक्षमें जैसे दुःखका अभाव है, वैसे ही सुखका भी अभाव है। यहां तक कि मोक्षमें ज्ञानका भी अभाव रहता है।

(३) नैयायिक दर्शनमें सोलह पदार्थ माने गये हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं:—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल जाति, और निग्रहस्थान। इस मतमें इन सोलह तत्त्वोंके ज्ञानसे दुःखका नाश होनेपर मुक्तिकी प्राप्ति मानी गई है।

(४) कपिलके द्वारा प्रतिपादित मतको सांख्य दर्शन कहते हैं। इसके भी दो भेद हैं। एक भेदवाले तो ईश्वरको मानते हैं, पर दूसरे भेदवाले ईश्वरको नहीं मानते हैं। कपिलने तत्त्वके पच्चीस भेद निरूपण किये हैं—प्रकृति, महान्, अहंकार, ये तीन, स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्दरूप ५ तन्मात्राएं, स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये ५ ज्ञानेन्द्रियां, वाक्, पाणि (हस्त) पाद (पैर) पायु (टट्टीका द्वार) उपस्थ (मूत्रका द्वार) ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन, पृथिवी, अप्, तेज, वायु और आकाशरूप पाँच भूत और पुरुष। इनमें से एकमात्र पुरुष या आत्मा चेतन है और शेष चौबीस तत्त्व अचेतन हैं। एक पुरुषको छोड़कर शेष तेईस तत्त्वों की जननी प्रकृति है, क्योंकि उससे ही उन तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। सांख्य दर्शनमें पुरुष या आत्माको अमूर्त, अकर्त्ता, और भोक्ता माना है। इस मतमें प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण माने हैं। यह मत सर्वथा नित्यैकान्तवादी है। पच्चीस तत्त्वोंके ज्ञानको मोक्षमार्ग कहते हैं। जबतक प्रकृति और पुरुषका संयोग बना रहता है, तब तक संसार चलता है और जब दोनों पृथक्-पृथक् हो जाते हैं, तब पुरुषका मोक्ष हो जाता है। सांख्यमतके अनुसार प्रकृति और पुरुषके संयोगसे संसार चलता है। इन दोनोंके संयोगको अंधे और पंगु पुरुषके संयोग की उपमा दी गई है। जिस प्रकार अन्धा चल सकता है, पर देख नहीं सकता और पंगु देख सकता है पर चल नहीं सकता। किन्तु दोनोंका संयोग दोनों-की पारस्परिक कर्मोको पूरा कर देता है, इसी प्रकार स्वतंत्र रूपसे प्रकृति और पुरुष भी अपांग है, किन्तु दोनोंके संयोगसे संसार चलता है। जब विवेक प्राप्त होने पर पुरुषसे प्रकृतिका संयोग छूट जाता है, तब पुरुषको मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

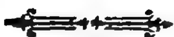
(५) मीमांसक लोग सर्वज्ञता-युक्त किसी पुरुष-विशेषको देव नहीं मानते हैं। वे लोग वेदको ही प्रमाण मानते हैं, और वेद-वाक्योंसे ही पदार्थका यथार्थ बोध मानते हैं। इस मतमें प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अभाव ये छह प्रमाण माने गये हैं। मीमांसक नित्या-नित्याद्येकान्तवादी हैं। इनके मतानुसार वेद-विहित यज्ञादिका अनुष्ठान करना ही मोक्षमार्ग है और नित्य, निरतिशय सुखकी अभिव्यक्ति होना ही मुक्ति है।

(६) जो लोग पुण्य, पाप, ईश्वर, आत्मा आदिका अस्तित्व नहीं मानते हैं, उन्हें नास्तिक कहते हैं। इनके मतमें पृथिवी, जल, अग्नि और वायु, ये चार भूतरूप तत्त्व माने गये हैं। इनका कहना है कि जिस प्रकार अनेक पदार्थोंके समुदायसे मद उत्पन्न करनेवाली एक शक्तिविशेष उत्पन्न हो जाती है, जिसे कि मदिरा कहते हैं, उसी प्रकार भूत-चतुष्टयके संयोगसे एक जीवन-शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जिसे कि लोग जीव, आत्मा आदि कहते हैं। जब आत्मा नामका कोई पदार्थ है ही नहीं, तो परलोक या पुण्य-पापकी क्यों चिन्ता की जाय? क्यों न आरामसे रहा जाय और जीवन-पर्यन्त भोगोंका आनन्द लूटा जाय।

जिनसहस्रनामकी अकाराद्यनुक्रमणिका

प्रथम अङ्क शतक या अध्यायका और द्वितीय अंक नाम-संख्याका बोधक है ।

श



स्वोपज्ञटीकागत-पद्यसूची

स्वोपज्ञटीकागत-गद्यांशसूची

स्वोपज्ञटीका गतव्याकरण-सूत्रानुक्रमणिका

स्वोपज्ञविवृति-गत धातुपाठः

६ श्रुतसागरी-टीकागत-सूत्रानुक्रमणिका

श्रुतसागरी टीका-गत धातुपाठः

श्रुतसागरी टीकागत संस्कृत-पद्यानुक्रमणी

श्रुतसागरीटीकागतप्राकृतपद्यानुक्रमणिका

श्रुतसागरी टीकागत अनेकार्थक पद्यानुक्रमणिका

[श्रुतसा]गरीटीकोद्धृत-सूत्रवाक्यां[नुक्रमणिका]

श्रुतसागर-विरचित-पद्यानुक्रमणिका

श्रुतसागरी टीकागत-पौराणिक नामसूची

श्रुतसागरी टीकागत-ग्रन्थनाम सूची

श्रुतसागरीटीकागत-ग्रन्थकारनामसूची

श्रुतसागरीटीकागत दार्शनिकनामसूची

—:o:—

ग्रन्थनाम-संकेतसूची

अकलंकस्तोत्र	अकलं० स्तो०
अनगारधर्मामृत	अनगा०
अमरकोश	अमरको०
अष्टशती	अष्टश०
आचारसार	आचार०
आप्तमीमांसा	आप्तमी०
आत्मानुशासन	आत्मानु०
एकीभावस्तोत्र	एकीभा०
कल्याणमन्दिरस्तोत्र	कल्याण०
कातन्त्रव्याकरण	का०, कातं०, कातंत्र०
कुमारसम्भव	कुमारसं०
गोम्मटसारजीवकाण्ड	गो० जी०
चैत्यभक्ति	चैत्यभ०
जैनेन्द्रव्याकरण	जै०, जैनेन्द्र०
ज्ञानार्णव	ज्ञाना०
तत्त्वसार	तत्त्वसा०
त्रिलोकसार	त्रिलो०
दर्शनसार	दर्शन०
देवागमस्तुति	देवाग०
द्रव्यसंग्रह	द्रव्य०
धनंजय अनेकार्थनाममाला	धन० अ० ना०
नन्दीश्वरभक्ति	नन्दी०
निर्वाणभक्ति	निर्वा०
परमात्मप्रकाश	परमा०
पाणिनीयशिक्षा	पाणि० शि०
पाहुडदोहा	पाहु०
पात्रकेसरिस्तोत्र	पात्रके०
प्रतिष्ठासारोद्धार	प्रतिष्ठा०
पार्श्वनाथस्तोत्र	पार्श्व०
प्राकृतदेवपूजाजयमाला	प्रा० देवपू०
पंचसंग्रह प्राकृत	पंच० प्रा०
पंचसंग्रह संस्कृत	पंच० सं०
पंचास्तिकाय	पंचास्ति०
बृहदारण्यक	बृहदा०
भक्तामरस्तोत्र	भक्ता० स्तो०
भगवती आराधना	भग० आरा०
भावपाहुड	भावपा०
भूपालचतुर्विंशतिका	भूपालच०
मनुस्मृति	मनु०
महापुराण	महापु०
मूलाचार	मूलाचा०
यशस्तिलक	यश०, यशस्ति०
रत्नकरण्डश्रावकाचार	रत्नक०
वसुनन्दिश्रावकाचार	वसु० श्रा०
वाग्भटालंकार	वाग्भटा०
विषापहारस्तोत्र	विषाप०
वीरभक्ति	वीरभ०
शाकटायन उणादिसूत्रपाठ	शाक० उणा०
शाकटायन व्याकरण	शाक० व्या०
शुक्ल यजुर्वेद	शुक्लयजु०
श्रुतभक्ति	श्रुतभ०
षड्दर्शन समुच्चय	षड्दर्श०
समयसार	समयसा०
समवसरणस्तोत्र	समव०
सावयधम्मदोहा	सावय०
सूत्रपाहुड	सूत्रपा०
सौन्दरानाद	सौन्दरा०
सांख्यतत्त्वकौमुदी	सां० त०
संस्कृतसामायिकपाठ	सं० सामा०
स्वयम्भूस्तोत्र	स्वयम्भू०
स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा	स्वा० का०



ानपीठके सांस्कृतिक प्रकाशन

[प्राकृत, संस्कृत ग्रंथ]

१. महाबन्ध [महाधवल सिद्धान्त शास्त्र]—प्रथम भाग, हिन्दी अनुवाद सहित	१२)
२. महाबन्ध—[महाधवल सिद्धान्तशास्त्र]—द्वितीय भाग	११)
३. करलक्खण [सामुद्रिक शास्त्र]—हस्तरेखा विज्ञानका नवीन ग्रन्थ [स्टाक समाप्त]	१)
४. मदनपराजय [भाषानुवाद तथा ७८ पृष्ठकी विस्तृत प्रस्तावना]	८)
५. क प्रान्तीय ताडपत्रीय ग्रन्थसूची	१३)
६. न्यायविनिश्चयविवरण [प्रथम भाग]	१५)
७ न्यायविनिश्चयविवरण [द्वितीय भाग]	१५)
८. तत्त्वार्थवृत्ति [श्रुतसागर सूरिरचित टीका । हिन्दी सार सहित]	१६)
९. आदिपुराण भाग १ [भगवान् ऋषभदेवका पुण्य चरित्र]	१०)
१०. आदिपुराण भाग २ [भगवान् ऋषभदेवका पुण्य चरित्र]	१०)
११. नाममाला सभाष्य [कोश]	३॥)
१२. केवलज्ञानप्रश्नचूडामणि [ज्योतिष ग्रन्थ]	४)
१३. सभाष्यरत्नमंजूषा [छन्दशास्त्र]	२)
१४. समयसार—[अंग्रेजी]	८)
१५. थिरुकुरल—तामिल भाषाका पञ्चमवेद [तामिल लिपि]	४)
१६. वसुनन्दि-श्रावकाचार	५)
१७. तत्त्वार्थवार्तिक [राजवार्तिक] भाग १ [हिन्दी सार सहित]	१२)
१८. जातक [प्रथम भाग]	६)
१९. जिनसहस्रनाम	४)

[हिन्दी ग्रन्थ]

२०. आधुनिक जैन कवि [परिचय एवं कविताएँ]	३॥)
२१. जैनशासन [जैनधर्मका परिचय तथा विवेचन करनेवाली सुन्दर रचना]	३)
२२. कुन्दकुन्दाचार्यके तीन रत्न [अध्यात्मवादका अद्भुत ग्रन्थ]	२)
२३. हिन्दी जैन साहित्यका संक्षिप्त इतिहास	२॥=)

भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस ५

ज्ञानपीठके सुरुचिपूर्ण हिन्दी प्रकाशन

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी—हमारे आराध्य [ख्यातिप्राप्त विदेशी महापुरुषोंका जीवन-परिचय] ३)

संस्मरण [भारतके नेताओं, साहित्यिकोंके मधुर संस्मरण] ३)

रेखाचित्र ,, ,, ,, ४)

श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय—शेरोशायरी [उर्दूके महान् ३१ शायरोंका परिचय] ८)

शेरोसुखन [चारों भाग] [उर्दू शायरीका प्रामाणिक इतिहास] १७)

गहरे पानी पैठ [मर्मस्पर्शी छोटी कहानियाँ] २॥)

जैन-जागरणके अग्रदूत [संस्मरण] ५)

श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर- आकाश के तारे : धरती के फूल २)

जिन्दगी मुस्कराई [इन्सान बननेकी कुंजी] ४)

श्री मुनि कान्तिसागर—खण्डहरोंका वैभव [मूर्त्तिकला, चित्रकला आदिपर आँखों देखी शोध-खोज] ६)

खोजकी पगडंडियाँ ,, ,, ,, ,, ४)

श्री राजकुमार वर्मा—रजतरश्मि [एकाङ्की नाटक] २॥)

श्री विष्णु प्रभाकर—संघर्षके बाद [कहानियाँ] ३)

श्री राजेन्द्र यादव—खेल खिलौने [कहानियाँ] २)

श्री मधुकर—भारतीय विचारधारा [दर्शनशास्त्र] २)



श्री सम्पूर्णानन्द जी—हिन्दू विवाहमें कन्यादानका स्थान १)

श्री हरिवंशराय 'बच्चन'—मिलनयामिनी [गीत] ४)

श्री अनूप शर्मा—वर्द्धमान [महाकाव्य] ६)

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी—पथचिह्न [संस्मरण] २)

श्री वीरेन्द्रकुमार एम० ए०—मुक्तिदूत [पौराणिक उपन्यास] ५)

श्री रामगोविन्द त्रिवेदी—वैदिक साहित्य [वेदों पर अधिकार पूर्वक हिन्दीमें प्रथमबार अध्ययन] ६)

श्री नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य—भारतीय ज्योतिष [ज्योतिषकी हिन्दीमें महान् पुस्तक] ६)

श्री जगदीशचन्द्र जैन—दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ ३)

श्री नारायणप्रसाद जैन—ज्ञानगंगा [सूक्तियाँ] ६)

श्रीमती शान्ति एम० ए०—पञ्चप्रदीप [गीत] २)

श्री 'तन्मय' बुखारिया—मेरे बापू [महात्मा गाँधीके प्रति श्रद्धाञ्जलि] २॥)

मुद्रक—शिवनारायण उपाध्याय बी० ए०, 'विशारद', नया संसार प्रेस, भदैनी, बनारस ।